संयम स्वर्ण महोत्सव (२०१७-१८) की विनम्र प्रस्तुति क्र० ४२

आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज द्वारा प्रदत्त प्रवचन का संग्रह

विद्या वाणी

(भाग-१)

प्रकाशक

जैन विद्यापीठ

सागर (म० प्र०)

विद्या वाणी भाग-१

(आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज द्वारा प्रदत्त प्रवचन का संग्रह)

संस्करण : २८ जून, २०१७ (आषाढ़ सुदी पंचमी, वीर निर्वाण संवत्
आवृत्ति : २५४३)
वेबसाइट : ११००
www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान

जैन विद्यापीठ

भाग्योदय तीर्थ, सागर (म० प्र०) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२

ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक

विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स

प्लाट नं. ४५, सेक्टर एफ, इन्डस्ट्रियल एरिया गोविन्दपुरा, भोपाल (म० प्र०) ९४२५००५६२४

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को शृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भव-भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जो अनेक भाषाओं में अनुदित हुआ साथ ही अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामत: मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी० लिट्०, पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ, भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव

विश्राम लेने का नाम ही नहीं लेते। यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वांसें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव, स्वामी विद्यानंदीजी, आचार्य पूज्यपाद महाराज जैसे श्रुतपारगी मुनियों की श्रृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वतवर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

आचार्य गुरुदेव की तपःसाधना के साथ जिनवाणी के चिंतन-मनन से प्रस्फुटित हुई शब्द-संयोजना जब उनके मृदु अधरों से निःसृत होती है तो प्रत्येक भव्य जीव का हृदय कमल एक अद्‌भुत ज्ञान प्रकाश से भरकर प्रफुल्लित होता है। उन्हीं दिव्य वचनों का संचयन जिन सुधी श्रोताओं में पूर्व में एक अनुपम निधि के रूप में संग्रहीत कर रखा था और अपने नगर में आचार्य गुरुदेव के प्रवास की मधुर स्मृति के रूप में अपने पास समेट रखा था, उन सब दिव्य प्रवचन आपूरित वचनामृतों को एक साथ संयोजित करके इस विद्या-वाणी कृति में निबद्ध करने का जटिल किन्तु भक्तिपूरित प्रयास किया गया है। एतदर्थ इस परिश्रम के महान् कार्य में अपनी भक्ति से स्वतः स्फूर्जित होते हुए जिन श्रमण संतों, आर्यिका वृन्दों एवं श्रावक-श्राविकाओं ने अपनी भावाञ्जलि हम तक पहुँचाई है, हम उनके हृदय से आभारी हैं।

समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना।

जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

अनुक्रमणिका

प्रवचन सुरभि

प्रवचनामृत

प्रवचन पारिजात

गुरुवाणी

प्रवचन पंचामृत

प्रवचन प्रदीप

धर्म देशना

श्रुत की महिमा

श्रुत ज्ञान आत्मा का स्वभाव नहीं है, किन्तु स्वभाव की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। श्रुत ज्ञान की सार्थकता तभी है जब हेय-उपादेय की जानकारी प्राप्त कर हेय से बचने एवं उपादेय को ग्रहण करने का प्रयास किया जाये। श्रुत की प्राप्ति का मंगल कार्य मंगलमय 'श्रुत पंचमी' पर्व के अवसर पर सानन्द सम्पन्न हुआ।

श्रुत ज्ञान अपने आप में प्रकाश स्वरूप है, जब आत्मा उस प्रकाश में आ जाता है तो वह स्वयं ऐसा प्रकाशित हो जाता है कि विश्व को भी प्रकाशित करने की क्षमता वाला बन जाता है। यानि केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। ज्ञान की महिमा अपरम्पार है। ज्ञान के बिना ज्ञेय की कोई महत्ता नहीं होती क्योंकि ज्ञेय की कदर करने वाला ज्ञान ही है। ज्ञान की गहन गहराइयों को छूयें।

सौभाग्य

यह प्राणी-मात्र का सौभाग्य है कि अभी भी इस धरती पर धर्म का अस्तित्व बना हुआ है। इस चातुर्मास के अन्तराल में हमें परिश्रम करके उस ध्रुव बिन्दु पर पहुँचने की चेष्टा करनी है, जहाँ पर पहुँचने के बाद सुख और शांति का अनुभव होता है। रात दिन हमें उसी प्रकार की बातें (चर्चाएँ) करनी है जिस प्रकार भरत चक्रवर्ती ९६ हजार रानियों के साथ धर्म चर्चाएँ करता था।

इस वर्तमान काल में हमें उपाय की बात करनी है, अपाय की नहीं। आज हम राजनीति, सामाजिक, भौतिक व शैक्षणिक आदि किसी भी क्षेत्र में अपनी भावना को दुनियाँ के सामने रख सकते हैं, कोई हमारा विरोध नहीं करेगा। लोग आपकी दृष्टि समझेंगे, उद्देश्य जानना चाहेंगे और सोचेंगे कि इससे समाज व देश की उन्नति है या नहीं।

भगवान् महावीर का २५ सौ वां निर्वाण दिवस निकट आ रहा है, इस शुभ अवसर पर हमें अपनी बातें दुनियाँ के सामने रखनी हैं। भिन्न-भिन्न क्षेत्र में भिन्न-भिन्न लक्ष्य को लेकर अनेक व्यक्ति काम करते हुए पाये जाते हैं। हमारे आचार्यों ने लोक की सम्मति को ठेस न पहुँचाते हुए और सिद्धान्त की रक्षा करते हुए कार्य करने की व्यवस्था की है। शक्ति की अपेक्षा और गुणों की अपेक्षा जो अधिक सम्पन्न होता है, उसे ही मुख्य बनाया जाता है। घर में बड़े दादाजी हैं, पर कार्य पिताजी के द्वारा सम्पन्न होता है। यद्यपि राष्ट्रपति देश का सबसे ऊँचा व्यक्ति होता है, पर कार्य के क्षेत्र में राष्ट्रपति को गौण करके प्रधानमंत्री को मुख्य मानते हैं। इसी प्रकार हम सिद्ध का नाम बाद में कर अरहंत का नाम पहले लेते हैं, इसमें कोई सिद्धान्त की अवहेलना नहीं है। कहा भी है-

गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरुदेव की जो गोविन्द दियो बताय ॥

जिस प्रकार गुरु, गोविन्द (भगवान्) को बताने वाले हैं उसी प्रकार अरहंत भगवान् रास्ता बताने वाले हैं, उन्हीं के द्वारा कल्याणकारी दिव्यध्वनि खिरती है। इसीलिए अरहंत को 'आप्त' माना है। सिद्ध को बताने वाले अरहंत हैं। सिद्ध तो सिर्फ सर्वज्ञ व वीतरागी ही हैं परन्तु अरहंत भगवान् सर्वज्ञ व वीतरागी के अलावा हितोपदेशी भी है। हम अरहंत का दर्शन कर सकते हैं, नमस्कार कर सकते हैं, उनकी दिव्यध्वनि सुन सकते हैं। इसीलिए पंच नमस्कार मंत्र में अरहंत को प्रथम नमस्कार किया है।

हमारे आचार्यों के लेख, उनके क्षेत्र, कार्य, भिन्न रहे हैं पर लक्ष्य एक रहा है। भगवान् महावीर के उपरांत गृहस्थों के हित के लिए स्वामी समंतभद्राचार्य ने लेखनी के द्वारा उपदेश दिया है और वह उपदेश हमें 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' द्वारा मिलता है। गृहस्थों का समुचित विकास किस प्रकार से हो, यह ज्ञान इसी ग्रन्थ से मिलता है। जो इसके अनुसार चलेगा, स्वरूपाचरण में स्थिति

का मार्ग उसके लिए प्रशस्त होगा। यह ग्रन्थ एक ऐसी पगडंडी है, जिसमें कंकड़-पत्थर आदि रुकावट नहीं है। इसके द्वारा ही स्वरूपाचरण तक पहुँच सकते हैं।

हम अपने लिए तो सब कुछ करते हैं पर जब दूसरों को, जो स्खलित हैं, दृष्टि प्रदान करते हैं, रास्ता बताते हैं, तब ही बड़ी बात है। आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज ने अपने जीवन में ऐसे ही कार्य किए हैं। उन्होंने बड़े-बड़े हितोपदेशी ग्रन्थों की रचना कर हमारा बहुत उपकार किया है। आज जो भौतिक आविष्कार हो रहे हैं वे सब रास्तों को समेटते जा रहे हैं। हमारे आचार्य अपना कार्य करने के साथ-साथ दूसरों के लिए रास्ता बनाते गये हैं। आज आचार्य परमेष्ठी भी वही रास्ता बता रहे हैं जो अरहंत परमेष्ठी बता गये हैं।

स्वामी समंतभद्राचार्य इस युग के महान् आचार्य हैं। उन्हीं के बताए हुए मार्ग का अनुसरण करना है। धर्म ध्वज को लेकर आगे बढ़ना है। इस कार्य में कोई रुकावट, रोड़ा नहीं बनेगा। इसमें सब सहायक बनेंगे, साथ चलेंगे और मार्ग प्रशस्त करेंगे। इसमें अगर बाधक बन सकता है तो सिर्फ 'मन' बन सकता है। तन, धन और वचन तीनों हो पर 'मन' न हो तो काम नहीं बन सकता है। मन उल्टा व सुल्टा हो सकता है। हमें उसे मजबूत व सुल्टा रखना होगा और आगे बढ़ना होगा। अब गाड़ी Start करना बाकी है, Signal हो चुका है। हमें किधर चलना है? उधर...जिस रास्ते भगवान महावीर गये थे। हमें उस ओर जाना है, जहाँ अहिंसा, सत्यता, अचौर्य, सुशीलता व अपरिग्रह हो। जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि लाइन को बन्द करदे, उस गलत लाइन का फ्यूज उड़ा दें। हमें कुसंगी नहीं, सुसंगी बनना है। अगर हमारा शरीर काम करने लायक नहीं है, वचन भी हमारे नहीं बोलने लायक हैं तथा धन भी खर्च करने के लिए नहीं है, तो भी क्या हुआ 'मन' तो है, हम अपना रास्ता बना सकते हैं। वर्तमान में तो तन, मन, धन और वचन सब कुछ है, कमी किसी चीज की नहीं है। स्वाभिमानी व्यक्ति को विचार करना चाहिए कि भगवान् महावीर ने राज-पाट, धन-वैभव सारे सुखों को छोड़ा और उन्हीं के २५ सौ वें निर्वाण दिवस के लिए हम १ पैसा रोजाना भी नहीं दे सकते, पैसे को जकड़े हुए हैं, हम कैसे उनके अनुयायी हैं? जब भगवान् की स्थिति कमजोर नहीं है, तब हम उनके भक्त कहलाने वाले क्यों कमजोर पड़ रहे हैं? महावीर भगवान् को हम वीर कहते हैं। हम त्याग करने में पीछे नहीं हटेंगे। हम मूल धन नहीं तो कम से कम ब्याज तो चुकायेंगे।

भगवान महावीर का दिव्य संदेश आज भी हमारे पास है, ये शास्त्र जीवित लक्ष्मी है। साहित्य हमारे पास है, उसका विकास कर उनके उपदेशों को घर-घर में पहुँचाना है। हम अर्थ त्याग के द्वारा ही विचारों को साकार बना सकते हैं। हमें उस त्याग को अपनाना है, जिसके द्वारा अपने तन, मन के साथ दूसरों के तन, मन को कष्ट न पहुँचे। इसी में सुख निहित है।

सही-सीख

आत्मा के दोषों को जिन्होंने धो दिया है, उन्हें हमारा नमस्कार हो। आचार्यों, संत-महात्माओं की दृष्टि द्वेष की तरफ नहीं जाती है। अन्दर में जो विशेषता होनी चाहिए, उसी की तरफ आचार्यों की दृष्टि रहती है।

भगवान् महावीर ने आत्मा में जो कलिमा (राग-द्वेष रूपी) लगी हुई थी उसे धो दिया है, इसलिए उन्हें नमस्कार किया है। गुणों के समीचीन परिणमन होने पर ही सुख की प्राप्ति होती है। यदि हम शीतल जल चाहते हैं तो हमें पानी का गर्म हवा व उष्णता से दूर रखना पड़ेगा। अनादिकाल से कर्म का संबंध आत्मा के साथ जुड़ा हुआ है, उसे प्रेरणा, क्षेत्र काल इत्यादि को पाकर विशुद्ध बनाया जा सकता है। अनेक व्यक्ति इस रहस्य के बारे में जानते भी नहीं हैं।

वर्तमान में विद्या का प्रचार बहुत हो रहा है। आज से ५० साल पूर्व अगर कोई मैट्रिक पास कर लेता था, तो उसे बहुत आदर मिलता था, पर आज तो अनेकों B.A., M.A., Ph.d पास घूमते हैं जैसे उनकी गिनती अनपढ़ों में हैं। आज हम नाम के पीछे खुश हो जाते हैं। अपने गुरु का भी आदर नहीं करते हैं।

गुण दो प्रकार के होते हैं। जो विपरीत दिशा की तरफ झुक जाये तो वे अवगुण कहलाते हैं और सीधी तरफ झुक जाने पर सद्‌गुण हो जाते हैं। फ्रेम की कीमत नहीं है, पर उसमें जड़े काँच की कीमत है। आज उल्टा ही काम है। आज फ्रेम की कीमत है, काँच की नहीं। फ्रेम सार-युक्त तभी बन सकता है, जब उसमें दृष्टि के अनुसार काँच हो। हालांकि काँच की रक्षा फ्रेम से होती है। परन्तु काँच के बिना भी फ्रेम की कोई कीमत नहीं है। हमारी दृष्टि सिर्फ फ्रेम तक ही जाती है, काँच तक नहीं। हम आत्मा रूपी दर्पण (काँच) की तरफ नहीं देख रहे हैं, जिसमें तीन लोक झलक रहा है। हमारी दृष्टि अंतरंग की ओर न जाकर बाहर की ओर जा रही है। हेय-उपादेय की स्थिति काँच के द्वारा ही मालूम हो सकती है। आज विद्या की तरक्की हो रही है, इस विद्या को ग्रहण करके विद्यार्थी तीन लोक का दास बनता जा रहा है। विद्या ऐसी ग्रहण करनी चाहिए कि जिससे तीनों लोक उसके दास बन जाये।

पूर्व में व्यापार करने में चतुर व त्याग करने में चतुर कोई था तो जैनियों का नाम पहले आता था पर आज हम नाम के पीछे पड़ गये। नाम-निक्षेप के पीछे पड़कर भाव-निक्षेप को हमने नहीं धारा। भाव-निक्षेप वाला ही कृत-कृत्य कहलाता है। वही सुखी बन जाता है। जहाँ अवगुणों का अभाव होता है वहीं सद्‌गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है। आज जीवन का लक्ष्य बना है अर्थ कमाना। हमने विद्या को अर्थ का माध्यम बना रखा है। इसीलिए हम दुखी हो रहे हैं व्यक्ति सुखी तभी हो सकता है, जब वह समीचीन विद्या ग्रहण करे। आज सब अर्थ के पीछे विद्या ग्रहण करते हैं। इस विद्या से ज्ञान मिल सकता है, परन्तु शांति नहीं मिल सकती।

जहाँ विद्या पूर्णरूपेण झलकती है, वहाँ आकर भी हम यह आशा करते हैं कि मेरा जीवन चले। अरे! जीवन तो वैसे भी चलेगा। शरीर को और कर्मों को छोड़ कर अन्दर एक ऐसा बल है, जिससे जीवन प्राप्त हो सकता है। अर्थ को अर्थ ही मानो, परमार्थ नहीं। अर्थ के द्वारा गुणों की प्राप्ति नहीं हो सकती। समीचीन विद्या के द्वारा ही गुणों की प्राप्ति हो सकती है। आज हमने उस क्षेत्र को ताला लगा दिया है, जिस क्षेत्र को महावीर भगवान् ने अपनाकर आत्मा का कल्याण किया था।

भोग जीवन का लक्ष्य तीन काल में भी नहीं हो सकता है। जीवन का लक्ष्य योग है। भोग, आशा-तृष्णा के द्वारा अलौकिक शांति नहीं मिल सकती है। दवा के द्वारा रोग निकल सकता है, शक्ति भोजन के द्वारा मिलती है। लौकिक विद्या व भोगों में भारत से बाहर के देश बहुत आगे हैं परन्तु वहाँ पर अरबपति भी शांति का अनुभव नहीं कर सकता है। आज हम भी पुद्गल में विद्या को खोज रहे हैं, भोग और लौकिक विद्या के पीछे पड़ रहे हैं, विदेशों में भी इनसे लोग ऊब चुके हैं। हमारे आचार्यों ने ऐसी विद्या बताई है कि जिससे आना-जाना गति-भ्रमण सब खतम हो जाता है। विद्या पाकर इधर-उधर भटकना नहीं है। वर्तमान में लोग देवत्व को पाना चाहते हैं, ज्योतिर्लोक में जाना चाहते हैं। समझदार व्यक्ति स्वर्गादि की इच्छा नहीं करते, निदान नहीं करते। कीमत जौहरी की है, जवाहरात की नहीं। जवाहरात के नष्ट होने पर तो और भी उपलब्ध हो सकते हैं, परन्तु जौहरी का नाश होने पर जवाहरात की कीमत कौन आँकेगा? सुख के लिए हमें प्रवृत्ति को रोकना पड़ेगा और निवृत्ति को अपनाना पड़ेगा। यह ठीक है कि शरीर के माध्यम से हम धर्म साधना कर सकते हैं, हमें इसको भोजनादि देकर रक्षा करना चाहिए, लेकिन २४ घंटे शरीर को ही हृष्ट पुष्ट नहीं करते रहना है। मानव कल्याण हम मात्र लौकिक शिक्षा के द्वारा नहीं कर सकते हैं। आज जैन समाज का लाखों रुपया विपरीत दिशा में खर्च होता है, उन रुपयों का सदुपयोग करो।

❑ ❑ ❑

समर्पण

अनादि काल से इस आत्मा की स्थिति झुकने की नहीं रही है, यह मस्तक (गर्दन) सीधा रखना चाहता है। नमस्कार करना, एक दृष्टि से आत्म समर्पण करना है, अपने को लघु समझना है, और जिसके सामने नत मस्तक हुआ है, उसको अपने से बड़ा समझना है। मन, वचन, काय, कृत-कारित-अनुमोदन, बाह्य तथा आभ्यंतर से एकमेक होकर नमस्कार करने से समीचीनता आती है। जब भी कोई मंगल कार्य करने जाते हैं तो सर्व प्रथम अपने इष्ट देवताओं को नमस्कार करते हैं। ज्ञान वह है, जिसमें अपूर्णता न्यूनता तथा अज्ञानता नहीं रहती है। हमें गुरु बनना है, अपने आपको गुरु समझना नहीं है।

अपूर्ण चीज दुख का अनुभव करा देती है। पूर्णता की उपासना में ही सुख का संवेदन है। हमें उपासक बनना पड़ेगा तभी अपूर्णताएँ समाप्त होंगी। जिस प्रकार जौहरी बनने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति जौहरी के पास जाएगा, उसकी सेवा करेगा, पगचम्पी करेगा और जवाहरात के सम्बन्ध में बार-बार प्रश्न पूछ कर ज्ञान प्राप्त करेगा। धर्म के क्षेत्र में भी हमें उसी प्रकार सेवक बनना पड़ेगा। जिस प्रकार मोटर गाड़ी की सफाई व ड्राइवर की पगचम्पी क्लीनर करता है जिसे संस्कृत भाषा में 'किन्नर' कहते हैं वह Cleaner ड्राइवर की सेवा करके गाड़ी चलाना सीखता है।

स्याद्वाद का यही रहस्य है कि वह जीव किसी रूप में ज्ञानी है तो किसी रूप में अज्ञानी भी है। इन्द्रिय ज्ञान का अभाव सिद्ध परमेष्ठी में है। अतः कथंचित् रूप से हम सिद्ध परमेष्ठी को इन्द्रिय ज्ञान की अपेक्षा अज्ञानी कह सकते हैं। परन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान उनके पास है, वे अनंत ज्ञानी, अक्षय ज्ञानी हैं। हमें अपेक्षा-वाद को देखना पड़ेगा और आगे चलना पड़ेगा। नमस्कार करना उनके जैसा रूप प्राप्त करने, गुण प्राप्त करने के लिए है। जिस प्रकार वास्तविक जौहरी को हीरा-मोती सौंपने में कोई ऐतराज नहीं है, उसी प्रकार हमको अपने आपको किन्नर समझकर महावीर भगवान् को सौंप देना चाहिए। जब भगवान् के चरणारविन्द में हम बैठ जाते हैं, तब धीरे-धीरे सारे गुण अपने आप चले आते हैं।

चींटी से लेकर हाथी तक, कोई भी प्राणी कमजोर नहीं है। अष्ट कर्म आपके बुलाये हुए अतिथि हैं, वे कुछ समय के लिए हैं। हम चाहें तो इन कर्मों को आगे नहीं भी बुला सकते हैं। इनसे घबराने की जरूरत नहीं है। मूर्ति पत्थर तो है ही, पर हमें यह समझना होगा कि यह क्या है ? किस भगवान् की मूर्ति है, उनमें क्या क्या गुण थे, किस मार्ग पर वो चले, किस रूप में हमें इसको मानना है? बच्चा दूर से ही माँ को देख कर भाग कर पास आता है, जबकि माँ उसे आवाज भी नहीं देती, पास आने को इशारा भी नहीं करती है। मतिज्ञान व श्रुतज्ञान का अभाव एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय किसी भी जीव में नहीं है। हमारा ज्ञान जो कुंठित हुआ है, उस ज्ञान को पूर्ण करने (जगाने) हेतु अपने आपको प्रभु को समर्पित करना है। रागी व द्वेषी व्यक्ति कभी भी न सुख प्राप्त कर सकता है और न किसी को सुख दे सकता है। यह पत्थर की मूर्ति एक ऐसा सान्निध्य है, जहाँ राग व द्वेष का प्रादुर्भाव नहीं है, क्योंकि भगवान् महावीर राग व द्वेष नहीं रखते हैं। अतः उनकी मूर्ति के पास जाने व दर्शन करने पर राग-द्वेष नहीं होता है।

सिंह को पास में देखकर भय होता है और हम अपने आपकी रक्षा की चिन्ता करते हैं, पर गाय को देखकर ऐसा नहीं होता है। अतः यही बात रागी और वीतरागी की मूर्ति के बारे में है।

त्यागी, तपस्वी, साधुगण उपसर्ग में तथा सिद्धान्त का खण्डन होने पर सिंह वृत्ति का प्रयोग करते हैं पर समता का सवाल जहाँ आता है, उस समय गोचरी वृत्ति का परिचय देते हैं। गाय को

देखकर दया भाव जागते हैं, पर सिंह को देखकर भयभीत हो जाते हैं। समता की चरम सीमा वीतराग भगवान् में है, अन्य किसी में नहीं। जिस प्रकार पहलवान को देखकर पहलवान बनने, रूपवान को देखकर रूपवान बनने तथा विद्वान् को देखकर विद्वान् बनने की इच्छा होती है, उसी प्रकार वीतराग मुद्रा को देखकर वीतराग भाव जागृत होते हैं, वीतरागी बनने की इच्छा होती है। जब वीतरागी बनने की इच्छा शुरू हो जाती है, तो समझो बेड़ा पार होने की शुरूआत हो जाती है।

जो प्रशंसा और निन्दा में हर्ष-विषाद नहीं करते हैं, उन्हें नमस्कार करो। जो गुण का समादर करता है, उसी के लिए भगवान् नेता है। दर्पण उठकर यह नहीं कहता कि मेरे में शक्ति है, मुझे देखकर अपनी सूरत देखो। चेहरा देखने वाला व्यक्ति स्वयं दर्पण के पास जाता है। अतः हमें अपने आपको देखने के लिए भगवान् के पास जाना ही पड़ेगा।

❑ ❑ ❑

नमन कर मन

जब तीर्थंकर भगवान् का जन्म होता है, तब धूल-धूसरित रास्ता उज्ज्वल बनता जाता है और उनके अभाव में वापस धूल से भर जाता है। प्रायः संसारी व्यक्ति को रास्ता बताने की जरूरत पड़ती है। जिस प्रकार आकाश में अनेकों पक्षी चलते हैं पर उनके पद-चिह्न नहीं पड़ते हैं, उसी प्रकार मोक्ष रास्ते में अनेकों व्यक्ति चलते हैं, पर चिह्न नहीं पड़ते हैं। नमस्कार हमको किस लक्ष्य को लेकर करना है ? यह हमें देखना है। अनेक व्यक्ति रात दिन भगवान् का नाम लेते हैं, उपासना करते हैं। तन, मन, धन व वचन से नाम लेते हैं पर इससे ऊपर भी एक चीज है, वह है लक्ष्य की ओर ध्यान देना, निदान की ओर ध्यान देना। जब तक रोग का निदान नहीं होगा, तब तक रोगी का रोग दूर नहीं होगा, उसी प्रकार हमें भी लक्ष्य को पहले देखना होगा। हमें यह देखना होगा कि जिस वस्तु (लक्ष्य) को हम चाह रहे हैं, उसको प्राप्त करने का रास्ता भिन्न तो नहीं है, हमारी गति दूसरी दिशा की ओर तो नहीं है।

परिग्रह महा खतरनाक है, जिसको आप लोग अच्छा मानते हैं। बाह्य परिग्रह से भी ज्यादा आभ्यंतर में मिथ्यात्व सबसे बड़ा परिग्रह है। स्थिति क्या है हमारी ? हम बहुत संतप्त हैं, तड़प रहे हैं। पर हवा ठण्डी नहीं है, पानी भी शीतल नहीं है। अनन्तकाल से यही मिथ्यात्व रूपी हवा हमें लग रही है, और जब तक ऐसी हवा लगती रहेगी, तब तक हमारे नमस्कार, उपासना को महावीर भगवान् स्वीकार नहीं कर सकते। उपासना तो दुनियाँ में सब करते हैं, पर कोई विषय-वासना की पुष्टि के लिए, शरीर की रक्षा करते हुए डॉक्टर के कहने पर रस त्याग करते हैं। पर उपासना-उपासना, त्याग-त्याग में फर्क होता है। डॉक्टर के कहने से एक बार भोजन करने का नियम ले लेने से, रस त्याग कर देने से कोई व्यक्ति त्यागी-मुनि नहीं बन सकता है। एक को जीने की, संपोषण

की, शरीर को रखने की, पर की इच्छा है। वहाँ मुनि का त्याग भिन्न है। हम नमस्कार तो कर रहे हैं, पर अलग ही लक्ष्य को लेकर। संतान के न होने पर, रोगी होने पर, कचहरी में मुकदमा जीतने के लिए उपासना करना-मिथ्यात्व है विपरीत उपासना है। इससे संसार का अभाव, चतुर्गति भटकन कभी नहीं रुकेगा। वासना, तृष्णा के पीछे भटकते हुए हमारी यही गति हो रही है।

जो भगवान् की दृष्टि है, वही भक्त की दृष्टि होनी चाहिए। भिन्न दृष्टि होने पर लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होगी। हममें यह विवेक नहीं है कि उपासना किसलिए करनी है। तो सबसे बढ़िया यही है कि सुबह उठकर चक्की को धोक दें, जिसके चलाने से कम से कम आटा तो मिलेगा, भगवान् से क्या मिलेगा?

हमें मिथ्यात्वरूपी परिग्रह को छोड़ना पड़ेगा, यही जन्म-मरण का कारण है। जन्म और मरण के बीच में है 'जरा' हमें इसका भी संहार करना है। भगवान् ने जब इन तीनों को नहीं चाहा तो भक्त को भी इन तीनों को नहीं चाहना चाहिए। हमें तो मृत्युंजयी बनने की कोशिश करना चाहिए जो इस उद्देश्य को लेकर चलेगा, उसका रास्ता समीचीन बनता चला जायेगा। इस मिथ्यात्वरूपी परिग्रह को हमें गृहस्थाश्रम में ही छोड़ना है, बाकी परिग्रह तो बहुत जल्दी अपने आप छूट जायेंगे।

रोग का निदान न होने पर जीरा की जगह हीरा भी खिला दे तो भी उसका प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। सर्व प्रथम जिधर हमें जाना है, अपनी दृष्टि उधर ही करनी पड़ेगी। आत्मा का स्वभाव है 'चलना' अगर उसे मिथ्यात्व का रास्ता मिल गया तो उधर चलेगी और समीचीन रास्ता मिल गया तो यह आत्मा उधर चलने लगेगी।

अनादिकाल से जो कर्म अर्जित है, वह भी एक बार नमस्कार, स्तुति करने से नाश हो जाते हैं। जैसे बहुत सारे कचरे को दिया सलाई से जरा जलाने पर वह जल कर राख हो जायेगा और उस राख को भी हवा उड़ा कर ले जाएगी। हालांकि नमस्कार स्तुति का फल मिलता है, पर वह फल संसार वृद्धि का कारण न होना चाहिए। हमें विषय-वासना आदि के लिए स्तुति, उपासना नहीं करनी है।

यद्यपि कीचड़ में कमल है पर सुरक्षित है, उसका लक्ष्य कादे से अलग होने का है, लोहे की तरह मिट्टी में होने का नहीं। हमें इसको सोचना है। हमें लक्ष्य कमल के फूल के समान कीचड़ से अलग होने का बनाना है। हमें प्रभु के सामने कोर्ट केस में जीतने, धन वैभव बढ़ाने आदि संसार वृद्धि के लिए स्तुति नहीं करनी है।

दृष्टि में (उपयोग में) समीचीनता है, तो वचनों में भी समीचीनता आ जाती है। नमस्कार के लिए अन्दर का उपयोग जरूरी है, समय, क्षेत्र आदि का ज्यादा महत्त्व नहीं है। स्तुति, गुरु के न होने पर भी फल देगी, क्योंकि गुरु तो हृदय में विराजे हुए हैं। गुरु प्रत्यक्ष में हों या न हों पर गुरु के प्रति

विनय होनी चाहिए। गुरु के प्रति आत्म समर्पण करने पर ही (विद्या) फल की प्राप्ति होगी। हमें शब्दों में नहीं उलझना है, भाव को पकड़ना है। शब्दों में उलझकर समय व शक्ति खर्च नहीं करना है। महावीर भगवान् का कहना है कि ८ साल की उम्र के बाद अच्छे कार्य करने के लिए जीवन भर मुहूर्त है, पर आज ८० साल तक के भी हो जाने पर यही कहते हैं कि मुहूर्त नहीं आया। हमें मुहूर्त के लिए मूढ़ता को छोड़ना है।

❑ ❑ ❑

हेय-उपादेय

कुछ लोगों का यह विचार हो सकता है कि हम प्रभु को नमस्कार करें तो इससे क्या लाभ हो सकता है, क्योंकि जैनियों के यहाँ ईश्वर का स्थान नहीं है, क्योंकि सभी जैनी ईश्वर बन सकते हैं। प्रभु आनन्द, सुख, शांति दिलाने वाले नहीं हैं। अगर प्रभु ये गुण दिला दें तो उनके पास कुछ नहीं बचेगा। ये गुण तो आत्मा के गुण हैं। बालक चलना चाहता है, पिताजी के हाथ का सहारा लेकर। क्या पिताजी उसे चलाते हैं ? नहीं ! बच्चा चलता है अपने पैरों से। पर जब तक वह दूसरों का सहारा नहीं लेगा, नहीं चल सकता। अभी वह कमजोर है। अतः दूसरों का सहारा लेना, नमस्कार करना हालांकि अपनी कमजोरी है, परन्तु हमें इसे एकांतरूप नहीं लगाना है। आत्मा में अनन्त शक्ति है, परन्तु छिपी है।

नमस्कार बन्ध का कारण है, परन्तु अनादि से जो भूख लगी है, वह खाने के द्वारा ही मिटेगी। जिस प्रकार तंदरुस्त के लिए हस्तावलम्बन, चलने (दौड़ने) के लिए गतिरोध का कारण है, पर बच्चे के लिए सहायक है, इसी प्रकार नमस्कार सबके लिए ही बन्ध का कारण नहीं है। यह गति भ्रमण को रोकने में भी कारण है।

जिसने वर्षों अभ्यास किया है, तार पर चलने का, फिर भी वह नट लट्ठ को लेकर चलता है, लट्ठ उसके लिए सहायक है, हालांकि उसकी दृष्टि लक्ष्य की ओर है। ध्यान में आलंबन नितांत आवश्यक है। पूजा, प्रक्षाल, दान, विनय, इंगित पर चलना बन्ध के लिए कारण नहीं है। बन्ध करना और बन्ध होना, दोनों अलग हैं। बन्ध करने में संकल्प व इरादा है। बन्ध होने में नहीं। दुकान में नौकर रखना, व्यय करना है, पर वह नौकर धन वृद्धि में कारण है। खर्च करने के साथ ही आमदनी हो रही है, वह घाटा नहीं है। नौकर को वेतन देने में खुशी हो रही है, क्योंकि यहाँ देना आदान का कारण है, उससे डबल कमाई हो रही है। आस्रव का द्वार यदि छोटा हो और संवर का द्वार बड़ा हो तो कोई बात नहीं है। नमस्कार करने में यह चतुराई होनी चाहिए कि मुझे बन्ध ज्यादा हो रहा है या इससे भी ज्यादा संवर हो रहा है। हमें आस्रव व बन्ध से डर होना चाहिए। इस जीव को अनादिकाल से आस्रव ही सता रहा है। हमको बहुत विचारशील होकर आस्रव को रोकना है। हम उपाय को

ढूँढ़ते हैं। अपाय को नहीं। हमारे बाधक कारण का आलंबन, उत्पत्ति दुख है। दुख की सामग्री को फेंक कर हमें सुख की सामग्री को जुटानी है। द्:ुख की सामग्री आस्रव और बन्ध है। और सुख की सामग्री संवर और निर्जरा है। इसको प्रयोग में लाने पर ही मोक्ष सुख की प्राप्ति होगी। हमें अर्थ को चाहते हुए अनर्थ से बचते हुए अर्थ का त्याग करना है, इसमें घाटा नहीं है नाश नहीं है, दुख नहीं है, सुख का कारण है। हमें चलना है तो रुक कर पैर से काँटे को निकालना है। Absent और Late में बहुत अन्तर है। देरी से पहुँचने में ज्यादा नुकसान नहीं है। पर नहीं पहुँचने में जुर्म है।

जिसके पास जो गुण ज्यादा है, कम गुण वाले पदार्थ वैसे ही गुण में परिणत हो जाते हैं। जो बहुमत है, उसी के अनुसार कार्य किया जाता है। उसके पास पुण्य की सामग्री ज्यादा है तो बन्ध भी पुण्य हेतु बन जाता है। इसलिए आचार्यों को मन, वचन, काय से, संगीत से, किसी भी प्रकार नमस्कार करना चाहिए। लेकिन इस नमस्कार करने में संक्लेश परिणाम नहीं होने चाहिए। वैद्य भी कभी-कभी एक रोग को मिटाने के लिए ऐसी दवा भी देता है जो दूसरा रोग भी पैदा कर देती है और फिर इलाज कर दोनों रोगों को मिटाता है।

विशुद्धि लब्धि कषाय को उपशमित कर देती है। मंद कषाय सम्यग्दर्शन की भूमिका का कारण होती है। जब कषायों में मंदता आती है, तब वह प्रभु के चरणों की ओर लक्ष्य रखता है, अपने आप से हटता है। संवर निर्जरा को प्राप्त करने वाला व्यक्ति सर्व प्रथम अपने आपको भूल कर प्रभु-चरणों में अपने आपको बिठायेगा। जब नदी अपने आपको खोती है और समुद्र में समर्पण कर देती है, कठिनाइयों को झेलती है, पहाड़ों से गिरती है, पत्थरों से चोट खाती है, सारा मैल आदि ले जाती है और अपने आप को भूल कर समुद्र की अनन्त शाँति में पहुँच जाती है। आज हम अपने नाम को मिटाना नहीं चाहते हैं पर प्रभु का नाम भी लेना चाहते हैं। आलम्बन तो लेना चाहें और अपना नाम रखना चाहें, यह सम्भव नहीं है। जिसको प्राप्त करना चाहते हैं, उसकी स्तुति, कीर्ति, उपासना करते समय अपने आपको भूलना पड़ेगा, अपने आपको मिटाना पड़ेगा। जिसको मोह है इस अवस्था से वह तीन काल तक सुख को प्राप्त नहीं हो सकेगा, क्योंकि वर्तमान पर्याय हमेशा रहने वाली नहीं है। सत्ता ज्यों की त्यों रहती है, पर पर्याय तो नष्ट होती है। प्रभु को नमस्कार करते समय अपने आपको भूलने व मिटाने से हम मिटेंगे नहीं, उससे सत्ता में सुन्दरता आती है पर्याय भले ही बदल जाये। कुरूप से सुरूप बनने की चेष्टा करो, दुरूप बनने की नहीं। घर में भी आस्रव होता है और मन्दिर में भी आस्रव होता है, पर दोनों में भिन्नता है। मन्दिर का आस्रव सम्यग्दर्शन के सम्मुख है और घर का आस्रव मिथ्यादर्शन के सम्मुख। मन्दिर में बन्ध हो रहा है, पर घर में बन्ध करते हैं। इसमें भिन्नता है। देव, शास्त्र, गुरु को नमस्कार करके हम कर्मों की निर्जरा भी करते हैं। मंदिर आदि आलम्बन हैं। लक्ष्य उसी प्रकार का चाहिए जो चलने में सहायक हो। यहाँ १ घंटे

बैठकर आप इतने समय के लिए कषाय को भूल गये, देशना लब्धि को प्राप्त किया, इससे असंख्यात गुणी निर्जरा हो गई। वस्तु तत्त्व का चिंतन करने पर सुख अपने आप आने लगता है। प्रभु ने सुख दिया नहीं पर सुख का रास्ता बता दिया। प्रभु देते व लेते नहीं हैं। दर्पण मुख दिखाता नहीं, पर मुख को दिखा सकता है।

❑ ❑ ❑

रास्ता मोक्ष का

आज नमस्कार के द्वितीय पहलू के बारे में कुछ कहना है। प्रायः करके जो शब्दों में वर्णन किया जाता है वह बाहर की कीर्ति रह जाती है। शब्दों के माध्यम से जो नमस्कार किया है, उसके बाद आन्तरिक अनुभूति भी होनी चाहिए। अब मैं यहाँ पर नमस्कार कर रहा हूँ, अपने लिए। प्रभु की बात अब अलग हो गई। वास्तविक नमस्कार, भक्ति, स्तुति जो भी है, वह अपने लिए। नमस्कार का लक्ष्य अपने आपको नमस्कार का होना चाहिए। प्रभु को नमस्कार साधन है, माध्यम है, उपाय है। यह उपादेय, सिद्धि अथवा लक्ष्य नहीं है। प्रभु को नमस्कार कोई Artificial नहीं है। हमें अब नमस्कार के बाद आगे बढ़ना है। आत्मानुभूति से, अपने आपका रसास्वादन, अपने आपको टटोलने से ही संसार का भ्रमण रुक सकता है। महावीर भगवान् का यही सन्देश है कि भगवान् की भक्ति मुक्ति नहीं दे सकती है, पर मुक्ति का रास्ता बता सकती है। हमें आत्म भक्ति करनी है। जिसको अपनी कीर्ति, नाम की इच्छा नहीं रहती है, वही आत्मा की भक्ति कर सकता है। जब तक बालक कमजोर है, तभी तक पिताजी का हाथ पकड़ कर चलता है, बाद में स्वयं चलता है। इसी प्रकार प्रभु की भक्ति भी जब तक मोक्ष का रास्ता नहीं दिखे तब तक करना है, उसके बाद आत्मा की भक्ति करना है। दस मंजिल की इमारत पर खड़ा एक दोस्त अपने दूसरे दोस्त को जो सड़क से मंजिल के नीचे से जा रहा है, आवाज देता है। नीचे वाले दोस्त ने उसे देखा, बात भी करी, पर अगर वह दोस्त को ही देखता रहेगा तो दोस्त को प्राप्त नहीं कर सकेगा। उसे दोस्त की तरफ से ध्यान हटा कर दोस्त के द्वारा बताई गई सीढ़ियों (रास्ते) की तरफ देखना होगा तभी वह ऊपर पहुँच सकता है। इसी प्रकार हमने प्रभु के बताए हुए मार्ग को समझ लिया है, अब अगर प्रभु को ही देखते रहे, भक्ति ही करते रहे तो प्रभु के पास कैसे पहुँचेंगे। अब तो प्रभु को भूल कर मोक्ष मार्ग की ओर आरूढ़ होना है। यह नमस्कार का दूसरा पहलू है। हमें अब मार्ग को नहीं भूलना है। प्रभु को गौण करके आत्मा की ओर देखो तो आपको ऐसा रसास्वादन मिलेगा जैसा पहले कभी नहीं मिला होगा। आचार्य कहते हैं कि प्रभु का, नमस्कार का वर्णन करना अलग बात है, और अनुभव करना अलग बात है। मिसरी को चखने पर रसास्वादन का वर्णन करने को शब्द नहीं मिलेंगे। इसी प्रकार नमस्कार को चख लेने पर, अनुभूति कर लेने पर, उसका वर्णन उसका विश्लेषण नहीं किया जा

सकता है। नमस्कार संवेदन की चीज है। दस मंजिल पर खड़ा दोस्त कह रहा है कि अब मुझे भूल जा और इस रास्ते को अपना। रास्ते को मत भूलना, नहीं तो कहीं का भी नहीं रहेगा। शब्दों में कभी-कभी अवास्तविकता भी आ जाती है। आप लोग शब्दों को पकड़ना चाह रहे हैं। आप साधन को साध्य मान रहे हैं। यह तो सिर्फ उपाय है। यह तो आरम्भ है, अन्त नहीं। अभी तक नमस्कार से जो अनुभूति आनी चाहिए, उससे आप वंचित रहे। इस रहस्य को समझना ही वास्तविक भगवान् के निकट पहुँचना है।

आप कहते हैं कि महाराज का प्रवचन बहुत मीठा होता है। अरे भाई ! पर महाराज को जो अनुभव हो रहा है, वह अगर आपको हो जाये तो आप यह कहना भूल जाओ। ऐसा कहने से सुस्वर नाम के कर्म का बन्ध होता है। निज संवेदन से दुख की प्राप्ति नहीं सुख का, शांति का अनुभव होता है। आज तक हमने बाहर से नमस्कार, जय जयकार किया है। प्रभु तक पहुँचने के लिए प्रभु की तरफ से दृष्टि हटानी ही होगी। और प्रभु जिस रास्ते गये हैं, उस रास्ते की ओर दृष्टि करनी होगी। इसमें थोड़ी भी कमी रह जाये तो हम नीचे गिरते हैं। स्खलन हो जाता है। हमें अपने आपका अनुभव करना होगा। बहुत कुछ त्याग आपके द्वारा हो चुका है और भी त्याग करने को तैयार है। त्याग होना और त्याग करना, दोनों अलग बात है। जो हमारे वास्तविक निकट है उसे त्याग करना है। चश्मे को देखने के बाद दृष्टि में जो भेद पड़ा है, जो कमी है, उसे दूर करना है, तभी संवेदन हो सकता है। अनेकों ने साधु मार्ग को अपनाया, घर बार को छोड़ा, दुनियादारी को छोड़ा। यह प्रारंभ है, अन्त नहीं पहुँचने की प्रारम्भिक विधि है। घर बार को छोड़ना अनिवार्य है, परन्तु घर बार छोड़ने के बाद अनिवार्य रूप से लक्ष्य तक पहुँच ही जाये, यह जरूरी नहीं है। घर बार छोड़ने के बाद भी बहुत कुछ करना है।

सामायिक में नींद आती है, गर्मी में पसीना भी आ जाता है, हम पोंछने लग जाते हैं, परन्तु दुकान पर ग्राहकों की भीड़ हो, हवा भी नहीं हो, पसीना आ रहा हो, खाने का समय निकल रहा हो, तो भी चिन्ता नहीं करेंगे। यह कष्ट कोई कष्ट नहीं है, क्योंकि धन में वृद्धि हो रही है, नोटों की लहर आ रही है। अगर ऐसा उपयोग हम सामायिक में लगा दें, तो कल्याण हो जाये। दुकानदारी में एक वक्त खाना छूट जाये तो कोई कष्ट महसूस नहीं करेंगे पर वैसे महीने में एक दिन भी एक समय भोजन नहीं करने का नियम नहीं लेंगे। वहाँ मन विषयों में लगा है, आत्मा में नहीं लगा है, विषयों का विकास हो रहा है, आत्मा के परिणामों का ह्रास हो रहा है। पुद्‌गलों में वृद्धि हो रही है। महावीर ने कहा है कि त्याग को भी त्याग दो। यानि प्रभु का नाम लो और प्रभु को भी भुला दो, यह नमस्कार का दूसरा पहलू है। स्व-संवेदन करना है। जब स्व-संवेदन में चले जाते हैं, तब बाहर के व्यक्तियों को भूल जाते हैं, यहाँ तक कि प्रभु को भी भूल जाते हैं।

घर छोड़ने के बाद यह कहें कि मैं घर का त्यागी हूँ, गलत है। घर में शारीरिक वेदना होती थी, अब इसका त्यागी, उसका त्यागी, यह एक मानसिक वेदना चालू हो जाती है। हम में छोड़ने के बाद परिवर्तन आना चाहिए। घर में हलवा खाता था, यहाँ त्याग हो गया। पर हलवे को भूला नहीं। घर में खाने के उपरांत कुछ समय के लिए तो हलवे को भूल जाता है, पर त्याग करने के बाद दिन भर इसी को याद करना, इससे न तो हलवे का ही रसास्वादन हो पा रहा है और न ही स्व-संवेदन। इससे अपना कल्याण नहीं होगा।

आप नौकर से मालिक बनो, उसके कहे अनुसार ही जय-जय मत बोलो, उसके आगे भी बढ़ो। हमें घर के साथ सब को भूलना है।

व्यक्तित्व को, अहं को, निज को मिटादे।
तू भी स्व को सहज में प्रभु में मिलादे ॥

आप मिलाना पसंद नहीं करते, क्योंकि आप सोचते हैं कि मिलाने के बाद मेरा अस्तित्व, मेरा-प्रभुत्व, स्वामित्व, नाम नहीं रहेगा। लेकिन हमें अपने को, अपने व्यक्तित्व को मिलाना होगा, इससे अपारता अपरिमितता आ जाएगी। हममें अलौकिक शक्ति जागृत हो जाएगी। हमने नमस्कार करने के बाद आज तक अपने को नदी की तरह मिटाना पसन्द नहीं किया। वर्तमान हमेशा नहीं रहेगा। लहर समुद्र में उठती है और मिटती है। वास्तविक शक्ति अपने आपको नमस्कार करने से मिलेगी। लेकिन अगर अपने आपको याद नहीं कर सको, तो प्रभु को तो याद रखना ही है। दोनों को ही नहीं भूलना है। उपासना तब तक करो, जब तक उपास्य नहीं बन जाते। उसके लिए कोशिश करना है।

❑ ❑ ❑

करे सो भरे

नमस्कार का निषेध करने पर क्या होगा, यह हमें देखना होगा। व्यक्ति का साधन व माध्यम भिन्न हो सकता है, पर केन्द्र एक होगा। 'श्री' शब्द लक्ष्मी वाचक है। दुनियाँ में लक्ष्मी अनेक प्रकार की मानी गई है। वर्तमान में स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिए विश्व का प्रयास चल रहा है। कोई स्वास्थ्य का अवलोकन धन में, कोई तन में और कोई वन में कर रहा है। स्वास्थ्य दुनियाँ में नहीं है। स्वास्थ्य का मतलब है अभीष्ट की प्राप्ति, कल्याण, अविनाशी सुख। यह दुनियाँ के पदार्थों में नहीं है। जो स्वास्थ्य कभी मिट जाये, कभी पैदा हो जाये, वह स्वास्थ्य नहीं है। स्वास्थ्य जब चरम सीमा पर पहुँच जाये तब ही स्वास्थ्य है। मधु से लिपटी तलवार को चाटने में थोड़ा सा सुख का अनुभव होते ही जीभ दो भागों में विभक्त हो जाएगी। जैसे ही यह जीव भोग के सन्निकट जाता है वैसे ही जो सुख, जो ज्ञान प्राप्त है, वह भी लुट जाता है और रोग के सन्निकट पहुँच जाता है, स्वाधीनता का

अभाव हो जाता है। भोगों द्वारा जो क्षणिक सुख प्राप्त होता है, वह सुख, दुख को निमन्त्रण देता है। सोना जो आपको प्रिय लगता है पर ज्यादा भारी सोना स्वास्थ्य में बाधक है। किसी ने अच्छा ही कहा है–

वा सोने को जारिये जा सों टूटे कान

तृष्णा की वजह से शांति प्राप्त नहीं होती है। रोग से पृथक्, भोग से पृथक् तथा योग से युक्त जो वस्तु है, वह वास्तविक हितकारी है।

नमस्कार जिसने नहीं किया है, उसे क्या फल मिलेगा। इसके लिए रावण व बाली मुनि का उदाहरण सामने है। मन बहुत चंचल है। प्रायः करके स्खलित हो जाया करता है पेड़ पर चढ़ना आसान है पर उतरने पर नीचे गड्ढा नजर आता है, उतरना बहुत मुश्किल है। अपने आपका आलम्बन छोड़ना, स्वावलंबन को छोड़ना है और पराधीनता को पकड़ना है। तेरा नमस्कार करना दुनियाँ की सुरक्षा करना नहीं, अपनी सुरक्षा करना है। दुनियाँ की सुरक्षा करते-करते तो वर्षों बीत गये।

जब असाता वेदनीय कर्म का उदय होगा, तब नाम, यश-कीर्ति सब मिट जाएँगे और अगर नाम रखने की भी कोशिश की तो वह नाम बदनाम हो जायेगा। शारीरिक शक्ति, धन की शक्ति और शासन की शक्ति से भी बढ़ कर आत्मा की शक्ति अलौकिक है। नमस्कार करें तो चमत्कार हो जाये, और तिरस्कार करें तो बहिष्कार हो जाता है। तीन लोक की सम्पदा नमस्कार करने पर मिल सकती है और न करने पर रोना पड़ता है। स्वाधीनता, सरलता और समताभाव को धारण करो, क्योंकि यही आत्मा की निधि है। इसको नहीं अपनाने पर दुख का कारण होता है। जीव मिटता नहीं है, उसे दुख का अनुभव तो करना ही पड़ेगा। किए हुए कार्यों से यह जीव संसार परिभ्रमण करता है। आप लोग रात दिन कुटिलता, ममता, वक्रता के साथ कितना पाप कर रहे हैं, यह विचार करना चाहिए। मायाचार अपना स्वभाव नहीं है। परतंत्रता को छोड़कर स्वाधीनता की ओर आना चाहिए, तभी सफलता मिलेगी।

❑ ❑ ❑

विचार करो

जब हम किसी भी बड़े व्यक्ति के पास जाएँगे तब उनके दर्शन के पूर्व कुछ भेंट करेंगे। हालांकि वे भूखे या भिखारी नहीं होते हैं, पर यह एक सम्मान का, उदारता का प्रतीक है। इसी प्रकार जब तीन लोक के नाथ के पास जायेंगे, नमस्कार करेंगे, तब क्या भेंट करेंगे ? कुछ न कुछ तो देंगे ही। हालांकि वो माँगते भी नहीं है, पर इस प्रकार हम उनका मान-सम्मान करते हैं, जबकि वे मान-सम्मान भी नहीं चाहते हैं। वे तो राग-द्वेषादि से दूर हैं। भेंट में अगर हम और कुछ नहीं तो कम से कम रागद्वेषादि जो हानिकारक है उन्हें ही उनके चरणों में विसर्जित कर देना चाहिए। आत्मा

के अहितकारी विषय और कषाय है। अतः सर्व प्रथम महावीर भगवान् के सम्मुख थोड़ा-थोड़ा विषय कषाय को ही त्याग करना चाहिए। अनादि काल से इस जीव ने इन विषय कषायों को अपना मित्र मान रखा है, पर इनसे शान्ति नहीं मिल सकती। अपने भावों को भगवान् तक पहुँचाने के लिए हमें त्यागी के सम्मुख त्यागी बन कर ही जाना चाहिए। चावल लौंग आदि हम जब भगवान् के सामने चढ़ाते हैं, यह भी एक तरह से विषय को त्याग करना है। राग व कषाय, विषय वासना की वृद्धि हो रही हो तो पूजा सार्थक नहीं कहलाती है। जहाँ राग-द्वेष, विषय-कषाय का त्याग होता है वहाँ ही यह प्राणी महावीर भगवान के सन्निकट होता है। भगवान् महावीर का नाम लेने से हम उनके सन्निकट नहीं पहुँच पाएँगे, बल्कि जिस त्याग को उन्होंने अपनाया है उसको धारण करने पर ही हम उनके सन्निकट पहुँच सकते हैं। दुनियाँ का यह प्राणी मृत्यु से बहुत भयभीत होता है, फिर भी उस मृत्यु से मुक्ति नहीं है। क्योंकि जो जीना चाहता है वहाँ मृत्यु जरूर खड़ी होती है। उस चाहरूपी दाह से हमें मुक्त रहना है, तभी मृत्यु से मुक्ति मिल सकती है। आज दुनियाँ में धनवान से धनवान, करोड़पति-अरबपति आदि सबको मृत्यु का भय लगा हुआ है। और जो व्यक्ति डरता है तथा जो डराता है उसे मुक्ति (आनन्द) का अनुभव नहीं हो सकता है। इसे भय संज्ञा कहते हैं, यह सबसे ज्यादा खतरनाक है। आहार और काम संज्ञा से तो कुछ समय के लिए मुक्ति मिल सकती है। पर भय संज्ञा और परिग्रह संज्ञा २४ घंटे लगी रहती है। जो मुक्ति की इच्छा रखता है, उसे इन संज्ञाओं का त्याग करना पड़ेगा।

शरीर के पीछे यह जीव विषय-कषायों को अपनाता है, खुद भी निर्भीक बनें और दूसरों को भी निर्भीक बनावें, यही महोत्सव है। आप चाहते हैं, हर्ष उल्लास का वातावरण, सुख का संवेदन। हर प्राणी मात्र इसी कामना से परिश्रम करता है, पर जब तक वह डरता व डराता है, तब तक यह चीजें असंभव हैं।

विश्वशांति तभी सम्भव है, जब हम अहिंसा को अपनाएँगे। दूसरे को डर दिखाने, पीड़ा पहुँचाने तथा हिंसा करने के लिए भी शस्त्र रखना पड़ेगा, और शस्त्रधारी को भी डर रहेगा कि बढ़िया शस्त्र बनाकर कोई उसको हानि न पहुँचा दे। अतः उसे भी भय लगा हुआ है। हमने आज तक यह देखा कि दूसरा अगर करे तो हम भी करें। पहल किसी को न किसी को तो करनी पड़ेगी। हमें भगवान् के दरबार में कुछ न कुछ तो विमोचन करना है। आज आपका जीवन भौतिक चकाचौंध की ओर झुक गया। मोक्ष मार्ग की ओर आरूढ़ हो जाने पर ही मोक्ष प्राप्त होगा। लोग प्रथम गुण-स्थान पर रहते हैं पर बातें १४वें गुणस्थान की करते हैं। जब हम महावीर भगवान् के बताये रास्ते पर चलते हैं, तो अगर मन्दिर आकर उनके दर्शन न भी कर सकें तो कोई बात नहीं है।

अध्ययन वही कर सकता है जो अध्ययन के समय तो कम से कम राग द्वेष त्याग कर दे। तब ही मोक्ष मार्ग की पृष्ठ भूमि प्रारम्भ हो जाती है। हमें विषय कषायों को गौण करना है, तब ही

हम जान पायेंगे कि महावीर भगवान् क्या हैं ? मोक्षमार्ग क्या है ?

हम अभी तक उपासक नहीं बन पा रहे हैं, इसका कारण हम स्वयं भयभीत हैं और दूसरों को भयभीत कर रहे हैं। हम मृत्यु से डर रहे हैं और डरा रहे हैं। हम मृत्यु से डरते हुए भी मृत्यु पर विजय प्राप्त नहीं कर रहे हैं। आत्मा को कष्ट व दुख हो रहा है, वह उल्टी परिणति के कारण हो रहा है, और वह उल्टी परिणति क्रोध, मान, माया लोभ है। हम नाम, स्थापना, द्रव्य से जैन हैं, पर भाव से जैन कोई विरला ही होगा। हमें भाव से जैन होना है। समीचीन परिश्रम, व समीचीन खर्च करना है। इसमें विवेक की आवश्यकता है। भौतिक चकाचौंध से सुख प्राप्त करना, अपने आपको धोखा देना है।

❑ ❑ ❑

धर्म का मर्म

स्वार्थ का त्याग परमार्थ की सिद्धि के लिए सोपान का काम करता है। मिथ्या भ्रांतियों को मिटाने के लिए समंतभद्राचार्य साम्प्रदायिकता से दूर हटकर समीचीन धर्म को लिख रहे हैं। जो व्यक्ति रास्ते पर लग गया, जो ज्ञानी है, उसके लिए कालेज आदि की जरूरत नहीं है। धर्म को जाति की डोरी में, पंथ की डोरी में बाँध लेना, अनेकांत को ठेस पहुँचाना है, व्यापकता का विरोध करना है। धर्म स्वतंत्र है, हम उसके शासन में हो सकते हैं, धर्म के सिद्धान्त को हम मान सकते हैं, उसके अनुसार चल सकते हैं, पर धर्म सिद्धान्त हमारे अनुसार नहीं चलेंगे। शब्दों से मतलब नहीं है, आशय से मतलब है। शब्द सीमित हैं। हम शब्दों के पीछे ही जीवन खो देते हैं, पर अर्थ को (आशय को) नहीं समझ पाते हैं। शब्द तो सिर्फ माध्यम है। लेकिन जो रूढ़िवादी तथा अहंभाव को लिए हुए हैं, वे आशय को नहीं समझना चाहेंगे।

इन्द्रियों को रोककर (दमन कर) जिन्होंने अपने आपके विकास के लिए प्रयत्न किया है, अथवा कर रहे हैं, वे वास्तविक जैन हैं। नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव निक्षेप से जैन होना है, पतित से पावन बनने की बात करनी है। जिधर उपास्य की दृष्टि होती है, उधर ही उपासक की दृष्टि रहती है। जब जिनेन्द्र के बताए उपदेश को व्यक्ति समझेगा, तब वह शब्दों में नहीं उलझेगा। उपाधि की ओर न देखने वाला व्यक्ति ही ऊपर उठ जाता है। धर्म के पीछे कोई उपाधि नहीं है। धारण करता है, वह धर्म है। जिस प्रकार पारसमणि उसी लोहे को सोना बनाता है, जिस पर कपड़ा अथवा जंग न लगा हो उसी प्रकार वही जीव अपने आपको पावन बना सकता है जो जिनेन्द्र भगवान के संदेश के अनुसार चलेगा। जैन धर्म जैसी उदारता अन्य किसी धर्म में नहीं मिलेगी। जो उपाधि को मिटाने की चेष्टा करता है, वह समाज में मिलने की चेष्टा करता है। हमारे यहाँ संग्रह नय एक ऐसा नय है जिसमें प्राणी मात्र को हम एक नाम से पुकार सकते हैं। जीव के प्रति हमारी दृष्टि समीचीन होनी

चाहिए। जैनत्व को जिसने नहीं समझा है, उसके लिए उपदेश है। जैन अपने आपकी प्रशंसा नहीं चाहता है। हमें उनकी प्रशंसा करनी है जो जैन नहीं हैं। धर्म किसी का नहीं है वह तो एक प्रवाह है। यह नदी के समान है, उसे कोई बाँध नहीं सकता, उसमें हम अपने पापरूपी मैल को धो सकते हैं। जब जहाँ कहीं नदी का बाँध बना देते हैं, वहीं 'खतरा' लिख देते हैं। इसी तरह धर्म को नदी की तरह बहने दो, उसे कोई आघात नहीं पहुँचेगा, उसे संकीर्ण दायरे में मत रखो, उसकी सीमा मत रखो, वह विस्तृत वस्तु है। व्यवहारिक क्षेत्र में नाम की जरूरत है, पर आध्यात्मिक क्षेत्र में नाम की जरूरत नहीं है। जहाँ विसंवाद खड़ा हो, वहाँ धर्म नहीं है। धर्म सबको समान देखता है। जिस प्रकार हवा, पानी सबको एक प्रकार लाभ देती है। धर्म को धारण कर फल की आकांक्षा करना, भूल है। फल की धारा तब तक अपने आप बनी रहती है, जब तक धर्म से सम्बन्ध बना रहता है। धर्म के साथ सम्बन्ध होने पर संवेदन होने लगता है, और वह संवेदन तब तक अक्षुण्ण रहता है जब तक धर्म से सम्बन्ध रहता है।

जो तत्काल सुख का अनुभव कराये, कर्मों से छुटकारा दिलाये, और अभ्युदय की प्राप्ति कराए, वही धर्म है। मुक्ति हर एक के लिए इष्ट है। सुख सबको इष्ट है, पर दुख नहीं। कर्म जब छूट जाते हैं, तब ही सुख का अनुभव होता है। जिसको धर्म पर विश्वास हो जाता है, उसको यह मालूम हो जाता है कि मेरे कितने कर्म छूट रहे हैं, सुख का अनुभव हो रहा है। जो कर्मों से छुटकारा चाहता है, वह दुख का अनुभव नहीं करेगा। पूर्व में जो कर्ज लिए है, धन आने पर उसे कर्ज लौटा देना चाहिए। इसी प्रकार जब हमारे पास शक्ति है, तब ही बन्धे हुए कर्मों से छुटकारा पा लेना चाहिए, इसे कहते हैं निर्जरा। हमें कर्म से छुटकारा पाने के लिए धर्म को धारण करना है। हमें धर्म इष्ट है यह सोचना है। अगर धर्म इष्ट है तो फिर इष्ट को (धर्म) द्:ुख का कारण कैसे मानोगे? जब शरीर में ताकत है, तब ही धर्म धारण कर कर्मों से छुटकारा पा सकते हो। कार्य के पूर्व में उपाय के साथ अपाय का भी विचार करना है। दवाई के साथ बीमारी में पथ्य का भी विचार करना पड़ेगा तभी रोग का इलाज होगा। रणक्षेत्र में दूसरे पर प्रहार करने के साथ-साथ कवच, ढाल आदि से आत्म सुरक्षा के साधन को भी ध्यान रखना होगा, तभी आप जीत सकते हैं। कर्म अनिष्ट है और धर्म इष्ट है। अतः कर्मों को जीतने के लिए धर्म का आधार लेकर कर्मों पर प्रहार करो तभी विजय प्राप्त होगी।

आत्मा का हित वीतरागता में निहित है, यह वीतरागता खड्ग की धार नहीं है; वीतरागता की उपासना अन्तरंग से जो करेगा, तभी उसकी मुक्ति सम्भव है। उपास्य बनना चाहो, तो भाव से उपासक बनो। इन्द्रियों को और कषायों को अनिष्ट समझो। सब साधन अनुकूल होकर भी जो धर्म धारण नहीं करता, तो वह ऐसा ही है, कि रत्न द्वीप में जाकर भी रत्न नहीं लेता। यह तो अभागापन है।

देह को हेय समझो, इसे कारागार समझो, देह जावे तो जाने दो पर आप धर्म को धारण

करो। देह सूख जाये तो सूखने दो, पर आप तो ताजा बनो, भाव निक्षेप से जैन बनो। नाम से तो वह जैन बनेगा ही। भाव निक्षेप से चैतन्य शक्ति नहीं रुकती, धर्म की लहरें बाहर आने लगती हैं।

❑ ❑ ❑

माला नहीं, मन फेरो

समंतभद्राचार्य उस धर्म की व्याख्या करने जा रहे हैं, जिस धर्म के द्वारा समस्त संसार सुख का अनुभव करेगा, एक क्षण को भी दुख का अनुभव नहीं करेगा। कल्प वृक्ष, कामधेनु और चिन्तामणि आदि चीजें सुख को देने वाली हैं, किन्तु धर्म एक ऐसी चीज है, जिसके सामने कल्पना, कामना, चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। इसके द्वारा विश्व मात्र, प्राणी मात्र अपनी अपूर्ण स्थिति को पूर्ण कर सकता है। आज सुख की खोज में अनेक दौड़ रहे हैं। पर सुख क्या चीज है ? यह नहीं जानते हैं। मौत से डरते हैं, पर मौत के पास जाते हैं और मौत के कारणों को जुटा रहे हैं। अग्नि को बुझाने के लिए पानी की आवश्यकता है, तेल की नहीं। जहाँ पर तृण व ईधन नहीं है, वहाँ अगर अग्नि रख भी दी जाये, तो भी वह अपने आप बुझ जायेगी। अग्नि को बुझाना है तो उसमें ईधन मत डालो। धर्म की परिभाषा को आज तक आप लोगों ने समझा ही नहीं है। साधन के द्वारा साध्य को प्राप्त करना है। धर्म का मतलब साधन (उपाय) है। सुख को प्राप्त कराने वाला धर्म है। सुख से पहले हम को दुख के कारणों व उसको भगाने (दूर करने) की खोज करनी है। गेहूँ को बीनने के लिए कंकड़-पत्थर का ज्ञान आवश्यक है। मन्दिर, मस्जिद आदि धर्म नहीं हैं, इनके माध्यम से धर्म समझ में आता है। ये धर्म को समझने में, धार्मिक भाव को जागृत कराने में माध्यम हैं। जब तक मन और वचन शुद्ध नहीं होंगे, तब तक कार्य नहीं होगा। उपयोग को केन्द्री-भूत करने के लिए स्नान, वस्त्र की शुद्धि, मौन आदि आवश्यक है परन्तु मौन, स्नान, वस्त्र की शुद्धि ये लक्ष्य नहीं हैं। ये धर्म साध्य नहीं हैं। धर्म तो इनसे ऊपर है। कुछ लोग एक बार खाना, शोध का खाना, पानी छानना, पूजा करना, माला फेरना इसे ही धर्म मानते हैं। माला फेरने में ही धर्म है, तो फिर माला बनाने वाला तो बहुत धार्मिक हो सकता है, क्योंकि वह तो बहुत बार माला फेरता है। वास्तव में हमारा मन फिरना चाहिए। महावीर भगवान् के सामने ढ़ोक देते-देते नाक रगड़ लें तो नाक घिस सकती है, पर मोह कम नहीं होता। स्नान से शरीर शुद्ध हो सकता है, पर आत्मा राम नहीं। बाहरी साधनों के द्वारा मन पवित्र नहीं हो सकता है। बाहरी कारणों के साथ-साथ उपयोग को भी एक कारण माना है। सब सामग्री मौजूद होने के बाद भी अगर कुम्हार का उपयोग नहीं हो तो घड़ा कभी तैयार नहीं होगा। मात्र शरीर जिसमें लग जाता है, वही धर्म नहीं है। हम एक ही पहलू को तो याद करते हैं, पर दूसरे पहलू को भूल जाते हैं। आपने व्रत भी किया है, स्नान भी किया है, आसन पर भी बैठे हो, पर अगर सामायिक करते समय ऊँघने लग जाओ तो वह सामायिक नहीं होगी। जो व्यक्ति अपूर्ण ज्ञान को

दुख का कारण मानता है, वही उसे पूर्ण बनाने में लग जाएगा।

खाने (भोजन) से तृप्ति नहीं है, वह तो तृप्ति का माध्यम है। करने के बारे में पूरी तैयारी है पर किया नहीं तो क्या फायदा! आपने विश्रांति के लिए २४ घंटे में एक घंटा भी नहीं निकाला। थक कर बाद में आराम करना, विश्रांति नहीं है। थकने पर तो मन भी थक जाता है। बिना थके, होश में रहकर उपयोग को जागृत रख कर आपने विश्रांति नहीं की। सामायिक नींद में नहीं है। थक कर आराम करने से शरीर को तो विश्रांति मिल जाती है, पर आत्मा के लिए उपयोग के लिए विश्रांति नहीं मिलती है। आज तक आपने सुख की खोज बन्धन में की है। जब वास्तविक उपयोग बढ़ जाता है, तभी वास्तविक अनुभूति होती है।

हम तीर्थ यात्राएँ करते हैं, पर कषायों को कम नहीं करते। कषायें कम हो जायें उसे हम यात्रा कहते हैं। जो अन्दर मँज जाये, वही व्यक्ति सच्ची यात्रा करता है। उस व्रत, नियम को अंगीकार करो, जिससे मन में संक्लेश न हो। धर्म के माध्यमों के प्रति लक्ष्य नहीं, धर्म के प्रति लक्ष्य होना चाहिए। चुनाव में विरोधी को भी ध्यान में रखकर चुनाव लड़ते हैं। हमें भी Against (विपरीतता) को ध्यान में रखना है, पर अपने को भी नहीं भूलना है। यही धर्म का वास्तविक लक्ष्य है। दुख का विचार करो, पर सुख के मार्ग को मत छोड़ो। कंकड़ के साथ गेहूँ को भी मत फेंको, वरना रोटी नहीं मिलेगी।

❑ ❑ ❑

वीर मरण

एक कार्य की सिद्धि के लिए अनेक कारण चाहिए। वीर मरण, समाधि-मरण बहुत टेढ़ी खीर है। पहाड़ दूर से बढ़िया व मामूली चढ़ाई वाला दिखता है। पर पास जाने पर कंकड़-पत्थर, चट्टानें आदि देखने पर चढ़ाई कठिन मालूम देती है। इसी प्रकार समाधिमरण दूर से सरल दिखता है, पर जब समाधिमरण को धारण करते हैं, तब मालूम पड़ता है। बारह व्रतों के साथ तेरहवां व्रत सल्लेखना है। पंच नमस्कार मंत्र का ध्यान करते हुए मुनियों, आचार्यों के सान्निध्य में जो मरण होता है, वही समाधि-मरण है। वैयावृत्य पार्थिव शरीर का नहीं, उसमें उपयोग का था। आचार्य महाराज कहते थे कि जिस चीज से डर है उस चीज के पास बार-बार जाने पर वह डर भाग जाता है। मरण से डर रहे हो, जब उसको अपना पड़ोसी बना लोगे, तो मरण से डर नहीं रहेगा। मरते वक्त लुकमान भी यह कह गया, यह घड़ी हरगिज न टाली जायेगी। अतः वीर मरण जब आप करेंगे तभी मृत्युंजयी बन जाओगे। कहा भी है कि Death Keeps no Calender.

जीवन भर तपस्या करना, यह एक मन्दिर का निर्माण करना है, और जो अन्त में समाधिमरण धारण कर लेना है, वह मन्दिर में कलश चढ़ा देना है। ❑ ❑ ❑

कर्म कैसे करें !

आचार्य उस धर्म की व्याख्या कर रहे हैं, जिसके द्वारा आप संसाररूपी महा समुद्र से छूटकर ऊँचे सिंहासन पर बैठ जायें। अनादिकाल से इस संसारी आत्मा की शक्ति का दुरुपयोग होने के कारण यह दुखी का दुखी ही रहा है। सन्त महर्षि अपने आपके जीवन के लिए कोई आवश्यकता नहीं रखते हैं, उनका ध्येय यही होता है कि सबको सुख प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त हो। व्यवस्था बन्धन साधु के लिए नहीं हैं, गृहस्थ समाज के लिए हैं। रोगी के हाथ को पट्टी बाँधते समय अगर डॉक्टर भी अपने हाथ में पट्टी बाँध लेगा तो वह रोगी का रोग दूर नहीं कर सकेगा। भगवान् महावीर ने जो अनुशासन, व्यवस्थाएँ बनाई है, वह गृहस्थ समाज के लिए हैं। पर स्वयं के लिए, साधु समाज के लिए नहीं। बच्चा-पिताजी की आज्ञा लेकर कार्य करता है, पर जब स्वयं पिताजी उसको घर का भार सौंप देते हैं, तब वह सारे कार्य पिताजी की आज्ञा लेकर नहीं करता, इसका अर्थ पिताजी की अवहेलना नहीं है।

जो व्यक्ति जिस स्थान पर रहता है, उस स्थान पर उसका वैसा ही धर्म है। शीत लहर जब चल रही हो तो उसे ओढ़ना पड़ेगा। धर्म का मतलब यह नहीं कि जैसा आप कर रहे हैं, वैसा ही सब करें। जो व्यक्ति अहंकार (अभिमान) के साथ दूसरे को अपने अनुसार चलाता है, वह अनीश्वर है, उसे तीन काल में सफलता नहीं मिलेगी। जिस क्षेत्र में जो धर्म चल रहा है, उसे समीचीन संज्ञा दी जा सकती है। जितनी आपके पास चद्दर है, उतने ही पैर फैला दो, तभी आपका धर्म निभेगा। अग्नि अनेक कार्यों में काम आती है। वह प्रकाश भी देती है, उससे रोटी भी बन सकती है, पर अपने को बचाते हुए उससे काम लेना है, वरना उससे आपकी अंगुलियाँ जल जाएँगी। प्रकाश भी वह तभी प्रदान करेगी जब उसे दीपक का रूप दिया जायेगा। एक बात को हरेक क्षेत्र में ले आना, ठीक नहीं है। साधु आपके शासन में शासित नहीं है, उसके बन्धन गृहस्थ समाज के अनुसार नहीं है। पिताजी कैसे चलते हैं, वह देखने की आवश्यकता बच्चे को नहीं है। बच्चा पिताजी के अनुसार चले, यही उसका कर्त्तव्य है। प्रजाओं पर शासन चलाना मामूली चीज है, पर अपने ऊपर शासन चलाना टेढ़ी खीर है। आत्मवान तभी बनता है, जब प्रजाओं की सुरक्षा करते-करते उससे भी ऊपर उठ जाता है। आज जितनी भी हड़ताल छात्रों द्वारा होती हैं, उसका कारण यही है कि बच्चे चाहते हैं कि मास्टर उनके अनुशासन में चले। संसारी जीव प्रायः करके हुकुम (शासन) की ओर बहुत जल्दी दौड़ जाता है, वह समझने लगता है कि मैं सबसे ऊपर हूँ, पर उससे ऊपर आकाश भी तो है।

सम्यग्दृष्टि वह है जो विवेक के साथ चलता है। ज्ञान-दर्शन चलते नहीं है, पर आदेश दे देते हैं। हेय की ओर गति न कर उपादेय की तरफ गति देते हैं। चारित्र (पैर) नहीं जानता कि उचित स्थान कौन-सा ? पैर गधे के समान है। ज्ञान और दर्शन के हाथ में उसकी लगाम है। ज्ञान दर्शन यात्री और चारित्र रेल (घोड़ा) इत्यादि वाहन है।

अर्थ पुरुषार्थ और काम पुरुषार्थ का फल तो हमने अनन्त बार भोग लिए, पर धर्म पुरुषार्थ का फल प्राप्त नहीं किया। भ्रमर फूल के रस का सेवन करता है, पर उसको नुकसान नहीं पहुँचाता है। और गन्दी वस्तुएँ टट्टी-पेशाब आदि पर भी नहीं बैठता। पर मक्खी गन्दी वस्तुओं पर भी बैठती है, और उसमें लिप्त भी हो जाती है। दोनों चार इन्द्रिय जीव है। सम्यग्दृष्टि भ्रमर के समान भोग करते हैं और मिथ्यादृष्टि मक्खी के समान। दोनों में से एक में ज्ञान है, अनेकांत है। दूसरे में अज्ञान और एकांत है। सम्यग्दृष्टि कर्म का फल तो भोगता है, पर कर्म करके फल नहीं भोगता है। वह एनकेन प्रकारेण लड्डू बनाकर खाने की कामना नहीं करता, लड्डू के त्याग नहीं है। लड्डू हो तो खा लेता है। वह जब त्याग की तरफ आ जाता है तो भोगों को पीठ दिखा देता है। सद्‌गृहस्थ को 'मेरी भावना' भानी चाहिए और 'बारह भावना' जो मुक्ति पथ पर आरूढ़ है उसे भानी चाहिए। ऐसा न करने पर तो फिर 'थोती' भावना हो जाएगी। मिथ्या दृष्टि जय-जय भी बोलता है, उपासना भी करता है और सम्यग्दृष्टि भी ऐसा करता है, पर दोनों में फर्क है। अतः गृहस्थ जीवन में सुख शांति लाने के लिए विषयादि को कुछ समय गौण, कुछ समय मुख्य, फिर गौण करना है। अर्थ व काम पुरुषार्थ करते हुए धर्म पुरुषार्थ को मुख्य रखोगे। अर्थ तथा काम पुरुषार्थ जब हावी हो जाते हैं, तब अधोगति की ओर मुख हो जाता है। इनको मुख्य नहीं बनाना है। आज अर्थ पुरुषार्थ मुख्य हो गया है। इसमें परिग्रह संज्ञा २४ घंटे उद्दीप्त रहती है। उसको गौण कर भोग करके योगी बन सकते हो वरना तो रोगी बन जाओगे। आर्तध्यान की जरूरत जीवन को चलाने के लिए नहीं है। जिस क्षेत्र में आप विराजमान है, उसी के अनुरूप आपकी दृष्टि होनी है। ज्ञान-दर्शन के अनुसार ही चारित्र में लगना है। फूल फल की निशानी है। फूल की सुरक्षा करने पर फल की प्राप्ति होती है। जब फूल मुरझाने लगता है तो स्वर्गों के देव भी जान जाते हैं कि अब हमें यहाँ फल नहीं मिलेंगे। जब भोगों का अन्त होता है तभी योग के चिह्न प्रादुर्भूत होते हैं। जो भगवान् के सम्मुख भोगों का त्याग करते हैं तो वे वापस नहीं आते हैं और भोगों को भगवान् के सम्मुख गौण कर देते हैं वे भरत चक्रवर्ती के समान हो जाते हैं। पीछे चलने वाला यह सोचे कि आगे वाला उसके अनुसार चले तो यह गलत है। पीछे वाले को ही आगे बढ़कर आगे वाले के अनुसार चलना पड़ेगा।

मंदिर क्यों ?

एक व्यक्ति यह चाहता है कि मुझे रास्ता बताओ, दूसरा व्यक्ति कहता है कि मुझे रास्ता बताने की कोई आवश्यकता नहीं है, जहाँ विनय के साथ कहता है, वहाँ संकोच की आवश्यकता नहीं है। उपदेश भी स्वाध्याय का एक अंग है। मैं उसे नमस्कार करता हूँ, जिसके द्वारा सुख शांति और वैभव को प्राप्त कर सकूं। रत्नत्रय आत्मा की निधि है। शिष्य को कुंभ की उपमा दी है, और

कुम्हार की संज्ञा गुरु को मिली है। कुम्हार अनेक सामग्री जुटा कर उपयोग लगाता है, वह चाक फिराता है, कुम्भ बनाता है। अन्दर हाथ डाल कर बाहर से चोट मारता है। चोट के साथ सुरक्षा का भाव उसका होता है। जहाँ नीचे (अन्दर) हाथ होता है, वहाँ चोट मारता है, और कुंभ को सुन्दर बनाता है। महावीर भगवान् जिस पथ पर आरूढ़ हुए उसको कष्टकर न समझ कर सुख का अनुभव करना है। जहाँ रत्नत्रय की कमी है, वह दुख का अनुभव करेगा। भोजन, वस्त्रादि शरीर की खुराक है, ये तो माध्यम है, पर आत्मा की खुराक तो ये तीन रत्न हैं। आज के बालक स्व-पर कल्याण में समर्थ हैं। इसके लिए विधि होनी चाहिए। सर्व प्रथम जब तक पसीना नहीं आता, तब तक कार्य की सिद्धि नहीं होती। जब विवेक के साथ विधि (परिश्रम) संगठित हो जाती है, तब जल्दी सफलता मिल जाती है। मिट्टी व कुम्हार को देखकर ही घड़ा नहीं बन जाता है, उसके लिए साधन जुटाकर मेहनत करनी पड़ती है। दिशा बदलने पर ही दशा बदलेगी। आपको मात्र निर्देशन (Direction) की आवश्यकता है। ८ साल के उपरांत बच्चा उस काम को भी कर सकता है, जिसको दादाजी भी नहीं कर सकते हैं।

मन बाहर की ओर दौड़ना चाहता है, मंदिर में नहीं रहना चाहता है। मन कुछ और चीज है और मंदिर कुछ और चीज है। मनोकामना की पूर्ति पाँच इन्द्रियों के द्वारा होती है। मन इन पाँचों नौकरों को काम बताता है। ये इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों की ओर दौड़ती है। मन (ज्ञान) प्रवाह पाँच भागों में बंट जाता है। मन की भूख प्यास घर में नहीं मिटती है। जो मनोरथ पर बैठ जाते हैं उनकी गति राकेट से भी ज्यादा तेज हो जाती है। कल्पना भी बहुत दूर-दूर तक हो आती है। ज्ञान आज तक अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाया है। वह ज्ञान मंदिर के द्वारा ही लक्ष्य तक पहुँच पाता है। यह निमित्त-नैमित्तिक का सम्बन्ध है। एक इन्द्रिय जब काम कर रही हो तो अन्य इन्द्रिय काम करना गौण कर देती है। पंचेन्द्रिय विषय जहाँ घर में उपलब्ध है, वहाँ भगवान् के साथ लौ नहीं लगा सकते है। लिखते समय भी उपयोग की बहुत आवश्यकता है। प्राथमिक दशा में पंचेन्द्रिय विषयों से दूर रहकर मंदिर में दर्शन करना जरूरी है। मंदिरों में पाँचों इन्द्रियाँ अपने कार्य बन्द कर देती है, Rest ले लेती हैं, इसलिए मन के द्वारा चिंतन हो जाता है। वहाँ विषयों को पुष्ट करने के साधन नहीं है। अतः उन पंचेन्द्रियों की शक्ति भगवान् की ओर केन्द्रीभूत हो जाती है। यह मंदिर समाज निष्ठा तक पहुँचने के लिए भी सोपान का काम करता है, प्रारम्भिक अवस्था में मंदिर जाना आवश्यक है, और वहाँ वीतरागता के बारे में खोज करना चाहिए तथा आरम्भ-परिग्रह, घर गृहस्थी की बातें नहीं करना चाहिए। उसे मिलने का स्थान नहीं समझना चाहिए।

❑ ❑ ❑

सही दिशा

आचार्य उस वस्तु को दिखाने का प्रयास कर रहे हैं जो आज तक हमारे लिए अपरिचित थी, जो आज तक हमारे देखने, सुनने व अनुभव में नहीं आई है। थोड़ा प्रयास किया जाये तो बहुत कुछ हो सकता है। थोड़ी दृष्टि बदलने की आवश्यकता है। कुछ विचार (Rest) की जरूरत है। रास्ता बहुत कम है, मात्र मुड़ना, (घूमना) है। प्रयास को दौड़ने की आवश्यकता नहीं, विवेक की दृष्टि बदलने की जरूरत है। विधि के अनुसार प्रयास करना है, जो धर्म आज तक नहीं मिला वह एक सैकेंड में मिल सकता है। इसी धर्म को आचार्य महोदय समझा रहे हैं। उसे समीचीन धर्म, जैन धर्म, विश्वधर्म, किसी नाम से पुकारो। धर्म वह है जो कार्य करने में सक्षम हो, संसार के दुख को समाप्त करने में सक्षम हो। समीचीन बात तो यह है कि हमारी गति उस ओर गई ही नहीं। हम तन, धन, वचन से सिद्धान्त को उल्टा करना चाह रहे हैं, वर्तमान स्थिति को हमेशा बनाये रखना चाह रहे हैं। अनेक नवयुवकों ने सुख-शांति की खोज के लिए ज्यादा नशा करके आत्महत्या भी कर डाली है। उनके पास Right Direction का अभाव है। परन्तु यहाँ पर जब Right Direction है तो भी प्रयास नहीं है। यह बड़े अचम्भे की बात है। हमने आज तक वीतरागता के बारे में अध्ययन किया ही नहीं, और अगर किया भी तो सिर्फ प्रमाण-पत्र को प्राप्त करने के लिए। सुख क्या चीज है? कैसे कहाँ से प्राप्त किया जा सकता है ? यह बात आज तक समझ में नहीं आई। हम कुछ समय के लिए इन्द्रियों के विषय को, ख्याति लाभ पूजा को भूल जाये। बाहरी चीजों के प्रति शरीर-ममता के प्रति उपेक्षा भाव होना, वहीं धर्म है। सुख तक पहुँचने का यही एक मार्ग है। जो सुख चाहता है वह परिग्रह और उपसर्ग के बीच में से गुजरता है। उस व्यक्ति को परीक्षा देनी है, उससे ही उसका मूल्यांकन किया जायेगा। शब्दों की उलझन में न पड़ कर समीचीन धर्म की खोज करनी है। संसार शरीर और भोग की ओर पीठ होना चाहिए तभी धर्म की भूमिका प्रारम्भ हो जाती है। हमने जयपुर की ओर मुख कर रखा है और जाना भीलवाड़ा है। हम कैसे भीलवाड़ा पहुँचेगे? हमें अपना मुख भीलवाड़ा की ओर करना है। हम धर्म के साथ नहीं जी रहे हैं। इसीलिए अशांति का अनुभव कर रहे हैं। दिन भर खाऊँ-खाऊँ, सोऊँ-सोऊँ लगा रखा है। साल में दस लाख की आवश्यकता है, हम १५ लाख की चेष्टा कर रहे हैं, यही अनन्तानुबन्धी है। धनार्जन में पुरुषार्थ ही कारण नहीं है, सातावेदनीय कर्म का उदय भी एक कारण है। शरीर को चलाने के लिए धन काम आता है। चार सौ बीसी आदि द्वारा हम अपनी आत्मा को अधोगति की ओर ले जा रहे है और आत्मा की हत्या कर रहे हैं। समुद्र आदि में डूबना ही आत्महत्या नहीं है। आज तक हमने अनेकों बार आत्महत्या की है। जमाना नहीं बदला है, न बदलता है, हम बदल गये हैं। मुख पर कालिमा लगाने व मिटाने वाला दर्पण नहीं है, वह मात्र दिखाने वाला है। काल के पास ज्ञान संवेदन नहीं है,

वह तुम्हें नहीं बदल सकता है। हमारे स्वयं के विचार बदलते जा रहे हैं। विचारों में विकार पैदा होता जा रहा है। आप कुछ त्याग नहीं करना चाहते हो तो कम से कम अनन्त संज्ञा जो लगी है, उसे तो छोड़ो।

आज अर्थयुग की चरम सीमा है। समयसार पढ़कर Ph.d. की डिग्री प्राप्त की जा रही है। एक ही दुकान पर दादाजी से लेकर पोते बैठकर अर्थ की लालसा में पड़े हैं, बच्चों को किस प्रकार शुरू से ही अर्थ के गर्त में फेंक रहे हैं। समय-समय में समुद्र में लहरें उठती हैं और नाश को प्राप्त होती हैं समुद्र सत्ता का प्रतीक है। लहरों को पकड़ने की चेष्टा कर रहे हैं पर वह आपके हाथ नहीं आ रहीं हैं, पानी ही हाथ आ रहा है ? सत्ता का अवलोकन तो करो। आत्मा है, रहा है और रहेगा चिर काल तक। इसे कोई मिटा न सकेगा। इस वास्तविक स्थिति को जो समझेगा वो त्याग मार्ग की ओर अग्रसर होगा। ये दशाएँ पर्याय के रूप में हैं, क्षणिक हैं। सत्ता के रूप में नहीं। भेद विज्ञान को इसीलिए प्रथम स्थान दिया है। भेदविज्ञान कहो या अनेकांत, स्याद्वाद कहो एक ही बात है। पर्याय को कोई भी मिटा नहीं सकता न बना सकता है, वह सत्ता में से निकलती रहती है, मिटती रहती है। हम राग द्वेष को मिटाकर वीतरागता में परिणत करा सकते हैं। सुख आत्मा का ही एक धर्म है, हम उससे अनादि से वंचित हैं, इसलिए दुख का अनुभव कर रहे हैं। आप इस सुख को प्राप्त कर सकते हैं। स्थिति को बदलना पड़ेगा। आपकी इन्द्रियाँ शरीर की सुरक्षा में लगी हुईं हैं। जहर की लहर तो आ रही है, अमृत की लहर आज तक नहीं आई है। आप चाय तो चाहते हैं, पर अमृत रूपी लहरों को नहीं चाह रहे हैं। इस दौड़ धूप को छोड़ दो, विचार करो। जितना आप का खर्च है, उतना ही कमाने की चेष्टा करो। जैसा तैसा कैसा भी आवे पैसा आवे, ऐसी चेष्टा मत करो।

❑ ❑ ❑

जैसी दृष्टि- वैसी वृष्टि

धर्म उसे कहते हैं जो संसार रूपी महा समुद्र से इस दुखी जीव को उच्च स्थान पर पहुँचा दे। जो उत्तम ज्ञान और उत्तम चारित्र युक्त हो। कुदृष्टि, कुज्ञान, कुचारित्र संसार में दुख के कारण हैं। इनका अभाव सो ही धर्म है। सद्दृष्टि, सद्ज्ञान और सद्चारित्र का आलंबन लेना हमारा परम कर्त्तव्य है। हम बाह्य कारणों से दूर नहीं रहते हैं। साधक कारणों को भी संग्रह करने लग जाते हैं। जब तक हम अपनी दृष्टि को नहीं मांजते, तब तक वस्तु ठीक-ठीक देखने में नहीं आती है। पीलिया के रोगी को जगत के सब पदार्थ पीले नजर आते हैं, उसे यह मालूम नहीं कि मेरी आँखें पीली हैं। हमें उस दृष्टि को, उस विकार को, उस रोग को दूर हटाना है। संसारी जीव की भी यही स्थिति है, उसको भी वस्तुएँ इष्ट-अनिष्टकारी प्रतीत नहीं हो रहीं हैं। उसकी दृष्टि में विकार है। हरेक की आँखें क्या जवान, क्या वृद्ध सबकी कुदृष्टि बनी हुई है, विकार भरा हुआ है, वह अनिष्टता के लिए है।

जो जीव सुख चाहते हैं, विकास, अनाकुलता चाहते है, उनके लिए ये विकार अनादि और अनन्त नहीं हैं। दूध में घी का सम्मिश्रण भी अनादि से है। पाषाण में स्वर्ण भी अनादि से है, पर प्रयत्न किया जाये तो पृथक् -पृथक् हो सकते हैं। कुदृष्टि, कुज्ञान, कुचारित्र मेरे स्वभाव नहीं हैं मैं चाहूँ तो हटा सकता हूँ, मेरी दृष्टि समीचीन हो सकती है।

आचार्यों ने कहा है कि किसी वस्तु को देखना, जानना-मानना-चिंतन करना कुदृष्टि नहीं है, पकड़ना कुदृष्टि है। पदार्थों को पकड़ना यही कुदृष्टि है। समीचीन दृष्टि सो वास्तविक स्वभाव और कुदृष्टि सो संसार। दुख का स्रोत पकड़ने में है, जानने में नहीं, क्योंकि जानना आत्मा का स्वभाव है। कुदृष्टि को माँजने की आवश्यकता है। यह तभी मँज सकती है, जब हम अपने आपको जाने। दुनियाँ की कोई वस्तु अच्छी बुरी नहीं है। हमारी दृष्टि अच्छी बुरी है। यह ज्ञान जब प्राप्त हो जाता है तो आनन्द का अनुभव हो जाता है, सद् दृष्टि प्राप्त हो जाती है। अनन्त की परिभाषा यह है कि सब कुछ दे दे तो भी संतुष्ट न हो। लोभ परिग्रह का प्रतीक है। जीव इसके वशीभूत होकर अपने स्वभाव को भूलकर कुदृष्टि को अपना लेता है। अनंत लोभ वह है जिसका समाधान ही नहीं होता। लिप्सा की तुलना में दादाजी भी पोते से पीछे नहीं रहते है। कुदृष्टि के साथ जब वृद्धावस्था आती है, तब शक्ति तो रहती नहीं है। खाने पीने की शक्ति नहीं, श्वांस भी अच्छी तरह नहीं ले पाता, इन्द्रियाँ भी पूर्ण रूपेण काम नहीं कर पाती किन्तु तृष्णा की पहली रेखा विषवन की है प्याली। यह तृष्णारूपी सर्प इस प्रकार का है, वह रात दिन दुनियाँ को खाता है। सर्प विष से तो एक बार ही मरना हो सकता है, पर तृष्णारूपी विष प्याली के द्वारा अनन्तबार, अनन्तभव, अनन्तमृत्यु होती है। आत्मा के अनन्त स्वभाव का इससे अंत हो जाता है। अक्षर का अनंतवां भाग ज्ञान रह जाता है, घड़े में घी के समान इस लोकाकाश में सूक्ष्म निगोदिया जीव भरे रहते हैं। एक बार जन्म लेने से कितनी वेदना होती है, उसको कहना मुश्किल है और जो जीव तृष्णा-लिप्सा के द्वारा अनन्त बार जन्म मरण को धारण कर रहा है, यहाँ तक कि श्वांस में १८ बार जन्म-मरण कर लेता है, उस दुख का वर्णन करने के लिए समुद्र को स्याही, सुमेरु पर्वत को लेखनी व पृथ्वी को कागज बनाना पड़ेगा। अनन्तानुबन्धी लिप्सा जब आ जाती है, तब ऐसी स्थिति इस जीव की होती है। कर्म सिद्धान्त को तो महावीर भगवान् भी नष्ट नहीं कर सकते हैं। अपने कर्म के फल को स्वयं वह व्यक्ति समय-समय पर भोगता है। दूसरों को मारने की हिंसा नहीं हुई है, पर मारने की कल्पना रात दिन हुई, यही अनंतानुबंधी का लक्षण है। भय की वजह से यह लोलुपी व्यक्ति, कुछ अनर्थ करता नहीं पर अनर्थ करने की इच्छा को छोड़ता नहीं है। डर के मारे द्रव्य हिंसा तो नहीं करते हैं, पर अनन्त हिंसा से नहीं डरते। जब दिशा ही खराब है तो दशा भी खराब होगी। दूसरों को हटा कर खुद की नियुक्ति न करो। अपने पुरुषार्थ से खाओ और कुछ बना कर रखो। आत्मा ने ज्ञान दर्शन को नहीं छोड़ा है अनंतकाल से पर

संयोग की वजह से दुख का अनुभव किया है। हम प्रार्थना करते हैं, संयोग न छूटने की, यह प्रार्थना गलत है। जवानी छूटेगी, बुढ़ापा आवेगा और आपको ले जावेगा। बादाम का हलवा भी रोज-खाओगे तो भी झुर्रियाँ गाल पर पड़ेगी, जो ललाई है, वह मिटेगी। आम का पीलापन समाप्त नहीं होगा पर लाल कांति जो है, वहाँ कुछ समय बाद झुर्रियां पड़ जाती है, जिसे आप भी बाजार में लेना पसंद नहीं करते। वह भी आम है। माली ने उसकी सुरक्षा भी की। आप उसे रेफ्रीजरेटर में रखोगे तो भी झुर्रियाँ तो पड़ेंगी ही। काल का निमित्त पाकर मिटना, रुकना, उठना, झुकना लगा रहता है अतः अनन्तानुबन्धी के पीछे पड़कर जो वस्तु का संग्रह हो रहा है, वह संसार का कारण है। आचार्यों ने दर्शन, ज्ञान, चारित्र के प्रयोग से पहले सच्चा (Right) शब्द का भी प्रयोग किया है। जितना लौकिक क्षेत्र में कोई आगे बढ़ेगा वह पारमार्थिक क्षेत्र में उतना ही पीछे रहेगा। वास्तविक सेठ वही जिसने आत्मिक क्षेत्र में अनुभव प्राप्त किया है। बबूल से आम भी नहीं मिलेंगे और छाया भी नहीं मिलेगी। आप वर्तमान में चाहे जितना संग्रह कर लो पर खायेंगे चार-पाँच रोटी ही। धनवान कोई एक बोरी नहीं खाता। जब चिंता लग जाती है तो जठराग्नि भी मंद पड़ जाती है। धनवान की खुराक तो वैसे भी कम हो जाती है। सेठ भस्म खाकर भस्म भले ही हो जाएँगे, पर खुराक ज्यादा नहीं कर सकते है। जो ऐसा करते हैं वे विषय भोग को संपुष्ट करते हैं, वे जीने के लिए खा नहीं रहे हैं, बल्कि खाने के लिए जी रहे हैं। जीने के लिए खाना सम्यग्दृष्टि है और खाने के लिए जीना कुदृष्टि है। खाने में सुख की प्राप्ति नहीं है, बल्कि खाने में भी पसीना आता है, जो कष्ट का द्योतक है। खाने से दुख की निवृत्ति भी नहीं हो सकती है। आप जैसा चाहोगे वैसा मिलेगा, आप नया-नया शरीर, नया-नया जीवन मिले ऐसा चाहोगे तो वो भी मिलेगा, एक श्वांस में १८ बार जन्म व मरण मिलेगा। यह अनंतानुबंधी का प्रतीक है। जो जीने के लिए खाता है वह शरीर को गौण समझता है, वह जीवन की रक्षा करता है। जिनकी दृष्टि हिंसा से अहिंसा की ओर नहीं है बचने की ओर दृष्टि नहीं है, वे लोग जैन के कोटे में नहीं आ सकते हैं। संतोष के बिना मनुष्य जीवन मिलता नहीं और संतोष के बिना मनुष्य जीवन में सफलता नहीं मिलती है। शरीर को जो कारागार, हीन समझता है वह अल्प आरंभ परिग्रह रखेगा।

❑ ❑ ❑

भूलो मत

आचार्य इस जीव को अनेकांत की ओर ले जाने की चेष्टा कर रहे हैं। सांसारिक जीव अपने इष्ट को प्राप्त करने को चेष्टा कर रहा है। हम प्रत्येक कार्य के पीछे इसका Scale बनाते हैं। भवन के निर्माण से पूर्व अनेक प्रकार के आयोजन के साथ इंजीनियर्स को बुलाया जाता है। उसी प्रकार मोक्ष प्रासाद का निर्माण करना है। इसकी पूर्व भूमि व पृष्ठभूमि देखना है। यह समय रूपी

घड़ी बिना चाबी के कार्य करती रहती है। शास्त्रकारों का उल्लेख है कि सुई की नोक पर जितना स्थान है, उतनी ही जगह में भी निगोद राशि भरी पड़ी है। अनेकांत दृष्टि के लिए अनंत पुरुषार्थ की आवश्यकता है, तब वह जीव त्रस पर्याय में आता है जिसकी तुलना चिन्तामणि से की गई हैं। उसके उपरांत प्रयत्न करते-करते पंचेन्द्रिय बनता है। वहाँ पर भी मन नहीं रहता है। एक स्थिति ऐसी भी है जब मन प्राप्त भी हो जाता है तब संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव देशनालब्धि को प्राप्त करता है, तब अनेकांत दृष्टि को प्राप्त करता है। यह लब्धि अनेक पुरुषार्थ से प्राप्त हुई है। इसके बाद भी यह जीव कषायी है या नहीं मालूम नहीं पड़ता। विशुद्ध लब्धि के बाद ७० में ६९ सैनिकों को तो वह हताश कर देता है, और मात्र एक सैनिक रह जाता है। तब भी वह सम्यग्दृष्टि नहीं कहा जाता है। देशना लब्धि में प्रभु की दिव्य ध्वनि को व्यक्ति सुनने को आतुर हो जाता है। महाराज का प्रवचन रोज सुना किन्तु विचार नहीं किया कि क्या कह रहे हैं? तब तक विशुद्ध लब्धि प्राप्त नहीं होती। अभी कुछ भूमिका ही नहीं बाँधी है। अनन्तकषाय चल रही है। जैसे-जैसे जीव शुभ की ओर अग्रसर होता है। तैसे-तैसे वह सम्यक्त्व की और चारित्र की ओर बढ़ जाता है। त्याग के बिना सम्यग्दर्शन तीन काल में भी प्राप्त नहीं होता है। प्रकाश के साथ-साथ पैरों को गति मिलती है। अनंत कषायों को दबाना ही चारित्र की प्राप्ति है। अनन्त पुरुषार्थ करने पर ही रास्ता सरल बनता है मंजिल पर पहुँच जाने पर त्याग की ज्यादा आवश्यकता नहीं रहती है। कीचड़ में एक वस्त्र है। सर्व प्रथम उसे निकाल कर उसे साफ करने के लिए पहले जल से धोते हैं फिर साबुन लगाकर मैल निकालते हैं, इसमें बहुत पुरुषार्थ लगता है। फिर बाद में टिनोपाल लगाते हैं। अनन्तकषाय के लिए पहले अनंत पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। बाद में केवल टिनोपाल की तरह निचोड़ने पर फिर शुद्ध हो जाता है।

मन पर लगा लगाम

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र संसार का कारण है। ज्ञान बाहर से नहीं आया और न बाहर चला गया है। पुद्‌गल और जीव दो द्रव्य हैं। ये दोनों कुछ निमित्त को प्राप्त हो कर विपरीत परिणमन कर देते हैं। स्फटिकमणि के समान जीवात्मा भी स्वभाव को लिए हुए है पर दूसरे के संसर्ग से एक ऐसी सन्धि हुई है कि जिस प्रकार स्फटिक मणि सफेद होते हुए भी सामने गुलाब का फूल होने पर वैसी ही दिखाई देती है। पारे के भस्म के साथ खटाई का मिश्रण हो जाये तो वह भस्म वापस पारा बन जाता है। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव यद्यपि स्फटिक मणि के समान होने पर भी अनादि से पुद्‌गल से सम्बन्ध जुड़ा होने के कारण अपने स्वभाव में नहीं है। जब तक हमारी विपरीत परिणति रहेगी तब तक हम दुख का अनुभव करते रहेंगे। विभाव सो संसार स्वभाव सो मुक्ति। आपकी भाषा में जो संसार दिख रहा है, वही संसार जो मिट जावे वही मोक्ष। अनन्तानन्त

जीव है और अनन्तानन्त मोक्ष। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, आत्मा का स्वभाव। सरलता, ऋजुता आत्मा का स्वभाव। पानी का स्वभाव शीतल है, परन्तु उष्णता को धारण कर लेने के बाद पानी पीने पर कंठ व जीभ जला देता है। इसी प्रकार आत्मा के बारे में यही बात है। सम्यक्त्व भाव पाप को छोड़ने व पुण्य को प्राप्त करने से ही नहीं होगा। स्थान से स्थानान्तर, घर से मन्दिर आने से ही सम्यक्त्व भाव नहीं होता है। पुण्य-पाप तो पुद्गल के रसायन हैं, जो आत्मा के राग द्वेष को लेकर के परिणमन करते हैं, इनका प्रदेश भिन्न है। इनसे सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव नहीं है। धर्म आत्मा का एक स्वभाव है। जहाँ यह विश्वास हो जाता है कि सुख बाहर नहीं है, आत्मा को पुण्य-पाप से अलग रखते हुए उसमें लगी कालिमा को हटाने पर ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। हमने यह विश्वास कर लिया है कि पुण्य को प्राप्त करने व पाप को त्याग करने में धर्म है। धर्म राग-द्वेष हटाने में है। सुख आत्मा में है न कि बाहरी वस्तुओं में, जो फल मिला है, मनुष्य उसकी सुरक्षा कर सकता है। भरत को चक्ररत्न मिला, वह संग्रहवृत्ति के लिए दिग्विजय नहीं करता बल्कि उसकी (चक्ररत्न) सुरक्षा के लिए करता है।

आप लोगों की सुबह से शाम तक कितनी विपरीत दृष्टि रहती है। आप ये नहीं सोचते कि कर्म का जितना फल है, उतना ही भोगूँ। कमाने की भी कोई हद होती है। सम्यग्दृष्टि दूसरों को भी सम्यग्दृष्टि प्रदान करना चाहता है। कहते हैं कि आवश्यकता आविष्कार की जननी है पर आज तो आविष्कार आवश्यकता की जननी हो रही है। बच्चे की तरह यह व्यक्ति भी आवश्यकता की वस्तु को भूलकर यह भी ले लूँ वह भी ले लूँ आदि अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह करता है। मन राग-द्वेष से लिप्त है आवश्यकता के उपरांत आविष्कार हो तो ठीक है। जो इन्द्रियों के वश में नहीं है उसे आवश्यकता कहते हैं और जिसके लिए जो कार्य है, वह आवश्यक है। चक्रवर्ती का शासन प्रजा पर नहीं है, पर माण्डलिक राजाओं पर शासन होता है। कहीं ये राजा प्रजा पर अत्याचार न करें, इसलिए चक्रवर्ती दिग्विजय करता है। जीव के बारे में सम्यग्दृष्टि सोचता है तब प्रयोजन मालूम हो जाता है, प्रयोजन सारतत्त्व है वह भी हेय-उपादेय में विभक्त हो जाता है। आस्रव और बंध हेय है, संवर-निर्जरा उपादेय है, मुक्ति है। ईंधन डालते ही रहने से अग्नि की तृप्ति नहीं होती। जीव की परिणति अनादि से अप्रयोजनभूत तत्त्व की ओर ही रही है। स्वभाव की चाह की पूर्ति हो सकती है, लेकिन विभाव की, पर पदार्थ की पूर्ति कभी नहीं हो सकती। पदार्थ अनन्तानन्त है, उनको प्राप्त करने के लिए अनन्तानन्त समय चाहिए। इस चाहरूपी दाह की तृप्ति नहीं हो सकती है। पुण्य है, वही रहेगा। सम्यग्दर्शन कैसा है, अनुभव से मालूम कर सकते हैं। यह सुख अपने में उत्पन्न होता है, पाप पुण्य से नहीं। पुण्य उसको प्रार्दुभूति में सहायक हो सकता है, पाप उसको नष्ट करने में सहायक हो सकता है। पाप को छोड़कर पुण्य को प्राप्त करना, बाहरी है। वीतरागी होते हुए भी रागी

लोगों का मार्ग प्रशस्त हो जाये यही बात करने के लिए आचार्य आदि प्रयत्न कर रहे हैं। साधु न बन सको तो कम से कम पीछे चलने का प्रयास करो, स्वादू तो मत बनो, कालांतर में साधु बन सकते हो। सुख को अपने में ढूँढ़ो वह बाहरी पदार्थों से प्राप्त ही नहीं होता है।

❑ ❑ ❑

क्षमा धर्म

मोह नींद में सोये हुए संसारी जीवों के लिए यह महान् पर्व पाठ दे रहा है। अगर ये दस दिन ३६५ दिन में से व्यर्थ चले जाते हैं, तो पूरा साल व्यर्थ चला जाता है। दुनियाँ की कोई भी शक्ति आध्यात्म तक नहीं पहुँचा सकती है। पूर्व संस्कार के वश कोई कवि, विद्वान् बन सकता है, पर आत्मानुभवी नहीं हो सकता है, क्योंकि पूर्व में आत्मानुभूति की ही नहीं। आत्मा का अनुभव (Practical) करने पर होता है। ये दस दिन शिक्षा के लिए नहीं हैं, दीक्षा के लिए हैं। इन दस दिनों में दीक्षा लेने का अभ्यास होता है। दीक्षा में मात्र अनुभव की बातें आती हैं। मात्र आत्मचिंतन करना होता है। इस पयुर्षण पर्व में संसार के मूल कारण आठ कर्म छूट जाते हैं, टूट जाते हैं, भस्म हो जाते हैं, कहा भी है–

पर्वराज यह आ गया, चला जायेगा काल।
परन्तु कुछ भी ना मिला, टेढ़ी हमारी चाल ॥

हमारी चाल टेढ़ी है, पर्वराज न आता है, न जाता है। हम चले जा रहे हैं। हमको सांसारिक सम्बन्धों से छुट्टी लेनी है, परिश्रम से नहीं। व्यवहार की दृष्टि से क्षमा धर्म के लिए आज का दिन नियुक्त किया है आचार्यों ने क्षमा धर्म की बड़ी महत्ता बताई है। इसमें एक पैसा भी नहीं लगता है। कहा है कि करोड़ नारियल चढ़ाने में जितना फल मिलता है, उतना फल एक स्तुति करने में मिलता है, और जितना फल करोड़ स्तुति करने से मिलता है, उतना एक बार जाप करने से मिलता है, जितना फल करोड़ जाप करने से मिलता है, उतना फल एक बार मन, वचन, काय को एकाग्रकर ध्यान करने से होता है। मात्र परिणाम की विशेषता है। शारीरिक, वाचनिक, मानसिक क्रिया जितनी-जितनी निर्मल होती जाती है। उतना-उतना फल मिलता जाता है। कोटि बार ध्यान करने का जितना फल मिलता है, उतना फल एक क्षमा करने से मिल जाता है, वैरी को देखकर आँख में ललाई फूटती है। हमें क्षमा से तो वैर भाव नहीं रखना चाहिए। मोक्ष के लिए कारण भूत साक्षात् कोई है तो वह क्षमा धर्म ही है। आप आधि-व्याधि से तो दूर हो सकते हैं, पर उपाधि से दूर होना मुश्किल है, मैं पना नहीं निकलता। आधि मानसिक चिन्ता और व्याधि शारीरिक बीमारी है, उपाधि बौद्धिक विकार है पर उपाधि को छोड़ना इनसे ऊपर है, समाधि आध्यात्मिक है। क्षमाधारी जीव अनन्तचतुष्टय का अनुभव करते हैं। पर अन्य ? घाति चतुष्टय का। वहाँ सुख अनन्त है, यहाँ दुख अनन्त है। आत्मा के अहित विषय कषाय नहीं करना ? तभी वास्तविक क्षमा है। ❑ ❑ ❑

मार्दव धर्म

आज धर्म को हम मार्दव के रूप में पायेंगे। जिसके द्वारा यह प्राणी दुख को निवृत्त कर सुख प्राप्त कर ले, वही धर्म है। मार्दव शारीरिक चेष्टा का नाम नहीं है मार्दव का मतलब कोमलता, ऋजुता का भाव है। मान कषाय का अभाव होने पर मार्दव गुण पैदा होता है। चार गतियों में चार कषायों की बहुलता है। क्रोध की बहुलता नरक में, लोभ की बहुलता देव गति में, वहाँ भोगों की सीमा नहीं है, संतोष भाव नहीं है। पशु पक्षी (तिर्यंच) जिनके योगों की वक्रता होती है, चाल टेढ़ी होती है, मायाचारी चरम सीमा पर तिर्यंचगति में है और मान कषाय की बहुलता मनुष्य गति में है। मान ऐसा जहर है, ऐसी विकृति है, जिसके पीछे घर-बार, खाना, पीना यहाँ तक कि देश धर्म सब कुछ छोड़ देता है। परिग्रह संज्ञा के पीछे तो परिग्रह का संग्रह हो गया और मान-कषाय के पीछे त्याग (दान) होगा। मान का प्रादुर्भाव कुल मद, जाति मद, विद्या मद, तप मद इत्यादि आठ मदों द्वारा होता है। आय के बढ़ने के साथ-साथ मान कषाय भी बढ़ती है। जब हम धार्मिक क्षेत्र में भी प्रवेश करते हैं, तो भी मान को लेकर चलते हैं। आज हमें मार्दव धर्म के बारे में सोचना है। मार्दव निजी (स्व की) चीज है। मान पर है, यह दूसरे को (पड़ोसी को) देखकर खड़ा होता है। जैसे कहा है कि Other is Hell, हमारे आचार्यों ने भी कहा है कि दूसरे को पकड़ना दुख है। मान निजी वस्तु को लेकर नहीं होता है। मार्दव धर्म 'स्व' की ओर इंगित करता है, जिसमें बहुत कोमलता है, फूल से भी ज्यादा कोमलता। मार्दव को चिमटा आदि से, आँख-नाक-कान आदि से नहीं पकड़ सकते हैं। यह स्व की चीज है। इसे पर से नहीं पकड़ सकते। दूसरे को पकड़ने की जो चेष्टा है, वह दुख है, नरक है। अपनी चीज को पकड़ने की आवश्यकता ही नहीं है। पकड़ना पर को पड़ता है। इसी कारण अपने स्वरूप को नहीं पहचान पा रहे हैं। जहाँ वात्सल्य, प्रेम हृदय में हो उसके पास भले ही ऊँचा सर वाला आ जाये पर हृदय से ऊपर नहीं हो सकता। मान विनिमान तोलने में आते हैं। जो चीज तोलने में आती है उसका कोई मूल्य नहीं है। ऊँचे सिंहासन पर बैठने में पूज्यता प्राप्त नहीं होती बल्कि पूज्यता, पवित्रता, पावनता मात्र गुणों के विकास में, रत्नत्रय को धारण करने में है। मान सम्मान जो कर रहा है, वह अन्दर की ओर, अमूर्त की तरफ नहीं देख रहा है। जिसके पास तत्त्व ज्ञान नहीं है वह एक प्रकार से अन्धा ही है। वीतरागता, निरभिमानता एक अनोखी चीज है। पूजा करने वाले और घात करने वाले दोनों के प्रति जो समता रखता है वह सम्यग्दर्शन की भूमिका तक पहुँचने लगता है। निरभिमानता आत्मा का स्वभाव है। मान तो आत्मा को तोलने वाला तराजू है। आत्मा की कीमत कोई आंक नहीं सकता है। जहाँ क्रोध है, वहाँ मान भी है। मानी बनना आत्मा के लिए खतरा है।

रग रग से करुणा झरे दुखी जनों को देख।
चिर रिपु लख ना नयन में, आये रुधिर की रेख ॥

❑ ❑ ❑

आर्जव धर्म

धर्म की व्याख्या आचार्यों ने बहुत ही अनूठी की है। आज आर्जव धर्म जो तीसरा धर्म है। ऋजोर्भावो आर्जवः। वक्रता का नाम धर्म नहीं है, अधर्म है। धर्म सीधा-साधा है वक्रता जो नहीं चाहते उसको प्राप्त करने वाला है। जो समय-समय पर विचार करते हैं, उनमें जब समीचीनता आ जाती है, तब ऋजुता आ जाती है। यह आभ्यन्तर की चीज है। जब धर्म आभ्यन्तर में उतरता है, तब आर्जवता का पालन होता है। मनुष्य की चाल सर्प के समान टेढ़ी चाल है। ऊपर से धर्मात्मा, पर अंतरंग से घुड़ियाँ, ग्रन्थियाँ निकालना मुश्किल है। जिस प्रकार बर्तन की सफाई ऊपर (बाहर) के साथ-साथ अन्दर की भी होती है। इसी प्रकार अन्दर की सफाई आर्जव धर्म के द्वारा होती है। सत्ता के बल पर अथवा डर के द्वारा शारीरिक, वाचनिक तथा मानसिक चेष्टा बदल सकती है पर अन्दर जो वक्रता है, वह दूर नहीं हो सकती है। आप अपने मन को टटोलो दूसरों को आर्जव के बारे में पूछने की आवश्यकता नहीं है। कुटिलता स्वपर अकल्याण-कारिणी है। कुटिलता का नाम कुशील व चोरी भी कहा है। हमारे विचारों में अन्तर नहीं है, पर आचारों में आ सकता है।

जो पर है उसको अपना कहना, यही महान् वक्रता है, इसी को निकालने के लिए बार-बार धर्म आराधना की जरूरत है। धर्म बिल्कुल सरल व सीधा है। अपने आपको भूल कर दूसरों की ओर झुकना ही आत्मा की वक्रता है। झुकने का मतलब देखना नहीं, पकड़ना है। यही हमारी टेढ़ी चाल है, यही आत्मघात है, अधोपतन टेढ़ी चाल के द्वारा ही होता है। प्रवचनों का प्रभाव वक्रता पर नहीं पड़ता पर प्रवचनों को सुनने के बाद अन्तरंग में विचार उठे। जो आत्मा की चाल पहचान लेगा, वह टेढ़ी चाल [वक्रता] के द्वारा जीवन यापन करना ठीक नहीं समझेगा। चलना (परिणमन) तो हरेक पदार्थ का गुण है, धर्म है पर उल्टी ओर यह जीव क्यों परिणमन करे?

संवर के लिए उत्कृष्ट साधन गुप्ति है, जब संवर होता है, तब जीव अपनी आत्मा का अनुभव करने लगता है। उसको उज्ज्वल बनाने में लगता है अपने परिणामों में आर्जवता लाने के लिए समीचीनता को लाना है। आर्जव दिखाने के लिए नहीं, संवर लाने के लिए है। यदि इन्द्रियों की लालसा बढ़ रही हो, दासता बनी हुई हो और आर्जव धर्म को अपनावे तो संवर नहीं हो सकता है। इन्द्रिय कषाय संज्ञा निग्रह से ही संवर की प्राप्ति की कोशिश नहीं हो सकती।

आपने कुछ दिन पूर्व रोट तीज मनाई। मैं तीज को मुक्ति का बीज मानता हूँ और आप भक्ति का बीज मानते हो। उपवास करने में, धारणा में पारणा के विचार ही चलते हैं। यह इन्द्रिय पोषण संवर की ओर न ले जाकर आस्त्रव की ओर ले जाता है। जब शरीर शुष्क हो तभी इन्द्रिय शुष्क होती है और जब इन्द्रियां शुष्क होती है, तब आत्मा पुष्ट, हरी भरी, उल्हासपूर्ण होती है। २४ घंटे इन्द्रियों का पोषण, विषयों का संपोषण हो रहा है। माया सभी के पीछे छाया के समान पड़ी है। शरीर को

साध्य नहीं, सिर्फ साधन [माध्यम] समझिये। पुरुषार्थ के बल पर ही धन का उपार्जन हो, यह बात नहीं, उपादान निमित्त भी है। गरीब को अमीर कह दो तो आँखों में अलग ही लहर आ जाएगी, लेकिन अमीर वही है जो संवर तत्त्व को प्राप्त कर रहा है। साहूकार ऊपर उठता है और दूसरों को ऊपर उठाता है और चोर शोर मचाता है वह खुद तो डूबता नहीं है, दूसरों को डुबाता है। आज आप सब चोर बने हुए हैं, साहूकार सिर्फ जिनेन्द्र भगवान हैं। आज दाम के पीछे चलता है सारा काम। नाम को, शरीर को स्थिर रखने के लिए इतने अनर्थ हो रहे हैं, वक्रता का कितना प्रभाव है। आर्जव धर्म शरीराश्रित नहीं है, आत्माश्रित (भावाश्रित) है। यह भावों पर चलता है। आज हरेक क्षेत्र में, हरेक चीज में मिश्रण तो हो रहा है। व्यवहार के लिये आचार्यों ने अर्थ का उपार्जन तो कहा है, पर अर्थ का संग्रह नहीं। लक्ष्य अर्थ का संग्रह नहीं पर गुणों का संग्रह है। अर्थ सिर्फ जीवन यापन के लिए होता है। धर्म में राग-द्वेष, अनाचार, अत्याचार के लिए जगह नहीं है। आर्जव का मतलब सीधापन, सरलपन है। जिसका जीवन वक्रता में है वह सरलता को भी गरलता में ही ग्रहण करेगा। अच्छाई को बुराई के रूप में जो अंगीकार करता है वही वक्रता को धारण करता है। इसको हटाकर अपने जीवन को आर्जवमय बनाओ। आचरण में सम्यक्त्व का प्रभाव लाओ।

❑ ❑ ❑

सही सरल शौच धर्म

धर्म करत संसार सुख धरम करत निर्वाण।
धर्म पंथ साधे बिना, नर तिर्यञ्च समान ॥

यह दोहा वास्तविक जो चाहने वाले हैं, मुक्ति पद रूप हैं। इस मनुष्य को क्या करना चाहिए, यह दोहा बता रहा है। सुन तो सभी प्राणी सकते हैं पर श्रवण के साथ उस पर मनुष्य ही चल सकते हैं। देशना मुख्य रूप से मनुष्य के लिए है। मनुष्य ही देशना के अनुसार अपने को ढाल सकते हैं। मनुष्य और मनुष्य का धर्म, ये समझना बड़ा कठिन है। मनुष्य शब्द के आगे एक शब्द जोड़ना है। मनुष्यत्व जोड़ दिया जाये तब मनुष्य का अर्थ हो जायेगा। मनुष्य का अर्थ मनुम् अनुसरोति इति मानवः। जैनाचार्यों के अनुसार मनुष्यों के सुख सुविधा के लिए युग के आदि में जो व्यवस्था करते हैं, उन्हें मनु कहते हैं, उनके इंगित पर चलने वाले मनुष्य कहलाते हैं। हम कर्त्तव्य से स्खलित होते हुए विरुद्ध दिशा में दौड़ रहे हैं।

आज शौच धर्म का दिन है। जहाँ शुचिता (पवित्रता) आ जाती है, वहाँ शौच धर्म आ जाता है। यह शौच धर्म लक्स, लाइफबाय आदि साबुनों, क्रीम पाउडर आदि के द्वारा नहीं आएगा। अनादिकाल से आत्मा अशुद्ध हो रही हैं। हमारे अन्दर क्या मल, गन्दगी है उसको हटाना है। आत्मा की शुचिता अलग हैं। एक हिसाब से तो शरीर में तो शुचिता आ ही नहीं सकती। शरीर को कैसे भी

शुद्ध बनाओ तो भी वह अशुद्ध ही रहेगा। निरन्तर नव मल द्वार मुख्यतः बहते रहते हैं। जिसके पास जो है, वह वही तो प्राप्त कराएगा। इसके पास शुचिता है ही नहीं, तब शुचिता कैसे प्राप्त करेगा। आत्मा की जो गन्दगियाँ, विकृतियाँ हैं, उनको साफ करना है। अनादि से लोभ लगा हुआ है, उसी के कारण आत्मा अशुद्ध है। जो शौच धर्म से युक्त हैं, उसका अनुपालन करते हैं वे अपनी आत्मा को गन्दगी युक्त नहीं करते हैं, पवित्र रखते हैं। विषयों के बीच रहते हुए भी उसमें रचते-पचते नहीं हैं। जब आत्मा में राग द्वेष की प्रादुर्भूति होती है तभी वह शौच धर्म से दूर हो जाता है, चाहे वह साबुनों से स्नान कर ले, चाहे चन्दन से लेप कर ले। अज्ञानी जीव वास्तविक शुचिता व अशुचिता के बारे में नहीं जानते। अपने स्वभाव को छोड़कर अज्ञानी जीव अपने आप को अशुद्ध बना रहा है। हमें राग द्वेष को छोड़कर ध्यान करना है। ध्यान तो सब करते हैं। यह संसार ज्यों का त्यों बना रहे, यह अप्रशस्ता या कुध्यान कहा है। धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान मोक्ष का कारण और संसार का विच्छेद करने वाले हैं। आर्त व रौद्र ध्यान संसार के कारण व मोक्ष से दूर करने वाले हैं। आपका ध्यान राग-द्वेष और मोह से युक्त है, जो कि संसार का कारण है। जो भी अपने वास्तविक स्वरूप में लवलीन लगा हुआ है तभी वह (Real) वास्तविक बन पाता है। वैराग्य की प्राप्ति के लिए शरीर की अशुचिता के बारे में बार-बार चिन्तन करना पड़ेगा। आपका अनुचिंतन शरीर की अशुचिता के बारे में न होकर शुचिता के बारे में है, साबुन, तैल, क्रीम, पाउडर इत्यादि से शुद्ध करने में है। आपको विचार करना है कि क्या हम इससे उसको शुद्ध बना सकते हैं? यह शरीर तो बिल्कुल अशुचि है, अपवित्र है। दुख रूप है, अनात्मक रूप है, ऐसा चिंतन करने से वैराग्य की प्राप्ति होती है। हम चक्षु के द्वारा आत्मा को नहीं देख सकते हैं। सम्यग्दर्शन के द्वारा आत्मा जानी जाती है, देखी जाती है। शरीर की अशुचि के साथ आत्मा में जो कालिमा लगी है, उसके बारे में विचार नहीं करते हैं। विचार करने वाले विरले हैं। वास्तविक शरीर में अशुचि का अनुभव वही करता है जिसने अपने आपको पहचान लिया है। घृणा की चरम सीमा तब है जब दूसरों के साथ स्वयं भी नाक सिकुड़ने लग जाये। अशुचि अनुभव करें। आप बाहर अशुचि होने पर घृणा करने लगते हैं। शरीर के प्रति जो मोह है, वही आत्मा की अशुद्धि है, वही राग है। शरीर के प्रति प्रेम का अभाव, निरीहता होना वही शौच है। शरीर आत्मा के लिए कारागार है, हीन स्थानों को प्राप्त हुआ है। शरीर आत्मा के लिए बन्धन है। शरीर का मोह बन्धन को पुष्ट करता है। शरीर की गन्दगी को देखकर वास्तविक शौच धर्म का चिंतन हो सकता है। जन्म, जरा, मृत्यु का विनाश करने वाले वैद्य तो वास्तविक शौच धर्म का पालन करने वाले निर्ग्रन्थ मुनि हैं। शरीर तो जड़ पदार्थ है, बिखरने वाला है। इसकी सुरक्षा के लिए इस प्रकार मोह नहीं करना चाहिए, इससे अनन्त संसार बढ़ जायेगा, वह अपने आपके प्रति निर्दयी बन जायेगा। शरीर के स्नान से आरम्भ परिग्रह हिंसा होती है, इसलिए मुनि शरीर का स्नान

नहीं करते। वे हवा, धूप, वर्षा आदि से प्राकृतिक स्नान करते हैं। शरीर को जितना जितना शुद्ध करेंगे उतना शुचिता से दूर हो जाओगे। शरीर अशुचि है, आत्मा शुचि है। शरीर के प्रति मोहभाव है, इसलिए आत्मा अशुचि है।

❑ ❑ ❑

सत्य धर्म

आज पर्व का पंचम दिन है। आचार्यों ने धर्म की परिभाषा कई प्रकार से की है। रत्नत्रय को भी धर्म कहा है, कहीं 'अहिंसा परमो धर्मः' और कहीं 'वत्थु सहावो धम्मो'। आज हम सत्य के बारे में कुछ खोज करें। सत्य का मतलब वह जो सन्तोष दिलावे। सत्य के सन्निकट जाने वाला व्यक्ति उस प्रकार अनुभव करे, जिस प्रकार प्यासा व्यक्ति पानी का स्थान जानकर अनुभव करता है। यद्यपि पानी की प्राप्ति हुई नहीं है, पर वह यह अनुभव कर लेता है कि अब प्यास ज्यादा देर तक नहीं रहेगी। सत्य जहाँ है, वहाँ आनन्द के अनुभव का पार नहीं है, सभी चिन्ताएँ आकुलताएँ समाप्त हो जाती हैं। हम सुखेच्छु हैं और चाहते हैं कि दुख का अभाव हो। साधक को सत्य के बारे में मालूम हो जाता है तो वह अपने आपको धन्य समझने लगता है। जहाँ सत् है वहीं सत्य है। जहाँ सत्य है, वहाँ सभी सुख विद्यमान हैं। जहाँ सुख है, वहीं पर सत्य है। रात दिन पल-पल सत्य का अवलोकन करने वाले योगी राज होते हैं। सत्य इस मनुष्य का केन्द्र बनना चाहिए। पंखे पर किनारे में रखी वस्तु इधर उधर गिर जाएगी और केन्द्र में (बीच में) रखी स्थिर रहेगी। सत्य तीन भागों में विभक्त है उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य के रूप में 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तंसत्'। तीनों मिलकर सत् है। आप चाहते हैं वर्तमान काल बना रहे, यह तीन काल में नहीं हो सकता। आप के पास दस लाख रुपया है आप उसको स्थिर रखना चाहते हैं, यही चेष्टा दुख का कारण है। कहा है-

आकाश सदृश विशाल, विशुद्ध सत्ता,
योगी उसे निरखते, वह बुद्धिमत्ता।
सत्यं शिवं परम सुन्दर भी वही है,
अन्यत्र, छोड़ उसको सुख ही नहीं है ॥

मनुष्य पर्याय बुलबुले के समान है, योगी उसके साथ-साथ मिटने का भी आनन्द लेते हैं। सत्य उत्पाद में भी है, व्यय में भी है और ध्रौव्य में भी है। पर्याय में सुख नहीं है। पर्याय में जो उत्पत्ति हो रही है, उसमें सुख का अनुभव हो रहा है। प्रायः पुण्य का उदय आने पर मुख कमल खिल जाता है, जब असाता का उदय आता है, तब जैसे सूर्य का उदय न होने पर कमल मुरझा जाता है इसी प्रकार मुख मुरझा जाता है। दरिद्र हो जाता है। वह भूलता है कि-

आता यदि उदय में वह कर्म साता,
प्रायः त्वदीय मुख में सुख दर्प छाता।
सिद्धान्त का इसलिए तुझको न ज्ञान।
तू स्वप्न को समझता असली प्रमाण ॥

सत्य को अगर भूल जाओगे और मात्र उत्पाद या व्यय या ध्रौव्य को पकड़ लोगे तो दुख का अनुभव करोगे। उषा काल के पीछे अंधेरी शाम भी आएगी। उषा बेला स्थिर नहीं रहेगी। सत्य रूप पर्याय जो उत्पन्न हुई है, वह सत् नहीं है ऐसा समझकर सुख मनायें। क्योंकि उत्पाद हुआ वह अपने समय पर ही व्यय होगा, समय पर ही ध्रौव्य होगा, उसकी सुरक्षा उस द्रव्य के पास है। पर्याय को लेकर भटकना, भूलना, हर्ष विषाद का अनुभव करना सत् से दूर होना है। हर्ष-विषाद जहाँ है, वहाँ सत् नहीं है। सत् की पूजा करते हुए भी मांग करना, अपने को पीड़ित या दुखी समझना है। जो ऐसा नहीं कर रहा है, सिर्फ पूजा कर रहा है, निरख रहा है उसे ही सुख का लाभ होगा, वही सत्य का अवलोकन, खोज कर रहा है। दुनियादारी का प्राणी सत्य का अनुभव नहीं कर सकता है।

जिन्होंने पुण्य व पाप दोनों को मिटा दिया है, वे सोने आदि को अंगीकार नहीं करते। जिसने सोने में आनन्द का अनुभव किया, उसका सोना मिटने पर वह रोता है, दुख का अनुभव करता है। कृपा को कृपाण के रूप में न लो क्योंकि कृपा में सत्य है पर कृपाण में असत्य है। ज्ञानी जीव कर्म के उदय में आयी भोग सामग्री को भी हेय समझता है, पैरों से ठुकराता है। वह कभी भी पूर्व में भोगे हुए को स्मरण में नहीं लाता है, भावी की आकांक्षा भी नहीं करता। वह सोचता है जो आया है, वह जायेगा, जो गया है वह आएगा नहीं और जो आएगा उसका पता नहीं है। हरेक व्यक्ति किसी न किसी पदार्थ में रम रहा है। जब प्राणी सत्यरूपी कुर्सी पर बैठ जाता है, तब हिलना- डुलना भी नहीं होता। जितना-जितना सत्य की खोज करेंगे, उतना-उतना आनंद आएगा। रूप, रस, गंध, वर्ण वाले पदार्थ में न सुख है, न दुख है। सोना तो पुद्‍गल है, उसे मिट्टी जानना वास्तविक सत्य है, उसे सोना जानना सत् को खोना है। आँखों के सामने जब सत् आ जाता है, तब पर्याय ओझल हो जाती है। राग द्वेष के साथ कोई भी व्यक्ति किसी भी पदार्थ की खोज कर उसके अंत स्थल तक नहीं पहुँच सकता। राग का प्रध्वंस होना, मिटना, तभी वीतरागता प्राप्त होती है। जिसका राग व्यतीत हो गया है, वही वीतरागी है। सुख बाहर से नहीं आता, जिसकी अपेक्षा की जाये वह तो स्वयं में प्रादुर्भूत होता है। उसे बाहर खोजना सत्य से दूर होना है। हर्ष विषाद का अनुभव सत्य से दूर ले जाता है। अतः हर्ष विषाद छोड़ो।

❑ ❑ ❑

संयम धर्म

आज का यह संयम दिन है। संयम का मतलब बंध जाना। व्रत-नियम में कानून में बंध जाना। हरेक क्षेत्र में संयम की बड़ी आवश्यकता है। बंधन जब तक टूटता नहीं है, तब तक मुक्ति नहीं है और जब तक बंधन (संयम) नहीं है, तब तक मुक्ति नहीं है। जिस प्रकार ऊंट के लिए नकेल, घोड़ों के लिए लगाम, मोटर के लिए ब्रेक की आवश्यकता है, उसी प्रकार मनुष्य के लिए ब्रेक, बंधन, संयम की आवश्यकता है। कोई भी कार चाहे वह नई, सुन्दर हो, उसे ठीक रास्ते व ठीक गति से चलाने के साथ-साथ ब्रेक का प्रयोग भी करना पड़ेगा। नई कार की सुरक्षा के लिए भी इतने बंधन है।

समय अनादि कालीन बंधनों को तोड़ने के लिए एक बंधन है। मनुष्य पर ब्रेक नहीं हो तो इससे ज्यादा खतरा और किसी से नहीं होता। जब संयम नहीं है और मस्तिष्क में विकार आ जाता है, तब वह किसी को सुखी नहीं बना सकता।

ज्ञेय पर कन्ट्रोल की आवश्यकता नहीं है, पर ज्ञाता पर कंट्रोल की जरूरत है। हम दूसरे पदार्थों को कंट्रोल में रखकर व्यवस्था देख रहे हैं परन्तु अपने पर कंट्रोल नहीं चाहते। आचार्य कहते हैं कि समीचीन रूप से जो चलना, जानना है, आचरण करना है, उसका नाम संयम है। हमें अनादि काल से दुख का अनुभव करना पड़ रहा है, वह दूसरे पदार्थों के कारण से नहीं। संयम के अर्थ को आज तक हमने समझा ही नहीं है। संयम का अर्थ है प्राण और इन्द्रियों को कंट्रोल में रखना। जब ज्ञान धारा जानने की शक्ति को बिना कंट्रोल के छोड़ देते हैं, तभी दुख का अनुभव होता है। उपवास करना, रस छोड़ना आदि ही संयम नहीं है। हमें इस रहस्य को समझना है। आचार्यों ने कहा है कि- **समीतिषु प्रवर्तमानस्य प्राणीन्द्रिय परिहारस्संयमः।** जितने भी धर्म, मत हुए हैं, सभी ने प्राण संयम के बारे में लिखा है। ''परस्परोपग्रहो जीवानाम्'' जीवों पर परस्पर उपकार करना लौकिक बात है। संकट का मिटाना ही उपकार का नाम है। संयम का अनुपालन सभी करते हैं परन्तु भगवान् महावीर की अहिंसा अलग है। उनका संयम सत् की ओर ले जाने वाला है। इन्द्रिय संयम का अर्थ इन्द्रिय ज्ञान पर कंट्रोल। आत्मा के क्षायोपशमिक ज्ञान पर कंट्रोल करना, अपने आप पर कंट्रोल करना। ज्ञान पर कंट्रोल टेढ़ी खीर है। आज हम इसीलिए फेल हो रहे हैं। हम प्राणी संयम को तो धारण कर लेते हैं पर इन्द्रिय संयम को नहीं करते। कषायों का त्याग भी इन्द्रिय से मन के उपरान्त ही होता है। वास्तविक संयम, इन्द्रियों का दमन सत् की ओर ले जाता है। अपने आप में विवेक की ज्ञान की आवश्यकता है। यह संयमरूपी बंधन निर्वाण के लिए कारण है। मुक्ति में कारण है। जिस प्रकार कुँए में गिरा हुआ व्यक्ति बाहर निकलना चाहता है, तब बाहर निकालने वाला व्यक्ति उससे कहता है कि कमर में रस्सी बाँधो तब ही बाहर निकल सकते हो। वह रस्सी बाँधता है, तब ही वह बाहर

निकलता है, बाहर निकलने के बाद रस्सी को भी खोल देता है। अगर पहले रस्सी नहीं बाँधे तो कुँए में से नहीं निकल सकता और अगर कुँए में से निकलने के बाद भी अगर बाँधे रहे तो उसे सब मूर्ख कहेंगे और वह बाहर का आनन्द नहीं ले सकेगा। इसी प्रकार पहले संयम रूपी बंधन मुक्ति के लिए आवश्यक है, बाद में उसको भी तोड़ देना। एक बन्धन तो माध्यम होता है और एक बन्धन संसार का कारण है। संयम रूपी बंधन अपने आप पर कंट्रोल, सुख के लिए कारण है।

हम मात्र दुनियाँ जो कहती है, उसी को अपना रहे हैं। लोग विचारते हैं परिग्रह अपने पास नहीं रखना पर मन में रखना, ये कैसा पागलपन है। कहा भी है-

जो अन्य का परिचयी, निज का नहीं है।
होता सुखी न वह चूँकि परिग्रही है ॥
जो बार-बार पर को लख फूलता है।
संसार में भटकता, वह भूलता है ॥

मात्र प्राणी संयम को अपनाने वाला मुक्ति को नहीं प्राप्त कर सकता है। कहा है ''जयति इंद्रियानि आत्मानं च इति जिनः'' यानि जिन्होंने इन्द्रियों को जीत लिया है वही जिन हैं, उनकी उपासना करने वाले जैन है। पंचेन्द्रिय विषय तो बिखरे पड़े हैं। जहाँ ६ प्रकार के द्रव्य हैं, वहीं लोक है, इस लोक में इतने पदार्थ भरे हैं कि वहाँ सुई रखने को भी जगह नहीं है। आप उन पदार्थों से कैसे बचोगे ? उन पदार्थों को भोगने की चेष्टा न करें। कोई भी कार्य अगर अनुचित लगता है तो स्थान से स्थानान्तर चले जाना। मना करना तो द्वेष का प्रतीक है। उचित-अनुचित न समझते हुए अपने आप में रम जाना तो सबसे उत्तम संयम है। रस लेना बाहर से यही संयम का अभाव है। जिस प्रकार खीर खाना कठिन है, उससे भी ज्यादा कठिन संयम है। जो तत्त्व की ओर जाता है, वही धारण कर सकता है। ज्ञेय को अपने अन्दर मत रखो, पर इन्द्रियों को रखो। स्वच्छंदवृत्ति का नाम संयम नहीं है। दया का मतलब प्राणी संयम और दमन का मतलब इन्द्रिय संयम है। इन्द्रियों का दमन करने वाला फल को इष्ट नहीं मानता। जो इष्ट नहीं मानता, वही कषाय का दमन करता है, वही ज्ञानावरणादि आठ कर्मों को नष्ट करता है। वह वहाँ जाकर विश्राम लेगा, जहाँ निजधाम है। जो इन्द्रिय दमन को छोड़कर आत्मानुभूति की चेष्टा करता है, वह अनधिकृत चेष्टा है। द्रव्य संयम का ही अनुपालक कभी भी उस सुख को प्राप्त नहीं कर सकता। कषाय त्याग के बिना समाधि की निष्ठा नहीं हो सकती है। पहले दया फिर दमन है। अन्य मतों में एक उच्छृंखलता नहीं मिटती। राग द्वेष इन्द्रियों की लालसा स्व है, पर स्व होकर भी मिट सकती है, क्योंकि ये स्व भी दूसरों के सम्बन्ध से है, ये क्षणिक है, इन्हें मिटा सकते हैं, वीतरागता के द्वारा। ज्ञेय ज्ञान की दृष्टि से झुकना और पकड़ने की दृष्टि से झुकना, ये दोनों अलग है। वैषयिक दृष्टि से झुकना-राग द्वेष है। हम अनंत

बार जैन धर्म अंगीकार कर, मुनिव्रतों को धार कर नव ग्रैवेयक तक पहुँच गये हैं, पर वह मात्र प्राणि संयम को ही अपनाया है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए जो इन्द्रिय दमन करता है, वही इन्द्रिय संयम है। महावीर को पहचानने वाले जीव अनोखे, सत्य की खोज में होते हैं। जो दूसरों को पकड़ने की चेष्टा करता हुआ संयम पालन करता है, वह खतरे की चेष्टा है। अपने को पकड़ने की चेष्टा करो। बार-बार आप विचार करो कि क्यों बार बार पकड़ने की इच्छाएँ हो रही है, कामना हो रही है। ये विचार ही संयम को धारण करा सकते हैं।

क्या हो गया समझ में मुझको न आता,
क्यों बार बार मन बाहर दौड़ जाता।
स्वाध्याय ध्यान करके मन रोध पाता,
पे श्वान-सा मन सदा मल शोध लाता।

मैं ध्यान भी कर रहा हूँ, जाप भी कर रहा हूँ। फिर भी यह मन बाहर क्यों जा रहा है, मन को बाहर जाने से भी मैं रोक रहा हूँ। मन तो बहुत चंचल है। कितना चंचल है ? इस बारे में पूछने पर बताया है कि पहले तो बन्दर को देखो, फिर समझो कि वह पागल हो गया, फिर उसके एक पांव में बिच्छू काट खाया, फिर उसके पूँछ में आग लग गई। आप विचार करो कि पहले तो बन्दर स्वयं कितना चंचल, फिर पागल होने, बिच्छू को काटने व पूँछ में आग लगने पर वह कितना चंचल होगा! उससे भी कई गुना ज्यादा यह मन चंचल है। फिर अगर यह बाहर जाता है तो पुरुषार्थ करो रोकने का। भगवान् महावीर जो इतने पुरुषार्थी थे उनको भी १२ साल लग गये। उनका भी मन एक मिनट अन्दर रहता तो दो मिनट बाहर जाता। तब हम तो इतने कमजोर हैं, हमको तो बहुत मेहनत करनी पड़ेगी। हमको उदास होकर नहीं बैठना है, फिर पुरुषार्थ करना है। संयम को धारण करना है।

❑ ❑ ❑

कंट्रोल (संयम) – किस पर

आत्मा एक द्रव्य है और महान् शक्ति का धारक है, लेकिन अनादि काल से दूसरे के संयोग से स्वतंत्र नहीं रहा, इसकी अनंत शक्ति जघन्य अवस्था के रूप में परिणत हो चुकी है। अपनी आभा को पूर्णरूपेण प्रकाशित नहीं कर सकी है। देखने व जानने में ही इसकी शक्ति कमजोर हो गई है, ज्ञान शक्ति को पूर्णरूपेण प्रकाशित नहीं कर सकी। उस कमजोर मलिन आत्मा को जब कभी भी जानना या देखना होता है तो वह दूसरे की सहायता से देखना जानना चाहता है। स्वयं में इतनी लब्धि, पदार्थ होते हुए भी दूसरों की ओर देख रहा है। जिस प्रकार वकील के द्वारा नशीले पदार्थ का सेवन करने पर ज्ञान लुप्त हो जाता है, और नशा उतरने पर ज्ञान आ जाता है। इसी प्रकार दूसरे को

पकड़ने से और उपयोग को काम में न लेने से यह जीव ज्ञान को प्राप्त नहीं कर पा रहा है। आत्मा का ज्ञान किस रूप में परतंत्र है, और स्वतंत्र करने का क्या उपाय है ? पेट का ऑपरेशन करने पर बेहोशी का इंजेक्शन लगा देने से वेदना का अनुभव नहीं होता, वहाँ द्रव्येन्द्रिय सो गई। द्रव्येन्द्रिय के आधार पर भावेन्द्रिय काम करती है। ये स्पर्शन इन्द्रिय क्षायोपशमिक ज्ञान में मदद करती है। ज्ञान जो दूसरे के द्वारा है वह अज्ञान ही है। आँख चली जाने पर हम ऐसा कह देते हैं कि आँख चली गई। पर आँख जो है क्षायोपशमिक लब्धि है। द्रव्येन्द्रिय चली गई तभी ज्ञान में कमजोरी आ गई। लब्धि तो है पर उपयोग नहीं।

बाहर की ओर जो शक्ति जा रही है, उसको रोकना संयम है। संयम का मतलब ज्ञान के ऊपर कंट्रोल। वह कंट्रोल सुलाकर नहीं, जीवित कर कंट्रोल। ध्यान जीवित व होश अवस्था में होता है। सोती अवस्था तो प्रमत्त-अवस्था है। सभी इन्द्रियों को काट डालो और ध्यान कर लो, यह धारणा गलत है, इससे तो पीड़ा जो हो रही थी वह लुप्त हो गई है, बाहर की ओर नहीं आ रही है। द्रव्येन्द्रिय संयम के अभाव में सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक आर्त और रौद्रध्यान तो है, पर धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान नहीं होता। मन को कंट्रोल करने रूप प्रशस्त ध्यान, पंचेन्द्रिय संज्ञी मनुष्य को ही होता है। वह अपने आप में लवलीन हो जाता है।

चिंता का निरोध-मन का विषय है, अन्य कोई भी नहीं। यह मोक्ष मार्ग की अपेक्षा से है। ज्ञान को काम में लेकर जो ध्यान है, वही वास्तविक ध्यान है। मादक पदार्थ का सेवन कर जो ध्यान है, वह ध्यान नहीं है। वहाँ संयम नहीं है। जब पाँचों इन्द्रियों पर कंट्रोल है, तब संयम का पालन होता है। मुनि व्रत धारण करके ज्ञान पर कंट्रोल, संयम पर कंट्रोल नहीं हुआ, इसी कारण मुक्ति नहीं हुई। जिस प्रकार टार्च में से प्रकाश निकलने का स्थान सूक्ष्म है, जब उसकी किरणें दूर तक फैलती जाती हैं वैसे वैसे कमजोर हो जाती हैं। अगर फैलाते नहीं और किरणों को केन्द्र पर रखते हैं, तो वह उसको जलाने में कारण हो जाती है उसी प्रकार जैसे-जैसे ज्ञान फैलता है वैसे-वैसे कमजोर होता जाता है। ज्ञान जब केन्द्र (ज्ञेय) पर स्थित हो जाता है, तब अनंत का ज्ञाता बन जाता है, कर्मों को जला देता है। मन पर कंट्रोल करने का तरीका यही है कि संयम को धारण कर लें। जिन्होंने द्रव्येन्द्रिय पर कंट्रोल किया है, भावेन्द्रिय पर नहीं, वह ज्यादा से ज्यादा नव ग्रैवेयक तक जा सकता है। कारण भावेन्द्रिय ज्ञानात्मक है, द्रव्येन्द्रिय ज्ञानात्मक नहीं है। द्रव्येन्द्रिय पर तो अज्ञानी भी कंट्रोल कर लेता है, पर भावेन्द्रिय पर कंट्रोल करने वाला ज्ञानी ही होता है। ज्ञानी वही है जिसने राग द्वेष को मिटा दिया है। द्रव्येन्द्रिय संयम वह है कि लड्डू को खाया तो नहीं पर स्वाद का त्याग नहीं किया। मुँह के लिए तो विश्राम मिल गया, पर मन को नहीं, इससे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी। द्रव्येन्द्रिय के साथ-साथ ज्ञान पर कंट्रोल हो तब ही मोक्ष संभव है। ज्ञान ही सुख दुख दे रहा है। उसके पास

अलौकिक शक्ति है अगर वह विपरीत दिशा में चला जाये तो गड्ढे में पटक देता है। द्रव्येन्द्रिय कंट्रोल में है वर्तमान में तो त्याग है, पर भूत में भोगे को और भविष्य में भोगने का याद कर रहा है, वह स्वर्गीय संपदा को चाह रहा है, वह नरक में दुख और स्वर्ग में सुख (विषयों में सुख) मान रहा है, इसीलिए वर्तमान में त्याग कर रहा है, वह एक दृष्टि से बहिरंग, द्रव्य संयम है। दूसरों पर कंट्रोल है, स्वयं पर नहीं, ज्ञान पर कंट्रोल करो, ज्ञेय पर नहीं, तभी वह ऊपर जा सकता है। पूज्य पाद स्वामी ने समाधिशतक में कहा भी है–

संसर्ग पा अनल का नवनीत जैसा,
नो कर्म पा पिघलता बुध ठीक वैसा।
योगी रहे इसलिए उनसे सुदूर।
एकांत में विपिन में निज में जरूर ॥

क्षायोपशमिक ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल को लेकर उस प्रकार पिघल जाता है, जिस प्रकार नवनीत उष्ण का संसर्ग पाकर पिघलता है। जहाँ भगवान् महावीर पहुँच गये हैं, उस रास्ते का नाम संयम है। द्रव्येन्द्रिय पौद्गलिक और भावेन्द्रिय ज्ञानात्मक है। द्रव्य संयम दूसरों पर कंट्रोल और भाव संयम स्वयं पर कंट्रोल है। जिस समय अतिरेक होने लगता है, तब जो वास्तविक संयम के निकट होते है, वे अडिग रह जाते हैं, और जो मात्र द्रव्येन्द्रिय संयम को अपनाते हैं, वे पिघल जाते हैं, स्खलित हो जाते हैं, भ्रष्ट हो जाते हैं। कारण यही कि भावेन्द्रिय संयम पर लक्ष्य नहीं है। अन्दर की ओर जो परिवर्तन हो रहे हैं, उनका अध्ययन, विचार वही कर सकता है, जो तत्त्व की ओर लक्ष्य रखता है। जहाँ मात्र दिखावा है, वहाँ द्रव्य संयम। जहाँ दिखाना ओझल होकर रहता है, वहाँ भाव संयम है। द्रव्य संयम में मान रहता है, भाव संयम में मान नहीं रहता। द्रव्य संयम एक प्रकार से ऊपर का फोटो है और भाव संयम अन्दर का एक्स-रे। वह अन्दर की कमी बताता है। मिथ्यादृष्टि भाव संयम को नहीं अपना सकता है। अतः अपने ऊपर कंट्रोल कर वास्तविक संयम को अपनाओ।

तप धर्म

आज यह पर्व का सातवां दिन है जो तप की ओर इंगित कर रहा है। यह आप को बहुत भयानक दिख रहा है। यह अज्ञानी जीव इष्ट को अनिष्ट और अनिष्ट को इष्ट समझ रहा है। आचार्यों ने भी यही बताने की कोशिश की है कि प्रयोजन भूत तत्त्व क्या है ? और अप्रयोजनभूत तत्त्व क्या है ? महावीर भगवान् की वाणी में कोई त्रुटि नहीं है। प्रवक्ता के वचन में कुछ राग का मिश्रण तथा श्रोता के सुनने में उल्टा अर्थ समझ में आ रहा है। पर वीतराग वाणी में कहीं त्रुटि नहीं है। जिस प्रकार पारसमणि लोहे को सोना बनाने में समर्थ है पर यदि लोहे पर कपड़े या कागज का आवरण रखकर पारसमणि को स्पर्श करायें तो वह कभी भी सोना नहीं बनेगा। इसी प्रकार भगवान्

की वीतराग वाणी जो राग-द्वेष से रहित है। आज तक हमारा कल्याण नहीं हो पाया, इसमें हमारी ही गलती है, वह सज्जनों के हित के लिए है, दुर्जनों के लिए नहीं क्योंकि दुर्जनों के पास कालुष्य है, वह घुल नहीं सकता, वह उल्टा ही अर्थ ले लेता है। जो गुणों को देखकर हृदय में आमोद प्रमोद अनुभव करते हैं, उनके लिए भगवान् नेता हैं।

हम तप के द्वारा दुख का अनुभव करते हैं। हम आज तक समझे ही नहीं कि दुख क्या है और सुख क्या है? राग-द्वेष रूपी कालुष्य दुख का कारण और दुख रूप है, पाप रूप है। हमें नियम के अनुसार, बनाए हुए रास्ते के अनुसार ही चलना पड़ेगा, न कि नियम के विपरीत बने या चाल के अनुसार रास्ता बने पर जगत हित के लिए रास्ता नहीं बदला जा सकता। तप वीतरागमय है। वस्तु का वास्तविक अवलोकन उपसर्ग व परीषह के बिना नहीं हो सकता। तप को वही अपनाता है जो दुख का आह्वान करता है, दुख के बारे में खोज व अध्ययन करता है। हमें तप से डर है, इसी कारण हम सोचते हैं कि इतना धर्म करने पर भी कर्म पीछा नहीं छोड़ते हैं, हम डरपोक है। वीर लोग वीरत्व का अवलोकन वीरों में ही करते हैं कर्मों के उदय होने पर भी कहते हैं, वे कर्मों से, कि तू क्या कर सकता है ? वे कर्मों को पछाड़ देते हैं। आपको अपनी वीरता के बारे में ज्ञान ही नहीं है। जिनकी तप में आस्था नहीं है, तप में कष्ट समझते हैं, वे तीन काल में भी मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते। कर्मों को भगाने के लिए अमोघ शस्त्र तप ही है। सम्यग्दृष्टि के द्वारा किया गया १२ प्रकार का तप कर्मों की निर्जरा के लिए कारण है। सुख मिलेगा तो तप से ही, यह आस्था सम्यग्दृष्टि में अटूट है। कर्म की बाढ़ भी आ जाये तो भी तप को परीषह से ऊँचा रखते हैं। परीषह कर्म के आधार पर होते हैं। उपसर्ग रहे और नहीं भी रहे। तपस्वी लोग सोए हुए, नहीं आए हुए कर्मों को भी बुलाते हैं। वे आए हुए कर्मों को परीषह को और बुलाए हुए कर्मों (उपसर्ग) को, वैरियों को सहन करते हैं। उनसे लड़कर विजय प्राप्त करते हैं।

तप को साथी हमें बनाना होगा, तभी सुख की प्राप्ति होगी तभी मार्ग मिलेगा। दशलक्षण धर्म में 'तप' एक प्रौढ़ धर्म है। इस तप के द्वारा अन्य धर्म में भी पास हो जाते है। तपाने के बाद ही सोने की परीक्षा होती है, वह सोना तभी अपने स्वभाविक गुणों को प्राप्त होता है। हेम पाषाण के समान यह आत्मा धूल के समान होने के कारण वास्तविकता को नहीं पा रहा है। इस आत्मा के साथ वर्तमान में कर्म लगा होने से इसका पूर्णरूपेण मूल्यांकन नहीं हो पा रहा है, इसे तपाकर ही जाज्वल्यमान करना होगा, तप रूपी अग्नि से तपाना होगा। कर्म के साथ जुड़ी आत्मा को कर्म मल से दूर करने के लिए दुनियाँ में कोई रसायन नहीं है, सिवाय तप के।

उपवास वही कहलाता है कि जब हम आत्मा के सन्निकट रहें। तभी वास्तविक तप है। इसी से कर्मों की निर्जरा होती है। इच्छा का अभाव ही तो वास्तविक तप है। भोजन का त्याग है, शरीर

के द्वारा भोजन नहीं किया, पर चौबीस घंटे खाने की इच्छा रखी, वह तप नहीं इसका उल्टा पत यानि पतन है। वह उपवास नहीं लंघन है। खाने के त्याग के साथ-साथ उसकी जो लालसा है उसका त्याग होना चाहिए। जहाँ इच्छा नहीं है वहीं अनशन है। प्रायश्चित से आगे विनय, विनय से आगे स्वाध्याय, उससे भी आगे व्युत्सर्ग आदि है। बहिरंग तपों में अनशन जघन्य तप है। क्रम-क्रम से जो लिखा गया है। क्रम क्रम से अंगीकार करता हुआ ऊपर उठता है। अनशन से भी बढ़कर अवमौदर्य है। कम खाना ही अवमौदर्य है। हाथ में आया को छोड़ना, यही महान् टेढ़ी खीर है। भूख को रखते हुए उठ जाना इससे भी ऊपर वृत्तिपरिसंख्यान है, इसमें खाने की लालसा और घटा दी। भोजन मिले नहीं, इस इच्छा से नियम लेकर जाना। इससे भी ऊपर चौथे नम्बर पर रस परित्याग बताये, इसके द्वारा ही हम पुद्‌गल को पहचानते हैं। थोड़ा नमक कम होने पर परिणाम देखिये, आँख लाल कर देता है। रस के साथ यह आत्मा लगा हुआ है। इस रसनेंद्रिय के द्वारा ही पाँचों इन्द्रियाँ और मन पुष्ट होता है। वह बहुत महान् इन्द्रिय है, जब यह कंट्रोल में आती है तब पाँचों इन्द्रियाँ कंट्रोल में हो जाती है। अज्ञानी जीव रस पूर्ण चीजों को छोड़ना पसन्द नहीं करता परन्तु इस रस कंट्रोल से ही कर्मों की निर्जरा होती है। तप वृद्धि के लिए रस मिश्रित पदार्थ हानिकारक हैं। इससे निद्रा ज्यादा आती है, इन्द्रियाँ कंट्रोल छोड़ती है, ध्यान से च्युत होता है, तथा समाधि से विमुख हो जाता है। कहा भी है-

योगी स्वधाम तज बाहर भूल आता।
सद्‌ध्यान से स्खलित हो अति कष्ट पाता ॥
तालाब से निकल बाहर मीन आता,
होता दुखी, तड़पता, मर शीघ्र जाता ॥

सद्‌ध्यान से स्खलित होने पर कष्ट का अनुभव होता है। मद्य, मांस, मधु और रस से विहीन आहार लेना, तप की वृद्धि के लिए कारण है। ध्यान प्राप्त करने के लिए आहार लिया जाता है। इस रस त्याग से Double निर्जरा होती है। यह जीव अनादिकाल से इन ४ संज्ञाओं से दुखी हो रहा है। इसमें एक भय संज्ञा भी बताई है। मारने में भी मरने का भय बना हुआ है, इसलिए कोई कहे कि मारने में, शस्त्र रखने में तो निडर है सो यह बात नहीं। वहाँ भी डर है, विरोध में भी समता के साथ बैठे रहें इसी के उपरांत विविक्तशय्यासन तप बताया है। जहाँ एकांत में नींद नहीं लगती, वहीं मुनिराज तप करते हैं। उसके बाद कायोत्सर्ग जो महान् तप है, बताया है। इसमें गुप्ति पलती है, इसमें चर्या प्रधान मानी जाती है। संवर गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा, परीषह विजय और चारित्र के द्वारा होता है। इसमें कर्म की लड़ियाँ इस प्रकार टूटती है जिस प्रकार २४ घंटे प्रवृत्ति करने पर भी नहीं बन्धती। पुण्य वर्गणाओं का ज्यादा आना पाप वर्गणाओं के नाश होते समय ये भी निर्जरा है। अन्तरंग तप में ध्यान और बहिरंग तप में कायोत्सर्ग मुख्य रखा गया है। अनशन तो बहुत दूर रह गया है।

खाने का लक्ष्य कर जो कायोत्सर्ग करता है उससे चित्त की प्रवृत्तियाँ चंचल होती है। कुतप के द्वारा तो संसार के अनेक पदार्थ प्राप्त कर लिए पर मुक्ति नहीं। सम्यग्दर्शन युक्त तप ही समीचीन तप है। सुख दुख राग द्वेष युक्त आत्मा से है। अतः जिस प्रकार भगवान् महावीर ने तप को अपनाया है, आप भी उसे अपनाओ। उन सत् तपस्वियों के लिए मेरा शत-शत प्रणाम।

❑ ❑ ❑

त्याग धर्म

बहुत दिन की प्रतीक्षा के उपरांत भी, यह पर्वराज आकर बहुत जल्दी जा रहा है। पूरे ३६५ दिन के उपरांत मौका मिला था। इसके पूर्ण होने में दो-तीन ही दिन बाकी रहे है। हमें रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए शल्यत्रय का छोड़ना अनिवार्य है। आज भी आत्मा का स्वभाव है। त्याग क्या करना और क्या लेना है ? इसका विचार करना है। कहा भी है।

यों अजीव अब आस्रव सुनिये, मन, वच, काय त्रियोगा।
मिथ्या अविरति अरु कषाय, परमाद सहित उपयोगा॥
ये ही आतम को दुख कारण, तातैं इनको तजिये ।

सही मार्ग दर्शन [Right Direction] का अभाव होने से फल की प्राप्ति नहीं हो रही है। इन मिथ्या, अविरति, प्रमाद, कषाय के कारण ही यह जीव दुख पा रहा है। आगे और कहते हैं।

ऐसे मिथ्या दृग ज्ञान चरण, वश भ्रमत भरत दुख जन्म मरण।
तातैं इनको तजिये सुजान, सुन तिन संक्षेप कहूँ बखान॥

अनादिकाल से हम जिन को रत्न मान रहे हैं ऐसे ये मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्ररूपी तीन रत्नों से ही हमारा जीवन बिगड़ रहा है। ये तीनों असली सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र रूपी रत्नों के अभाव से प्रादुर्भूत होते हैं। जब कभी भी हमें लेना होता है तब कुछ छोड़ना भी पड़ता है। छोड़ना और लेना गौण और मुख्य रूप से होता रहता है। आज तक हमने न छोड़ा है और न पाया है। त्याग आत्मिक स्वभाव है। इससे आत्मा में क्या-क्या लक्षण होंगे यह देखना है। त्याग में शांति, सुख है। यह भी एक माध्यम है जिसके द्वारा सुख शांति तक पहुँचा जा सकता है। त्याग में आकुलताएँ नहीं होनी चाहिए। अगर त्याग में आकुलताएँ हैं तो वह त्याग नहीं आग है। त्याग एक ऐसा सरोवर है कि जिसके पास जाने के बाद गर्म लू भी ठंडी बन जाती है। अपने पास आने का नाम ही त्याग है। हमें दुनियादारी को छोड़ना पड़ेगा। दूसरों को जो अपना रखा है, उसको छोड़ना ही त्याग है। कहा भी है।

यह राग आग दहै सदा, तातैं समामृत सेइये।
चिर भजे विषय कषाय अब तो, त्याग निज-पद बेइये ॥

यह रागरूपी आग चैतन्यरूपी शक्ति को अनादिकाल से जला रही है। हमें मालूम ही नहीं है कि यह चैतन्य शक्ति किस रूप में विद्यमान है। जिन वस्तुओं के द्वारा दुख का अनुभव हो रहा है

उनको छोड़ना ही सुख की प्राप्ति है। धनाढ्य होकर भी, परिग्रही होकर भी आप निस्पृही के पास सुख का रास्ता पूछ रहे हैं। मैं सुख का रास्ता मात्र बता ही नहीं रहा हूँ, देने के लिए तैयार हूँ, पर आप लेना चाहते ही नहीं। आप कुछ छोड़ो फिर कुछ लेओ, आप यह मत सोचो कि किसी ने पकड़ रखा है। आपको किसी ने भी नहीं पकड़ा है, बल्कि आपने ही अन्य को पकड़ रखा है। आप त्याग कर रहे हैं, उसमें भी राग विद्यमान है। वस्तु का त्याग ही त्याग नहीं है, पर उसके साथ राग का भी त्याग करो। उसके उपरांत ज्ञान का भी प्रत्याख्यान आचार्यों ने बताया है। जिस ज्ञान को लेकर भी विकार पैदा हो रहा है, उनको भी छोड़ना है। घर छोड़ा, शरीर के प्रति ममता भी छोड़ी, पर मुक्ति को भी तृण के समान समझ कर भूलना है। 'निष्पृहस्य शिवमपि तृणम्' तभी वास्तविक त्याग है। इसमें आगे कोई सुख ही नहीं है। सुख की लिप्सा का भी त्याग करना होगा। ज्ञान तो पर्याय को लेकर होता,पूर्णता को लेकर नहीं। क्षयोपशम ज्ञान को लक्ष्य मत रखो, वह भी मद ही होता है। उसका भी त्याग करने पर ही रास्ता प्रशस्त बन सकेगा। जीव का वास्तविक लक्षण तो केवल ज्ञान है। क्षयोपशमज्ञान, वास्तविक स्वभाव, लक्षण नहीं है। इच्छा को छोड़ देना ही वास्तविक त्याग है, वही रत्नत्रय को धारण करता है, योग को धारण करता है। रत्नत्रय धर्म वह है जिसमें किसी प्रकार का विकार न हो, चिन्ता न हो। कहा भी है–

मानाभिभूत मुनि आतम को न जाने।
तो वीतराग जिन को यह क्या पिछाने ॥

मान से युक्त जो मुनि है, वह तीन काल में भी जिन को, सुख को नहीं प्राप्त करता है।

जो ख्याति लाभ निज पूजन चाहता है।
ओ ! पाप का वहन ही करता वृथा है।

अनादि काल से ख्याति लाभ पूजन चाहता हुआ यह प्राणी दुख पा रहा है और धर्म से सरकता-सरकता दूर जा रहा है, पाप का भार ढो रहा है।

ते सब मिथ्या चारित्र त्याग।
अब आतम के हित पंथ लाग।
जग जाल भ्रमण को देहु त्याग।
अब दौलत निज आतम सुपाग ॥

दौलतरामजी भी कह रहे है कि ऐसे मिथ्या चारित्र को छोड़कर अपनी आत्मा में लगो। सरलता स्वभाव की ओर और कठिनता बाहर की ओर ले जाती है। ग्रहण करने में समय लगता है, पर छोड़ने में नहीं, फिर प्राप्त होवे नहीं भी होवे। अपने आप पर अधिकार करने के लिए त्याग की जरूरत है। आपका त्याग वास्तविक नहीं है (Artificial) बनावटी है।

❑ ❑ ❑

आकिंचन्य धर्म

आज का यह पर्व का नवमा दिन है, जैसे जैसे पर्व के अन्तिम चरण तक चले जाएँगे, वैसे वैसे आप लोग बहुत सूक्ष्म तत्त्व का अवलोकन करते जाएँगे। आकिंचन्य धर्म यह कह रहा है कि जिस आत्मा के पास कुछ नहीं है, वह जगत पूज्य है, जो कुछ वह कर रहा है, वह सब समीचीन कहलायेगा जो कुछ आस्वाद वह ले रहा है, वह निजी आस्वाद ले रहा है। अगर आप इसे अपना लेंगे तो कहेंगे कि बहुत कुछ सुख आ गया। कहा भी है कि– **''अकिंचनस्य भावो आकिंचन्यम्''** अर्थात् कुछ भी नहीं है, उसका भाव सो ही आकिंचन्य है। अकिंचन का भाव सो ही आकिंचन्य है। जो आत्मा अपने आपको प्राप्त करना चाहता है, उसके लिए यह विचार कि मैं अरूप, अमूर्त हूँ, दर्शनमय ज्ञानमय हूँ, मेरे पास कुछ नहीं है, मेरा कोई भी अन्य द्रव्य नहीं है। आज जैन धर्म का अध्ययन करके अनेक ला Ph.d. (खोज) भी कर रहे हैं, पर वे कंचन की लिप्सा वाले आकिंचन्य धर्म को प्राप्त नहीं कर सकते वे तो मात्र आकिंचन्य का विज्ञापन करने वाले हैं। धन वैभव या उपाधियों की लिप्सा से आकिंचन्य धर्म सुनेगा वा सुनाएगा, वह इसे प्राप्त नहीं कर सकता है। जैसे-जैसे दूसरे द्रव्य हटते जाते हैं, आकिंचन्य को अपनाते जाते है। कदर तभी है, जब किंचित् भी नहीं हो पर आप उल्टा सोचते हैं। आप चाहते हैं कि कुछ न कुछ तो होना चाहिए, नहीं तो बुखार चढ़ने लगता है।

आकिंचन्य बनने के प्रयास से ही सुख का अनुभव होगा जहाँ सम्बन्ध का अभाव है, वहीं सुख है। जिसके पास कुछ भी नहीं है वह अपने आप को पहचान लेता है, वह उस स्वभाव को प्राप्त करने की चेष्टा करेगा। आपको लगता है कि पर्व के दिन कब समाप्त होंगे ताकि मैं दुकान खोलूँ, पर को पकड़ लूं। यह धारणा गलत है। क्योंकि बटोरने की चेष्टा कर रहे हो जबकि तेरा कुछ भी नहीं है। यह आकिंचन्य ही सुख प्रदायक है। धन पर तो चोरों की दृष्टि है, उसमें दुख भी है। जहाँ कुछ भी नहीं है, वहाँ सुख ही सुख है। पुद्गलों के परिवर्तन, द्रव्यों में अन्तर देखकर जीवों में अन्तर पटकना, दूसरों की ओर झुकना ही मूढ़ का काम है, मूढ़ता है। जिसको यह ज्ञान हो जाता है, वह इन द्रव्यों से कोई मतलब नहीं रखता और रत्नत्रय रूपी धन को सम्भालता है। वह बाहरी धन को पर द्रव्य समझता है, वह उसे छोड़ देता है। वह कंचन की भावना को छोड़कर बारह भावना का चिंतन करता है, वह विचारता है भाव का अवगाह आकाश नहीं है। द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भव तेरे हाथ नहीं है तो क्या भाव तो तेरे आधीन है, अपने पास है। फिर वेदना का चिंतन क्यों? बारह भावना का चिंतन क्यों नहीं ?

जहाँ दूसरों को पकड़ने रूप भाव है, वहाँ आकिंचन्य रूप भाव नहीं है। दान से बढ़कर त्याग बताया है। आकिंचन्य में अपने विकार के अस्तित्व को मिटाने की आवश्यकता है। 'मैं' का

अस्तित्व मिटा है। 'है' का अस्तित्व नहीं मिटेगा। 'मैं' विकार है, यह तुलनात्मक है। जब तक तेरा-मेरा लगा है तब तक आकिंचन्य को नहीं अपना सकता है। जो इनको छोड़कर अपने आप में तल्लीन होता है, वह आकिंचन्य धर्म को अपनाता है। मैं कर्म से भिन्न हूँ, उसके फल से भिन्न हूँ, दर्शन-ज्ञान चारित्र से भिन्न हूँ क्योंकि मैं दर्शन ज्ञान चारित्र रूप हूँ, भेद नहीं करना है। भेद करना ही आकिंचन्य धर्म से दूर होना है। जो शरीर व धन आदि की सुरक्षा चाहता है, वह ऊँच-नीच को भी नहीं देखता है। कुशीलता तथा दुर्जनों के साथ सम्बन्ध रखने से ऐसी परिस्थिति आ जाएगी कि आप अपनी स्थिति (स्वभाव) से च्युत हो जाएँगे। दूसरे के साथ जो सम्बन्ध रखते हैं, वह कभी भी स्वाधीन नहीं बन सकते, वह पराधीन ही रहेंगे। कहा है-

'पराधीन सपने सुख नाहिं'

पराधीन होश में हो तो सुख नहीं है पर यहाँ तो स्वप्न में भी सुख नहीं बताया है। मुनि जीवन एक Practical है, यह दुनियाँ के लिए प्रदर्शन है कि सुख का अनुभव कहाँ होता है ? फिर भी यह प्रमादी जीव, अज्ञानी प्राणी कहाँ विचारता है! बाहरी त्याग से ही आप अन्दर (आत्मा में) प्रवेश नहीं कर सकते, आपको विचारों में भी अन्तर लाना पड़ेगा। 'मैं' को भूलना पड़ेगा, धन, वैभव, शरीर छोड़ने के बाद। सिद्धों में मिलने के बाद आप भी महान् कहलाएँगे, वहाँ छोटा बड़ा कोई कल्पना नहीं है।

यह शरीर, आठ कर्म तथा राग-द्वेष कोई भी अपना नहीं है। जल से दूध जिस प्रकार भिन्न है, उसी प्रकार शरीर भिन्न है। आत्मा में जो राग-द्वेष है, 'मैं' रूपी भाव है, उनको ही भाव कर्म कहते हैं, उनको भी छोड़ना पड़ेगा। कहा भी है :-

हूँ बाल मंद मति हूँ, लघू हूँ यमी हूँ,
मैं राग की कर रहा क्रम से कमी हूँ।
हे शारदे सुखद शांति सुधा पिलादे।
माता मुझे कर कृपा मुझमें मिलादे ॥

भगवान् के पास, निरभिमानी के पास निरभिमानी बन कर जाना चाहिए और विचार कर कहना चाहिए कि मैं बालक हूँ, मंद बुद्धि हूँ, छोटा हूँ, राग को अपना रहा हूँ हे भगवान्! मुझे मुझमें मिला कर सुखद शांति दिला दे। ये चैतन्य शक्ति जो आत्मा के पास है, वह ज्ञान दर्शनात्मक है, वह शक्ति सच्चेतन बन जाये, अपने आप में मिल जाये। चेतन आपके पास भी है, पर वह तो कर्म चेतना है, अपने स्वभाव को भूल कर रस ढूँढ़ रही है। बाहर की ओर चेतना नहीं जाने देना यही आकिंचन्य धर्म है, बाकी तो मात्र अभिनय है।

❑ ❑ ❑

ब्रह्मचर्य धर्म

आज का दिन बड़ा महत्त्वपूर्ण दिन है। प्रारम्भ में जो रस आता है, उससे भी बहुत गुणा रस अन्तिम समय, उपसंहार होते समय भी आता है। आज का यह ब्रह्मचर्य धर्म आत्मा के साथ सम्बन्ध को लिए हुए है। ब्रह्मचर्य का मतलब सिर्फ यही नहीं कि चार संज्ञाओं में से मैथुन संज्ञा पर कंट्रोल करना। कथंचित् मैथुन संज्ञा पर कंट्रोल को भी ब्रह्मचर्य का अंग कह सकते हैं। अपने रूप में उस प्रकार लवलीन होना जहाँ पर किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता। अपने आप में लीन होना कहो या ब्रह्मचर्य कहो एक ही बात है। आत्मा की टेढ़ी चाल होने के कारण बाहर के द्रव्यों की याचना करता हुआ भ्रमण कर रहा है, दुख का अनुभव कर रहा है। जिस प्रकार कस्तूरी नाभि से निकलती है, फिर भी मृग इधर-उधर भटकता है। उसी प्रकार इस जीव की स्थिति है। जो हम चाहते हैं, वह हमारे ही पास है, पर हम दूसरे द्रव्यों में खोज रहे हैं, फिर भी उस स्थिति को प्राप्त नहीं कर सके और प्राप्त करेंगे भी कैसे ?

जो कुछ हमारे पास है, उसका हमें ज्ञान ही नहीं होता, हम उसकी कीमत ही नहीं समझते, उसका अनादर करते हैं, वह हमें देखने में भी नहीं आता। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार हम आँखों के द्वारा दूसरे पदार्थ को तो देख सकते हैं, पर अपनी आँख को नहीं देख सकते। उसमें पड़ी हुई चीज भी नहीं देख सकते।

हमें बाहरी पदार्थों में इसलिए रस आता है, क्योंकि वे अनेक है, अनन्त हैं, हम एक को छोड़ दूसरे में रम जाते हैं, दौड़ते रहते हैं। ब्रह्मचारी वह जो दूसरों को पकड़ने की चेष्टा न कर अपने आपमें रमण करने की चेष्टा करे। वह मन पर काबू करेगा। मन पर काबू करना दु:साध्य है, असाध्य नहीं। आप बाहर की अपेक्षा से आकिंचन्य धर्म से मुक्त हो सकते हैं, पर अन्दर की अपेक्षा नहीं। कल आप 'आकिंचन्य' से दूसरे के त्यागी हो गये थे। एकांत रूप से विवाह नहीं करना ब्रह्मचर्य नहीं है, किन्तु अनादि से जो भूला है उसे भी पकड़ना है। आपके पास जो निजी चीज है, उसे प्राप्त करना। शरीर के प्रति जब तक लिप्सा, सेवा सुश्रुषा है, तब तक ब्रह्मा को प्राप्त नहीं कर सकते। शरीर एक मात्र नौकर है, उसे हुकुम देने वाला ज्ञान है, उसे माध्यम मानते हुए अपने आपको प्राप्त कर सकते हैं।

जिस प्रकार (सन्निकट) गोद के बच्चे को कभी माता भूल कर अन्यत्र ढूँढ़ती है उसी प्रकार हमने बाहर को पकड़ रखा है। हम अपनी आत्मा को गिनते ही नहीं, इसलिए दुख का अनुभव करते हैं। आत्मा एक अकेला है। हम बाहर इसलिए ढूँढ रहे हैं, क्योंकि बाहर अनेक चीजें हैं। जब बाहर एक ही चीज दिखेगी, तब अन्दर अपने पास आ जाएगा। जिसे बाहर अनेक चीजें दिख रही हैं, वह अन्दर नहीं देख सकता है। ब्रह्मचर्य के अनुपालक अनेक सत्ता में एक ही सत्ता का अनुभव करते हैं, वह एक मात्र प्रेम का (ज्ञान का) सम्बन्ध रखते हैं। इसे आचार्यों ने संग्रह कहा है। सबके पास जो पाई जाये उसे सत्ता कहते हैं, इसलिए सबको तीन लोक में बाँध दिया। जब महा सत्ता की ओर

दृष्टि हो जाती है, वह तब ही असली ब्रह्मचारी कहलाता है। ब्रह्मचर्य प्राप्त होने के बाद वह बाहर अनेक होने पर भी वह अन्दर एक को ही प्राप्त करता है। उसमें मात्र निरीहता की आवश्यकता है। जब मानव तत्त्व की ओर देखता है, तब वहाँ उपासना जन्म लेती है, और वासना खत्म हो जाती है।

योगी निरीह तन से रहता तथा है।
पत्ता पका फिर गिरा तरू से यथा है ॥
औ! ब्रह्म को यतन से जिसने लखा है।
तू क्यों सुदूर उससे रहता सदा है ॥

पत्ते में जब तक स्निग्धता (चिकनाहट) है, बन्धन है, तब तक ही पेड़ उसे नहीं छोड़ता। जब पक जाता है, चिकनाहट खतम हो जाती है, तब पेड़ से अलग हो जाता है, फिर वह उड़ता रहता है। उसी प्रकार मुनि भी शरीर से निस्पृही ही रहते हैं। ब्रह्मचर्य में शरीर ही घातक है तथा माध्यम भी है। जो आत्मा का दास है, वह तकलीफ नहीं देता। जो आत्मा को दास बनाता है, फिर तो उसका दुर्भाग्य ही है। वास्तविक आराम शरीर को नहीं आत्मा को मिलना चाहिए। व्याख्यान सुनकर ज्ञान के माध्यम से आत्मा को ही आनन्द आता है, शरीर को नहीं। ज्ञान [आनन्द] का नाम ही ब्रह्मा है। विवाह के बाद स्वदारसंतोषी व्रत का पालन होता है जो महासत्ता का अवलोकन करने के लिए भी साधन है। वह ब्रह्मा के सन्निकट पहुँच सकता है। हाँ! ब्रह्मा में नहीं। ब्रह्मचारी आत्मा की ओर देखता है और विषयी शरीर की ओर देखता है। वह विषयी शरीर के कृश होने पर दुखी होने लगता है। ब्रह्मचारी चैतन्य ज्योति को देखता है, जीव के साथ सम्बन्ध रखता है। प्रेम में और मोह में बड़ा अन्तर है। मोह में विषय वासना मुख्य हो जाती है, पर प्रेम में गौण रहती है। राम ने सीता की सुरक्षा के लिए नहीं, प्रेम की सुरक्षा के लिए लड़ाई की। प्रेम में जीव की तरफ लक्ष्य रहता है, मोह की तरफ नहीं। मोही अन्दर प्रवेश नहीं कर सकता, प्रेमी अन्दर प्रवेश कर सकता है। प्रेम का नाम धर्म है। मोही खिड़की को (शरीर को) ही देखता है, पर वह तो इन्द्रिय गम्य है। ज्ञान का सम्बन्ध चैतन्य के द्वारा होता है, मोह के द्वारा नहीं। रावण ने मोह के साथ लड़ाई की। प्रेम दूसरों को मिटाने के लिए नहीं जबकि मोह दूसरों को मिटाने की चेष्टा करता है। जो संतोष धारण करता है, वही अन्दर की ओर दृष्टि करता है। आप ने तो विवाह को भी विवाद समझ लिया है। प्रेम का मतलब हरेक व्यक्ति सुखी रहे, मोही कहता है मैं ही जीवित रहूँ चाहे दूसरों का सत्यानाश हो जाये। संतोष वहाँ है, जहाँ प्रेम है और जहाँ प्रेम नहीं वहाँ तो फिर प्रेत है। विश्वासघात प्रेम पर आघात है। जो कुछ बाहर से प्राप्त करने की चेष्टा है, उसे भूलकर ब्रह्मा के पास जाने की चेष्टा करो। ब्रह्मचर्य की महिमा बहुत अनोखी है, उसे अपनाओ। जो ब्रह्मा में रमण कर रहा है, उसको शत-शत प्रणाम।

❑ ❑ ❑

सीख - सयानी

अनादिकाल से जो यह जीव दुख उठा रहा है, वह सुख का मार्ग अपना सके, दुख को छोड़ सके, इसके लिए गुरु करुणा करके सीख देते हैं। यह वह सीख नहीं है जो विदाई के समय बरातियों को देते हैं। दुनियादारी के प्राणी को सुख प्राप्त कराना, यही गुरुओं का कार्य होता है। सीख देने में साक्षात् प्रसिद्ध भगवान् महावीर हुए, तदनन्तर गणधर आदि हुए। उन्होंने मोक्ष मार्ग का संपादन किया। मोक्ष का संपादन अलग है और मोक्ष मार्ग का संपादन अलग। पंचम काल के अंत तक, जब तक तीर्थ चलता रहेगा, तब-तक यह भगवान् महावीर का बताया हुआ मोक्ष मार्ग चलता रहेगा। जब मोक्ष मार्ग ही छूट जायेगा, तब मोक्ष कभी नहीं मिलेगा। इसलिए इस मार्ग को अपनाने के लिए जल्दी-जल्दी करो। यह हमारे ऊपर भगवान् महावीर की असीम कृपा रही है कि उन्होंने अपने साथ ही मोक्ष मार्ग को समेटा नहीं, बल्कि खुला रखा। यह मार्ग सिर्फ जैनियों के लिए ही नहीं है, सारे विश्व के लिए है।

आर्य पाँच प्रकार के बताये गये हैं -१. क्षेत्र आर्य, २. जाति आर्य, ३. कर्म आर्य, ४. चारित्र आर्य और ५. दर्शन आर्य बताये हैं। जो क्षेत्र के द्वारा पहचाना जाये वह क्षेत्र आर्य, जाति के द्वारा पहचाना जाये वह जाति आर्य, कर्म के द्वारा पहचाना जाये वह कर्म आर्य, जो कुल परम्परा से चारित्र का वहन कर रहे हो वह चारित्र आर्य हैं और ये तो Artificial है बाहरी चीजों को लेकर हैं। पर अन्तिम है दर्शन आर्य, इसका अर्थ भगवान् महावीर का जो दर्शन है कि सभी को मुक्ति मिले, जो उनके मार्ग का अवलम्बन करे तथा चले, वे सब दर्शन आर्य हैं। आप लोगों को भावों को सुरक्षित रखना है। आप दर्शन आर्य बनने की चेष्टा करो। आप तो अन्य चारों आर्यों को पकड़ने की चेष्टा कर रहे हो। दर्शन आर्य वह है जो सम्यग्दर्शन से अभिभूत है। सम्यग्दृष्टि यह चाहता है कि हरेक व्यक्ति आर्य बने, अहिंसक बने हिंसक नहीं।

जिस प्रकार भगवान् महावीर की उदार दृष्टि थी वैसी हमारी दृष्टि हो। सभी जीव मेरे जैसे बने यही महावीर भगवान् का लक्ष्य था, उसी प्रकार उनके अनुयायियों की दृष्टि हो। इसके लिए सतत प्रयत्न होना चाहिए यही पर्युषण पर्व का उपसंहार है। कोई महान् विद्वान् भी बन जाये तो भी हम नहीं कह सकते कि यह दर्शन आर्य है। दर्शन आर्य मिलना बहुत मुश्किल है। अन्य चारों प्रकार के आर्य तो बहुत मिल जायेंगे। भगवान् महावीर का दिव्य संदेश बाहरी पदार्थों के लिए हुए ही नहीं है। दर्शन आर्य का मतलब भाव निक्षेप है। सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया हुआ जो है, वह दर्शन आर्य है। चाहे वह म्लेच्छ ही हो। दर्शन आर्य की पूजा देव लोग भी करते हैं क्योंकि वह दर्शन आर्य सबको अपने जैसा दर्शन आर्य बनाना चाहेगा। सम्यग्दर्शन की भूमिका तभी बनती है जब वह दर्शन आर्य के सम्मुख आ जाता है। सम्यग्दर्शन के लिए देशना लब्धि भी आवश्यक है। वह जिनेन्द्र

भगवान् की सीख को चलाने वाला होता है, देशना लब्धि देने वाला होता है। गुरु करुणा को धार कर कहते है। करुणा सदाचार के साथ होती है, बनावटी नहीं। दर्शन आर्य शरीर की ओर, पोशाक की ओर नहीं झुकेगा। वह तो सुख का अनुभव करने के लिए आत्मा की ओर झुकेगा, वह किसी बात को लेकर विस्मय भी नहीं करेगा, वह सोचेगा कि यह तो पुद्गल की चीज है। वह भगवान् की मूर्ति में जरूर विचारेगा, गुणों का चिंतन करेगा, अपनी स्थिति को पिछानेगा। वह कहीं जाएगा तो भी दर्शन आर्य बनाने के लिए ही जाएगा। आप नाम से ही जैनी बने हुए हैं, पर दर्शन की अपेक्षा से बहुत कम है। धर्म को प्राप्त करना है, तो सबसे पहले दर्शन आर्य बनना पड़ेगा। जाति माध्यम बन सकती है, पर धर्म नहीं है। मत कोई जाति या रूढ़िवाद नहीं हो सकता, मत का मतलब अभिप्राय से होता है।

मात्र विषय वासना को लेकर साथीपन नहीं है। रत्नत्रय का पालन दर्शन आर्य बनने के लिए करना है। अनादि से मिथ्या दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूपी छत्र त्रय की आपने सेवा की है। आज तक आपका जीवन रूढ़िवाद को अपनाए है, इसे भूलने की चेष्टा करो और दर्शन आर्य, बनो। यही पर्व का सार है।

❑ ❑ ❑

क्षमावाणी

आज क्षमावाणी का दिन है। क्षमा की सीमा अपरम्पार है। किसी के साथ वैर-भाव, मात्सर्य भाव न रहे, किसी को भी हीन दृष्टि से, नीच दृष्टि से न देखना, अपने बराबर समझना, यह वास्तविक क्षमा है।

शरीर जब शिथिल हो जाता है, तब ज्ञान में शिथिलता आ जाती है, क्षायोपशम ज्ञान में परिवर्तन हो जाता है। मन की भी ऐसी ही स्थिति हो जाती है, कषायों की बाढ़ चालू हो जाती है, परन्तु सम्यक्त्व, क्षमा, विवेक अगर साथ है, तो कषायों का वेग शांत हो जाता है। प्रतिकूल वातावरण में भी अनुकूल वातावरण का अनुभव करना, क्षमा के बिना सम्भव नहीं है।

वीतराग मुद्रा को तालों में बन्द रखने से दुनिया के लोगों को शंकाएँ होती हैं, उसे ताले में बन्द नहीं रखना। मुनि लोग यही भावना करते हैं सर्वत्र कुशलता हो, किसी भी प्राणी को तकलीफ न हो। वे क्षमा, मार्दव आदि गुणों के धारक होते हैं।

हमारा प्रेम पुद्गल के साथ नहीं होना चाहिए। सभी जीव सुखी रहें, दुनियाँ का कल्याण हो, यह क्षमा मूर्ति मुनि महाराज ही विचारते हैं। क्षमा के बल पर तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है। अनंत के साथ क्षमा की प्रादुर्भूति हो जाती है तब तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो जाता है। तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने वाला व्यक्ति चाहे मुनि हो या श्रावक। जो अनंत की सेवा (वैयावृत्य) करना

चाहता है, वह अनन्तानुबन्धी को कम करता है वह यह नहीं सोचता कि सत्ता को मिटा दूँ, मैं बना रहूँ। वह सोचता है सभी का क्षेम हो, सभी को ज्ञान प्राप्त हो, सबका दुख मिट जाये।

जब अनन्तानुबन्धी मिट जाती है, तब अनंत दुख मिट जाता है, आत्मा सामने खड़ा हो जाता है, अन्य पदार्थ गौण हो जाते हैं। मिथ्यात्व के अभाव में ही आत्मा की प्रादुर्भूति होती है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए ही क्षमा को धारण करना पड़ेगा। चारित्र तो फिर भी पकड़ में आ सकता है पर सम्यग्दर्शन पकड़ में नहीं आता। जब अंतरंग अनन्तानुबन्धी चली जाती है, तब सम्यग्दर्शन धारण हो सकता है, तभी चारित्र भी प्राप्त कर लेता है। अनन्तानुबन्धी के अभाव में जो राग होगा, वह धर्मानुराग होगा, विषयानुराग नहीं। जब अनन्तानुबन्धी खत्म हो जाती है, तभी क्षमा को यह प्राणी धारण कर सकता है। दूसरे की वैयावृत्य करते समय अपनी वेदना मालूम नहीं पड़ती वह अपने कष्ट की ओर नहीं देखकर सामने वाले को आराम देना चाहता है। यह आकांक्षा सम्यग्दर्शन वाले को होती है। वह सोचता है कि सामने वाला किसी प्रकार से बच जाये और धर्म धारण करे। आप क्षमावाणी मनाते हैं पर उनके साथ क्षमा मनाओ जिनके साथ वैर (द्वेष) है, मन की गाठों को खोलो। क्षमा वहीं है जहाँ वैरी भी आ जाए तो माध्यस्थ भाव रहे। प्रतिकूल बात हो तो दूर रहें, उनकी निंदा करते हुए क्षमावाणी नहीं मना सकते। अनंत कषाय जहां चली गयी वहाँ अनंत क्षमा आ जाती है। आपको तो मात्र शरीर, पोशाक रूपी विकार याद आता है, निर्विकार याद नहीं आता है। अपने अस्तित्व के साथ-साथ अनंत जीवों का अस्तित्व स्वीकार करना ही क्षमा है। जिस प्रकार सर्कस में पैर नहीं टिकते डावांडोल स्थिति रहती है, उसी प्रकार दुख के प्रसंग आने पर भी पांव नहीं टिकते, ऐसा दुख का प्रसंग किसी को न आवे, वह क्षमा की चरम सीमा है, यह, अनुकम्पा है।

मिथ्यात्व के अभाव में दर्शन व ज्ञान समीचीन बन सकता है, पर समीचीन चारित्र तो कषाय के अभाव में ही हो सकता है, माया की ओट में सब छिप जाता है। मुँह में राम बगल में छुरी को क्षमा नहीं कहा है। दबने वाला व्यक्ति दबता नहीं है, वह तैयारी में है, लड़ाई रुक जाती है। इसका मतलब समाप्त नहीं हुई पर तैयारी हो रही है, दबना-दबाना अनन्तानुबन्धी के पीछे चलता आ रहा है। सम्यग्दर्शन को क्षमा को धारण करने वाला अस्तित्व के गुण को, उपयोग को दूसरों में भी देखता है। वह गुण की तरफ लक्ष्य रखता है, अवगुण की तरफ नहीं। वह विकार का सत्यानाश करना चाहता है, सत् का नाश नहीं चाहता। जहाँ पूर्ण क्षमा है, वहाँ गति नहीं, जहाँ गति नहीं वहाँ विश्राम है। विसंवाद छोड़ो, संवाद पर आ जावो। संवाद भी समीचीन रूप हो। मोक्ष मार्ग की चर्चा हो। दूसरों के उद्धार के साथ मेरा भी उद्धार कैसे हो यही प्रश्न दिमाग में हो। विषय कषाय को दबाओ। मोहरूपी डाट को हटाओ और वास्तविक क्षमा को धारण करो। मेरी भावना है, यही वीर प्रभु से प्रार्थना है।

यही वीर से प्रार्थना, अनुनय से कर जोर।
हरी भरी दिखती रहे, धरती चारों ओर ॥

❑ ❑ ❑

क्षमा क्यों ?

"पढ़ते-पढ़ते शास्त्र को, फाड़ दिये बहु शास्त्र।
फिर भी सत्य नहीं मिला, भव का मिटा न त्रास ॥"

प्राय: करके हमें उपसंहार में कुछ मिला ही नहीं। इतने (दस दिनों) दिनों में धर्म चर्चाएँ हुईं, शास्त्र-पढ़े, व्रतादि किए, लेकिन यह विचार नहीं किया कि ये नसियाँ छूट रही हैं। ये आनन्द सुख छूट रहा है। ये नसियाँ धर्मायतन हैं, अनायतन नहीं। जिन स्थानों में कष्ट का अनुभव हो, वह है अनायतन। ये धार्मिक स्थान आयतन है। आयतन वह है, जहाँ सुख सुविधा हो, जहाँ विश्राम ले सकें। इन आयतन में आत्मरंजन होता है, मनोरंजन नहीं।

आपने कल क्षमावाणी पर्व मनाया, आप सिर्फ क्षमा चाहते ही है, पर क्षमा करते भी हैं या नहीं? सिर्फ क्षमा चाहना, क्षमा की अधूरी परिभाषा है। सर्वप्रथम क्षमा करना, इसका मतलब दुनियाँ में कोई वैरी नहीं। क्षमा चाहने में बहुत से छूट जाते हैं। क्षमा करोगे तभी वास्तविक क्षमाधारी, समताधारी बनोगे। जहाँ चैत्य, तीर्थ, मन्दिर आदि शास्त्र स्वाध्याय है, वहाँ वास करना। अभी आपने ५ रोज पूर्व से रत्नत्रय जी के व्रत किए। घर से चले मन्दिर की ओर, तब विचार किया कि मुझे ५ दिन बाद घर आना है, इसकी बजाये यह विचार करना कि मुझे ५ दिन नसियाँ में रहना है। जाने के पहले ही आने का विचार नहीं होना चाहिए। सभी का परिणमन भिन्न-भिन्न है, कोई भी व्यक्ति सत्ता के द्वारा किसी प्रकार का कार्य नहीं करा सकता। 'मैं' कर रहा हूँ, यह गलत है, अहंकार को लिए है। कुत्ता छाया के कारण गाड़ी के नीचे चलता हुआ यह विचार करे कि गाड़ी मेरे कारण ही चल रही है, यह उसकी भूल है। क्षमा करने में अहिंसा महाव्रत अपने आप आ जाता है। लेकिन पैर तो आपके दूसरों की गर्दन पर है। क्षमा करने से आत्मा संतुष्ट होगा, चाहने से नहीं, हमारा बिगाड़ तब है, जब हम क्षमा नहीं करें। क्रोध दूसरा नहीं दिलाता, वह बाहर से नहीं आता है। वह कुछ देर के लिए विश्राम ले के बैठा था, अवसर आते ही प्रकट हो गया। कोई किसी को न दबा सकता है न प्रोत्साहित कर सकता है। क्रोध करने वाले को उत्साहित किया जा सकता है, पर क्रोध दिया नहीं जा सकता है। गाली तो ज्यादा से ज्यादा कान में घुस सकती है, पर वीतराग भावों में नहीं घुस सकती है। गाली को लेकर जो छुपा हुआ गुस्सा था, उसको प्रकट कर दिया फिर वह कषायों का ढेर लगा देता है। अगर आत्मा जागरुक है तो गाली (असभ्य वचन), क्रोध रूपी कीचड़ को नहीं उछाल सकती।

तूने किया विगत में कुछ पुण्य पाप,
जो आ रहा उदय में स्वयमेव आप।
होगा न बंध तब लों, जब लों न राग,
चिंता नहीं उदय से बन वीतराग ॥

जब ये विचार हम कर लेते हैं कि गाली मुझे नहीं है, तो आनन्द होता है, वरना तो बहुत वेदना होती है। क्षमा करने से आत्मा का उत्थान होता है, क्षमा मांगने से वैरी बच जाता है। वैरियों के प्रति वात्सल्य बढ़ाने के लिए क्षमा करो। जब दृष्टि शरीर पर आ जाती है, तब क्रोध जागृत होता है। उदय से उपसर्गों से क्रोध कोई दिलाता है, तो उससे दूर रहो और क्षमा का ही एक मात्र चिंतन करो। जीवन भर भगवान् की उपासना करके जो अन्त में सल्लेखना धारण करता है तब पूरा फल मिलता है। सल्लेखना एक प्रकार से परीक्षा है। क्षमा करना गुणस्थान को बढ़ाना है और क्षमा मांगना गुण स्थान को सुरक्षित रखना है।

❑ ❑ ❑

शिक्षा कैसी हो ?

[ओसवाल जैन विद्यालय में भगवान् श्री महावीर के २५०० वे निर्वाणोत्सव के संदर्भ में उद्‌बोधन सभा में दिये प्रवचन।]

भगवान् महावीर के २५००वें निर्वाणोत्सव के अन्तर्गत आज शिक्षकों, छात्रों व अन्य बंधुओं को यह ज्ञात करना है कि भगवान् महावीर का जीवन किस रूप में था? उनके द्वारा समाज को क्या लाभ मिला? वर्तमान में क्या स्थिति है? लोगों की यह धारणा हो सकती है कि दिगम्बर भेष को धारण करने वाले महावीर से हमें क्या लाभ होगा? क्योंकि उनके विचार में जिसके पास कुछ होता है, वही दे सकता है। हम अपनी आवश्यकता की पूर्ति बाहरी द्रव्यों से करना चाह रहे हैं, लेकिन महावीर ने आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही ऐसा भेष धारण किया था। हम अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए परमार्थ को भूल जाते हैं भले ही इसमें अपनी हानि भी हो, कोई चिंता नहीं, लेकिन महावीर का चिंतन दूसरी प्रकार का था, वे चाहते थे कि सब प्रजा सुखी रहे, दुर्भिक्ष अकाल ना पड़े। १२ साल के बाद उनको स्व और पर का कल्याण करने वाला फल मिला। उन्होंने यही बताया कि इस जीव के द्वारा जब तक उपसर्ग और परीषह सहन नहीं होगा तब तक इस जीव को स्वर्ग व अपवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति नहीं हो सकती, उनसे न डरकर उनका सामना करना है। मोक्षमार्ग (सत् पथ) पर अनेक कठिनाइयाँ तो आती ही हैं कहा भी है–

उस पथिक की क्या परीक्षा, जिस के पथ में शूल न हो ॥
उस नाविक की क्या परीक्षा, जब नदी का प्रवाह प्रतिकूल न हो ॥

कठिनाइयों में, प्रतिकूल अवस्था में हम सत् को देख सकते हैं। आज के विद्यार्थी प्रतिकूलता से डरते हैं, वे अनुकूलता चाहते हैं। वे चाहते हैं कि जैसा हम चाहे वैसा ही हो। अगर विद्यार्थी खूब परीषह और उपसर्ग सहन करने में तैयार हो जाये तो वह तीन लोक को मात कर सकता है, उसका स्वामी बन सकता है, मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

शिक्षा का मतलब मात्र भौतिक सुख समृद्धि ही नहीं है। किसान खेती करता है, धान के लिए, न कि मात्र घास के लिए। धान के साथ घास तो मिलेगा ही। भोजन करवाने वाला व्यक्ति भोजन को करवाएगा पर साथ में पानी भी पिलाएगा। आप घास के पीछे पड़कर धान को भूल जाते हैं। घास से पेट नहीं भरेगा उससे तो दुखी ही बनोगे।

दुख फल के अभाव में होता है। विद्यार्थियों को शिक्षण में फल नहीं मिल पा रहा है, उनको यह नहीं बताया जाता कि शिक्षा के द्वारा तीन लोक की उपाधि मिल सकती है। आज तो बाप दादाओं की सीख होती है कि शिक्षा के बाद मात्र कमाना है, पर आज तो कमाना भी रुक गया क्योंकि यही चिन्ता है कि जो धन है उस पर छापा न पड़ जाये, यही माला जप रहे हैं कि इसकी सुरक्षा कैसे हो।

जिस शिक्षण के द्वारा जीवन में सुख शांति नहीं, वह किस काम का। हम साधन को बाधक समझ रहे हैं, यही भूल है, यही महान् अन्तर है। भगवान् महावीर के समान उज्ज्वल जीवन बनाने के लिए उस प्रकार का बनना चाहिए पीछे नहीं हटना है। मात्र खाना, पीना, सोना ही नहीं। शिक्षा जीवन चलाने के लिए नहीं किन्तु वह जीवन का विकास करने, उसे सुधारने के लिए ही साधन है। और त्याग तपस्या के द्वारा ही जीवन सुधरता है। कहा भी है:–

जन्म सफल जब जानिये, विनय करत दे दान।
श्वभ्र भरण आयु पूरण, सुत उपजावत श्वान ॥

जीवन में सुधार मनुष्य ही ला सकता है, अन्य नहीं। तिर्यञ्च भी तो सिर्फ जीवन चलाता है, सुधारता नहीं। मनुष्य पुरुषार्थ कर जीवन चलाते हुए उसमें सुधार कर सकता है। उसके लिए समीचीन परिश्रम विवेक के साथ जो करता है, उनके लिए महावीर का वरदहस्त रहता है, उनका मार्ग ज्ञान चक्षुओं के द्वारा देख सकते हो। विद्यार्थी, समय का सदुपयोग करते हुए समीचीन पथ पर आरूढ़ होकर स्व पर कल्याण की ओर अग्रसर हो। जवानी के जोश को होश के साथ काम में ले।

❑ ❑ ❑

अपरिग्रह

जिसे आप अच्छा समझ रहे है, जिसे जानने के बाद बुरा समझने लग जाय, तभी महावीर का २५००वां निर्वाणोत्सव सफल होगा वह है 'अपरिग्रह।' इसके बारे में कहने के लिए ज्यादा

समय की आवश्यकता नहीं है। वही प्राणी पापी है, जो परिग्रह को अच्छा समझता है। परिग्रही जितना ज्यादा व्यवहार में होगा उतना ही वह सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक क्षेत्रों में आदर प्राप्त कर लेगा, परन्तु भगवान् महावीर के अनुसार परमार्थी नहीं बन सकता। उनके अनुसार ऊँचे सिंहासन पर विराजमान कराने के लिए निस्पृही को ढूँढ़ना पड़ेगा। निस्पृही विरले ही मिलेंगे। उनका जीवन धन्य है, जिसने तिल-तुष मात्र भी परिग्रह नहीं रखा है। वह परिग्रह विष, विष्टा के समान है। हम खूब संग्रह करते जा रहे हैं और महावीर भगवान के निकट भी पहुँचना चाह रहे हैं। जो कुछ ग्रहण कर रखा है, पहन रखा है, उनका विमोचन करना पड़ेगा। संग्रह वृत्ति भगवान् महावीर के दिव्य संदेशों को कलंक लगाने वाली है। संग्रह में संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। जहाँ झगड़ा है वहाँ ही संग्रह वृत्ति है। संग्रह वृत्ति में ही चिन्ता होती है। भगवान् महावीर ने बताया नहीं बल्कि दिखाया कि अकेले बन जाओ। जब भगवान् महावीर स्वयं अकेले बन गये, तभी महान् बन गये।

पूर्ण परित्याग न हो सके तो आवश्यक का संरक्षण कर अनावश्यक का त्याग तो करो। स्कूल में बच्चों को सिखाया जाता है कि आविष्कार करेंगे तो दुनियाँ में शांति होगी, लेकिन जब आप आवश्यकताएँ कम करेंगे, तभी वास्तविक शांति होगी। जहाँ याचना नहीं वहीं पर वास्तव में आर्थिक विकास है। जहाँ वित्त को जहर मान लिया वहीं सारे संघर्ष समाप्त हो जाते हैं। वित्त के पीछे चित्त आत्मा को भुला दिया है। लेकिन आत्मा को याद करने पर ही परमात्मा बन सकते हैं, नहीं तो वित्त के पीछे आत्मा का खात्मा हो जाएगा। जिनके पास कुछ भी नहीं है, वे आनन्द के साथ जीवन व्यतीत कर रहे हैं। जितना-जितना आरम्भ परिग्रह होगा, उतना-उतना आत्मिक बल कम हो जाएगा और यही एक प्रकार से आत्म हत्या की ओर अग्रसर होना है। त्याग के बिना भगवान् महावीर को विश्व के कोने-कोने में नहीं देख पायेंगे। उनके विचारों का प्रचार व प्रसार त्याग के द्वारा ही कर सकते हैं। आप को एक दो दिन की ही चिन्ता नहीं है बल्कि चाबी अपने पास रख पोते-परपोते तक की चिन्ता लगी रहती है इससे कल्याण नहीं होगा। भगवान् महावीर तो विश्वव्यापी है, उनके अनुरूप चल कर ही हम उनके सिद्धान्तों का प्रचार कर सकते हैं।

❑ ❑ ❑

निर्वाण ! सो कैसे ?

(भगवान् महावीर के २५००वें निर्वाणोत्सव पर महावीर कार्नर (दौलत बाग) में प्रात: दिये गये प्रवचन से उद्धृत।)

आज का यह पुनीत अवसर बहुत ही काल की प्रतीक्षा के उपरांत प्राप्त हुआ है आज मेरा हृदय गद्‌गद होता जा रहा है, भगवान् महावीर की पुण्य तिथि के बारे में क्या बोलूँ? अपने से बड़ों की स्तुति करना आवश्यक है। आज के समान ही पावापुर की भूमि में चारों ओर से हरियाली छाई

हुई थी, बसंत की बहार थी उपवन, बगीचा इसी प्रकार था, इन सबके बीच में भगवान् महावीर ने निर्वाण को प्राप्त किया। रागी विषयी व्यक्ति के लिए यही हरियाली, उपवन आदि विषय वृद्धि के कारण है, पर महावीर के लिए निर्वाण का कारण बने, इसे ज्ञान-अज्ञान का अन्तर कहना होगा। महावीर ने इस प्रकार के दृश्यों को देखकर भोगों को नहीं अपनाया, वे तो योग साधन में जुट गये, तभी उनको इस शरीर से आज के दिन मुक्ति मिली। यह शरीर कारागार, जेल व बन्धन है, इस को महावीर ने तोड़ दिया और सिद्ध अवस्था को प्राप्त किया।

अनन्त प्रकार के जीव अनन्त भावों को लेकर जी रहे है, उन्हीं में से एक ने मोक्ष पद प्राप्त कर लिया, उसी प्रकार हमें भी प्राप्त करना है। महावीर का जीवन अनोखा रहा, जवानी में उन्होंने भोगों की ओर नहीं देखा। उन्होंने सोचा कि अगर मैं इन की ओर देखूंगा तो करने योग्य कार्य कैसे करूँगा? उन्होंने अपने जीवन का सदुपयोग किया, निर्ग्रन्थ अवस्था प्राप्त की एक क्षण मात्र भी विषयों की ओर न देखा। १२ साल तक इसी अवस्था में रहे, तब केवलज्ञान प्राप्त किया। उन्होंने बताया कि यह लक्ष्मी अशुचि, विष्टा और अस्पृश्य है, छूने योग्य भी नहीं, जिसे आपने जेबों में सम्हाल कर रखा है।

वे धन्य हैं, जिन्होंने अपने जीवन में आकिंचन्य को स्थान दिया और मुक्ति को प्राप्त हुए। समय को योग के निग्रह के काम में लाओ। आज मोक्ष का अभाव है, परन्तु मोक्ष मार्ग का अभाव नहीं है, इसलिए हम कह सकते हैं कि मोक्ष का अभाव भी नहीं है। निर्ग्रन्थ परिषद की सभा में आचार्य श्री ने फरमाया कि निर्ग्रन्थ शब्द दो शब्दों के मेल से बना है। निर और ग्रन्थ। यानि जिन्होंने मन, वचन, काय से ग्रन्थों का विमोचन किया है। यहाँ ग्रन्थों से मतलब शास्त्र आदि नहीं है। ग्रन्थ का मतलब परिग्रह है। जो कुछ अपना रखा है, उसको छोड़ना। संग्रह करना एक प्रकार से निर्ग्रन्थ की उपेक्षा है, उसकी अवहेलना करना है। ग्रन्थ अर्थात् गांठ, शूल की तरह तकलीफ देने वाली है। भाषण, महावीर की वाणी भी परिग्रह बन सकती है, यदि उसको लेकर ख्याति, लाभ पूजा आदि चाहने लग जाये। निर्ग्रन्थ अवस्था में कोई बाधा की संभावना नहीं है। सर्वोत्तम यही है कि महावीर की जय-जयकार करते हुए निर्ग्रन्थ हो जायें। ग्रन्थ की परिभाषा मूर्च्छा और परिग्रह है। ग्रन्थ के नाम से ही मोह की डोरी आती है; ग्रन्थ के साथ ही सुख-दुख का अनुभव होता है, स्वतन्त्रता से विमुख होना पड़ता है। शिव में सुख है, वह निर्ग्रन्थ होने पर मिल सकता है। अनिष्ट पदार्थों का विमोचन आवश्यक है। आपको सुख चाहिए तो ग्रन्थ को छोड़ना पड़ेगा। जिन्होंने साधना में अपना चित्त लगाया है, उन्हें बाहरी साधन विचलित नहीं कर सकते हैं। लिप्सा में डूबा व्यक्ति रागी-द्वेषी और पक्षपाती होता है, वह तीन काल में भी उद्धार नहीं कर सकता है। एक बार और, एक बार, और..........यही लिप्सा, यही वासना, यही विकार है।

आवश्यकता के उपरांत जो है, वही परिग्रह है, जो अधोगति का कारण है। परिग्रह और आवश्यक दोनों अलग है। निर्ग्रन्थ का अर्थ यही है कि अनावश्यक को छोड़कर आवश्यक को रखें नहीं तो महान् ग्रन्थी बने रहोगे जिससे कल्याण होने वाला नहीं है। अतः एक बार निर्ग्रन्थ महावीर की जय बोलकर बात समाप्त करता हूँ।

❑ ❑ ❑

श्रमण बनो
भगवान महावीर के २५००वें निर्वात्सव के अंतर्गत
श्रमण संस्कृति परिषद् की सभा में उद्‌बोधन

संस्कृति और श्रमण दो शब्द हैं। सर्व प्रथम श्रमण का अर्थ क्या है? श्रमण अर्थात् ज्ञानी, यानि केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिए जो श्रम करे वही श्रमण है। कहा भी है: श्रमेण न लाभाय ज्ञान लाभाय यः अहर्निशं प्रयत्नं करोति श्रमणः। वह साधना को आगे बढ़ाते हुए साध्य की ओर बढ़ सकता है। अभीष्ट की प्राप्ति बिना श्रम के नहीं। कर्म भूमि में ही श्रम होता है, वहाँ के रहने वालों को श्रमण कहते हैं, वे कर्म भूमिज कहलाते हैं, कर्म भूमिज कहो या श्रमण कहो एक ही बात है। भोग भूमि में रहने वाले श्रमण नहीं कहलाते। उस व्यक्ति को श्रम का अनुभव होता है जो उसके फल से वंचित हो जाता है, जब फल मिल जाता है तब वह श्रम नहीं कहलाता है, वह कहेगा कि बहुत आनन्द आया वह विश्राम की आवश्यकता नहीं समझता।

श्रम करने के उपरांत ज्ञान की प्राप्ति न हो , यह मुश्किल है। जो घड़ी की तरफ देखकर काम करने वाले हैं, उन्हें श्रम का फल तो इष्ट है पर श्रम इष्ट नहीं है। वे चाहते हैं कि पसीना तक नहीं आवे और बढ़िया-बढ़िया खाने को मिले, ऐसे लोग एक समय भी सुख का अनुभव नहीं कर सकते हैं। भारत भूमि में इस समय परिश्रम करके फल प्राप्त कर सकते हैं। ज्ञान के लिए जो प्रक्रिया है, वह श्रम है, और जो श्रम करता है, वह श्रमण है। महान् आत्मा का यही प्रयत्न रहा है कि केवल ज्ञान की प्राप्ति हो, इसी के लिए उन्होंने अनेक श्रम किए।

आज श्रम को दूर रखने वाली महान्-महान् विभूतियाँ मिल जायेंगी, वे श्रम को दुख का कारण मानतीं हैं। श्रम के द्वारा जब केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तो फिर भौतिक सुख की क्या बात है? श्रम मानसिक, शारीरिक भूख को भी दूर कर देता है। अगर आप खूब खाना खाएँ और श्रम न करें, हाथ पांव न हिलाएँ तो रुधिर की गति रुक जाएगी और मरघट तक भी पहुँचने की नौबत आ सकती है। खाने में परिश्रम करना पड़ता है। इसका द्योतक खाते वक्त पसीना आता है। आज हर सेठ, विद्वान् की दृष्टि में हरेक कार्य नौकरों के द्वारा हो जाये, वही अच्छा। यहाँ तक कि नौकर ही कपड़े पहना दे यह प्रमाद की ओर अग्रसर होना है, प्रमाद की पराकाष्ठा है, यह प्रमाद सबसे भयानक है। प्रमत्त को गाली कहा है, भुभुक्ष कहा है। श्रम से मत डरो बल्कि प्रमाद से डरो। वीरों

के पास श्रम पलता है, कायरों के पास प्रमाद। श्रम वीरों का आभूषण है। समंतभद्राचार्य श्रमणपुंगव थे, उन्होंने श्रमणत्व की रक्षा की है। संसारी लोग स्वार्थ परायणता में डूबकर दिन भर अपने स्वार्थ के लिए मेहनत करते हैं और रात को थक कर सो जाते हैं, अपनी जीवन रक्षा के लिए दूसरों का नाश हो जाये तो कोई बात नहीं। दिन भर यूं समाप्त कर दिया और रात सोने में समाप्त कर दी, किन्तु आज तक उस श्रमण संस्कृति की रक्षा का आप लोगों ने उपाय नहीं किया। समंतभद्राचार्य ने स्वयं के साथ-साथ पर का भी कल्याण चाहा, उन्होंने आलस्य को, प्रमाद को पैर के नीचे दबा दिया। दिव्य शक्ति की धारक आत्मा में पहले जो मल चिपकाने में परिश्रम किया, वीरों का यह काम है कि श्रम करके उसे हटावें। आप चाहते हैं कि मैं किसी से नहीं घबराऊँ, पर सब मेरे से घबरावें। प्रमादी से सब घबराते हैं, पर अप्रमत्त से कोई नहीं। क्योंकि अप्रमत्त व्यक्ति भय संज्ञा से दूर रहता है, और वह विश्व के साथ अपना कल्याण चाहता है।

जो पतित आत्मा को पावन बनाने की चेष्टा नहीं करता है और आत्मा पर मल ला-ला कर रखता है, उसके समान कोई पापी नहीं है। वह भले ही नर हो पर वानर बनने वाला है तथा अन्त में नरक चला जाएगा, क्योंकि उसने प्रमाद को अपना रखा है। ज्ञान की उपासना करने वाला व्यक्ति एक क्षण को भी प्रमाद को नहीं अपनाता है, क्योंकि इसको अपनाने पर वह अधोगति का कारण बन सकता है।

Duty का मतलब भी श्रम है। आज देश में Duty के समय भी काम नहीं होता इसी कारण सबसे ज्यादा पतन हो रहा है। ८ घण्टे की Duty में भी श्रम नहीं करना, पसीना तक न आवे, यह कायरता है। इससे देश डूबता है, वह खुद डूबता है और आने वाली संतान को भी डुबोता है, वह श्रमण नहीं कहलाएगा। एक घण्टा श्रम करके वह श्रमदान करे। आज श्रम न करके वेतन बढ़ाने की बात की जाती है, हड़तालें की जाती हैं, इसका कारण श्रमण संस्कृति को भुला रखा है। आज श्रमण तो बहुत दूर है पर रमण यानि विषय वासना की पुष्टि हो रही है। विद्या, ज्ञान की प्राप्ति चाहते हो तो सुख को ही आराम दे दो, उसे भूल जाओ। परिश्रम को फूलमाला के समान अपनालो तभी अपने जीवन में कुछ उद्धार कर सकते हो। ज्ञान तथा वित्त भी न हो तो भी परिश्रम के द्वारा ख्यातिवान को भी कुछ समय के लिए नीचे बिठा सकते हो। अगर हम ज्ञान के बिना भी भगवान् महावीर के पथ के अनुरूप चलने लग जाये तो अपना कल्याण कर सकते हैं। जीवन की मौलिकता को समझो। समय की Value (कीमत) करो और अपना उद्धार करो।

जो पढ़ता है, लिखता है, बोलता है, उसके बजाय नहीं बोलने वाला भी ज्यादा उद्धार कर सकता है। ज्ञान को लेकर भी मद की प्रादुर्भूति हो जाती है। अतः समता, वीतरागता और ऋजुता को नहीं छोड़ना है। दूसरों के हित को ध्यान में रखना है। सिर्फ नाम से श्रमण नहीं काम से मतलब है। अतः ऐसे श्रम को अपनाओ जिससे स्व पर हित हो। ❑ ❑ ❑

तजो तो पाओ

शनिवार को गौतम गणधर स्मृति दिवस पर आज हम सब लोग भगवान् महावीर के प्रथम शिष्य भगवान् गौतम गणधर का स्मृति दिवस मनाने को एकत्र हुए हैं। दिव्यध्वनि तब खिरती है, जब संसार से भयभीत होकर प्राणी हित का रास्ता ढूँढ़ना चाहते हैं। भव्य लोगों का जब संसार छूटने का समय निकट आता है, तब पूज्य पुरुषों का समागम होता है, दिव्य ध्वनि खिरती है। लोगों का कल्याण होता है। कहा भी है–

भवि भागन वश जोगे वशाय,
तुम धुनि ह्वै सुनिविभ्रम नशाय ॥

भगवान् महावीर ने सोचा कि अपना कल्याण तो हो गया, भावी पीढ़ी का भी कल्याण हो, इसीलिए उनकी दिव्यध्वनि गौतम गणधर के होने पर खिरी। गौतम गणधर का स्थान उत्कृष्ट है। मंगल में भी उनको गिना है, उन्हें माना है। कहा भी–**मंगलम् भगवान वीरो, मंगलम् गौतमो गणी।**

मंगल का अर्थ मंगं पूज्यं लातीति मंगलम्। वे गणधर परमेष्ठी मल गलाने वाले और पुण्य का संचार करने वाले थे। उन्होंने हम लोगों के लिए मार्ग प्रशस्त किया। कहा भी है–

गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागू पांय।
बलिहारी गुरु देव की, गोविन्द दियो बताय॥

आज हमें महावीर को बताने वाले गौतम गणधर ही हैं, इसलिए महावीर को Direct याद न कर गौतम गणधर को याद किया है। कॉलेज में लेक्चरार Speech देकर चला जाता है, उससे बीच-बीच में आप प्रश्न नहीं पूछ सकते हैं लेकिन Higher Secondary तथा Primary स्कूल के मास्टरों से बार-बार प्रश्न तथा अर्थ पूछ सकते हैं। अतः Lecturer का इतना महत्त्व नहीं है जितना मास्टरों का। इसी प्रकार गणधर ने महावीर वाणी का विश्लेषण किया है, अनेकों प्रश्नों द्वारा दिव्य ध्वनि खिराई। उन्होंने बहुत प्रयास किया। यह उनकी देन है कि हम उस अमूर्त के बारे में जान सके हैं। आत्मा का स्वभाव क्या है ? किस प्रकार बंध, निर्जरा होती है ? उन्होंने दिव्य ध्वनि को ग्रन्थ का रूप दिया। जितने लेख लिखे जा रहे हैं, वे सब उनकी ही देन है। उन्होंने हमारे सामने जो रहस्य को खोला है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसके अध्ययन के लिए भी महान् तपस्या और ज्ञान की जरूरत है। गौतम गणधर में बहुत विशेषण थे। वे विशेषण उनके साथ-साथ हमारे पीछे भी लग जाय, उसके लिए उपाय करना है। क्या हरदम पूजन ही पूजन करते रहेंगे, जय-जयकार बोलते रहेंगे, भगवान् के सामने नाक रगड़ते ही रहेंगे, अन्दर ही अन्दर पीड़ा रहेगी ? अगर चाहें तो एक अंतर्मुहूर्त में भगवान् के समान दिव्य ज्योति आलोकित हो सकती है। देर है अंधेर नहीं।

अब २५०० वर्ष भगवान् महावीर के निर्वाण को हो गये। अब तो विचारो कि हमारी मांग क्यों नहीं पूर्ण हो रही है, अब तक देर भले ही हो गई पर अब अंधेर नहीं होना चाहिए। आपको आशा तो है, पर विश्वास नहीं है, यह कैसे होगा। स्तुतियों पाठों को पढ़ते हुए उनके अनुरूप बनने का आज तक प्रयास नहीं किया। आप भगवान् नहीं बनना चाह रहे हैं, सिर्फ भक्त रहना चाह रहे हैं। आप भक्त ही नहीं, मुक्त बनने की कोशिश करो। आप सोचते हैं कि काल अनन्त है तो हम भी अनन्त हैं। पर अनन्त तक संसार में रहने पर भी अनन्त का अनुभव नहीं होगा। दिव्य शक्ति का अवलोकन करना चाहते हो तो जीवन में एक बार एक शब्द का ही अनुसरण कर लो। जिस प्रकार खिचड़ी को पकी हुई जानने के लिए एक दाना देखना ही काफी है, पूरी खिचड़ी नहीं, उसी प्रकार अनन्त का अनुभव करने के लिए बहुत पढ़ने जानने की जरूरत नहीं। साध्य अनन्त है, साधना अनन्त नहीं। एक अक्षर का अनुपालन करने से ही धन्य बन जाओगे। कहा है–

स्वाधीनता, सरलता, समता, स्वभाव,
तो क्रूरता, कुटिलता, ममता, विभाव।
जो भी विभाव धरता, तजता स्वभाव,
तो डूबती उपलनाव, नहीं बचाव ॥

निर्वाण महोत्सव मनाते जाओ और क्रूरता, कुटिलता को अपनाते रहोगे तो आपकी नैया अवश्य डूबेगी, उसे कोई भी नहीं बचा सकता। हां! इतना जरूर है कि भगवान् डुबायेंगे नहीं तो बचाएँगे भी नहीं। हम चाह नहीं रहे हैं, मात्र बात कर रहे हैं। हम भगवान् महावीर, गौतम गणधर की बातें ही कर रहे हैं, बनना नहीं चाह रहे हैं। हमारी अवस्था अपूर्ण क्यों है ? हमारी अवस्था उस बर्फ के टुकड़े के समान है। समुद्र में लहरें उठ रही हैं, बर्फ का टुकड़ा भी पानी का अंश है, पर पानी तरल है, उसमें दूसरों को चोट पहुँचाने की शक्ति नहीं है पर बर्फ में दूसरों को चोट पहुँचाने की क्षमता है क्योंकि वह सघन है इसीलिए नाविक उससे भय खाते हैं, उसे देखकर दूर से ही निकल जाते हैं। वह बर्फ का टुकड़ा समुद्र से कह रहा है कि मैं तुमसे ऊपर हूँ। पानी का आदर सब करते हैं, नाविक पानी से भय नहीं खाते उन्हें बर्फ से टकरा जाने का, नाव डूब जाने का भय है। बर्फ सोचता है कि मैं मिट न जाऊँ इस अपार समुद्र में मेरा पता न लगेगा, वह भूल करता है। भगवान् महावीर, गौतम गणधर महासमुद्र के समान हैं, हमें अपने को उनमें समर्पित करना है, इससे हम महासत्ता में मिल जाएँगे, पूज्य स्थान मिल जायेगा। इस वर्तमान अवस्था को त्रैकालिक बनाने की चेष्टा न करो, यह मूढ़ता है। नाम के पीछे दाम के पीछे और काम के पीछे सभी लोग आतमराम को भूले हुए हैं। कहा है–

देखो! नदी प्रथम है निज को मिटाती,
खोती तभी, अमित सागर रूप पाती।
व्यक्तित्व को, अहम् को, मद को मिटावे,
तू भी स्व को सहज में, प्रभु में मिलादे ॥

वह नदी शिखर से निकलती, गिरी, कन्दराओं में बहती हुई मिट्टी में से, पत्थर में से होती हुई आती है, उसका लक्ष्य एक है सागर में मिलना, तभी उसकी उपयोगिता है। स्वयं को मिटाकर उसकी दृष्टि अपार की ओर रहती है, तभी वह समुद्र में अनन्त सुख की भागिनी बन जाती है। आप लोग भगवान् के सामने जाकर अपने अहं को सुरक्षित रखने की चेष्टा कर रहे हैं। अपार समुद्र के सामने नदी की कीमत नहीं है। भगवान् महावीर के पूर्ण ज्ञान के सामने अपने अपूर्ण ज्ञान को लेकर दंभ कर रहे हैं। हमने भगवान के सामने अपनी आलोचना की ही नहीं। त्रैकालिक सत्ता को हमने आज तक देखा ही नहीं, इसीलिए अनन्त के धनी आज तक बने ही नहीं। आज हम अपने भौतिक सुख में वृद्धि करना चाह रहे हैं। आप Quality सुख को नहीं बढ़ाना चाहते, बल्कि सुख की Quantity बढ़ाना चाह रहे हैं, यही भूल है। कुछ मिट जाये, कोई परवाह नहीं। वर्तमान पर्याय भले ही मिट जाये तो क्या बात है? वर्तमान को सुरक्षित रखना ही गलती है। उस सत्ता का दर्शन करो, उस छवि को, महिमा को सामने लाओ। वर्तमान की लहर अमृत की लहर नहीं जहर की लहर है। जब हम निश्चल, निडर, निर्भीक हो जाये, तब ज्यादा समय नहीं लगता। संसार को बढ़ाने के लिए युग आपेक्षित है, पर विच्छेद के लिए युग की जरूरत नहीं। असंख्यातवें भाग भी सत्ता का अवलोकन हो जाये तो बस ज्योति जग जायेगी। कहा है-

ज्योत्सना जगे, तम टले, नव चेतना है,
विज्ञान-सूरज-छटा तब देखना है।
देखे जहाँ परम पावन है प्रकाश,
उल्लास, ह्रास, सहसा लसता विलास ॥

तब यह एक रमणीय वातावरण होगा, एक मात्र अनुभूति विज्ञान की पूजा, प्रकाशमय वातावरण बन जायेगा और तीन लोक के पदार्थ ज्ञेय के रूप में, प्रतिबिम्बित हो जाएँगे। जिस दिन भगवान् महावीर को निर्वाण प्राप्त हुआ उसी दिन दिव्य ज्ञान को लिए गौतम गणधर को भी केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। इन परमेष्ठी का कितना भी गुणगान करें। हम अल्पबुद्धि वाले हैं,

ही से भी की ओर ही बढ़े सभी हम लोग।
छह के आगे तीन हो, विश्व शांति का योग ॥

मिट्टी की दीपमालिका

जला रही, बालक बालिका
आलोक के लिए
अज्ञात के ज्ञात के लिए
किन्तु अज्ञात का,
अननुभूत का अदृष्ट का
संवेदन अवलोकन
नहीं हवा, ये सजल लोचन
रह जाते, करते केवल जल विमोचन
उपासना के मिस से
वासना का राग रंगिणी का
उत्कर्षण हो! दिग्दर्शन
तीन काल में, तीन लोक में
नहीं, नहीं कभी नहीं
महावीर से साक्षात्कार
वे सुन्दरतम् दर्शन
आया जब स्वाति नक्षत्र
गोत्र पर पवित्र
चित्र विचित्र
पहन कर वस्त्र
सह कलत्र, पुत्र
सह मित्र
युगवीर के चरणों में
सबने किया मोदक समर्पण
किन्तु खेद!!
अच्छ, स्वच्छ
और अतुच्छ
नहीं बनाया मानस दर्पण
तमो-रजो गुण तजो
सतो-गुण युत हो जिन भजो

तभी मजो
जलाओ जन जन हृदय में दीप
ज्ञानमयी करुणामयी हो,
दृष्टिगत हो, ज्ञात हो
ओ सत्ता जो समीप ॥

❑ ❑ ❑

त्याग सो मोक्ष

मोक्ष (निर्वाण) का मतलब जीवन निर्माण है। विकास की ओर जाना, पूर्ण विकास होना ही निर्वाण है। जहाँ बन्धन का अभाव है, छोड़ने वाले को मुमुक्षु कहते है और खाने पीने की वांछा रखने वाले को बुभुक्षु कहते हैं। अधिक खाने पीने से रोग तथा मृत्यु हो जाती है। जन्म मृत्यु श्रृंखला ही है जिसे छोड़ना ठीक है। पूर्ण त्याग मोक्ष मार्ग की ओर ले जाता है।

पढ़ पढ़ भए पण्डित, ज्ञान हुआ अपार।
निज वस्तु की खबर नहीं, सब नकटी का श्रृंगार ॥
तेल लूण लकड़ी,
जिसमें आप जकड़ी
जैसे जाल मकड़ी।
जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि
जहाँ न पहुँचे कवि वहाँ पहुँचे स्वानुभवि।
Death keeps no calender.
रोग का तो प्रतीकार है, पर मौत का प्रतीकार नहीं है।

❑ ❑ ❑

अनेकान्त! सो क्या ?

विगत सात दिनों से आप लोगों ने भगवान् महावीर से संबंधित भिन्न भिन्न विषयों पर चर्चा की है। यह आठवां दिन है। आप लोगों ने यह निश्चय किया है कि भगवान् महावीर के दिव्य संदेशों को उसी रूप से जीवन में उतारते हुए आदर्श उपस्थित करेंगे। भगवान् महावीर का वास्तविक बल जो शक्ति थी, वह अनेकांत में निहित थी, आज अनेकांत द्वारा ही भगवान् महावीर को देख सकते है। वे बड़े भी हैं और अगर छोटे भी कह दें तो उसकी बात मानेंगे, क्योंकि राम महावीर से पहले हुए, अतः इस अपेक्षा से छोटे हैं, पर हम संसार में बैठे हैं, अतः हमारे से बड़े हैं। अनेकांत का मतलब आग्रह, हठवाद, बकवाद नहीं। हरेक व्यक्ति के साथ वात्सल्य, प्रेम हो, यही स्याद्वाद है।

भगवान् महावीर ने हरेक को अपनाया, किसी को ठुकराया नहीं, तभी वे तीन लोक के शिखर पर जा बैठे। कहा भी है–

ही से भी को ओर ही बढ़े सभी हम लोग।
छह के आगे तीन हो विश्व शाँति का योग ॥

अगर हम 'ही' को हटाकर 'भी' का प्रयोग करें तो बहुत बड़ी बात होगी कोई हमें गाली न देगा बल्कि आरती उतारेगा, वात्सल्य रहेगा। मुख 'ही' से 'भी' की ओर हो, क्योंकि ही से पीठ के दर्शन होते हैं जो कि वास्तविक दर्शन नहीं हैं। पीठ तो अपजय का प्रतीक है, वास्तविक दर्शन मुख की ओर से होते हैं। भगवान् की आँखों में ज्योति है, उसको देखने पर आत्मा की ज्योति को देखने में सुविधा रहती है। भगवान् महावीर ने अनेकांत का शस्त्र लेकर यह नहीं कहा कि आप से हम भिन्न हैं। अनेकांत वाला हरेक को अपनाता है। सिद्धत्व को प्राप्त करने की शक्ति हर एक रखता है। भगवान् ने कहा कि कोई छोटा-बड़ा नहीं है। जीव अनादि काल से आ रहा है। अनन्त काल तक रहेगा, तब बड़ा-छोटा कैसे ? हम छोटे बड़े का विचार इसलिए करते हैं क्योंकि त्रैकालिक सत्ता से विमुख हैं। अब तो आपस में मिल जुलकर आत्मा की चर्चा में तल्लीन हो जाओ, भौतिक चकाचौंध में रस लेना छोड़ो। अनेकांत की चर्चा करो, जिससे प्रेम की डोरी में सब बंध जाये पुद्‍गल पिछड़ जाये और चैतन्य शक्ति जग जाये, उसी से प्रयोजन सिद्ध होगा। भगवान् महावीर ने जीव के विकास के लिए उपदेश किया, भौतिक उन्नति के लिए नहीं। उनके उपदेशों को अपनाकर कर्म बन्ध को नष्ट कर सकते हैं। उन्होंने अहिंसा परमो धर्म तथा अनेकांत का उपदेश देकर सभी जीवों से प्रेम करना सिखाया, मेरे में तेरे में का कोई अन्तर नहीं रखा। अनेकांत का मतलब समता से है। जहाँ समता है, वहाँ किसी प्रकार का झगड़ा, संघर्ष, विसंवाद नहीं, संवाद होगा। उस समता के लिए वीतरागता अपेक्षित है। समता जीव का एक अनन्य गुण है, भगवान् महावीर ने इसी को धारण कर अनेक विवेचना की हैं। राग पक्षपात का चिह्न है। समता की चरम सीमा तक जब भगवान् महावीर की दृष्टि चली गई, तभी वे निसंग हो गये और उन्होंने दुनियाँ को संगी बना लिया। उनकी दिव्य ध्वनि खिरने लगी आज उसका अभाव नहीं है, उसके बल पर आगे बढ़ने वाले अनेक सन्त महर्षि आज भी मौजूद हैं। पूर्व वक्ताओं ने कहा कि अनेकांत को समझना विवेचन करना बहुत कठिन है, पर मैं तो कहता हूँ कि अनेकान्त पर चलना बहुत सरल है, दुरूह नहीं है। लड़ाई करने पर तो पहले से अनेक तैयारियाँ करनी पड़ती है, लेकिन प्रेम से मिलने पर कुछ नहीं करना पड़ता। अनेकांत की व्याख्या करना प्ररूपण से पहले उसकी दृष्टि जाननी चाहिए प्ररूपण के अनुसार जीवन को चलाना। आज सब व्याख्या सुनने को तैयार हैं, पर अनेकान्त पर चलने की दृष्टि किसी की नहीं हुई। अपने जीवन में अनेकान्त को उतारे। नहीं तो अपने पास शान्ति नहीं, क्लान्ति रहेगी, समता का अभाव

रहेगा। भगवान् महावीर 'अनेकान्त', 'जिओ और जीने दो' तथा 'अहिंसापरमोधर्मः' के नारे से विश्व के नाथ बन गये। वे मात्र जैनियों के ही नहीं। हमें भी विश्व के साथ सम्बन्ध रखना है। दीवार या Division आदि की जरूरत नहीं। भगवान् के समवसरण में भी देव-दानव पशु, मनुष्य सब बैठते थे। हम उनके उपासक कहलाते हैं हमें उन कमियों को दूर करना है। हमें भी भगवान् महावीर की तरह कल्याण करना है। आज हमारी दशा उनसे भिन्न है, हीनावस्था को प्राप्त है। इसका कारण, महावीर की दिशा 'भी' की ओर तथा हमारी दिशा 'ही' की ओर। ६० साल ७० साल के हो जाने पर भी आप यही सोचते हैं कि मैं गद्दी का मालिक बना रहूँ, चाबी बाँधे रहूँ, बच्चों को नहीं दूँ। अगर चाबी दे दी तो घर वाले मुझे नहीं पूछेंगे। मैं कहता हूँ कि अगर घर वाले नहीं पूछेंगे तो मैं पूछूँगा और आरती भी उतारी जाएगी। भौतिक चकाचौंध में कुछ नहीं है, आध्यात्मिक रस को अपना शेष जीवन अर्पित कर दो। भगवान् महावीर की पूजा घर में नहीं हुई, बाहर आकर 'ही' हटाकर 'भी' को अपनाने पर हुई। आप लोग पड़ोसी को दुख हो, वह रोए, तो बहुत खुश होंगे, आप तो यहाँ तक सोचेंगे कि उसका चाहे सत्यानाश हो जाये, मेरी पूछ बढ़े। पर मैं कहता हूँ आपके पूछ है क्या ? आपकी दृष्टि हर दम क्रोध, मान, माया, लोभ की ओर लगी है, अतः अपनी दृष्टि को उपासना की, अनेकान्त की ओर करें, २५००वां निर्वाणोत्सव एक साल तक ही नहीं, बल्कि जीवन भर अपनाएँ। आज भारत सरकार ने भी आपको मदद नहीं दी है, बल्कि अनेकान्त अपरिग्रह की रक्षा के लिए, उसके संवर्धन के लिए मदद की है। लोक वैराग्य को अपनाएँ, घर से उदासीन हो, आगे के लिए अध्यात्म का रस ले सकें उसके लिए कार्य करो। संतृप्त से संतृप्त के लिए करुणा यही बनेगी। इसी में अनेकान्त का हित भी निहित है।

❑ ❑ ❑

प्रभावना - सो कैसे ?

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि को देखकर धर्म का प्रचार व प्रसार होता है। एक समय था जब हमारे से भी ज्यादा ऊंची भावना को लेकर लोग धर्म के प्रचार व प्रसार को तैयार थे, पर उस समय राजा लोग धर्म के नाम पर डरते थे। जब हम अधिक सिद्धि के लिए तैयार होते हैं, तब अनेक कठिनाइयाँ खड़ी हो जाती हैं। उस समय के राजा महाराजा अहिंसा से डरते थे। कहते हैं कि समय-समय पर पतन होता चला जा रहा है। चतुर्थ काल की अपेक्षा पंचम काल में धर्म का प्रचार खूब हो सकता है। आज सरकार स्वयं अहिंसा, अपरिग्रह के सिद्धान्तों के प्रचार में लगी है, उसके द्वारा जैन धर्म का समादर हो रहा है। आज हमने ऐसे समय जन्म धारण किया है, जबकि धार्मिक दृष्टि का कहीं विरोध नहीं बल्कि धर्म की महिमा समझने के लिए विद्वान् लोग साहित्य का सृजन कर रहे हैं। और दुनियाँ में उसको प्रस्तुत कर रहे हैं। इसके लिए अनेक सुविधाएँ भी मिल रही हैं। किन्तु जो

जैन कुल में जन्म ले चुके हैं, वे इस बात को भूल रहे हैं, वे मात्र जीवन यापन समय मापन करना ठीक समझ रहे हैं। आपका लक्ष्य अहिंसा का संवर्धन ही होना चाहिए ताकि अहिंसा का आलम्बन लेकर प्रत्येक प्राणी संसार से तिरे। भेष बदल ले तो कोई बात नहीं, पर विचार नहीं बदलना चाहिए। विचार बदलने पर धर्म का कार्य आगे बढ़ाने में रुकावट आ जाती है। किसी को यह मालूम न हो कि वक्ता अपना समर्थन कर रहा है। अहिंसा को सामने लाना है। दूसरों के पक्ष का समर्थन करते हुए जो यश मिल चुका, मिल रहा है तथा मिलेगा, वह दूसरों को कष्ट देने व अपनी प्रशंसा करने से नहीं मिला। दूसरों का समर्थन अपने सिद्धान्त का लोप न करते हुए सबके जीवन का विकास हो, उच्च गोत्र का बन्ध हो। जो आप चाहते हैं, वह दूसरों की प्रशंसा में होगा। गुरु का यदि हम आदर करेंगे तो अपने आप वहाँ पर जैन धर्म विश्व धर्म प्रस्थापित हो सकता है। दूसरा यदि निंदा करता है तो समझो हमारी ख्याति, यश फैला रहा है। ऐसा न हो तो दुनिया के सामने विशेषता आती ही नहीं। विरोध न हो तो विकास होता नहीं। हम लोगों को गालिएँ, निंदा, आलोचना रुचती नहीं प्रत्युत स्वयं हम गाली देने की कोशिश करते हैं। भगवान् महावीर ने गाली को आत्म प्रशंसा बताई है। किए हुए दोषों के निवारण के लिए जो विधि विधान करना होता है, उसे प्रतिक्रमण कहते हैं। अगर जब कोई हमारे दोष दूसरों के सामने रखता है तो वह हमारा ही काम करता है, भला करता है। दूसरों से सार वस्तु को लेकर बाकी को छोड़ना, यह बात हमारे दिल में उतर जाये। दूसरे की आलोचना किए बिना अपने आपको धिक्कारना, निन्दा करना। जिस समय प्राणी अपनी आलोचना करता है, वही समय उसके लिए चतुर्थकाल है। आज काल को दोष देकर अपने दोषों का संग्रह किया जाएगा तो भी उद्धार नहीं होगा। आज तक हमने जब कभी आलोचना की अपनी नहीं, दूसरों कि की। महावीर ने, अपनी निंदा आलोचना के लिए कहा। आपका यही मुख्य कार्य होना चाहिए कि जिससे अहिंसा धर्म का विस्तार, प्रचार, प्रसार हो तथा अहिंसा का नारा जन-जन के कानों तक पहुँचे। जैन जाति नहीं, एक मत है, विचारधारा है। विचारों की स्वतन्त्रता जब चली जाती है तब कोई भी तीन काल में भी विकास नहीं कर सकता। दूसरों के अनुरूप शरीर चला सकते हैं, पर विचार नहीं। खाने में, सोने में रहन सहन में भले ही पाबन्दी हो, पर विचारों के बन्धन नहीं होना। भगवान् महावीर ने कहा कि जिसमें विकास हो, हित निहित हो, उसे अपनाओ। नाम, क्षेत्र में विशेषता नहीं। विचारों का प्रचार करने के लिए ऐसे ढंग अपनावें कि दूसरों को आकर्षित कर लेवें और बाद में अपने में मिला लेवें। सर्वप्रथम दूसरों पर अपनी बात थोपना चाहें तो तीन काल में भी यह बात नहीं हो सकती। मात्र कहने से भी प्रभावना नहीं होती। जहाँ प्रभावना करना चाहो, वहाँ जाना पड़ेगा। मन जिस बात को नहीं चाहता उसको हाथ पैर भी नहीं करते। हाथ डरपोक व हाजिर जवाबी है। आर्डर तो, मन के द्वारा होता है। अन्दर का मल धुलने पर ही सम्यग्दर्शन प्रज्ज्वलित होता है। हम मात्र सम्यग्दर्शन

की चर्चा करते हैं, उसे अपनाते नहीं, जो इसे अपनाता है वह दूसरों को भी अपनाएगा, उनकी कमियों को दूर करेगा। जब प्राणी को शारीरिक वेदना होती है, तब प्रायः उसका स्खलन हो जाता है। ऐसा स्खलन न हो उसके लिए प्रयास होना आवश्यक है। सम्यग्दृष्टि सेवा करना जानता है। वह दुखी जीवों को देखकर दुखी होता है और उस दुख को दूर करने की चेष्टा भी करता है। दूसरों के दुख को दूर कर अपना रस पिलाओ, अपनी बात कहो, उपादान में जागृति लाने की चेष्टा करो। भगवान् महावीर के संदेशों को पहुँचाने के लिए दूसरों की शारीरिक, आर्थिक, आध्यात्मिक पीड़ा को दूर करना जरूरी है। अगर एक प्राणी को भी लाइन पर लाते हैं तो आपका जीवन सफल हो सकता है। कामना के अभाव में जो काम होता है, वही काम कहलाता है। कहा है कि– 'भूखे पेट भजन न हो गोपाला', ले लो अपनी कण्ठी माला।' अतः पहले भूखे की भूख मिटाओ, कष्ट को दूर करो। अनेकांत का मतलब सभी से मिलकर चलने वाला धर्म। धर्म को सामने रखकर चलो, पीछे रखकर नहीं, यह रूढ़िवाद का समर्थन नहीं है। अन्दर जो त्रैकालिक सत्ता है उसके विकास के लिए कार्य करना है, जीवों के विकास के लिए कार्य करना है। यह समय जो मिला है, वह फिर नहीं मिलेगा।

❑ ❑ ❑

अंतिम दर्शन

तम टला,
उडुगण चला,
प्राची अरुणिमा हो चली,
चला मंद, मंद, सुगंध पवन
जहाँ पवित्र पावन, पावा उपवन,
पवन की इच्छा है,
अच्छा होगा,
होगा स्वच्छ मम जीवन भी,
एक बार सहर्ष,
वीर चरण स्पर्श,
अन्तिम दर्शन,
कर लू!!
न जाने अनागत जीवन!!

क्या विश्वास ?
आया न आया श्वास।
लता के चल पर
फूले, फूल दल,
फूला न समाते,
स्वयं वीर चरणों में,
करते समर्पण
स्मित सुमन।
सन्मति के पद पयोज पर
पयोज-पराग-लोलुपी,
भव्य अलिगण,
गुण् गुण् गुंजार,
नाच नाचते,
मान रहे,
हम अमर बनेंगे,
नहीं मरेंगे,
जो किया सुधा सेवन,
अपूर्व संवेदन।
धरती अनिमेष निरखती,
युगवीर को, धीर को, गुण गंभीर को,
स्वयं को धन्यतमा मानती,
तृण बिन्दुओं के मिस से,
दृग बिन्दुओं से,
सिंधु समान महावीर के,
कर, पाद प्रक्षालन।
पावा उद्यान,
आरुढ़ हो ध्यान यान,
किया वर्धमान ने निज धाम की ओर,
जो लोकाग्रस्थित है,

द्रुत गति से प्रयाण।
कर लो वीर! स्वीकार,
मम नमस्कार,
बने वे शीघ्र साकार,
उठते जो बार-बार विचार,
मम मानस तल पर।

❑ ❑ ❑

सोचो - क्यों आये हैं !

किसी भी कार्य के आदि में यह विचार, निश्चय अवश्य किया जाता है कि मुझे क्या प्राप्त करना है ? वही हमारा अभीष्ट है, जिसे हमने अनादिकाल से प्राप्त नहीं किया, जिसका जीवन परिचय, अनुभव नहीं किया, जो अज्ञात रहा। उसी अज्ञात की खोज के लिए विचार, अध्ययन अनुकरण की आवश्यकता है।

संसारी प्राणी अनादिकाल से सुख का रास्ता ढूँढ़ रहे हैं। धर्म की बात करते हुए धर्म के मर्म को आज तक समझा ही नहीं। जिस प्रकार दैनिक कार्य बुद्धि अबुद्धि पूर्वक करते हैं, और खाना खाते, पानी पीते, नींद लेते हुए भी श्वांस लेते हैं, उसी प्रकार धर्म कार्य को अपने जीवन का अंग बनाना होगा। अधिक परिश्रम करना होगा, तभी आप लोगों की कामना, विचार साकार बन सकते हैं। किसी सत्ता के द्वारा कहने पर नहीं, उत्साह के साथ होना चाहिए। हुकुम, दबाव से नहीं, स्वेच्छा से जीवन का अंग बना कर कार्य करना है। सब कुछ भूलना है और योजना बद्ध कार्य करने के लिए जीवन को इसमें लगाना है। जिस प्रकार रोगी व्यक्ति शरीर के स्वास्थ्य के बारे में जानना चाहता है, उसी प्रकार धर्मात्मा को वास्तविक रहस्य के बारे में जानना चाहिए। इसके लिए शरीर भले ही गौण हो जाये पर धर्म को गौण न करें। जीवन सुधार के बारे में आपने कभी सोचा ही नहीं। उस जीवन में क्या विशेषता है जो लाभ हानि का विचार नहीं करता? वैरागी व्यक्ति असंयमी, दुर्जन व्यक्तियों से बात करना पसन्द नहीं करेगा वह वीतरागता को प्राप्त करना चाहेगा, विकास की ओर उन्मुख होगा और रूढ़िवादों से, तीन मूढ़ता से दूर रहेगा। वह स्वतंत्रता, आजादी, मुक्ति के उपाय के बारे में सोचेगा, परतंत्रता, अपाय को छोड़ेगा।

सम्यग्दृष्टि जीव अविरति होते हुए भी दुष्कुल में जन्म नहीं लेगा, कुरूप नहीं होगा तथा अल्पायु भी नहीं होगा। वह रागी-द्वेषी, असंयमी व्यक्तियों से बातचीत नहीं करेगा। सभी बंधन होना आवश्यक हैं, पर एक तरफ निरबंध होने की दृष्टि होनी चाहिए। धार्मिक क्षेत्रों में बंधन नहीं होना चाहिए। अगर माता-पिता भी धार्मिक कार्यों में बंधन करते हैं तो उन्हें भी गौण कर देना चाहिए।

प्रसंग में जो है, वही मुख्य तथा अप्रासंगिक को गौण कर दे, तभी हमारा जीवन सुधरेगा। यह बात सोचने की है। मनुष्य जीवन बहुत दुर्लभता से मिला है। सोचो-हम भोगों के लिए नहीं, योग धारण करने के लिए आए हैं। हमारे में वैराग्य के अंकुर क्यों नहीं पैदा हो रहे हैं? आप जब कभी कुछ छोड़ते हैं तो गुस्से में, द्वेष के आवेश में छोड़ते हैं। सीढ़ी चढ़ते-चढ़ते बहुत मुश्किल से विकास हुआ है। अब तो ऐसे उपाय को अपनाओ, जिससे केवल ज्ञान प्राप्त हो। मात्र खाने-पीने, व जन्म-मरण की बात नहीं करो, धर्म चर्चा करो। यह जीवन क्या है, अन्दर क्या चीज है। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य के बारे में सोचो, सत् का विचार करो। समय पाकर, पुद्गल का परिवर्तन होता है, पर जीवन में परिवर्तन क्यों नहीं,? उपयोग में परिवर्तन क्यों नहीं ? इस कान से सुना इस कान से छोड़ दिया। क्रांति व परिवर्तन क्यों नहीं? अपने जीवन में वह क्रांति लाओ जो क्लांति को मिटादे और शांति को प्राप्त करा दे। कुछ दिनों के उपरान्त भगवान् महावीर का तप कल्याण दिवस आ रहा है। निर्वाण से आपको कुछ मिला नहीं, लेकिन कुछ फेंकते हुए जब आप देखेंगे, तब शायद वैराग्य जागृत हो जाए, आपको तब कषायों का उपशम करना ही होगा। भगवान् महावीर ने केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिए 'तप' को अपनाया था, उसे ही साधन बनाया था। इस तप दिवस का उद्घाटन देवर्षि लोगों के द्वारा ही होता है। वे लौकांतिक देव एक भव के बाद ही मोक्ष जाने वाले होते हैं, वो विषयी नहीं होते, मात्र धर्म चर्चा करते हैं वे वीतरागता के गुण गाते हैं। हमारे यहाँ छोटे-बड़े का सवाल नहीं है, जो गुण व ज्ञान में वृद्ध हैं उसकी पूजा है। आज तक आप में गुणों की वृद्धि क्यों नहीं हुई? वैराग्य क्यों नहीं हुआ? यही विचारना है, वरना आपका सारा प्रयास व्यर्थ रहेगा। पुद्गल के साथ जीव में भी परिवर्तन आना चाहिए, मोह के चिह्न दूर होने चाहिए। आप रागी-द्वेषी बनकर संसार की वृद्धि चाह रहे हैं। मुक्ति का रस लो, थोड़ा प्रयास करने पर क्रान्ति आ सकती है। चारों ओर भोग सामग्री जो प्रतीक्षा में है, उसे ठुकरा दो, सूंघो भी मत। विचारो-मेरा कुछ भी इनमें नहीं है, ये सारे जड़ है। मेरा तो मात्र चैतन्य है। तपकल्याण के दिन तप को अपनाओ, वास्तविक रहस्य को समझो। गौण को मुख्यता देने पर मूर्खता कहलाएगी। अतः मुख्य को मुख्यता दो।

❑ ❑ ❑

बंधन ! मिटे कैसे ?

[मध्याह्न २ बजे आदर्श कारागृह में कैदियों को संबोधित करते हुए]

यही प्रार्थना वीर से छूटे भव-भव जेल।
सत्ता दीखे वो हमें ज्योति-ज्योति का मेल ॥

आज मैं आप लोगों को यह तत्त्व जो अनादिकाल से हम लोगों से दूर है, उसको दिखाने आया हूँ, जब उसके प्रति आस्था हो जाएगी तब संसार से मुक्ति मिल जायेगी, जैसे महावीर को

मिली। आप अनुभव करते होंगे कि हम एकांत में रह रहे हैं। यह ठीक है दृष्टि के द्वारा सृष्टि का निर्माण होता है। जो जिस प्रकार देखता है उसी प्रकार वह वस्तु उसे दीखने में आती है। भगवान महावीर ने भी पूर्व में जो कर्मों का संकलन किया था, उस समय दृष्टि अलग थी इसीलिए उन्हें भवरूपी जेल का अनुभव करना पड़ा था। जब कर्मों का नाश कर दिया, वास्तविक दृष्टि मिली तभी छुटकारा मिला। हमें भी वह दृष्टि मिल सकती है, ताले खुल सकते हैं। यह जो बेला गुजर रही है, उसमें यह न विचारें कि विकास नहीं कर सकते। यह कारागार शरीर के लिए है, पर उज्ज्वल विचारों के लिए कारागार नहीं है। आप लोगों के विचार बाहर वालों से भी ज्यादा उज्ज्वल हो सकते हैं। विचारों से ही विकास होता है। भव-भवरूपी जेल छूट जाए, इसके लिए आप लोग भी बढ़कर प्रयास कर सकते हैं, उत्कृष्ट बनने तथा गंदे विचारों को रोकने के लिए उचित स्थान यहाँ भी मौजूद है। जेल में लोग दुख का अनुभव करते हैं, लेकिन दुख जैसी बात नहीं है। जितना प्रभाव दो आँखों का विश्व पर पड़ सकता है, उतना हाथों का नहीं। विवेक से, ज्ञान से, युक्ति से रास्ता चुनने पर सफलता मिल सकती है। विचारों, व्यवहारों में विकास करना है। जेल में दण्ड रूपी पश्चाताप को आया व्यक्ति भी उत्थान की ओर अग्रसर हो सकता है। जेल एक पाठशाला है, यहाँ पर सहज ही मन पवित्र बन सकता है। जिस प्रकार कठिन प्रश्न होने पर ही विद्यार्थियों की कुशलता जानी जाती है, उसी प्रकार रास्ता कठिन ही होना चाहिए। आपत्ति आने पर ही ईश्वर, आत्मा, परमात्मा, कर्म, पुण्य-पाप आदि याद आते हैं। ऐसे जीव भी हैं, जिनका जीवन निन्दतम है, पर वे रास्ते से विमुख हैं। हमारा जन्म जीवन को चलाने के लिए ही नहीं हुआ है, बल्कि उस तरफ जीवन को ले जाना है, जहाँ सुख शांति हो। किसी को मारना ही हत्या नहीं है। महावीर ने वह भी हत्या बताई है, जहाँ राग-द्वेष द्वारा आत्मा की हत्या हो रही है, जिसके कारण चिरकाल पर्यंत चार गति रूपी जेल में बन्दी बनना पड़ रहा है। जीव के उत्कर्ष को न मानते हुए उसको नीचा दिखाने के कार्य में लगे हुए हैं यह नहीं विचारते कि सामने जो है, वह भी मैं ही हूँ, वह भी सुख चाहता है, उसके लिए प्रयास जारी है उसका। अगर मैं सुख के रास्ते फूल नहीं बन सकूँ तो कम से कम शूल तो नहीं बनूँ। सुख के रास्ते में फूल बन जाये तो वह तो महान् है ही पर अगर शूल भी न बने तो वह भी महान् ही है। हम सामने वाले की पहचान करें। सामने जो सत्ता है उसका भी दर्शन होना चाहिए, उसकी भी ज्योति जले। सामने वाला पेड़ भी उसी सत्ता को लेकर है। हम लोगों ने यही अपराध किया कि अपने से दुर्बल व सबल को ठेस पहुँचाने की चेष्टा की, इसलिए दुख का अनुभव कर रहे हैं। पीड़ा तभी दूर होगी जब दूसरों की पीड़ा भी दृष्टि में आएगी। पेड़ ने स्वयं कभी फलों का रसास्वादन नहीं किया, पर आपको रसास्वादन प्रदान करता है। फलों से आप पेट भर सकते हैं, पर पेड़ का सत्यानाश तो नहीं होना चाहिए। पका फल तोड़ने से भी पेड़ को उसी प्रकार दुख होता है, जिस

प्रकार से पके हुए घाव को काटने पर हमको दर्द होता है। अपने जीवन के विकास के लिए दूसरों के जीवन को ठुकराते हुए नहीं बढ़ना। कहा भी है–

थी दूसरों की आपदा हरणार्थ अपनी सम्पदा,
कहते नहीं थे किन्तु हम करके दिखाते थे सदा।
नीचे गिरे तो प्रेम से ऊँचा उठाते थे हमीं,
पीछे रहे को घूम कर आगे बढ़ाते थे हमीं ॥

किन्तु! आज दूसरे को उठाना तो दूर रहा, जो आगे बढ़ रहा है, ऊँचा उठ रहा है, उसको लंगी मारकर गिरा देते हैं, रूकावट के लिए बाड़ बनाते हैं। यह नहीं सोचते कि उसके पास भी बल है। हमारे पास जो धन, बल शक्ति है, उससे हमें गिरे हुए को उठाना चाहिए, पतित को पावन बनाना चाहिए, तभी ब्रह्मा, खुदा आदि की कृपा हो सकती है। महावीर ने कहा कि सभी का जीवन अपने समान है, उसके पास भी वह बल है जो हममें है। उनके पास वह शक्ति व्यक्त है हमारी शक्ति अव्यक्त रूप में है। अन्दर वही आत्मा है जो परमात्मा में, महावीर में है। खुदा के बन्दे हैं, पर बहुत गन्दे हैं। एक बार प्रभु को याद करो कि हे प्रभो ऐसा बल दो कि मैं खुद भी आदर्श के साथ जीऊँ, सारे लोग दृष्टांत के रूप में ले ले। ऐसा विवेक दो कि मैं दुखी का दुख दूर करूँ।

जो कृतज्ञ है, वही सर्वज्ञ है। जो कृतघ्न व्यक्ति है, वह नर से नारकी, तिर्यञ्च बन सकता है। कृतज्ञ बनने पर सारे अन्धकार हट सकते हैं। दूसरों को जिलाने की, जीवन दान करने की शक्ति हममें नहीं है तो किसी का जीवन लेने का क्या अधिकार है। मारना ही जीवन लेना नहीं है। बल्कि दूसरों का धन लेना, निरपराधी को अपराधी ठहराना भी जीवन लेना है। खून सर्वप्रथम कोई नहीं पीता। क्रूर से क्रूर प्राणी भी अपनी माँ का दूध ही पीते हैं। अतः आज से ऐसी प्रतिज्ञा करो कि अपने जीवन को विकसित बनाएँगे। उस पार्थिव शरीर के द्वारा जो कुछ समय बाद बिखरने वाला है, अच्छे कार्य करेंगे। आखिर में यही कहता हूँ कि जिससे दूसरे का जीवन बिगड़ता हो, बंधन हो, दुख हो, सत्यानाश हो, ऐसा कार्य नहीं करेंगे। कहा भी है–

मरहम पट्टी बाँध के वृण का कर उपचार।
ऐसा यदि ना हो सके डण्डा तो मत मार ॥

❑ ❑ ❑

सद्कर्म - काम आते !

मोक्ष वह है जो बन्धन से मुक्ति दिला दे, उसके लिए साधन भी निरबन्धन रूप होने चाहिए अगर साधन बन्धन रूप होंगे तो मुक्ति कैसे होगी। साधन साधक का एक मात्र भाव है जो साध्य की ओर बढ़ रहा है। मोक्ष एक संवेध्य है, मोक्ष का मार्ग संवेदना परक है, भाव परक है। भावों के द्वारा

ही मुक्ति हो सकती है और भावों के द्वारा ही बन्ध हो सकता है। मुक्ति के लिए भाव कैसे हो ? यह सोचना है। परमार्थ को प्राप्त किए हुए देवों का श्रद्धान करना, परमार्थ के शास्त्रों को मानना, यही मोक्ष मार्ग है। मोक्ष मार्ग के साधनों को बन्धन रूप नहीं अपनावें, मुक्ति रूप अपनावें तभी आचार विचार सभी समीचीन कहलाएगा। श्रद्धान कोई मानसिक, वाचनिक, शारीरिक चेष्टा नहीं है। मन, वचन, काय का परिणमन आत्मा की एक भावना है जो अन्दर से बाहर की ओर उमड़ पड़ती है, उसका अंकन परिलक्षण कैसे करेंगे? इसके लिए दूसरे के साथ तुलना नहीं करनी है। असंख्यात लोक प्रमाण को लेते हुए परिणाम होते रहते हैं, उन परिणामों के साथ अपनी तुलना कैसे हो सकती है, अपने परिणामों को देखो कि किन-किन भावों को लेकर उठते हैं, जब अन्दर से विश्वास को लेकर उठते हैं, तभी विचारों में समीचीनता आती है। विचार कथंचित् पौद्गलिक है, विचारों से शरीर में, वचन में परिवर्तन होता है। शरीरादि भी पौद्गलिक है अतः इनमें भी समीचीनता आती है। आप यह सोचते ही नहीं कि बन्धन का निर्माण क्यों हो रहा है, क्योंकि अन्दर के परिणाम विपरीत हो रहे हैं, आज तक वह श्रद्धा हुई ही नहीं, जो होनी चाहिए। आप चाहते हैं कि हम बाहर की ओर जो देख रहे हैं, वे सदैव बने रहें, उनकी सुरक्षा के लिए, उनको पूर्ण करने के लिए हरदम प्रयास होता रहता है। अन्दर जो विचार उठ रहा है, उसकी ओर ध्यान ही नहीं है। इसीलिए पतन हो रहा है।

आचार्यों ने आप्त का मतलब 'मेहमान' बताया है। मेहमान वह है जो हमारी उन्नति, तथा सुरक्षा चाहते हैं, जो रास्ते को समीचीन बनाना चाह रहे है। पर हम उनकी बात पर विश्वास ही नहीं करते। आप्तों का प्रयास हितोपदेश द्वारा दुनियाँ को समीचीनता का दर्शन करा देना है। ऐसा विश्वास जब होता है तभी उसके बाद मार्ग आरम्भ हो जाता है, मोक्षमार्ग के लिए यही भूमिका है, अन्यथा तो सब संसार मार्ग कहलाते हैं। जब यह विश्वास हो जाये कि सुख परमार्थ में है, स्वार्थ में नहीं, तब सभी आचार, विचार, चारित्र समीचीन बनता चला जाएगा। आज हिंसक वृत्ति का बोल वाला है। बार-बार संदेशों को सुनते हैं पर जीवन में नहीं उतारना चाहते, परिवर्तन नहीं चाहते, मात्र पूर्व में भोगे हुए, परिचय में आये हुए पदार्थों को चाहते हैं। यह गलत है, इसमें हिंसक वृत्ति नहीं छूट सकती। हिंसक वृत्ति छूटने पर ही अव्यक्त बल प्राप्त कर सकते हैं। जब पापास्रव ही नहीं है तब अन्य सम्पदा संकलन की क्या जरूरत है धन का संग्रह बेकार है। कहा भी है कि 'पूत कपूत तो क्यों धन संचय, पूत सपूत तो क्यों धन संचय'। कपूत पुत्र के लिए कितना भी धन रखो वह नष्ट कर देगा और सपूत तो अपने आप ही धन कमा लेगा। धन के अर्जन के पीछे जीवन समाप्त कर देना गलत है, संचय के समय कर्म सिद्धान्त को आप लोग भूल जाते हैं। परिवार के जीवन के लिए तथा अड़ोसी-पड़ोसी के जीवन की सुरक्षा के लिए इतने प्रयास की जरूरत नहीं। संसारमार्गी अगर आपको बनना है तो फिर उपदेश की नसियां आदि की जरूरत नहीं है, और अगर मोक्षमार्गी बनना

है तो इतनी दौड़ धूप की जरूरत नहीं। आज तो बहुत दौड़ धूप धन संचय के लिए चल रही है। प्रायः ऐसा देखने में आ रहा है कि जितनी-जितनी मात्रा में उमर बढ़ रही है, उतनी-उतनी मात्रा में चिन्ता आकुलताएँ भी बढ़ रहीं हैं। अर्थ का उपार्जन पुण्य पाप का परिपाक है, इन शब्दों पर विश्वास ही नहीं है। जिस व्यक्ति का पुरुषार्थ असाता को बाँध रहा है, वह साता की उदीरणा के लिए बन्धन है। विगत में बहुत पाप किया है। अब आप साता की उदीरणा चाहते हैं तो वर्तमान में असाता कार्य, पाप कार्य बन्द करो। जागृति हो जाने पर सत् कार्य प्रारम्भ करो, जिसके फलस्वरूप पूर्व के पाप कार्य भी पुण्य कार्य (साता-कार्य) रूप परिवर्तित हो जाये, क्योंकि दोनों पुद्‌गल है, दोनों के मेल से बन्ध हो जाता है। अन्दर के सत्कार्य भी वर्तमान के पाप कार्य में परिवर्तित हो सकते हैं। मन्दिरों में रोजाना पूजन, प्रक्षाल, स्वाध्याय ही पुण्य कार्य नहीं है, ऐसा मानने पर मात्र वाचनिक-कायिक की ओर दृष्टि चली गई परिणामों में सन्तोष हो। अगर पूजन करते समय भी असंतोष है तो वह पूजन नहीं कहलाएगी। जहाँ सन्तोष है, वहीं पूजन है। दौड़ धूप कम हो। अन्दर में भाव उज्ज्वल हो, लिप्सा में कमी हो, जो बाजार में भी पूजन करता हो, वही वास्तविक पूजन है। जो सिर्फ मन्दिर में ही पूजन करता है और बाहर असंतोष में रहता है, वह पूजक नहीं है। प्रायः देखने में आता है कि जैसे-जैसे तिजोरी में नोटों की गिनती बढ़ती जाती है, तब चाहे पेट खाली भी हो तो भी खून बढ़ता जाता है, मुख पर ऐसी चमक आती है, जैसे बिजली के बल्बों द्वारा भी चमक नहीं होती।

डरने वाला तथा दूसरों को डराने वाला प्राणी सम्यग्दर्शन से बहुत दूर हो जाता है। सम्यग्दृष्टि जीव दुखी व्यक्ति को दुख से दूर कर धर्म चर्चा करता है। यही वास्तविक अनुकम्पा है। अर्थ तो मात्र परमार्थ के लिए माध्यम है, उसके पीछे जीवन को, परमार्थ को क्यों खोना। आज प्रायः मात्र पानी छानकर पीना तो दया, अहिंसा बताते हैं, परन्तु संज्ञी पंचेन्द्रिय का खून पीने में भी नहीं हिचकिचाते। जो पड़ोसी है, साधर्मी है, मोक्षमार्ग की ओर जो प्रवृत्त है, उसकी हत्या नहीं होनी चाहिए। चींटी की रक्षा तो करें पर मनुष्य की नहीं, यह क्या बात है ? अभयदान सबसे बड़ा है। आहार के बिना भी व्यक्ति कुछ समय रुक सकता है, औषध के बिना भी रोगी कुछ समय तक जीवित रह सकता है, किन्तु अभयदान के बिना एक पल भी नहीं रुक सकता। अभय से रोगी भी बच सकता है, डॉक्टर के द्वारा उसे भी रोग ठीक होने का आश्वासन मिल जाता है, परन्तु भय से निरोगी भी मर जाता है। खतरा वचनों में है। वचनों में डर दिखाने के अंश बिखरे पड़े हैं। अभयदान में आत्मा के परिणाम निर्मल बनते चले जाते हैं। अर्थ भी अनर्थ का मूल है, वह तो मात्र शरीर को चलाने के लिए साधन है। अगर शरीर रोगी हो और न चले तो अर्थ भी उसे नहीं चला सकता है। यह शरीर, अर्थ आदि की बातें बाहर को लेकर है। अन्दर की ओर, आत्मा की ओर जब लक्ष्य होता

है, तब अर्थ, शरीर आदि गौण हो जाते हैं। मेरे साथ सबका आध्यात्मिक विकास हो, यही सम्यग्दृष्टि चाहता है। अपने पर, आत्मिक भावों पर विश्वास करो। सोचो! हमारे अंदर निर्मलता आई कि नहीं? तभी तो वास्तविक परिवर्तन है। विचारों में समय के साथ-साथ परिवर्तन आता है तभी कालाय तस्मै नमः होता है।

❑ ❑ ❑

श्रद्धान से ही मुक्ति

समंतभद्राचार्य आप लोगों को श्रद्धा के बारे में बता रहे हैं। जब तत्त्व मालूम नहीं है, उसके बारे में ज्ञान नहीं है, तब उसके बारे में विश्वास तो रखें, श्रद्धा मन में लावें। कार्य कोई भी हो, विश्वास के द्वारा ही होता है। लोक व्यवहार में हर एक बात विश्वास के पीछे चलती है। धार्मिक क्षेत्र में जो भी विश्वास के साथ कह रहे हैं, उन पर विश्वास करो। आपका विश्वास उस पर है, जिसकी कीमत है।

हमारे अन्दर जो भाव है, वह वास्तविकता को लेकर नहीं है। हमारे अन्दर वास्तविक इच्छा हुई नहीं। निमित्त एक होने पर भी उपादान भिन्न भिन्न है। पानी बरसता है ऊपर से, पर धूल में गिरने पर कीचड़ का रूप, सीप के मुँह में गिरने पर मोती का रूप, सर्प के मुँह में गिरने पर जहर का रूप धारण कर लेता है। एक निमित्त से अनेक रूप हो जाता है। एक व्यक्ति को जिनवाणी पर विश्वास हो जाता है, एक का विश्वास चला जाता है, सोचता है क्या पता ?

श्रद्धान उन गुप्त स्थानों तक ले जाता है, जहाँ आज तक नहीं गये, वह अंतर्दृष्टि बनाता है, जिससे अमूर्त पदार्थ दिखने लगता है, यह अन्धविश्वास नहीं है। विश्वास परोक्ष से होता है। जब परोक्ष सामने आ जाता है, तब साक्षात अनुभव हो जाता है। गुरुओं के उपदेशों से, शास्त्र पढ़कर तथा देवदर्शन से अविदित पदार्थ विदित हो जाते हैं। प्यासे व्यक्ति को पानी का आश्वासन मिलने पर, हालांकि पानी नहीं पिया, एक सुख की अनुभूति होती है। विश्वास के साथ आशावादी होना चाहिए। आपको आचार्यों के वचनों में विश्वास ही नहीं है, इनके वचन झूठे नहीं होते।

चैक मिल जाने पर हालांकि रुपया नहीं है फिर भी विश्वास हो जाता है कि रुपया मिल जायेगा। रुपयों की अनुभूति का विश्वास हो जाता है। उसी प्रकार श्रद्धा रखने पर मोक्ष मार्ग की भूमिका बन जाती है। जो गुरुओं के वचनों पर विश्वास लाता है, वह तृष्णा को मिटाता है, आनन्द का अनुभव करता है। आप क्यों बाहर की ओर भटक रहे हैं? अपने आप पर आपको विश्वास नहीं है। विश्वास होने पर ही सम्यग्दृष्टि जीव संसार शरीर भोग से निर्लिप्त हो जाता है। वह अमूर्त की पूजा करता है और उसके अन्दर की लहर बाहर को आने लगती है। वह संसार, शरीर भोग-विलास की पूजा नहीं करता है। जिस प्रकार विश्वास जमने पर ही दवाई कड़वी होने पर भी लेते हैं, उसी

प्रकार विश्वास जमने पर ही वह त्याग तपस्या आदि को स्वीकार करता है, वह विचारता है कि संसार में क्या पड़ा है ? वह सोचता है कि तृष्णा जीर्ण नहीं हो रही है, हम ही जीर्ण हो रहे हैं। हम भोगों को नहीं भोग रहे हैं, बल्कि हम ही भोगे जा रहे हैं। जब तक तृष्णा से अनासक्ति नहीं, तब तक गुरुओं की वाणी पर विश्वास नहीं हो सकता है। कर्म सिद्धान्त कहता है कि जब विश्वास हो जाता है तो उस व्यक्ति की गाड़ी ठीक लाइन पर हो जाती है। जैसे-जैसे ब्रेक लगाएगा तैसे-तैसे लब्धियाँ प्रारम्भ हो जायेंगी। क्षायोपशमलब्धि से विशुद्ध लब्धि प्रारम्भ हो जाती है, ब्रेक लगाने पर। जब विशुद्धिलब्धि प्रारम्भ हो जाती है तब गाड़ी चला नहीं रहे हैं, पर चल रही है, कोई बात नहीं। देशनालब्धि गाड़ी को बहुत कुछ रोक देती है और प्रायोग्यलब्धि आने पर गाड़ी धीरे-धीरे चलती है। जैसे एक घण्टे में एक मील की रफ्तार से। कषायों की गति, विषयों की लिप्सा इतनी कम रह जाती है कि पकड़ नहीं सकता, इसे कहते हैं, निर्विघ्न अवस्था। Danger को देखने व ब्रेक को दबाने पर भी कुछ नहीं होगा किन्तु Speed कम करनी पड़ेगी, रुकना पड़ेगा, गाड़ी घुमानी पड़ेगी। मोक्षमार्ग की ओर रुख करना पड़ेगा। विश्वास होने पर अनुकरण करना पड़ेगा। लोग चारित्र मोहनीय का क्षयोपशम का बहाना बनाते हैं। लेकिन इसमें ऐसी बात नहीं। अनन्तानुबन्धी रागद्वेषात्मक है। मिथ्यात्व के द्वारा चोरी डकैती आदि नहीं होती। मिथ्यात्व तो मात्र भुलाता है। रागद्वेष के द्वारा ऐसी परिणति होती है। अतः ब्रेक लगाकर घूम जाऐं, मुड़ जाएँ और पीछे की ओर चले जाएँ, तभी अपरिचित द्रव्य से साक्षात्कार हो जाएगा। आप कहेंगे कि इसमें कोई रस नहीं दिखता, इसका मतलब यही कि आपका विश्वास इस क्षेत्र में है ही नहीं, क्योंकि भोगों की लिप्सा, गृद्धता, रचपच जाना, ऐसा विश्वास वहाँ पर नहीं है। जब विश्वास हो जाता है, तब Foundation आधार हो जाता है, फिर प्रासाद भी खड़ा होने में देर नहीं, उद्धार होने में देर नहीं। विश्वास के बिना क्या सुनना, क्या प्राप्त करना ?

मोक्षमार्ग कहता है कि जो पास है, उसका नाश हो, ह्रास हो और जो पास नहीं है, उसका विकास हो। आपका इस बारे में लक्ष्य ही नहीं है। एक घण्टे भर प्रवचन सुनने भर से दिन भर का किया सारा पाप धुलेगा नहीं, बल्कि पुत जाएगा, वह पाप नष्ट नहीं होगा। आपके पापाचार में कमी आनी चाहिए और भोग, लालसा, वासना, शरीर की रक्षा गौण होनी चाहिए। आपने विश्वास के साथ एक पल भी आत्माराम की उपासना की ही नहीं। आप सोचते हैं कि भाग्य जगेगा, तब अपनी ओर बढ़ेंगे, आत्माराम को भजेंगे। ऐसा सोचकर आप अपने जीवन में विश्वास को जमा ही नहीं पा रहे हैं। जब महावीर के प्रति आस्था हो जाती है, अभिमान गल जाता है तब प्राणी सोचने लगता है कि मुझे भी निराकार बनना है, उससे मेरा कल्याण होगा। कब वह घड़ी आएगी जब पापों को भुलाकर आत्माराम को भजूँगा, २४ घण्टे यही विचार चलते है।

वह प्राणी मूर्ख शिरोमणि है, जो अपने आपको नहीं जानता, अपना विकास नहीं चाहता। वह निर्दयी है, वह दूसरों का विकास भी नहीं चाहेगा। अगर एक मात्र मनुष्य का शरीर धारण कर लिया तो क्या? उसका आचरण तो पशु से भी गया बीता है, पृथ्वी भी उससे घृणा करती है। वह सोचती है कि यह सपूत नहीं कपूत हुआ है। हर एक के जन्म लेने से पृथ्वी तीर्थ के रूप में नहीं होती, अपने को धन्यतमा नहीं मानती। भगवान् महावीर सरीखे पुण्यात्मा के जन्म से निर्वाण से पृथ्वी पुण्यतीर्थ बन जाती है, जिस प्रकार वैशाली और पावा भूमि बनी है। अतः राग द्वेष का विमोचन करो, और आत्म कार्य में संलग्न हो जाओ। उलझी हुई बातों को सुलझाओ। अनादिकाल से जो कार्य आप कर रहे हैं, उससे फल मिला ही नहीं। अतः उस कार्य को छोड़ो, विश्वास जमाओ, तभी संसार अनन्त नहीं विपरीत हो जायेगा। धीरे-धीरे संसार का विच्छेद करो। विश्वास के बिना निर्जरा नहीं होती। निर्जरा शाश्वत सुख का कारण है। विश्वास विषयों में नहीं होना चाहिए अपनी तरफ होना चाहिए। सम्यग्दृष्टि को वीतराग मार्ग कष्टप्रद नहीं, बल्कि सुखप्रद मालूम होता है।

❑ ❑ ❑

चारित्र सबसे बड़ा

जो श्रद्धा आप लोगों को देवदर्शन, स्वाध्याय व अच्छे कार्यों के द्वारा प्राप्त हो चुकी है, वह निर्दोष पले एवं दिनों दिन वृद्धि को प्राप्त हो, इसके लिए मद रूपी भावों का विमोचन करें। यह मद कभी सम्यग्दर्शन को लेकर उत्पन्न नहीं होता है। सम्यग्दर्शन के जो विरोधक हैं, उनको तथा मदों को हटाना चाहिए। मद तब उत्पन्न होते हैं, जब हमारी आस्था परम देव, शास्त्र गुरु में कम दिखाई पड़ती है। मद उत्पन्न करने योग्य जो पदार्थ है, उनसे दूर रहे। सम्यग्दर्शन, श्रद्धा जो उत्पन्न हुई है, उसके लिए बहुत काल व्यतीत करना पड़ा है। आस्था को अविनाशी बनाने के लिए परिणामों में कमी है। आज क्षायोपशमिक श्रद्धा ही हो सकती है। जो आस्था आप लोगों को हुई है उसको सुरक्षित रखने के लिए मदों से दूर हटने की चेष्टा करें।

जब चारित्र सम्यक्त्व के साथ रहता है, तब वह सम्यक्त्वाचरण चारित्र कहलाता है। सम्यग्दर्शन के विरोधक पदार्थ यहाँ बहुत मौजूद हैं, उनको रोकने के लिए जो आपकी श्रद्धा हुई है उसे मजबूत करने वाला सम्यक्त्वाचरण चारित्र है। इसके बिना सम्यग्दर्शन को सुरक्षित नहीं रख सकते। आप लोग यह कहते हैं कि चारित्र मोहनीय का उदय है, इसलिए चारित्र नहीं धारण कर सकते। इसका मतलब यह है कि या तो आपके पास सम्यग्दर्शन नहीं है या सम्यग्दर्शन है तो सुरक्षित नहीं रह सकता। सम्यग्दर्शन के साथ देव आयु का बन्ध हो गया हो तो वह चारित्र की तरफ अवश्य झुकेगा। अथवा सम्यग्दर्शन के साथ मनुष्य आयु या नरक, तिर्यञ्च आयु का बन्ध हो गया हो तो वह गत्यांतर सम्यग्दर्शन को ले जा नहीं सकता कारण कि यह सिद्धान्त की प्ररूपणा है। जो सम्यग्दर्शन

के साथ उपरोक्त इन गतियों को प्राप्त करेगा तो क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि ही होगा। आज किन्तु क्षायिक सम्यक्त्व यहाँ नहीं है इसलिए अन्त समय में सम्यग्दर्शन अवश्य छूटेगा। मनुष्य आयु का दुबारा बन्ध करने पर सम्यग्दर्शन अवश्य छूटेगा।

अतः चारित्र को अवश्य ही अपनाना पड़ेगा नहीं तो सम्यग्दर्शन अवश्य छूटेगा, क्योंकि यह बहुत कम समय के लिए उत्पन्न होता है। जिस प्रकार पांव में चोट आने पर हड्डी टूट जाने पर वापस कुछ देर में बैठ तो जाएगी, लेकिन पांव को सुरक्षित रखने के लिए उसी हालत में रखना पड़ेगा, पट्टा भी शायद बंधेगा। इसी प्रकार देव दर्शन, गुरु उपदेश सुनकर जो भाव उत्पन्न होते है, उन्हें स्थिर रखने के लिए उसी के अनुरूप चारित्र को धारण करना पड़ेगा। सम्यग्दर्शन होता तो है पर सुरक्षा जरूरी है। जिस प्रकार पैर तो ठीक हो गया पर सुरक्षा के लिए समय लगेगा। जिस प्रकार घोड़े के लगाम होने के बाद भी उसकी दोनों आँखों की साइड में और कवर (पट्टा) रहता है ताकि वह सिर्फ सामने रास्ते को देखे, इधर-उधर नहीं। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन होने के बाद भी उसे सुरक्षित रखने के लिए उसी प्रकार की दृष्टि हो, स्वच्छन्द विचार न हो, उसके लिए चारित्र की आवश्यकता है। सम्यग्दर्शन तो एक भाव है जो कुछ देर के लिए होता है। आप लोग भले ही पैर की सुरक्षा के लिए उसी अनुरूप रहेंगे पर सम्यग्दर्शन की सुरक्षा के लिए नहीं चाहेंगे। जो अनन्त संसार को काटना चाहता है, वह सामायिक आदि बन्धन को भी अपना लेगा। हमारी दृष्टि मौलिक चीज की ओर जाती ही नहीं, आपने तो उन चीजों को महत्त्व दे रखा है जो संसार का विकास करने वाली है। अतः सम्यग्दर्शन रूपी भूमिका के अनुरूप चारित्र को अपनाना जरूरी है वरना हमारा जीवन इसके बिना अधूरा ही रह जाएगा। चारित्र के अनुपालन से ही दृष्टि बिल्कुल सुदृढ़ बन सकती है। जब दृष्टि में स्खलन होता है तब चारित्र में भी स्खलन हो जाता है। अतः मद नहीं करना चाहिए, रुढ़िवाद को नहीं अपनाना चाहिए। सम्यग्दर्शन प्राथमिक दशा में अधूरा रहता है, चारित्र धारण करने पर धीरे-धीरे कमियाँ दूर होती हैं, पूर्ण चारित्र बाद में होता है। मद धीरे-धीरे मिटता है।

आज क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता है पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तो होता है। इनमें यही फरक है जितना जवान व बुड्ढे के द्वारा हाथ में लाठी पकड़ने में है। जवान लाठी को मजबूती से पकड़ेगा पर वृद्ध के हाथ में लाठी हिलती रहेगी, शायद गिर भी जावे। अतः आपका सम्यक्त्व छूट सकता है पर क्षायिक सम्यक्त्व नहीं। जिस प्रकार पैर ठीक करवाने के लिए उसी रूप में रहते हैं, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन को ठीक रखने के लिए उसी रूप में रहकर शांति का अनुभव करो। मंजिल तक पहुँचाने के लिए दृष्टि मंजिल तक नहीं पहुँचाएगी पर चारित्र पहुँचाएगा। ज्ञान जानने के लिए है। जिस पर श्रद्धान विश्वास हो गया, उसका अनुभव करने के लिए चारित्र की आवश्यकता है। दर्शन व ज्ञान के लिए ज्यादा समय की आवश्यकता नहीं, पर चारित्र के लिए समय की जरूरत है।

विश्वास केवल सम्यग्दर्शन व ज्ञान का ही नहीं होता, विश्वास आँखों के द्वारा देखने पर होता है। आँखों के द्वारा दर्शन व ज्ञान नहीं दिखता, पर सम्यक्चारित्र ही आँखों के द्वारा दिखता है। चारित्र वीतराग ही बनना है। अनादिकाल से रागरूपी आग से इतनी जलन हो रही है, जिसका विश्लेषण कोटि जिह्वा वाला करने में भी असमर्थ है। वीतरागता को धारण न करने पर ही दुख का अनुभव हो रहा है। इस लोक में सिद्ध परमेष्ठी सुख का अनुभव कर रहे हैं, और आप लोग दुख का अनुभव कर रहे हैं। दुख का अनुभव सम्यग्दर्शन व ज्ञान के साथ भी है, अगर समता नहीं है। सम्यग्दर्शन के साथ-साथ चारित्र हो तो आप भी बहुत सुख का अनुभव कर सकते हैं। सुख की प्राप्ति के लिए चाहे धन-दौलत, वैभव सब कुछ चला जाये तो कोई बात नहीं। सम्यग्दृष्टि अपने भावों से चारित्र का ही छोंक लगाता है। उस सम्यग्दर्शन के साथ आपकी आस्था, विश्वास नहीं है जो वीतरागता के साथ है। मनुष्य आयु का बन्ध जिसके है वह चारित्र को नहीं अपना सकता है। मनुष्य आयु का बन्ध होने पर सम्यग्दर्शन भी साथ नहीं जाएगा यहीं छूटेगा अतः उसे सुरक्षित रखने के लिए तीनों समय एक दो घंटे सामायिक करो, स्वाध्याय करो। आप पिक्चर लगातार ३ घण्टे देख सकते हैं, पर सामायिक नहीं। सामायिक में तो नींद भी आती है, पिक्चर में नहीं आती-ध्यान एक तरफ बना रहता है। इसका यही अर्थ है कि सामायिक में अविश्वास तथा पिक्चर में विश्वास है। सामायिक में असंख्यात गुणी निर्जरा बताई है। सारे विषय कषाय उसमें छूट जाते हैं। कुछ समय के लिए यही भावना होनी चाहिए। हेयोपादेय की बुद्धि जागृत होने पर एक बार सूचना देने पर विवेक द्वारा काम चालू करना चाहिए। बार-बार कहने की जरूरत नहीं। आपने आत्माराम को तो एक तरफ रख दिया है और बहिरात्मा की उपासना चालू कर दी है। चौबीस घण्टे बाहरी काम में लगे रहते हैं।

भरत चक्रवर्ती दिग्विजय करने भी गये तो भी तीनों समय सामायिक करते थे, आत्मा का चिंतन करते थे। इसे कहते हैं गृद्धता का अभाव, भोगों में अनासक्ति। इसीलिए कहा है कि ''वैभव को काक वीट सम गिनत हैं सम्यग्दृष्टि लोग''। आज चेतन के द्वारा अचेतन की पूजा हो रही है, जीवन का लक्ष्य कहाँ है? अतः प्रवचन सुनकर एक घण्टा आस्था में वृद्धि हो गई है, आपने आत्मा के बारे में सुना है, अतः चारित्र के बिना अब कोई शरण नहीं है, आस्था तभी सुरक्षित रह सकती है। दृष्टि जो स्खलित थी, उसे चारित्र द्वारा जोड़ लगा दो, तभी वह स्थिर रहेगी।

❑ ❑ ❑

त्याग! सो किसका ?

यह लोक छह द्रव्यों के द्वारा भरा हुआ है। यहाँ ऐसा कोई भी स्थान रिक्त नहीं है, जहाँ ६ द्रव्य नहीं पाये जाते हों। जहाँ जीव द्रव्य है तो वहाँ पुद्गल द्रव्य भी है। उनका सबका अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप भिन्न-भिन्न परिणमन होता रहता है और अनंतकाल से यही हो रहा है। इस लोक

में इस जीव को सुख की प्राप्ति क्यों नहीं हो रही है? इसके लिए महान् आत्माओं ने रास्ते बताये हैं। दुख का अनुभव हो रहा है एक मात्र विषमता के कारण तथा समता के अभाव में। जब समता का प्रादुर्भाव होगा तब सौभाग्य का द्वार खुल जायेगा। लोग भविष्य के बारे में सोचते हैं वे जीवन को सुखमय शांतिमय और समृद्धिमय बनाना चाहते हैं, तो उन्हें वर्तमान को नहीं खोना चाहिए। जो वर्तमान को खोता है, वह मूर्ख है।

जिस उद्देश्य को लेकर पाँच माह पूर्व आपने अजमेर में चातुर्मास स्थापना की विनती की थी। आज चातुर्मास समापन होने जा रहा है। इस ६ द्रव्यरूपी लोक में हमारा क्या कर्त्तव्य है, क्या धर्म है ? जिस काल की प्रतीक्षा की थी चातुर्मास के पहले वह चला गया। उस समय विचार किया था कि कब हम संघ को लावें और चातुर्मास की स्थापना करावें। वह समय भी चला गया। अन्य द्रव्यों पर तो आपका कुछ अधिकार हो सकता है, पर काल द्रव्य पर अधिकार नहीं हो सकता। जब काल जाता है, तब वह अन्य द्रव्यों में भी परिवर्तन लाता है। पाँच माह में दुर्लभ से दुर्लभ गणधरों के मुख से बिखरी जिनवाणी का श्रवण, मनन व चिंतन किया है, उसी के अनुरूप आपने भावना भी बना ली होगी। जिस चीज की इच्छा है उसी अनुरूप कारण मिलने पर उसकी प्राप्ति हो सकती है। काल बंधा नहीं रहता है। पाँच माह उस तरह निकल गये, जिस तरह ५ दिन ही निकले हैं। दुर्लभतम जीवन जो मिला है, उसके विकास के लिए बहुत कारण मिल गये हैं। काल आप लोगों की प्रतीक्षा नहीं करेगा। अतः जब तक काल है, अपने को मांजने की आवश्यकता है। दुर्लभ रूप बोधि, जिनवाणी, गुरुओं में जो आस्था है, उसे सुदृढ़ बनाने के लिए प्रमाद का विमोचन करो। सर्व प्रथम मिथ्यात्व को तो आपने ५ माह में हटा ही दिया होगा। यहाँ बैठे ७०-८० साल के वृद्धों ने दान, पूजा, प्रक्षाल, स्वाध्याय आदि किया है, कर रहे हैं, उससे मिथ्यात्व हट गया होगा। अब आगे अनादिकाल से जो शक्ति छिपी हुई है, उस स्वभाव को प्रकट करने की आवश्यकता है। गुरुओं का समागम, स्वाध्याय आदि साधन है पर अंतिम लक्ष्य स्वात्मानुभूति होनी चाहिए। दोष और आवरणों का क्षय होने पर भगवान् वीतरागी बन गये, इसीलिए उनको नमस्कार किया है। भगवान् की भक्ति, पूजा साक्षात मोक्ष को प्राप्त नहीं कराने वाली है, लेकिन मोह और राग-द्वेष को दूर करने पर आत्मा की मुक्ति हो सकती है। अपने आप में लवलीन होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। मिथ्यात्व के द्वारा भगवान् की भक्ति भी नहीं होती है।

आत्मा की भक्ति इतना ही कार्य अपेक्षित नहीं है, अब अविरति का विमोचन करना होगा। पागल, नादान व अज्ञानी प्राणी का संसार में भ्रमण हो रहा है प्रमाद के कारण। अतः प्रमाद का विमोचन जरूरी है चाहे भगवान् की पूजा, स्वाध्याय सभी कर लो। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद का विमोचन जरूरी है। मिथ्यात्व का तो विमोचन आपने कर दिया पर प्रमाद का विमोचन नहीं हो रहा

है। अपने आपके समीप पहुँचने के लिए बाहरी चीजों का विमोचन जरूरी है। ५ माह से पूर्व जिस बात को लेकर वर्षा योग किया था उसे बताना मुनियों का कर्त्तव्य है। जिन्होंने महाव्रतों का आधार ले रखा है तथा आकिंचन्य को अपना रखा है, वे तो आदर्शमय जीवन बनाएँगे ही, लेकिन उन लोगों के समागम से आपका भी जीवन बने, विकास करे, उनके अनुसार बने। खाना-पीना, उठना-बैठना तो अनादिकाल से रात दिन चल रहा है। उनकी कथाएँ परिचित हैं, उनके बारे में विश्लेषण कोटि जिह्वा से भी सम्भव नहीं है अतः जहाँ चाह है वहाँ राह भी है। जैसी आपकी चाहत होगी वैसी-वैसी राह मिलेगी। अगर नया-नया जीवन चाहते हो तो वो भी मिल सकता है निगोद में, जहाँ एक श्वांस में १८ बार जन्म मरण होता है।

जिस मनुष्य पर्याय को प्राप्त करने की आपको बहुत इच्छा थी, वह मनुष्य भव भी पुण्य प्रकृति में आता है। यहाँ आने पर आत्मा का विकास करने के लिए कार्य करना है। और यही काल जहाँ आपकी आत्मा के विकास के लिए विद्यमान है वहाँ तिर्यञ्च आदि के लिए नहीं। ऐसी दुर्लभ चीज प्राप्त करने पर भी आपकी दृष्टि आत्म विकास की ओर न होकर विषय वासना की ओर रहेगी तो, जिस प्रकार अपार समुद्र में फेंके मणि को प्राप्त करना दुर्लभ है उसी प्रकार मनुष्य पर्याय पाना दुर्लभ है। मनुष्य पर्याय में भी बुद्धि का प्राप्त होना, दीर्घायु होना तो और भी दुर्लभ है, इतना होते हुए भी विकास की ओर दृष्टि न होने पर तो यह कहा जायेगा कि उपादान में गन्दगी पड़ी है। आप सोचे कि जीवन में कब आकिंचन्य धर्म, ब्रह्मचर्य धर्म को अपनाएँगे? कब सब जीवों से खम्मामि करेंगे? बाहरी पदार्थों व कार्यों के लिए मुहूर्त की जरूरत है त्याग के लिए, आत्मा के उद्धार के लिए मुहूर्त की जरूरत नहीं है। काल को मुहूर्त का बाधक समझो और बहुत जल्दी समता को धारण करो, इसके अभाव में ही दुख का अनुभव हो रहा है। आप अपने पद पर आरूढ़ हो जाये नहीं तो दुख उठाना पड़ेगा। जैसे कहा भी है-

योगी स्वधाम तज बाहर दूर आता,
सद्ध्यान से स्खलित हो अति कष्ट पाता ॥
तालाब से निकलकर बाहर मीन आता।
होता दुखी, तड़पता, मर शीघ्र जाता ॥

जिस प्रकार पानी के अभाव में मछली को तड़प-तड़प कर वेदना सहनी पड़ती है, और यहाँ तक कि जीवन से भी हाथ धोना पड़ता है, इससे भी ज्यादा कष्ट आपको हो रहा है, क्योंकि स्वधाम से दूर हैं। निज स्वभाव के अनुरूप जो काम है वही अपना काम है। योगी भी स्वधाम को अगर छोड़ता है तो कष्ट पाता है। अतः निज घर को याद करो, पर घर को छोड़ो, पर घर में अनेक व्यवधान आते हैं। पर घर आत्मा के लिए परतन्त्रता है। इस जीवन को खोना नहीं है। अपने स्वभाव को प्राप्त करना है। आप भी उसी क्षमा को अपनाओ, जिसे भगवान महावीर ने भी अपनाकर अनन्त को प्राप्त कर लिया है। ❑ ❑ ❑

ज्ञान दीप – जलाओ तो

कल पं. जगन्मोहनलाल जी साहब ने आप लोगों के लिए एक बात प्रेरणा रूप कही थी कि अपने पास दीपक है और भगवान महावीर के पास भी दीपक जल रहा है, उसकी लौ से इस दीपक को स्पर्श किया जावे तो उद्दीप्त हो जाएगा। पर कौन से दीपक को लौ के पास ले जाना है? जिसमें बत्ती व तेल न हो ऐसा दीपक नहीं होना चाहिए। आचार्यों ने जहाँ भी किसी भी क्षेत्र के बारे में विचार व्यक्त किए, आशय को लेकर पात्र को लेकर कहे हैं ताकि प्रत्येक बहुत सरलता से अभीष्ट तक पहुँच सके। दीपक की शक्ति अपने पास है या नहीं यह भी सोच लो। बत्ती और तेल को अपने दीपक में लगाना होगा, तभी उस दीपक से स्पर्श हो सकता है। समंतभद्राचार्य ने जयघोष के साथ लिखा है कि- हे भगवान्! कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि अपने को प्रभु के चरणों में रख दो, कल्याण हो जायेगा, कोई कहता है कि ईश्वर कुछ नहीं करता है अपने को ही काम का कर्त्ता मानता है अलग-अलग क्षेत्र को पकड़कर लोग चल रहे हैं। भवितव्यता वह कि निमित्त और उपादान इन दो कारणों के द्वारा आविष्कृत कार्य के चिह्न को धारण करती है। जब हम एक को भी गौण/तुच्छ न मानते हुए आगे बढ़ते हैं तब काम होता है। भवितव्यता, होने योग्य कार्य को कहते हैं। भवितव्यता महान् है, शक्ति को लेकर है एक कारण को लेकर काम नहीं होगा। भगवान् क्षमा के भण्डार हैं अतः समर्पण कर दो। जब हम वीतरागता को अपनाना चाहते हैं, तब अप्रशस्त राग हेय है। हाँ, जहाँ लड़ाई करना है तब अप्रशस्त राग प्राप्तव्य है। होश लाने के लिए, रोष दिलाने के लिए अप्रशस्त राग पैदा करते हैं, वहाँ कहते हैं उठ जाओ बाहों का बल दिखाओ, तभी वहाँ अभीष्ट की प्राप्ति होती है। उसी प्रकार जहाँ वीतरागता का समर्थन करना है तब अप्रशस्त राग का विमोचन अभाव और कषायों से दूर, कषायों में मंदता होनी चाहिए।

दीपक में यदि तेल भर दिया पर बत्ती सारी जल गई है, अथवा बत्ती ठीक है पर तेल छान कर नहीं भरा है, तब भी बत्ती नहीं जलेगी। अतः अन्तरंग तथा बहिरंग निमित्त कारणों के होने पर ही कार्य पूरा होता है। प्रभु के चरणों में तो रोज लोट रहे हैं, पोट रहे हैं वीतराग बनने की पात्रता भी है पर जो कमियां हैं उसे दूर करने की कोशिश करनी है। लोहे को पारसमणि सोना बनाता है, पर लोहे पर थोड़ा भी आवरण हो तो सोना नहीं बनेगा। कमी पारस में नहीं है लोहे पर आवरण है। उसी प्रकार भगवान् महावीर में कमी नहीं है पर उनके सिद्धान्तों पर आपको वास्तविक श्रद्धा नहीं हो रही है। अगर दवाई को मुँह में लेकर थूंक दिया जाये तो रोग ठीक नहीं होगा। इसमें डॉक्टर की दवाई तो ठीक है पर कमी रोगी में है। विश्वास के साथ ही कार्य होगा। वो झरना उसी स्रोत से झरेगा, जहाँ देखने से झरना प्रारम्भ होता है। चन्द्रमा से अमृत नहीं झरता है, चन्द्रमा तो अमृतमय है। पर चन्द्रमा के उदय में चन्द्रकान्त मणि से पानी निकलता है। चन्द्रकांत मणि को सूर्योदय के सामने रखने पर

पानी नहीं झरेगा। भगवान् महावीर चन्द्रमा के समान हैं, अतः हमें चन्द्रकांत मणि होना है। वो श्रद्धा अन्दर से आने वाली है, बाहर से नहीं आएगी। उनके प्रभाव से हमारे में शक्ति पैदा होएगी वह शक्ति हमारे में है। वह उपादान है, आभ्यंतर है बाह्य नहीं। बहुत काल से महावीर की जय-जयकार का नारा लगा रहे हो। अब तो आत्माराम की जय बोलो। अपने उपादान को न भूलो, उसे समर्थ बनाने के योग्य जो कारण है उसे सामने रखो ताकि भूले नहीं। पारस पहाड़ भी ले आओगे तो भी आवरण सहित सुई भी सोना नहीं बनेगी। आपने आँखें बन्द कर रखी हैं, उन्हें खोलो, दरवाजे को बन्द मत करो, आँखें खोलकर दर्शन करो। कुछ लोग कहते हैं कि सूर्योदय कब होता है, पता नहीं। वे उठते देरी से हैं, ब्रह्ममुहूर्त में उठते ही नहीं। जब कभी भी महावीर का स्मरण किया जाये तो वीतरागता तो उनमें है, व रहेगी, वे तो अपना काम कर ही रहे हैं, पर हमारी आँखें खुलती ही नहीं। आप चाहते हैं कि कोई आकर आँखें खोलदे, तो यह महान् गल्ती ही होगी। टोटी के द्वारा जब वह टेंक से जुड़ी है, तब स्नान ही स्नान होता है, पर टोटीं अलग करने पर टोटीं से स्नान नहीं हो सकता। जल का स्रोत वह टोटी नहीं है। उसका स्रोत तो अन्दर से आ रहा है। भगवान् महावीर के चरणों में कुछ पराग रखी है, वह आप लोगों के लिए नहीं। उन्होंने प्रयास किया है, तब वे अनन्त शक्ति के धनी बने। अतः आप चाहें माथा रखे रहो तो भी आपमें वह अनन्त शक्ति नहीं आएगी। वह तो अन्दर का टेंक खोलने पर ही आएगी। भगवान् महावीर आपसे कुछ लेंगे भी नहीं तो देंगे भी नहीं। अगर हम उनके अनुरूप काम करेंगे तो उस रूप बन जाएँगे। वीतरागी बनना चाहते हो, उसकी उपासना करना है तो अप्रशस्त राग को छोड़ना है, फिर विचारना है कि हेय क्या है ? ज्ञेय क्या है ? इसके लिए मंद राग की आवश्यकता है। जब तीव्र कषायों की परिणति चलती है, तब हेय उपादेय को जानने की शक्ति नहीं रहती है, अनन्त दुख का अनुभव करना पड़ता है। प्रशस्त राग हेय भी नहीं है तो ध्येय भी नहीं है, वह बीच की अवस्था है। वह साधन आलम्बन के रूप में है, अतः वो भी छोड़ना है। प्रशस्त राग बीमारी को निकालने वाला है बीमारी निकलने पर उसे भी छोड़ना है। पेट में जब तक खराबी होती है, तभी तक दवाई ली जाती है उसके बाद नहीं। दवाई के द्वारा शरीर नहीं टिकता है, वह तो अन्न के द्वारा ही टिकता है। दवाई तो सिर्फ शरीर के रोग को दूर करती है। आज मोक्षमार्ग की प्ररूपणा में भी अति हो गई। महावीर ने महान् अध्ययन के बाद यह घूंटी पिलाई है। जैसी पात्रता वैसा उपदेश। हमारे आचार्यों ने यही तरीका अपनाया है।

समंतभद्राचार्य ने कहा कि हे भगवन्! आप मेरे द्वारा नमस्कृत इसीलिए हैं कि औरों में यह विशेषता नहीं है। आप किसी को खाली हाथ नहीं भेजते हैं, देते हैं, जिससे उसके जीवन का विकास होता है। मधुर शब्दों के द्वारा विरोधी के कान भी ठण्डे पड़ जाते हैं। हम अमृत की विशेषता बताते समय जहर की बात करते हैं। अपने को सिर्फ अमृत की विशेषता बतानी है। यही अनेकांत

है, दूसरे का निषेध नहीं करना। सामने वाले पर कैसे प्रभाव पड़े दूसरे का खण्डन नहीं, अपना मंडन होना चाहिए। ५० प्रतिशत मूर्ख कहने के बजाये ५० प्रतिशत बुद्धिमान कहना बेहतर है। हरेक व्यक्ति को इस प्रकार बोलना चाहिए कि सामने वाला चुम्बक की तरह खिंचता चला आय। महावीर ने यही विस्तृत विवेचन किया है। सिद्धान्त का समर्थन करते हुए लोगों को अपनाना है, उन्हें आदर देना है। अनादिकाल से वीतरागता के रहस्य को आपने समझा ही नहीं। हमारी शक्ति विरोध करने में खर्च हो रही है, अपना समर्थन करने में नहीं। अतः बाहरी शक्ति को आदर देकर अपना बना सकते हैं।

❑ ❑ ❑

विषय है — विष सम

जिन चीजों के द्वारा आत्मा का अधःपतन हो रहा है, जिन कारणों के द्वारा संसार वृद्धि का कारण हो रहा है, हम उन्हें मिटाकर ही शांति का अनुभव कर सकते हैं। जिस कार्य को करते हैं, उसे पूर्ण करने के लिए उसी प्रकार की चेष्टा करना है। आचार्य महोदय सोच रहे हैं कि इस जीव का उद्धार कैसे हो? उसके लिए एक बार ऐसा परिश्रम हो जाये, जिससे सुख की प्राप्ति हो। आगम में, शास्त्रों में, सभी में यही गूँज है, कोई रहस्य है कि व्यक्ति के शाश्वत सुख में साधक व बाधक कौन है। कौन हित चाहता है और कौन अहित चाहता है। दुनियाँ का प्राणी हित चाहता है, कोई भी अहित नहीं चाहता है। पर अनादि से अनंत दुख का अनुभव कर रहा है। हमारे आचार्यों ने ही नहीं, सभी ने मोक्ष को माना है। मोक्ष को मानने में किसी के यहाँ विरोध नहीं है। सुख की प्राप्ति में विसंवाद नहीं है। सुख सब चाह रहे हैं। पर सुख के मार्ग के बारे में भिन्न भिन्न विचार है। कोई भौतिक सुखों को ही सुख मानता है, कोई अन्य बातों को लेकर। मोक्ष का मार्ग आज तक जिसे अपनाया, जिसका विश्वास रखा वह मार्ग नहीं। अच्छे कारणों, मार्गों (जिसे आज तक नहीं अपनाया) के अभाव में अभीष्ट की प्राप्ति नहीं है। असली बात मालूम होने पर ज्यादा प्रयास नहीं, मार्ग फिर सरल बन जाता है, फिर डर कोई चीज नहीं। आपने सुख प्राप्ति के लिए अनन्तकाल तक प्रयास किया, एक सैकेंड भी बेकार नहीं किया पर आपके विचार साकार नहीं हुए। हम जो चाहते हैं, उसके अनुरूप कार्य हो। कहा भी है–

आतम हित हेतु विराग ज्ञान, ते लखे आपको कष्टदान

आचार्यों ने अपने जीवन की मौलिक घड़ियों को व्यतीत कर अपने ज्ञान व अनुभव के द्वारा बताया कि जहाँ राग है, द्वेष है, विषय-कषाय, मद मात्सर्य है, विपरीत भाव है, वहाँ कोई सुख देने वाला नहीं है, दुख ही देंगे। दुख के साधनों में सुख का विकल्प कर लेना, यही विपरीत दृष्टि है। सुख के साधनों को दुख का कारण मान रखा है, यही भ्रांति है। यह जैन धर्म का सार है। कर्म तीन

प्रकार के बताए हैं। प्रथम तो ज्ञानावरणादि आठ कर्म जिन्हें द्रव्य कर्म भी कहते हैं। द्वितीय शरीरादि नोकर्म और तीसरा रागादि जो वास्तविक आत्मा के साथ तादात्म्य को लेकर है। शरीर को आत्मा से भिन्न मान रहे हैं, उसी प्रकार आत्मा से कर्म भी भिन्न है, यह भी कह देंगे, लेकिन जो राग-द्वेष तीसरा है वे भी आत्मा से भिन्न हैं ऐसा विदित हो तभी कल्याण है। मोह मात्सर्य बन्ध के कारण हैं। मुक्ति तो चाहते हैं और बन्ध को अपना रखा है, वह कितनी भ्रांति है। यह मान लो कि हम राग करेंगे तो हमारे लिए वहाँ का वातावरण बन्ध रूप होगा और वहीं वीतरागी के लिए बन्धन रूप नहीं। वातावरण एक ही है पर एक के लिए दुख का तथा एक के लिए सुख का कारण है। रेशम के कीड़े की तरह संसारी जीवों की चाल हो रही है। रेशम का कीड़ा मुँह से लार निकालता हुआ अपने को वेष्टित कर लेता है, जिसके कारण गर्म पानी में डालने पर वह स्वयं भी मर जाता है, अगर मुख से लार न निकाले तो न मरे। हम वास्तविक स्वभाव को छोड़कर अन्यत्र भाग रहे हैं जहाँ हमारे जीवन का सार, अन्वेषण सब लग जाते हैं और वहीं से सुख प्राप्त करने की कोशिश करते रहते हैं अनन्त काल से। फिर भी मन वांछित कार्य सम्पन्न नहीं हो रहा है, तथा अनन्तकाल तक नहीं होगा। जो राग नहीं करता, उसे कुछ भी करने की जरूरत नहीं, यहाँ तक कि भगवान् की भक्ति भी नहीं। आप मुक्ति चाहते हैं तो सोचो कि बन्ध का स्वरूप क्या है ? उसका कारण क्या है ? उसे छोड़ो। शास्त्र किस लिए पढ़ रहे हैं ? यह सोच कर कि कामना पूर्ण होगी, मुक्ति चाह रहे हैं, तभी शास्त्र पढ़ रहे हैं।

मुक्ति के बारे में ज्यादा विचार करने की जरूरत नहीं। फल प्राप्त करने पर कीमत नहीं जब तक फल प्राप्त न हो, तब तक कीमत है। राग द्वेष को जो मोह की पर्याय है सामने पदार्थों में वास्तविक ज्ञान न होने पर आत्मा में राग द्वेष परिणाम होते हैं, जो बन्धन है। जो वीतराग परिणाम रखता है, वह मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। जिसके राग नहीं है, वह मुक्ति को पा लेता है। दो मुख्य द्रव्य हैं, एक जीव द्रव्य और दूसरा पुद्‌गल द्रव्य। पुद्‌गल के राग नहीं है, वह वीतरागी भी नहीं है, वह तो अरागी है, अद्वेषी है। अराग और वीतराग में बहुत अन्तर है। जीव रागी है, वह वीतरागी बन सकता है। पुद्‌गल जड़ की महिमा है तो यह चेतन की महिमा है। आप वीतरागी बनेंगे तो बन्धन से मुक्त हो सकते हैं, पुरुषार्थ की आवश्यकता है। अखण्ड द्रव्य 'मैं' हूँ, सारे द्रव्य क्षणिक है। इनसे सुख का अनुभव नहीं अखण्ड सुख का अनुभव वीतरागी बनने से है। मोक्षमार्ग में ज्ञानावरण का क्षयोपशम कारण नहीं है। संज्ञी पंचेन्द्रिय बन जाये, इतना ही ज्ञानावरण क्षयोपशम मुक्ति के लिए पर्याप्त है। आगे मोह का क्षयोपशम अनिवार्य है। वीतरागी बनने की चेष्टा अनन्त शक्ति को प्राप्त करा सकती है। जितने-जितने वीतरागी बनेंगे, उतने-उतने वीर बनेंगे और जितने-जितने रागी बनेंगे, उतने-उतने डरपोक, कायर बनेंगे। वीतरागी कैसी भी समस्या आए, वह सोचेगा कि मेरे ऊपर कोई

प्रहार नहीं फिर भय कैसा ? वह आत्मा का स्वभाव है अमूर्त है। अमूर्त पर मूर्त का प्रहार नहीं हो सकता। रागी सोचेगा कि मैं नष्ट हो सकता हूँ, मिट सकता हूँ, इसीलिए राग-द्वेष है। जो इनको जहर समझता है, विषयों को विष समान गिनता है, वह आज भी उस सुख का अनुभव करता है। जो बड़े-बड़े महलों में राजा महाराजा, सेठ साहूकार नहीं कर सकते हैं। इनके सिर पर इतना भार है कि आत्मा दब रही है और बाहर पुद्‌गल का विस्तार है। सुख की अनुभूति आत्मा में है, राग-द्वेष में परिणति नहीं जानी चाहिए। इनके बारे में जो सोचे कि ये मेरे नहीं है, मेरा स्वभाव नहीं है, वह व्यक्ति बनती कोशिश राग-द्वेष को घटाएगा और मोक्ष मार्ग को अपनाएगा, संसार मार्ग को नहीं अपनाएगा। चाहे दुनिया उसे पागल समझे, वह स्वयं भी दुनियाँ को पागल ही समझता है। दोनों का रास्ता भिन्न-भिन्न है, किसी ने बड़ा अच्छा कहा है कि-

इन्हीं बिगड़े दिमागों में, घने खुशियों के लच्छे हैं।
हमें पागल ही रहने दो, कि हम पागल ही अच्छे हैं ॥

वीतरागी प्राणी दुनियाँ के कहने पर नहीं चलेगा, सिद्धान्त के अनुसार चलेगा। आज दुनियाँ से डरकर सिद्धान्त को पीछे छोड़ देते हैं, वे अपनी आत्मा को दबाने व गर्त में ले जाने की चेष्टा करते हैं। ज्ञान जब तक नहीं है, तब तक तो लुढ़क सकता है, पर विवेक होने पर आत्मानुभूति होने पर विषय को विष और वीतरागता को अमृत समझता है। वह जहर पीने की चेष्टा नहीं करेगा वह सोचेगा कि आज तक मुझे दुख इसी के द्वारा हुआ है। वह जो वीतराग रूपी अमृत की खान है, वहाँ जाता है, वह विचारता है कि कब वीतरागी बनूँ, इसी में सार है।

दृष्ट्वा भवंतमनिमेष विलोकनीयं।
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षु ॥
पीत्वापयः शशिकर द्युति दुग्ध सिंधोः,
क्षारं जलं जलनिधे रसितुं क इच्छेत् ॥११॥

भक्तामर की यह कारिका बोलने में सुहावनी है, आप यही कहेंगे। पर इसका अर्थ भी बहुत सुहावना है, इसमें रस क्या है ? यह देख लो। एक बार आत्मा का दर्शन होने पर दृष्टि दूसरी ओर जाती ही नहीं। रस का स्वादी व्यक्ति भले ही दस दिन भूखा रह लेगा पर बढ़िया बढ़िया हल्वे में ही रस लेगा। वह बाजरे की रोटी व चटनी में रस नहीं पाता। अन्यत्र बाहरी पदार्थों के लिए दौड़ने की चेष्टा होती है, पर आत्म रस के लिए कहीं भागने की जरूरत नहीं। पर ऐसा आत्म विश्वास जमना चाहिए। आत्म सुधार के लिए वैसा करना है, जैसा शास्त्रों में लिखा है।

युगों-युगों से हमारे लिए आचार्यों ने कहा, उपदेश दिया, आचरण करके बता दिया पर कोई उसे नहीं अपनाता है। हम तो शास्त्रों में लिखा है, वही बता रहे, मात्र एजेंट का काम कर रहे हैं। हमें

तो कमीशन मिलता रहेगा। आचार्यों की आज्ञा है उपदेश देते जाओ, लाभ होता रहेगा। घाटा आपको ही है, हमको नहीं। आपके लिए प्रशस्त मार्ग यही है कि राग को छोड़ दो। किसी ने कहा है कि :–

चेहरे में चेहरे हैं,
बहुत ही गहरे हैं,
किन्तु, खेद है
त्याग के क्षेत्र में
अन्धे और बहरे हैं।

त्याग के क्षेत्र में बहरे नहीं बनना है, जीवन को सुलटाना है। विषय-वासना का विमोचन करने में पसीना नहीं लाना है। वीतराग होने में कठिनाई नहीं है। कर्म का उदय तो अनादिकाल से आ रहा है व आता रहेगा फिर आपका पुरुषार्थ किस काम का है ? आगम के अनुकूल चल कर आप विषय-कषायों को छोड़ सकते हैं। भगवान् महावीर ने भी १२ वर्ष तक प्रयास किया, जबकि वे वज्रवृषभनाराच संहनन वाले थे। मति, श्रुति, अवधिज्ञान के धारक थे, उन्हें भी १२ साल लगे। आप लोगों ने आज तक प्रयास-ही नहीं किया मात्र अपनाते-अपनाते चले गये, पीछे मुड़ कर देखा ही नहीं कि कितनी भीड़ लग गई है। भीड़ समाप्त हो सकती है। दरवाजा बन्द करके देखने से। कुछ समय प्रयास करेंगे तो आपका हित हो सकता है। विषय वासना को विष आत्मा को अमृत समझो।

ताज - तज दो

आज आप लोगों के लिए बहुत ही महत्त्व की कुछ बातें कहनी थीं, लेकिन समय का थोड़ा अभाव रहा। समय का अभाव तो नहीं है किन्तु आप लोगों में धर्म के उत्साह का अभाव है। मैं अपनी बात को बहुत ही संक्षेप में रखने की चेष्टा करूँगा। आप लोगों ने भगवान् महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव के अन्तर्गत जिस उत्साह के साथ कदम बढ़ाया है, वह सराहनीय है। उनके संदेशों को जीवन में उतार कर आगे बढ़ना है। दीपावली के दिन ही महावीर ने अपना वास्तविक दिग्दर्शन किया था। महावीर उपाधि का विमोचन किया था, इसलिए निर्वाण कहते हैं और जयंती इसलिए कि इस दिन सिद्ध बने और सिद्ध बने रहेंगे, उस सिद्धत्व अवस्था में कभी विकार नहीं जाएगा। उसी दिन उन्होंने ही वास्तविक जन्म लिया है। हमारा तो वास्तविक जन्म हुआ ही नहीं। जिस जन्म के साथ मरण होता है, वह वास्तविक जन्म नहीं है। आप लोगों के लिए वह निर्वाण दिवस हो सकता है, पर उनके लिए जन्म दिवस है। आज भी महावीर भगवान् आगम चक्षु के द्वारा वास्तविक दर्शन दे रहे हैं। उनके दर्शन सेठ, साहूकार, राजा, महाराजा, चक्रवर्ती, इन्द्र-धरणेन्द्र को नहीं हो सकते, बल्कि जो अपने वास्तविक स्वरूप में है, उनको दर्शन होते हैं। मुझे तो

अपने सामने भगवान् महावीर दिख रहे हैं। उन्हें संसार से मुक्ति मिल गई। महावीर का जीव जो था, वह तुम्हारे से ओझल हो गया। शरीर पुद्‌गल है। पुद्‌गल का जन्म कोई जन्म नहीं। जीव का जन्म अनादि से हुआ ही नहीं। जीव का रहना आयुकर्म के बिना नहीं हो सकता, आयुकर्म से छुटकारा ही जीव का बंधन से छुटकारा है। अनादिकाल से हमारा मरण ही हो रहा है क्योंकि अनादिकाल से जीव के साथ आयु का सम्बन्ध चल रहा है। कहा भी है–

तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान,
रागादि प्रगट जे दुख देन, तिनही को सेवत गिनत चैन।

महावीर तो जिन हो गये, पर आप जैन होकर उनके उपासक होकर भी दुख का अनुभव कर रहे हैं। शरीर का जन्म हो रहा है, मिट रहा है, लेकिन जीव के जन्म होने पर आत्मा का स्वरूप जो अनन्त शक्ति का भंडार है, के दर्शन हो सकते हैं, जिससे आप वंचित हैं। वह वास्तविक त्रैकालिक सत्ता आँखों में नहीं आई, न आएगी। वह वास्तविक ज्ञान आत्मा के पास है, लेकिन आपने ताला लगा रखा है। महोत्सव मनाते जाओगे तो भी ताले खुलेंगे नहीं अपने आप दरवाजा बंद होने पर बाहर का प्रकाश अन्दर नहीं आ सकता। अन्दर का प्रकाश ही बाहर लाना पड़ेगा। महावीर भगवान् ने क्या काम किया, उन्होंने विचारा कि–

ना आधि-व्याधि मुझ में, न उपाधियां है,
मेरा न है मरण, ये जड़ पंक्तियाँ हैं।
मैं शुद्ध चेतन-निकेतन हूँ निराला,
आलोक-सागर, अत: समदृष्टि वाला ॥

मैं कौन हूँ? महावीर कौन थे? आप कौन है? आपको शायद मालूम ही नहीं। महावीर की जय जयकार कर रहे हो, पर आपका क्या हो रहा है ? उनकी प्रशंसा से आपका क्या मतलब है ? उनका नाम 'महावीर' आपने रखा, और आप ही जय जय बोल रहे हैं, वो तो आत्माराम हैं, महावीर आत्मा से परमात्मा हुए थे। श्रुतकेवली, मन:पर्ययज्ञान के धारी भी उस परमात्मदशा का वर्णन करने में असमर्थ हैं। वचन के द्वारा, पुद्‌गल के द्वारा उनका सीमित वर्णन ही होगा। यह तो अनुभवगम्य है, पर अपरंपार है। उसकी अनुभूति के लिए जो प्रयास किया, वह श्लाघनीय है। वे महावीर जिस लोक में हैं, उसमें आप भी हैं, वे अनन्त सुख का अनुभव कर रहे हैं और आप अनन्त दुख का अनुभव कर रहे हैं। उनके सामने आप घुटने टेककर नाक भी रगड़ लो, तो भी उनके द्वारा सुख का एक अंश भी आपको नहीं मिल सकता। महावीर का बल अनन्त के रूप में हो गया और आप निर्बल हो रहे। आप अपने स्वरूप का आलम्बन लेकर जड़ की प्रक्रिया छोड़कर विचार करो। महाव्रत धारण कर मुनि न बन सको तो उदासीन बन कर अपना नाम उदासीनाश्रम में लिखा दो। जो

जवान हैं, वे आज मेरे साथ आ जायें। उस पथ को मूर्त रूप में दिखा दें, महावीर के सरीखे बन कर। दीक्षा कल्याण कैसे हो, इसके लिए सुन लें जिन्हें जल्दी है वे जायें, पर एक बात जरूर ले जाएं। महावीर के दिव्य संदेशों को सुनकर एक सेठ के मन में उदासीनता छा गई, उसने ज्येष्ठ पुत्र को बुलाकर अपना ताज उसके मस्तक पर रखना चाहा, वह कहता है कि मुझसे सहन नहीं होगा, उसकी आज्ञा बड़ा होकर नहीं छोटा होकर मानूँगा। आप क्यों इसे छोड़ रहे हो ? तब सेठ ने कहा कि जीवन भोग के लिए नहीं, योग के लिए है, उपयोग के द्वारा त्रैकालिक सत्ता का दर्शन करूँगा संन्यास लूँगा, वन में विचरूँगा, भोगों में सुख नहीं, दुख ही दुख है। उसने भोगों की उपेक्षा कर दी। तब बेटा कहता है कि आपने बहुत बढ़िया बात कही है, आपने मुझे भी रास्ता बता दिया। मैं भी उसी रास्ते चलूँगा। पिताजी घर का नाम मिट जाने की चिन्ता में थे भले ही निज का नाम मिट रहा था उसकी चिन्ता नहीं, वे कहते हैं कि तेरा ऐसा कहना ठीक नहीं। बेटा कहता है कि आपके लिए ठीक है तो मेरे लिए कैसे ठीक नहीं। इसी तरह दूसरा, तीसरा, चौथा लड़का भी घर से उदासीन हो जाते हैं। पोता नादान था, उसे घर का भार सौंपकर सेठ व चारों लड़के चले गये। कुछ दिन उपरांत दीक्षा कल्याण तिथि जो आ रही है, उसी प्रकार हमारी तैयारी हो जाये तो अविनश्वर पद की प्राप्ति, वास्तविक ज्ञान का दिग्दर्शन हो जायेगा। वृद्ध होकर यदि महाव्रत को न अपना सकें तो अणुव्रत अपनाकर शेष जीवन उदासीनाश्रम में व्यतीत कर दो। त्यागी, तपस्वी जहाँ रहते हैं, वहाँ का वातावरण सुगंधमय हो सकता है। उदासीनाश्रम में लाख हजार आदि की जरूरत नहीं। लाख तो राख के समान है। अगर आप उदासीन हो गये तो बच्चों को दिक्कत नहीं होगी बल्कि वे स्वयं आपकी हिफाजत करेंगे। भगवान् महावीर स्वयं त्यागी थे, उन्होंने भोगों को ठुकराया था और दुख की निवृत्ति के लिए योग को अपनाया था, उसी त्याग को अपना कर आप उसी योग की जय-जयकार बोलें, उपासना करें।

❑ ❑ ❑

टटोलो - स्वयं को

सम्यग्दर्शन के साथ तीन मूढ़ताओं का विलोप होना चाहिए। मूढ़ता उसे कहते हैं, जो मात्र सामने वाले दृश्य को देखकर बहे। सरल भाषा में हाँ में हाँ मिलाना ही मूढ़ता है। मूढ़ता तीन प्रकार से बताई है, उसमें लोक मूढ़ता प्रसिद्ध है। कोई पदार्थ खरीदते समय पहले ज्ञान प्राप्त करते हैं, तब खरीदते हैं। हमारा अभीष्ट सुख है, उसके मार्ग के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। ज्ञान की आवश्यकता ही नहीं समीचीन ज्ञान की आवश्यकता है। ज्ञान तो सभी के पास है, पर समीचीन ज्ञान की जरूरत है, वह ज्ञान बाहर से नहीं आता है। जो ज्ञान के साथ मल अनादिकाल से चिपका हुआ है उसे हटाने से ही ज्ञान समीचीन होता है। ज्ञान-ज्ञान कहने मात्र से ज्ञान समीचीन नहीं होता। ज्ञान आत्मा का

भंडार है, गुण है, वह मट मैला हो रहा है, उसे माँजना है। ज्ञान की उपासना नहीं वीतराग विज्ञानता की उपासना करनी है। ज्ञान आत्मा को सुख भी देता है, किन्तु वह इधर-उधर भागे नहीं, लुढ़के नहीं, इसके लिए उसे समीचीन बनाना है। ज्ञान दर्शन जो स्वभाव है, वह विभाव को लेकर है। अतः उन्हें समीचीन बनाने के लिए चारित्र बताया है। ज्ञान दर्शन को समीचीन बनाने के लिए जो उपक्रम है, उसे चारित्र कहते हैं। समझने की बात है। ज्ञान जब तक चारित्र द्वारा मंजता नहीं, तब तक दर्शन व ज्ञान में समीचीनता आती नहीं। दर्शन व ज्ञान में जो मल चिपका है, वह चारित्र के द्वारा दूर होता है। चारित्र को जब हम धारण करेंगे, तब ज्ञान दर्शन ठीक-ठीक काम करेंगे और तभी सुख शांति का अनुभव होगा। आकुलता का अभाव ही चारित्र है। जिस दर्शन-ज्ञान के साथ आकुलता है, वह वास्तविक दर्शन-ज्ञान नहीं। उसमें कमियाँ हैं। सिर्फ शाब्दिक ज्ञान को ही न लेकर शोध की बड़ी आवश्यकता है। आचार्यों ने बहुत गूढ़ अर्थ को लेकर वर्णन किया है। शब्द तो सीमित है। आचार्यों के अन्तस्थल तक पहुँचने के लिए शब्दार्थ, नयार्थ, आगमार्थ, मतार्थ, भावार्थ आदि को समझने की जरूरत है। राग, कषाय चारित्र मोहनीय की प्रकृति है, फिर भी विपरीत अभिनिवेष हो जाता है। रागद्वेष तो समता के, चारित्र के अभाव में होता है। चारित्र के अभाव में अनन्तानुबन्धी आ जाएगी और आपका परिश्रम निष्फल हो जायेगा। अतः दर्शन ज्ञान को समीचीन बनाने के लिए चारित्र की आवश्यकता है। चारित्र शारीरिक चेष्टा का नाम नहीं है बल्कि दर्शन ज्ञान को मांजने के लिए जो आत्मिक विधि विधान है, उसका नाम चारित्र है। ऐसा होने पर मल धुल जाएगा, स्वच्छ प्रकाश हो जायेगा। ज्ञान आज तक सामान्य ज्ञान ही रहा, पर वीतराग-विज्ञान नहीं हुआ। ज्ञान के साथ सुख नहीं, वीतराग विज्ञान के साथ सुख है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र को मोक्ष मार्ग नहीं कहा, बल्कि उसके पहले सम्यक् शब्द रखा है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तीनों का जो वास्तविक मिश्रण है, उसका नाम मोक्ष मार्ग है। मात्र राम-राम कहने से, हाँ में हाँ मिलाने से भगवान् दिखते नहीं हैं। शब्दों में श्रोत नहीं है। समीचीन रूप जो अपनी शुद्ध पर्यायों को प्राप्त करता है, ग्रहण करता है, व्याप्त करता है, उसे समय कहा है। ज्ञान तो सभी के पास है पर समीचीन ज्ञान से ही सुख की प्राप्ति होगी। ज्ञान के ऊपर जो रागद्वेष है, वो चारित्र मोहनीय के द्वारा ही है, उन्हें हटाने पर ही समीचीन ज्ञान है। ज्ञान को मांजो तो वह सुखदायक हो सकता है। आजकल का ज्ञान मात्र शाब्दिक है, डिग्री लेने का है। शब्दों को न लेकर उसके अन्तःकरण तक पहुँचने की चेष्टा करो। ज्ञान वह जो उस रूप बनने की चेष्टा हो, वरना तो वह शाब्दिक ज्ञान है। एक वाक्य में जहाँ दो क्रियायें हैं, वहाँ बहुत समझने की जरूरत है। आस्रवों को अशुचिरूप, दुखरूप जानकर उन आस्रवों बंधों को तत्काल जो छोड़ देता है और निवृत्ति को अपना लेता है। निवृत्ति का मतलब ही चारित्र है। ज्ञान समय अर्थ समय में तल्लीनता, तद्रूप परिणमन, वीतराग विज्ञान से ही आनन्द की अनुभूति हो रही

है। मात्र शब्द ज्ञान हो गया तो मात्र परिग्रही बन गये। प्ररूपणा अलग चीज है, अनुभूति अलग चीज है। प्ररूपणा द्रव्यश्रुत है और अनुभूति भावश्रुत है। द्रव्यश्रुत चम्मच के माफिक और भावश्रुत जिह्वा के माफिक है। द्रव्यश्रुत पौद्गलिक है, उसकी अनेक बार प्ररूपणा हो चुकी है। वर्गणााएँ लोकाकाश में बहुत हैं। भावश्रुत वीतराग विज्ञान रूप है। अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व को मिटा देती है, विपरीत अभिनिवेष वह जो सम्यक्त्व से डिगादे।

विषय वासना गृद्धता को लेकर होगी। विषयों में जब अतिगृद्धता है तब तीन काल में भी सम्यक् दृष्टि वह नहीं हो सकता है। हरेक मोक्ष मार्गी बन सकता है, टटोल सकता है, पर विषयों में रचपच जाना नहीं। कमाना-कमाना खाना-खाना नहीं। यह तो जानते हैं कि जड़ अलग है आत्मा अलग है पर आत्मा की वास्तविकता विचारे कि इन सबसे ऊपर मेरा उपयोग स्वभाव है। **जब तक आत्मा का वास्तविक रसास्वादन नहीं।** शुभ अशुभ संसार परिभ्रमण के लिए कारण है। अनादिकाल से टेढ़ी चाल हो रही है। इस देह के निर्माण के लिए, इसकी सुरक्षा के लिए क्या-क्या अनर्थ नहीं किया। आत्मा पर कितना मल ला ला कर रखा, शरीर के कार्यों में फँसकर आत्मा का कितना अहित किया। अपने को रागद्वेष से दूर कर बंधन से मुक्ति चाहते हो तो आत्मा को शुद्ध बनाओ।

आत्मा के पास अशुद्धि आती है प्रथम तो मिथ्या दर्शन से, कषाय से। जहाँ मिथ्यात्व है, वहाँ कषाय अवश्य है और तभी आत्मा के पास कर्म चिपकते हैं, तभी संसार परिभ्रमण है। कर्म प्रवाह रागद्वेष के कारण से है। सम्यग्दर्शन का विरोधक जो अनन्तानुबन्धी है, उसे समाप्त करो, तभी प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य आदि आ जाते हैं। प्रशमभाव का मतलब ही अनंतानुबंधी का अभाव है। सार वही जो समयसार है। धन तो असार है। मोक्ष सुख को चाहते हो तो इस धन की जरूरत नहीं। अर्थ के पीछे पड़ने से अनर्थ होगा, परमार्थ रुक जाएगा और दुख का अनुभव होगा। सम्यग्दृष्टि संसार, शरीर, भोग से निर्भिन्न होता है। निर्भिन्न का मतलब अनासक्ति है।

संसार मार्ग से दूर रहना चाहते हो तो दर्शन ज्ञान को सम्यक्त्वाचरण चारित्र से, संयमाचरण चारित्र से युक्त करो। सबसे पहले ज्ञान नहीं, सबसे पहले दीक्षा, फिर शिक्षा, गणपोषण और अन्त में आत्म संस्कार है। मोक्ष मार्ग की शिक्षा चाहते हो तो पहले संयमाचरण, सम्यक्त्वाचरण चारित्र की दीक्षा लो तब शिक्षा मिलेगी। आज तक जो अनर्थ हुआ, वह अपने साथ ही हुआ। शब्दों के पीछे नहीं पड़ना है, उसका अर्थ समझना है, मन के माफिक अर्थ नहीं निकालना है। जो भव्य है, वह तो परीक्षा करके, ढूँढ़कर असली माल लेगा, बजा-बजा कर लेगा। जब मटकी या नारियल बजा-बजा कर लेते हैं तो मोक्ष मार्ग भी बजा-बजा कर लेना। टटोलो, परीक्षा करो, फिर लेओ। आज तक दूसरों को टटोला, खुद को नहीं। स्वाध्याय किया उसे पुष्ट करने हेतु स्वयं के लिए ही उपदेश होता है। अतः स्वल्प जीवन को स्वल्प काल में ही उपयोगी बनाने की चेष्टा करो। ❑ ❑ ❑

गुरु-कृपा

(श्रमण शतकम् काव्य ग्रन्थ का विमोचन)

महावीर के तीर्थ क्षेत्र में आज जो हम पाठ ले रहे हैं, उसका श्रेय महाराज कुन्दकुन्द को है। महावीर ने जो दिग्दर्शन किया उसे सुरक्षित रखने तथा दिगम्बरत्व की रक्षा करने का श्रेय भगवान कुन्दकुन्द को है। मैंने उन्हीं की प्रेरणा से श्रमण शतक प्रारम्भ किया। मेरा अनुमान नहीं था कि मैं सफल हो जाऊँगा, क्योंकि मैंने छन्द काव्य अलंकार को नहीं पढ़ा था, सिर्फ जयोदय महाकाव्य को देखकर तथा प्रेरणा पाकर साढ़े तीन माह में पूर्ण किया। कुछ लोगों का आग्रह हुआ कि इनका हिन्दी पद्यानुवाद भी हो ताकि सब को समझ में आ सके। उसे मैंने यहाँ पूरा किया। पंचमकाल में ध्यान की मात्रा कम बन पाती है। अतः मुनिराज विषयों से दूर रहकर अपना समय अध्ययन लेखन में पूर्ण कर सकते हैं।

स्वाध्याय से कर्मों की निर्जरा तथा श्रमण संस्कृति की रक्षा हो सकती है। चारित्र तो होना ही चाहिए, पर उसके साथ ज्ञान भी हो। निर्जरा के लिए स्वाध्याय, उससे ज्यादा निर्जरा के लिए अध्यापन बताया। लेख लिखने से भी मन केंद्रित हो सकता है, इससे भी असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा होगी। और जीवन सुन्दरतम बनता चला जाएगा। गुरु शिष्य पर उपकार करता है, पर शिष्य भी गुरु के अनुरूप चलकर गुरु पर उपकार कर सकता है। यह ग्रन्थ पूर्ण करने में स्वाध्याय का फल व गुरु की कृपा ही मानता हूँ। जीवन में इधर उधर की बातों में न लगकर साहित्य सृजन कर श्रमण संस्कृति की रक्षा कर सके तो आने वाली पीढ़ी याद रखेगी और अध्ययन कर सकेगी। मैं सरस्वती से यही प्रार्थना करता हूँ कि अन्तिम समय तक उसकी सेवा करते हुए अपना जीवनयापन करूँ।

❑ ❑ ❑

दृष्टि बदलो

उत्तम दृष्टि की प्राप्ति के लिए सर्व प्रथम हमें रूढ़िवाद का विमोचन करना पड़ेगा। रूढ़िवाद आते ही विचारों की शृंखला को ठेस पहुँचती है, और हित अहित का विचार भी नहीं हो पाता है, तथा जीवन के विकास के लिए जो दृष्टि होती है उसे भी विश्राम दे देते हैं। एक ही संसार होता और उसे समाप्त करने के लिए सब इकट्ठे हो जाते तो भी ठीक था, पर अनन्त जीव हैं और अनन्त संसार है। रूढ़िवाद एक ऐसा विष, जहर है जो मोक्ष मार्ग रूपी अमृत में भी विष फैला देता है। बहुत सारे दूध के लिए थोड़ा नमक ही काफी है और दूध फट जाएगा। उसी प्रकार मोक्ष मार्ग महान् पवित्र चीज है, उसके लिए उसी प्रकार का पात्र चाहिए। जिस प्रकार सिंहनी का दूध स्वर्ण पात्र में ही ठहरता है, उसी प्रकार बाहरी बातों से रहित होने पर ही सम्यग्दर्शन टिक सकता है। अपने में जो

कमी है, उसे निकालने के लिए प्ररूपणा है। स्वतन्त्र विचार और आचरण होना चाहिए। अपने में जो दोष है, जो बाधक है, उन्हें निकालना है। हमारे कपड़े मैले हो जाने पर हमारे कपड़े ही धोने पड़ेंगे दूसरे के नहीं।

जितने-जितने भी क्रिया अनुष्ठान कर रहे हैं, पर अगर अंतरंगभाव, उपादान कारणों में उनसे निर्मलता नहीं आती तो सब बेकार है। आचार्यों ने तीन मूढ़ता बताईं हैं उसमें सबसे पहले देव मूढ़ता है। रागद्वेष जिसके निकल चुके हैं वही, चाहे शंकर, विष्णु, ब्रह्मा कोई भी हो पूज्य है, देवता है, बाकी को देवता मानना मूढ़ता है। वीतरागी देवों के आदर्श को देखकर अपने मुख को स्वच्छ कर सकते हैं। भगवान् की इस मूर्ति को भी अपने विचारों में अपने आचरणों के द्वारा कुदेव बना लेते हैं। भगवान् तो कुदेव नहीं है, पर बना लेते हैं। भगवान् में जो देखना चाहिए वह रूप हमें देखने में नहीं आता तो कुदेव हैं। वीतराग मूर्ति को देखकर वीतराग भाव न आवे और हमारी दृष्टि यदि विषय वासना की ओर हो तो वह मूर्ति कुदेव है। भगवान् के समवसरण में जाकर भी जीवों में कुछ अन्य विचार हो जाता है, मंद-मंद पवन को देखकर बाहर ही रुक जावें और अन्दर न जाकर इधर-उधर की बातें कर विषयों में फँस जाते हैं। विषयों के विचार चालू हो जाते हैं तो उसके लिए भगवान् के दरवाजे बन्द हो जाते हैं और वह मूर्ख ही होगा। वीतराग भगवान् के पास जाने पर भी खाना, पीना, विषयों, वित्त वैभव की कल्पना उठने पर मूर्ति भी उसी रूप नजर आएगी। उसका शरीर, छत्र, चँवर, सिंहासन ही दिखेगा। वीतरागता नहीं दिखेगी। विषय अनर्पित है और वीतरागता अर्पित है। कहा भी है-

दीवार है अमित औ अवरूद्ध द्वार।
क्यों हो प्रवेश निज में जब हैं विकार ॥
कैसे सुने जबकि अन्दर मुक्ति नार।
जो आप बाहर खड़े, करते पुकार ॥

आप लोगों ने विकार उपस्थित कर अन्दर प्रवेश के लिए द्वार को अवरुद्ध कर दिया। सबको छोड़कर अन्दर प्रवेश करना होगा। अन्दर से अन्दर भिन्न-भिन्न चित्र मिलेंगे और महावीर भगवान् जहाँ विराजमान हैं, वहाँ भी प्रवेश हो जायेगा। मिथ्या दृष्टि भी वहाँ जाता है, उसकी दृष्टि महावीर पर नहीं, छत्र, भामंडल आदि पर जाएगी, वह व्यक्ति अन्तिम लक्ष्य से वंचित रह जायेगा। वो मुद्रा जब तक आँखों में नहीं उतरती, तब तक विचार ही नहीं कि क्या सम्यग्दर्शन, क्या मुक्ति, क्या संसार, क्या विकार है ?

घर में जो धन था, वह यहाँ पर भी है, पर धन तो बेड़ी है चाहे बेड़ी सोने की हो, चाहे लोहे

की। बंधन तो बंधन ही है। सोने की बेड़ी की कदर महावीर के दरबार में नहीं, सोने के बाजार में है। जिस चीज से इन्द्रियाँ पुष्ट हो जायें, उसे देखने महावीर के पास आएगा, तो महावीर को आप नहीं पहचानेंगे। बल्कि तोलेंगे कि उनके पास वित्त वैभव है, पर मेरे पास नहीं है, इसलिए बड़े हैं। महावीर तो इन चीजों से अनोखी चीज हैं। इनमें नहीं, इनसे परे हैं। उनकी उपासना करते हैं, तब वह देव सत् देव कहलाते हैं। धर्म की ओट में हम फिर संसार वृद्धि के कारणों का समादर करने लग जाये तो मूढ़ता ही है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता के धारक वीतराग महावीर भगवान् हैं। इन बाहरी चीजों से अलग हैं, बाहरी पदार्थों को उन्होंने लात मारी थी। दुनियाँ जिसे अपनाती, उसे देखते भी नहीं, परे रहते हैं, ऐसा विचार करने पर हमारी पुकार वहाँ तक पहुँचेगी। वरना आवाज दीवारों से टकराकर हमारे कानों तक लौट आएगी।

सद्भाव के अभाव में हमारे विचार वहाँ तक नहीं पहुँच सकते। महावीर के मन में जो विचार आया उसे करने के लिए दूसरे को स्वीकृति नहीं दी, स्वयं ने किया, इसलिए उन्हें स्वयंभू कहते हैं। जब हम सम्यग्दर्शन तक चले जाते हैं, तब भी हमें स्वयंभू बनना चाहिए। जो स्वयंभू हैं, उनके रास्ते को अपनाना चाहिए। उस रूप जो विश्वास है, वह सम्यग्दर्शन की ओर बढ़ता चला जाता है। पर हमारी दशा वही है, जो पहले थी। हमारी चाल टेढ़ी है। हमें यह सोचना चाहिए कि वह कार्य न करें जिससे संक्लेश हो जाये, वह कार्य बाधक बन जाये, वह कार्य तो हितू बनना चाहिए। हम अनादि से अपनाते-अपनाते चले आ रहे हैं, पर दुर्लभतम वस्तु को खोते आ रहे हैं।

मूढ़ताओं के द्वारा दृष्टि समीचीन नहीं बनती, कमियों को दूर करने का प्रयास करना चाहिए। एक को रोता देखकर सब रोने नहीं लगे। विचार करके काम करो, रूढ़िवाद को छोड़ो। इनके पीछे पड़कर आत्मा ने मोक्ष मार्ग की कीमत नहीं आंकी। संसार, व्रत, नियम आदि के बारे में नहीं सोचा। अतः विचार सुदृढ़ बनाओ, विश्वास ठीक जमाओ। ज्ञान तो वर्तमान है, उसे समीचीन बनाने के लिए आगम में जो उल्लेख है, उसी अनुरूप बनें। मूढ़ताओं से दूर रहकर जीवन को विकास की ओर ले जायें, तभी मंजिल आएगी। ऐसा न करने पर जीवन अपूर्ण से पूर्ण न बनेगा और संसार का अन्त न होगा। अतः शक्ति जो महावीर में है, वह शक्ति विद्यमान करो, गल्तियों को सुधारो। २-३ दिन के उपरांत भगवान् महावीर का तप कल्याणक दिवस आ रहा है, उसमें यह प्रयास हो कि मूढ़ताओं, रूढ़िवादों को छोड़, विचारों को साकार बनाकर, महावीर जिस ओर गये, उधर ही जायें। वरना तो अनेकों कल्याण तिथियाँ आएंगी, आ रहीं हैं और चली जा रहीं हैं। अतः भूले व्यक्ति को सजग हो जाना चाहिए।

❑ ❑ ❑

नि:शंकित अंग

आचार्य महोदय उस बात को स्पष्ट कर रहे हैं, जिस बात की बड़ी आवश्यकता है। जिस चीज को हम अहितकर समझते हैं, उसको उन्होंने महान् बताया है। जब तक किसी पदार्थ को उचित स्थान नहीं, तब तक उसकी महत्ता, उसकी गरिमा नहीं आँक सकते। एक हाथ में पाँच उंगलियाँ हैं, जो समान नहीं हैं, अगर समान हो जाती तो मुश्किल हो जाती। छोटी जगह छोटी व बड़ी की जगह बड़ी ही काम आती है। सुई की जगह तलवार और तलवार की जगह सुई ले ले तो काम नहीं होगा। इन पाँचों उंगलियों में से एक कोई भी उंगली कट जाये तो कार्य करने में व्यवधान हो जायेगा। आचार्य महोदय यहाँ अंग अंगी भाव को लेकर कह रहे हैं। अंगी वह है जो अंग की सुरक्षा करता है। वृक्ष के सभी अंग को पृथक् -पृथक् कर दिया जाये तो वृक्ष वृक्ष नहीं रहेगा। डाली, टहनियाँ, पत्ते, फूल आदि सभी मिलकर वृक्ष कहलाता है। वृक्ष अलग कोई चीज नहीं है। अत: अंगों की समष्टि सो अंगी की शोभा है। अंग की अवहेलना जहाँ करते हैं वहाँ पूर्ण को लेकर जो अंगी है उसकी सुरक्षा नहीं कर सकते। महावीर की एकाकार प्ररूपणा अंग के रूप में है, अंगी के रूप में नहीं। प्रमाण अंगी है और नय अंग है।

आचार्य श्री ने यहाँ कहा कि अंग है तो अंगी भी है। शरीर में आठ अंग हैं, उन्हें पृथक् कर दिया जाये तो मनुष्य की पहचान नहीं हो सकती। एक अंग का भी अभाव होने पर विकलांगी कहलाता है, उसकी महत्ता कम हो जाती है। अत: सिद्ध है कि एकता की बड़ी आवश्यकता है। स्थान-स्थान पर सब अंग काम करते रहें तो अंगी की सुरक्षा है। जिस प्रकार शरीर में ८ अंग हैं, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के भी ८ अंग हैं। उनमें से एक का भी पालन न हो तो सम्यग्दर्शन सुरक्षित नहीं रह सकता। नमस्कार मंत्र में एक अक्षर का अभाव हो तो पूर्ण फल नहीं मिलता। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन में एक अंग का भी अभाव होने पर वास्तविक मोक्षफल नहीं मिल सकता है।

सम्यग्दर्शन के ८ अंगों में सर्व प्रथम नि:शंक है, जिसका अर्थ शंका रहित ही नहीं, बल्कि भय का अभाव भी है। पूर्ण अंग को निकाल दे, तो सम्यग्दर्शन नहीं रहेगा। एक आधा अंग कम भी हो तो सम्यग्दर्शन का काम चल जायेगा। प्रयोजन भूत तत्त्व, मोक्ष मार्ग में तत्त्व की प्ररूपणा में है, उसमें संदेह नहीं होना चाहिए। डर दिखाने पर भी न डरे और जिनवाणी में जो वर्णन है उस पर विश्वास रखे, इधर उधर अर्थ न ले। शरीर पर चाहे प्रहार हो जाये पर विश्वास को न छोड़े और इसे समीचीन ही बतावे। यही सच्चा मार्ग है, ऐसा कहे तथा माने! शाब्दिक ज्ञान अलग चीज है और मान्यता अलग चीज है। मानने में अन्दर से स्वच्छता आती है पर सिर्फ जानने में शब्दों में स्वच्छता आती है। मानना भी अभीष्ट है, जानना ही अभीष्ट नहीं है।

महावीर के पास बहिरंग की द्रव्य की मुख्यता नहीं बल्कि अन्तरंग की, भावों की मुख्यता

है। बहिरंग का विमोचन तो करना ही है, पर वास्तविक आत्मा के पास जो मलिन भाव है, उनका भी विमोचन करना है, यही तत्त्व है। महावीर ने जो प्रयास किया, ऊपर के भाव को निकाला, अन्दर के तत्त्व को सुरक्षित रखने के लिए। दया का अनुपालन अलग और इन्द्रिय दमन अलग है। महावीर ने प्राणी संयम और इन्द्रिय संयम दोनों का पालन किया। महावीर ने दम, दया, त्याग, संयम को बताया। जो इन्द्रियों के दास बने हैं, उन्हें यह बात खटकती है। महावीर का लक्ष्य सर्वप्रथम इन्द्रिय दमन रहा, क्योंकि उसके बिना समाधि नहीं। समाधि का मतलब अध्यात्मवाद (अधिगम) ज्ञान के पास रहना सो अधिगम कहलाता है।

महावीर ने समाधि प्राप्त की और जितेन्द्रिय बने। सब कुछ छोड़ देने के बाद भी इन्द्रिय दमन जरूरी है। इन्द्रिय अर्थात् ज्ञान। ज्ञान धारा जो बाहर जा रही है, उसे रोकना। इन्द्रियाँ जब विषयों की ओर जाती हैं, तभी राग द्वेष होता है। इन्द्रिय दमन दिगम्बरत्व में ही है। दिनांक ८ को जो महावीर का तप कल्याणक आ रहा है, उसमें दया का पालन ही नहीं, दया तो घर छोड़ने पर पालन हो गई। जहाँ आरम्भ, परिग्रह को बुरा माना, वहीं दया का पालन हो गया, फिर दम, जितेन्द्रियता का पालन किया। परीषह, उपसर्ग जब तक नहीं, तब तक मोक्षमार्ग की पृष्ठ भूमि प्रारम्भ नहीं होती। उन्होंने विषयों के विस्तार को रोका, कपड़े आदि को फेंक दिगम्बर हो गये। आपको भी ऐसा विश्वास करना चाहिए और दिग्दर्शन भी करना चाहिए। किसी फल की आशा में नहीं, उत्साह के साथ, डर से नहीं, निर्भय होकर आत्म साधना करनी है। उसे मुक्ति मान कर चलना है, तब आनंद का अनुभव होगा।

त्याग के बारे में बताया जो अपने लिए अनिष्ट व शरीर के लिए अनुपयुक्त है उसे नहीं लेना। शरीर की सुरक्षा मात्र हलवा खाने से ही नहीं बल्कि समीचीन आहार से होती है। समीचीन आहार वह जो तप के लिए कारण हो। गरिष्ठ आहार तप में बाधक है। अतिरेक करने पर फल में कमी आती है। इन्द्रिय विजेता होना परमावश्यक है। अनेकों की गति दया तक हो सकती है, पर दम जहाँ आता है, वहाँ दम घुटने लगता है। महावीर ने दम को भी अपनाया है। दम का मतलब आँखें फोड़ लेना या कान में कीलें ठोकना नहीं है। इन्द्रियों के द्वारा जो विषय हो रहे हैं, उन्हें रोकना, पैर स्खलित न होने देना। महावीर ने दम को अपनाया था, उसका दिग्दर्शन भी करना है, यह दिगम्बरत्व में निहित है। हमें दम के बारे में डर है, शंका है, यहीं सम्यग्दर्शन में कमी आएगी। अगर दम नहीं करेंगे तो अहिंसा का पालन नहीं हो सकेगा। वही अहिंसा है, जो दम के लिए कारण है। ज्ञान पर कंट्रोल, इन्द्रियों पर कंट्रोल जहाँ नहीं है, वहाँ दया नहीं है।

जहाँ इन्द्रियों पर दमन है, वहाँ सभी के लिए क्षमा का हाथ दिखाया है। आप जीने लग जाओ अपने आप में रमने लग जाओ तो सब अपने आप जीने लग जाएँगे। दूसरे की तरफ न देखो।

दूसरे की तरफ देखने पर दूसरे डरते हैं। महावीर ने प्रथम 'जिओ और जीने दो' कहा। आज तक आप अपने आपको जिलाने में, सुरक्षा में असमर्थ रहे। प्राणी संयम इन्द्रिय संयम को लेकर है। दम है तो अहिंसा है नहीं तो हिंसा है। अतः दम के लिए कोशिश करना चाहिए। महावीर ने अहिंसा का पालन इन्द्रिय दमन को लेकर किया है। द्रव्य हिंसा के साथ भाव हिंसा से मुक्त होना-महान् कार्य है। आज से ३ दिन बाद सहज विचरण होने का काल रहा है, तप कल्याणक के दिन मात्र झाँकियों के द्वारा दिग्दर्शन न होकर वास्तविक दिग्दर्शन होना चाहिए। दया व दम महावीर के मुख्य लक्ष्य थे, इसे वे पा चुके, इसीलिए मुक्त हो गये।

❑ ❑ ❑

निःकांक्षित अंग

कल आपने सम्यग्दर्शन के प्रथम अंग निःशंकित के बारे में सुना। भगवान के द्वारा प्रणीत जो ग्रन्थ है, मोक्ष का जो मार्ग है तथा वीतरागता के बारे में शंका न करना निशंकित है। दूसरा अंग निकांक्षा व तीसरा निर्विचिकित्सा है। विचिकित्सा का अभाव तो निर्विचिकित्सा है। इच्छा का नहीं होना ही निःकांक्षित है। संसारी जीव की परिणति अनादिकाल से उल्टी हो रही है। इन्द्रियों के द्वारा जो नजर आता है, उसे ही सुख मान रहा है, सुख का स्थान मान रहा है, यह विश्वास उसका हटता ही नहीं। उसकी मति से यह विकृति छूटती नहीं। उसकी दशा उस कुत्ते की भाँति है, जो पत्थर मारने वाले की बजाये पत्थर को काटने की चेष्टा करता है। वह यह नहीं सोचता कि पत्थर का कोई दोष नहीं, पत्थर फेंकने वाले का दोष है। सिंह गोली या पत्थर की तरफ नहीं दौड़ेगा, वह तो गोली चलाने वाले पर आक्रमण करेगा। संसारी प्राणी भी उस कुत्ते के समान दशा को प्रगट करता है और बाहर ही बाहर सुख का अनुभव करना चाहता है। वह नहीं सोचता कि सुख अपना गुण है। जब ऐसा विश्वास करेगा, तब दौड़ धूप में ब्रेक लग जायेगी। नियम के पीछे आस्था होनी चाहिए।

कर्म जन्य सुख-शांति वास्तविक सुख-शांति नहीं है। वह तो तलवार की धार पर लिपटे मिठास को चाटने के समान है, जहाँ क्षणिक सुख के साथ अनन्त दुख भी हो रहा है। यह कर्म जन्य सुख अनन्त आपदाओं के साथ आता है। वह सहज स्वभाव ही नहीं है। यदि उदय में असाता हो तो पुण्य कर्म को व उसके रस को उपयोग में नहीं ला सकते। कर्म जब उदय में आएगा, तब भी द्रव्य, क्षेत्र, काल मिलने पर रस आएगा, नहीं तो सुख नहीं भोग सकते। साता का उदय भी बिना रस दिये चला जाता है। अतः इन्द्रिय जनित सुख में बहुत कठिनाइयाँ हैं। अन्दर साता हो और भोगान्तराय का उदय न हो, तब ही सुख भोग सकता है। इन्द्रिय सुख क्षणिक है, परतन्त्र है, इन पर हमारा अधिकार नहीं है। यह विश्वास जब हो जाता है, तब रोजाना जो भोगों के सुख की प्राप्ति के लिए आकांक्षा हो रही है, वह स्पर्धा कम हो जाती है और धर्म के क्षेत्र में स्पर्धा चालू हो जाती है।

धर्म के क्षेत्र में स्पर्धा वास्तविक है, इस पर पूर्ण अधिकार है कर्म पर पूर्ण अधिकार है। कर्म पर पूर्ण अधिकार नहीं हालांकि कर्म हमने किया पर उनका उदय हमारे अधिकार में नहीं। जीवन भर आर्थिक क्षेत्र में स्पर्धा कर अर्थ समार्जन किया पर अमर बन कर भोग नहीं कर सकते। क्योंकि जिस प्रकार ढलते सूर्य की ललाई छाया क्षणिक है उसी प्रकार जीवन क्षणिक है, यौवन, धन चपल है। बिजली की तरह क्षणिक है। कर्मों का उदय व फल क्षणिक है। इनसे जो सुख मिलता है, वह वास्तविक सुख नहीं। कर्म के उदय को जो मान लेता है, वह वर्तमान की स्पर्धा से दूर हो जाता है। वह कमाएगा, पर कर्म के उदय को भी मानेगा। वह २४ घण्टे में से कुछ समय भगवान् के नाम स्मरण के लिए भी निकालेगा, धार्मिक क्षेत्र में समय खर्च करेगा। वह विश्वास करेगा, कि साता का उदय होगा तो प्राप्ति हो जाएगी। पाप का बीज है इन्द्रिय भोग। जिसे आप मुक्ति का बीज मान रहे है, वह पुण्य का बीज भी नहीं है। इनसे दूर रहना चाहिए।

पाप का पलड़ा ऊपर उठना चाहिए यानि हल्का होना चाहिए और पुण्य का पलड़ा भारी होना चाहिए। किन्तु आज इसकी याद नहीं करते है और सम्यग्दर्शन को मानते हैं। जो २४ घण्टे विषयों में फँसा है, वह तीन काल में भी सम्यग्दर्शन को प्राप्त नहीं कर सकता है। जो सम्यग्दृष्टि है वह निरभिमानी होगा। वह रागी द्वेषी लोभी नहीं होगा। वह कर्म के द्वारा मिले सुख में रचता पचता नहीं वह भरत चक्रवर्ती के समान जीवन व्यतीत करने की चेष्टा करेगा। जो आत्मा के विकास के लिए कदम बढ़ाता है तत्त्व को जान लेता है, तब वह पीछे कदम नहीं रखता है। वह विश्वास कर कदम बढ़ाता है जहाँ सुख शांति है।

कहते हैं कि पण्डित टोडरमलजी को उनकी माता ने छह माह तक भोजन में नमक नहीं दिया। लेकिन उनका इस ओर ध्यान ही नहीं था, उनका लक्ष्य तो कोई ग्रन्थ पूर्ण करने की ओर रहता था। जब ग्रन्थ पूर्ण हो गया और मंगलाचरण ही शेष था उस दिन भोजन करने पर उनको भोजन में नमक न होने का भान हुआ। आप लोग नमक को रसराज मानते हैं, नमक नहीं तो भोजन ही क्या ? किसी दिन नमक कम हो जाए तो आँखों में ललाई आ जाती है, गुस्सा हो जाते है और थाली तक भी उठाकर फेंक देते हैं। आज तक हार्दिक आस्था, अन्दर की आस्था नहीं हो पा रही है। कहते हैं ले लो अपनी शरण, पारस प्यारा, लेकिन यह सिर्फ शब्दों में है। शरण कोई आता ही नहीं, भगवान् तो शरण देने को तैयार बैठे है। पण्डित टोडरमलजी का लक्ष्य साहित्य सेवा का था। शास्त्र सभी को समझ में आ जाये, मोक्षमार्ग को समझे, विषयों से हटकर लोग वीतराग को अपनाएँ। विषयों से दूर रहने की चेष्टा विषयों के सामने बैठकर नहीं करना। मन को विषयों से दूर हटाकर गुरु भक्ति, शास्त्र सेवा में लगाना है। जिस प्रकार डॉक्टर के कहने पर त्याग होता है और वापस खाने के लिए दिन गिनते हैं कि कब वह दिन आए, जब खाऊँ। ऐसा त्याग नहीं करना है।

त्याग के साथ ध्यान को दूसरी ओर लगाना। सुख त्याग में है, भोग में नहीं। यहाँ तक कि खाने में भी सुख नहीं। त्याग करने में ही सुख है। खाना चाहते हैं, हलवा जलेबी। जब तक खालूँ-खालूँ की लालसा, तब तक शांति नहीं, तृप्ति नहीं, आकुलता है। तृप्ति कब होती है ? जब बिल्कुल भी खाने की इच्छा न रहेगी। आकुलता के अभाव में सुख है, शांति है, तृप्ति है। इन्द्रिय सुख छोड़ने पर ही सुख मिल सकता है। विषयों की ओर से हटने पर भद्र परिणाम होते हैं, तभी आस्था होती है। आस्था होने पर ही निःकांक्षा अंग संवेग गुण का पालन होता है। संवेग तब होता है, जब सांसारिक कार्यों को पाप का बीज और संसार वृद्धि का कारण माने, तभी आस्तिक्य प्रशम भाव होता है। अपने अंग बाहर से नहीं अन्दर से आता है। जो अंगी है, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। पुरुषार्थ भी करें, पर एकांत रूप से उसी के भरोसे नहीं। करूँ और भोगूँ, यह भावना नहीं। आप कितने परतन्त्र हैं। इन्द्रियों के ठीक-ठीक काम करने पर ही आप रस का ज्ञान कर सकते हैं। बुखार जिस व्यक्ति को आ रहा है उसे मीठी दवा भी कड़वी और सर्प के काटे व्यक्ति को निबोंली कड़वी नहीं लगती। अतः आप Direct भोग नहीं सकते, लाभ नहीं उठा सकते, जब तक कर्म उदय में न हो।

सुख इन्द्रियों में नहीं, अपने में सुख है, बाहर में सुख नहीं। इस प्रकार आस्था बना लो। अपने आपके परिणामों के द्वारा सुखी-दुखी बनेंगे। अतः कुविचारों को छोड़ो और महावीर की वाणी में आस्था लाओ। कर्म के अनुसार जितना मिलेगा, उतना ही मिलेगा। भाग्य का उदय होता है तो जरूर फल मिलेगा। अर्थ की पगचम्पी न करो, वह अर्थ तो सेवा के लिए हाजिर हुआ है उसकी आप सेवा न करो। अपनी सेवा करो। भारत में यह अजीब बात है कि यहाँ अध्यात्म की पूजा भी है तो कहीं लक्ष्मी पूजा भी होती है। आप को लक्ष्मी की पूजा नहीं करनी चाहिए। आज कल द्रव्य के आश्रय से निर्गुणी भी गुणवान कहलाता है। अतः द्रव्य के पीछे इतना पड़ना ठीक नहीं, आप लोगों को दुख इसीलिए हो रहा है। गृहस्थाश्रम को चलाने के लिए धन की आवश्यकता है पर २४ घण्टे मात्र इसी का आराधन ठीक नहीं। लक्ष्य धन नहीं, धर्म है। यही निःकांक्षित अंग है, धर्म की उपासना में जीवन व्यतीत करना। सुख आत्मा में है, यही आस्था निःकांक्षित अंग है।

❑ ❑ ❑

निर्विचिकित्सा अंग

सम्यग्दर्शन के तीसरे अंग निर्विचिकित्सा के बारे में वर्णन करना है, यह अंग शरीर को लेकर चलता है। संसारी जीव की ममता, मोहभाव शरीर के साथ ही लगा है। शरीर के माध्यम से ही संसार का दिग्दर्शन, मोह चलता है। यह शरीर न होता तो मोक्ष कोई चीज न रहती। शरीर जो कारागार है, उससे मुक्त होना ही मोक्ष है। शरीर के प्रति यदि मोह नहीं रहता और साथ-साथ

आत्मज्ञान हो जाता तो किसी प्रकार का आरम्भ परिग्रह करने की जरूरत नहीं। शरीर के लिए ही प्रातः से लेकर शाम तक प्रयास होते रहते हैं।

यह तो सुन ही रक्खा है आप लोगों ने कि शरीर से आत्मा भिन्न है, लेकिन अन्दर से ऐसी आवाज नहीं आती। आत्मा शरीर में इतना मिला है कि उसे हाथों से अथवा रसायन से नहीं निकाल सकते, उसके लिए रसायन है निर्मोहता, निरीहता और निर्विचिकित्सा। शरीर से मोह न रखना ही निर्विचिकित्सा है, तभी पहचान है कि मैं शरीर रूप हूँ या आत्मरूप हूँ। आचार्यों ने मोक्ष मार्ग के लिए आराम, विषय वासना को नहीं, परीषह, उपसर्ग को बताया। संवर तत्त्व जिसके द्वारा मोक्ष का सम्पादन होता है, उसके लिए गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषह विजय भी चाहिए। परीषह २२ हैं, उनमें १९ परीषह एक साथ हो सकते हैं। वर्तमान में शीत परीषह आपको भी है और इधर भी है, पर आप विजयी नहीं, आप पर शीत विजयी हो रहा है। संघ में ऐलकजी महाराज सर्दी के बारे में कहा करते थे, कि वह कहती है–

बच्चे को मैं छेड़ूं नहीं, जवान मेरा भाई,
बुड्ढे को मैं छोड़ूँ नहीं, चाहे ओढ़े चार रजाई।

शरीर के साथ आपने इतना सम्बन्ध लगा रखा है कि क्या बताएँ ? शरीर की सुरक्षा के लिए, अनन्तकाल से परिश्रम कर रहे हो, फिर भी शरीर शरीफ नहीं, शरारती ही है। कहा है कि–

हेमंत में हिममयी, हिम से मही है,
दाहात्मिका किरण भास्कर की नहीं है।
तो भी परीषहजयी ऋषिराज सारे,
निर्ग्रन्थ ही करत ध्यान नदी किनारे ॥

हेमंत का समय आ चुका है, जिसमें हिमपात हुआ करता है, भूमि हिममय हो जाती है, वायु में शीत लहर चलती है। सूर्य की धूप भी गर्म नहीं लगती। लेकिन वस्तु तत्त्व को जानने वाले मुनिराज निर्ग्रन्थ होकर, शरीर से निरीह होकर ध्यान करते हुए शीत को जीत लेते हैं। वे शीत को बुरा अच्छा न कहते हुए पूर्वोपार्जित कर्मों की निर्जरा करते हैं। पर आप ऐसे समय में नये कर्मों को बाँध लेते हैं। आप मुक्ति को चाहते हुए बंधन में फँस जाते हैं।

शरीर के आठ अंगों में जिसे उत्तमांग माना है उस मस्तक को, मुख को सर्दी में खुला रखते हैं। बीच में, गर्दन से लेकर पैर तक कपड़े आदि से जो आडंबर किया, उससे ही संसार का विकास हो गया। इस शरीर को आप सुरक्षित नहीं रख पायेंगे। वस्तु तत्त्व की पकड़ तभी करेंगे, जब प्रतिकूल वातावरण होगा। अनुकूल वातावरण होने पर शरीर प्रमत्त हो जाता है। परीषह न होने पर

अपने को भी नहीं पहचान सकता है। शरीर में पीड़ा हो रही है, यह जान रहा है तथा शरीर मेरा नहीं, मैं इससे भिन्न, ऐसा विचार हो रहा है, तभी कुछ संतोष तसल्ली हो जाती है। आप यह भी तो सोचो कि ऐसे व्यक्ति भी हैं, जिनके पास एक कपड़ा भी नहीं है, पर आप सोचते हैं कि ऐसे भी व्यक्ति हैं जिनके पास ५-६ कपड़े शरीर पर हैं। अतः ऐसा विचार न करना चाहिए। पुराने लोग अष्टमी-चतुर्दशी, पर्व के दिनों में एकांत में जाकर श्मशान आदि में ध्यान लगाते, आत्म चिंतन करते थे। आज यह पता ही नहीं अष्टमी चतुर्दशी कब निकल गयी, तिथि याद नहीं रहती, परन्तु रविवार तो याद रहता है। उस दिन की छुट्टी रहती है, उसी दिन तत्त्व का चिन्तन करो, लेकिन उस दिन तो ९ बजे तक सोते रहते हैं। ढूँढ़-ढूँढ़ कर काम निकाल लेते हैं, ६ दिन के बकाया कार्य उस दिन पूरे करते हैं। छुट्टी इसीलिए नहीं हुई है। छुट्टी के दिन सब कामों की छुट्टी करके धर्म ध्यान व आत्म चिन्तन करना चाहिए।

गृहस्थाश्रम उसी का नाम है, जो आगे मुनि बनने के लिए प्रयास करता है, पर आपका लक्ष्य तो जीवन जो मिला है, उसमें मात्र खाओ-पीओ-मौज करो। जीवन की सुरक्षा करते हुए विकास की ओर जीवन को ले जाना है। स्वाध्याय करते-करते विचारें कि आगे हमें भी मुनि बनना है, लेकिन आप कहेंगे कि फुरसत ही नहीं मिलती स्वाध्याय आदि के लिए। पर भैया! मनुष्य जीवन में तो फुरसत ही फुरसत है। अन्य गतियों में तो विकास ही नहीं है। यहाँ विकास के लिए तो फुरसत लेकर आया है, लेकिन आप कहेंगे कि यहाँ तो मरने की फुरसत नहीं है। लेकिन याद रखो होगा वहीं जो वर्तमान में चाह रहे हैं। वर्तमान में शरीर की सुरक्षा में रहेंगे तो भविष्य उसी रूप में होगा। अंतिम लक्ष्य उसी रूप में रहेगा जो वर्तमान में कर रहे हैं। धीरे-धीरे वीतरागता की ओर बढ़ते हुए शरीर के प्रति निरीहता आनी चाहिए, उसके लिए अभी से अभ्यास करना है।

कष्ट में आत्मानुभूति हो सकती है, मात्र 'भेद विज्ञान' शब्द रटना नहीं। भेद का मतलब भिन्न और उसका ज्ञान विज्ञान। यानि शरीर आत्मा से भिन्न, ऐसा ज्ञान भेद विज्ञान है। शरीर के प्रति मोह का अंत ही निर्विचिकित्सा है। जब अनन्त मोह का अभाव जीव कर लेता है, तब गृहस्थाश्रम में पूर्व में जो अनन्त सुरक्षा के लिए काम करता था, उसका अभाव हो जाता है। संज्ञा का मतलब शरीर से मोह, लगाव उसकी सुरक्षा है। चारों संज्ञाएँ आहार, भय, मैथुन और परिग्रह शरीर के लिए हैं। ये सब सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने पर अनन्तता का अभाव हो जायेगा। शरीर के प्रति निरीहता ही निर्विचिकित्सा अंग है। इस बात को गाँधीजी ने अनुभव किया। जैसे-जैसे शरीर पर कपड़े ओढें तैसे-तैसे सर्दी लगती जाती है, उसका अनुभव होता है तब क्यों ज्यादा कपड़े होने चाहिए। इसीलिए उन्होंने लंगोट, दुपट्टा रखा। उन पर यह प्रभाव साहित्य व दिगम्बरत्व को देखकर पड़ा। आप भेद विज्ञान को जानकर भी कपड़े पर कपड़े अपना रहे हैं। शरीर के प्रति निरीहता किसी न किसी रूप में होनी चाहिए।

कल एक विशेष बात होने जा रही है, कल जीवन की मौलिक घड़ी है। पंचकल्याणक व दीक्षा हो रही है। पर जिसके द्वारा जीवन सुधर सकता है, क्रांति आ सकती है, कल सरस्वती भवन का उद्घाटन हो रहा है। मुख्य आयोजन वह है जहाँ श्रुत की आराधना हो। कल द्रव्यश्रुत की स्थापना हो रही है जिससे भावश्रुत की तैयारी हो सकती है। इसके द्वारा लोग आत्मतत्त्व के बारे में जान सकते हैं, पहचान सकते हैं। दूध में मक्खन है, उसे हाथ से नहीं निकाल सकते, उसे मंथन करना पड़ेगा। उसके लिए रस्सी, पात्र, मथनी (घोटनी) आदि चाहिए, ये द्रव्यश्रुत के समान है। द्रव्यश्रुत के द्वारा आत्म तत्त्व रूपी नवनीत को आप निकाल सकते हैं। द्रव्यश्रुत उन स्थानों में है, जहाँ मंथन करते-करते अन्त में नवनीत पा सकते हैं। जहाँ पर Research कर सकते हैं और जैनाचार्यों के प्रयास को रख सकते हैं। श्रुत भवन का कल उद्घाटन हो रहा है। देव, शास्त्र और गुरु मोक्षमार्ग को प्राप्त करने में महानतम् कारण हैं। महावीर ने अहिंसा धर्म की पुष्टि की। भगवान कुन्दकुन्द, समंतभद्राचार्य, अकलंकदेव आदि ने क्या लिखा उसे शास्त्रों के द्वारा जान सकते हैं। यह हमारा सौभाग्य है कि शास्त्र उपलब्ध हैं।

जब हमें देव पर श्रद्धान है तब उनकी वाणी पर भी श्रद्धान है। शरीर को इतना आराम तलबी न बनाओ, कि आत्मा का अधःपतन हो जाये। इतनी ही शरीर की सुरक्षा करनी है कि आत्मा का काम होवे। शरीर सुदृढ़ हो, यह भी मोक्षमार्ग के लिए उपयुक्त है। इसका बल इधर-उधर न फेंको वरना ध्यान में कमर में दर्द, या नींद आने लगेगी। शरीर को आत्म चिंतन में सहायक बनाओ उसकी शक्ति को आत्म चिंतन में लगाओ। शरीर बिगड़े भी नहीं, गाड़ी के पहिये में ज्यादा हवा भरकर पंक्चर न करना तथा कम भी हवा न भरना, नहीं तो गाड़ी रुक जाएगी। हवा नियम से भरो, ज्यादा भी नहीं तो कम भी नहीं। जिस प्रकार जच्चा (बच्चे की माँ) शरीर को चलाती है, कम खाती है, धीरे चलती है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को शरीर से लगाव रखना चाहिए। वह जितनी पहले शरीर की सुरक्षा में रहता था, सम्यग्दर्शन होने के बाद नहीं। आज अनाप शनाप खाकर शरीर बिगाड़ लेते हैं। कहा भी है-

बहुत हवा भरने से फुटबाल फट जाये।
बड़ी कृपा भगवान की, पेट नहीं फट जाये ॥

शरीर को जो बिगाड़ता है, वह भी हिंसक है। शरीर का शोषण भी नहीं तो पोषण भी नहीं। उसे अपने अधिकार में रखो ताकि आत्मिक विकास के काम आ सके। शरीर के प्रति ज्यादा निरीहता व पोषण भी नहीं, यह निर्विचिकित्सा है।

❑ ❑ ❑

नारी ! बनो ऐसी

आज का मध्यांह्न हम लोगों के लिए बहुत ही सहायक मालूम पड़ता है। हरेक कार्य की उत्पत्ति में अनेक कारणों की अपेक्षिता है। यदि यह मध्याह्न न होता धूप न होती, तो आप लोगों के लिए थोड़ी कठिनाई हो जाती। ठण्डी हवा, सर्दी में प्रवचन सुनने में आप लोगों को कष्ट होता। भगवान महावीर कौन थे, उनका जीवन कैसा था, समाज में उनका किस रूप में योगदान रहा ? इन सब के बारे में विचार करना है। समय का मूल्यांकन करना है, येन-केन प्रकारेण इसे नष्ट नहीं करना है।

स्त्रीणां शतानि शतशो जन्यन्ति पुत्रान्,
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता ॥
सर्वा दिशो दधति भानु सहस्त्र-रश्मिं,
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशु-जालम् ॥ २२ ॥

आचार्य मानतुंगाचार्य ने भक्तामर स्तोत्र में मुक्त कंठ से नारी की प्ररूपणा की है कि जहाँ से वे महान् विभूतियां प्राप्त होती हैं, उसके लिए नारी की प्रशंसा किए बिना समाधान नहीं। दो कुलों को सुशोभित करने वाली नारी धन्यतमा कहलाती है। वह अगर न होती तो भगवान् महावीर, राम पाण्डव आदि जैसे महान् पुरुष कैसे पैदा होते। जो नारी इसी भाव को लेकर जन्म देती है। वह धन्य कहलाती है। यो तो सभी दिशाएँ ताराओं को जन्म देती है, पर प्राची दिशा ही भानु को जन्म देती है। उसी प्रकार जो महान् विभूति को जन्म देती है, उज्ज्वल भाव से जीती है और भाव करती है कि मेरी कोख से महान् विभूति का जन्म हो, वह नारी धन्य है। त्रिशला नारी ने भी महावीर को जन्म देकर हमारे लिए रास्ता बना दिया है।

पुरुष एक क्षेत्र में काम करता है, तो नारी अनेक क्षेत्रों में काम करती है, जैसे-

सेवा में सेविका बने, प्रीति भोज में माँ।
देशोन्नति में मंत्री बने, हाव भाव में रमा ॥

एक रूप को धारण करने पर भी विचारों व्यवहारों को पलटती रहती है। सेवा में दासी का रूप न होता तो नन्हे- मुन्हे बच्चे कच्चे रह जाते। वह स्वयं विश्राम न लेकर ऐसा काम करती है, ताकि दूसरे को विश्राम मिल जाये। बच्चों के लिए सेवा कर सब कुछ बलिदान कर देती है। वही नारी जब भोजन कराती है, तब माँ के रूप में परिवर्तित हो जाती है। उस समय लक्ष्य यही कि सामने वाला भूखा न रहे, वह प्यासा न रहे, स्वयं के लिए चीज कम रह जाये, तो भी सामने वाले को और दे देगी, कितनी उदारता है। यह बातें छोटी-छोटी मालूम देती हैं, पर आप तो इतनी उदारता

में कष्ट का अनुभव करेंगे, पर माँ नहीं करेगी। माँ बच्चे को दूध पिलाती है, तब सबको हटा देती है, बच्चे पर कपड़ा ढक देती है, रहस्य यह कि कोई देख न ले। वह चाहती है कि बच्चा जल्दी जल्दी बड़ा बने।

वही नारी देशोन्नति के समय मन्त्री का काम करती है। नारियों ने राष्ट्र की उन्नति में सहयोग दिया है। जब महाराणा प्रताप हताश हो जाते हैं, बुद्धि कुंठित होने लगती है, सोचते हैं कि शत्रु को आत्म समर्पण कर दूँ। तब रानी कहती है कि आप क्षत्रिय के कुल में कलंक लगा रहे हो, मैं आपकी अर्द्धांगिनी हूँ आप पर मेरा भी अधिकार है। ऐसा कभी न होगा, हम भूखे मरेंगे प्यासे मरेंगे पर क्षत्रियता पर कलंक नहीं लगाएँगे और अबला होकर भी सबला बनकर आजादी में सहयोग दिया। नारी की विचार धारा कहाँ-कहाँ घूम आती है। वह चतुरता से काम करती है। वह नवनीत के समान नरम भी है तो वज्र के समान कठोर भी है। दूसरों के दुख को देखकर नारी के हृदय में तरलता आ जाती है और शील पर आँच आने पर चाहे सुमेरु भी चलायमान हो जाये पर वह डिगती नहीं। अगर वह पतिव्रता है तब तो स्त्री है, नहीं तो इस्त्री है जो जला देती है। पुरुष तो बना बनाया पदार्थ, पर बनाने वाली, उसका उद्‌गम स्थान नारी है। चौथा हाव भाव में रमा है, पति को खुश रखती है, जिससे पति प्रसन्न चित्त होकर दैनिक कार्यों में लग जाये। आज ऐसी नारियाँ नहीं के बराबर हैं।

आज तो किसी ने कहा है-

पत्नी मांगती स्नो पाउडर, नई-नई नाइलोन साड़ी,
जिस बात को सुनकर के, पति की बढ़ती है दाढ़ी।

जल्दी-जल्दी साड़ी लाओ, पाउडर लाओ, ये लाओ, वो लाओ। यह नहीं सोचती कि वेतन कितना मिलता है एक नाइलोन की साड़ी के कितने रुपये लगते हैं। महावीर ने कहा था कि यदि महाव्रत का पालन न कर सको तो कम से कम अणुव्रतों का पालन तो करो। ज्यादा मांग से पति का आर्थिक विकास रुक जाएगा, पति चिन्ता में घुल जायेगा। नारी पति का अनुसरण करे, पति से आगे न बढ़ें। ज्यादा माँगने पर पति वेतन में काम न चलने पर चोरी, रिश्वतखोरी करेगा। पति के पास जब वेतन में से बच जायेगा तो वह बिना मांगे चीज ला देगा।

पति पत्नी का जोड़ा होता है। दोनों एक दिशा में चलेंगे तो वीर चरणों में चले जायेंगे। परिग्रह प्रमाण रख कर सुख शांति का अनुभव हो सकता है। पत्नी का तथा पति का कर्त्तव्य है कि परिवार को सम्भाले, बोझ कम करे। पत्नी अगर अपनी इच्छा को पूर्ण करने में आगे दौड़ेगी तो परिवार आगे नहीं बढ़ सकता। नारियों ने बच्चों के संस्कारों पर प्रभाव डालकर सच्चे बच्चे बना दिये।

विवेकानन्दजी गुरु पत्नी (श्री राम कृष्ण परमहंस) के पास गये और बोले माँ मैं विदेश जा रहा हूँ, मुझे आशीष दो। माँ खाना बना रही थी, उसने कहा ठहरो, पहले सामने पड़ा चाकू लाओ। विवेकानन्द जी ने चाकू का मुख अपने हाथ में लेकर मूठ माँ की ओर बढ़ा दी। माँ खुश हो गई और आशीर्वाद दिया कहा कि तेरे अन्दर दुनियाँ के प्रति करुणा, अनुकम्पा है, दूसरों के दुख मिटाने की लालसा है। यह भाव होने पर ही दुनियाँ पर तेरे बोध का प्रभाव पड़ सकता है।

एक सुशिक्षिता महिला सौ मास्टरों का काम करती है। चाकू माँ को हाथ में देते समय विवेकानन्दजी ने सोचा चाकू माँ के हाथ में न लग जाये भले ही मुझे कुछ भी लग जाये। यही अहिंसा, करुणा का प्रतीक है। लेकिन आज कल की नारियों का हाल विचित्र है। उन्हें सिवाय अपनी चिन्ता के, न धर्म की, देश की, समाज की उन्नति की चिंता है, इसमें भले ही दूसरों का नाश हो जाये। नारी भी गुरु बन सकती है अपने विचारों से। प्राची दिशा ही सभी को प्रकाश देने वाले सूर्य को जन्म देती है। इसी प्रकार भगवान महावीर की माता धन्य हैं जिसके द्वारा ऐसा बालक मिला, जिसने दुनियाँ को संदेश दिया, मार्ग प्रशस्त किया। जिसके संदेशों पर चलने से जीवन को विशाल बना सकते हैं।

हृदय को ऐसा बनाओ जिससे अपना कल्याण हो तथा दूसरों के लिए उदाहरण बन जाये। आवश्यक को रखे पर अनावश्यक को नहीं यही महावीर का संदेश था। वस्तु के अभाव में मंहगाई नहीं होती पर वस्तु संग्रह से मंहगाई होती है। एक बुढ़िया ने कहा कि विवाह के बाद बढ़िया-बढ़िया दर्जनों कपड़े न लाना पहनने के लिए, क्योंकि वह दिन भर कपड़े बदलने में ही पूरा समय खर्च कर देगी और सेवा नहीं कर पायेगी। आज का जीवन कैसा है? पहले दो रुपये में लूगड़ा आता था जिसके फटने पर गुदड़ी भी बना ली जाती थी। पर आज उतने रुपये में रिबिन भी नहीं आता, जिसका बाद में भी उपयोग नहीं होता। ऐसे में अर्थ (धन) भी और समय भी चला जाता है। और मौलिक कार्य नहीं हो पाता। अतः आवश्यकताओं को सीमित करो, अपरिग्रह अणुव्रत को धारण करो तभी देश का विकास होगा और आत्मा में सुख शांति मिलेगी। अन्त में एक संदेश और सुनिये-

आप सभी जन यत्न से,
छेद नारी पर्याय ॥
पुरुष हो पुरुषार्थ करो,
वेद भेद मिट जाये ॥

❑ ❑ ❑

माँ जिनवाणी

हे शारदे! अब कृपा कर दे जरा तो,
तेरा उपासक खड़ा, भव से डरा जो।
माता! विलम्ब करना मत, मैं पुजारी,
आशीष दो, बन सकूँ बस निर्विकारी ॥

आज यह मंगल बेला हमारे लिए बहुत पुण्योदय से प्राप्त हुई है। यहाँ पर यह बात करना उचित समझूँगा कि–

जहाँ न जाता रवि वहाँ जाता कवि।
जहाँ न जाता कवि वहाँ, जाता स्वानुभवी।

रवि सब जगह प्रवेश कर सबको जागृत करता है, कवि भी रहस्यों के पास जाकर विचारों को साकार बनाता है, किन्तु शारदा, सरस्वती की कृपा हो जाए तो उस स्थान तक पहुँच जाये जहाँ ये दोनों पहुँचने में असमर्थ हैं। इसके द्वारा अमूर्त से साक्षात्कार संवेदन कर सकता है। ज्ञान के द्वारा देख सकता है, कि वास्तविक आत्मा क्या है? देव का प्रत्यक्ष दर्शन न हुआ और गुरु हैं, वो जिनवाणी में लिखी बातें बताएँगे, मार्गदर्शन करेंगे। शब्द का ज्ञान तो अन्धा, लंगड़ा, कुरूप भी कर सकता है। भारत में अध्यात्म प्रणाली अक्षुण्ण चल रही है। आज मंगल कार्य प्रारम्भ हुआ है। महावीर की वाणी को मात्र कानों से सुनना ही नहीं बल्कि उस ओर चलना है, जिस ओर महावीर चले, जिस दृष्टि को लेकर चले। आत्म तत्त्व को शास्त्र के द्वारा देखा जा सकता है। आदित्य के बिना भी कोई काम चल सकता है, पर साहित्य के बिना नहीं।

सरस्वती की आराधना से अन्दर तक पहुँच सकते हैं और उसका मनन, अध्ययन, चिंतन कर भाव श्रुत का अनुभव कर सकते हैं। मैं न कवि हूँ, न रवि हूँ पर स्वानुभवि हूँ। उस चैतन्य जागृति की आवश्यकता है जो सरस्वती के माध्यम से सम्भव है। आप भी सरस्वती की आराधना, पूजा, उपासना कर आत्मा के मल को धो डाले। वाणी में इतनी शक्ति है कि सभी जीवन में साक्षात् सुन सकते हैं, देख सकते हैं, व उतार सकते हैं। सरस्वती के माध्यम से परोक्ष मूर्ति का प्रभाव आत्मा पर पड़ सकता है। साहित्य सुरक्षा के लिए बड़े परिश्रम की आवश्यकता है। हमारी दृष्टि हमारे शास्त्रों की ओर नहीं है, वे बिखरे पड़े हैं, दीमक लग रही है, उनकी सुरक्षा करनी है।

जैन साहित्य क्या है ? अहिंसा धर्म क्या है ? उसे लिखकर Research कर जीवन में उतार सकते हैं। साहित्य के द्वारा ही जैन धर्म का प्रचार कर सकते हैं न कि बड़ी-बड़ी बिल्डिंगों के द्वारा। साहित्य के द्वारा ही दूर-दूर बात हो सकती है, विचार दूर-दूर तक व्यक्त किए जा सकते हैं। साहित्य के प्रचार के लिए तन-मन-धन लगाना चाहिए। जिनवाणी को सामने लाना चाहिए। कई

जैन साहित्य नष्ट भ्रष्ट भी हो गये हैं, फिर भी हमारा सौभाग्य रहा है कि अभी भी विपुल साहित्य है। राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त ने भी कहा है कि जैन साहित्य कम नहीं है, सर्वोपरि है, बहुत विपुल है। पर पढ़ने वाले बहुत कम हैं। हमने उस साहित्य की कीमत ही नहीं आंकी।

२५०० वाँ निर्वाणोत्सव जो एक साल तक मना रहे हैं उसके बाद भी साहित्य के क्षेत्र में ज्यादा प्रयास होना चाहिए। तभी जैन-जैनेतर समाज पर प्रभाव पड़ सकता है और मोक्ष का स्वरूप आत्मा का स्वरूप जिनवाणी के द्वारा बता सकते हैं। यह जिनवाणी नौका के समान है जो इस छोर से उस छोर तक पहुँचाने वाली है। आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज कहा करते थे कि मन्दिर की सुरक्षा मुनि नहीं कर सकते, श्रावक कर सकते हैं। पर जिनवाणी की सुरक्षा सेवा तो हम कर ही सकते हैं। और मुझे कहा की पूरी शक्ति लगाकर अन्तिम समय तक सेवा करना। बार-बार चिंतन, मनन, विश्लेषण करना, प्रचार व प्रसार करने से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो सकता है, जिससे अरबों जीवों का कल्याण होता है। मैं भी यही चाहता हूँ कि साहित्य की सेवा आप उस प्रकार करो कि जिससे अपना व दूसरों का उद्धार हो। अन्त में महावीर व सरस्वती को प्रणाम कर कहता हूँ कि-

कर लो वीर, स्वीकार,
मम नमस्कार
होवे साकार
जो बार-बार विचार
उठते मम मानव तल पर

❑ ❑ ❑

पाप की जड़

(ब्र. मांगीबाई के दसवीं प्रतिमा ग्रहण करने पर नाम रखा समाधिमति जी)

आत्मा के परिणामों की बड़ी विचित्रता है। अनादिकाल से यह संसारी जीव भोगों का दास बना हुआ है। इन्द्रियों की इच्छा पूर्ण करने में लगा है। आज एक प्राणी ने भोगों को पाप का मूल समझा और उसके मन में त्याग के भाव जागे हैं। अब वह सबसे पहले आरम्भ परिग्रह का त्याग करेगी। आरम्भ को इस जीव ने अनादि से अच्छा मान रखा है पर इस महिला ने इसे पाप का मूल समझा। ८ वीं प्रतिमा आरम्भ त्याग प्रतिमा होती है। अब यह सांसारिक कार्यों, खाने-पीने के बारे में आरम्भ नहीं करेगी, धार्मिक कार्य कर सकती है। इसके बाद परिग्रह त्याग प्रतिमा है।

महावीर का संदेश है कि सबसे बड़ा साहूकार, धनवान, अमीर, सुखी वह है, जिसके पास तिल मात्र भी परिग्रह नहीं है। आज रथयात्रा में उसी का दिग्दर्शन झाँकी के द्वारा किया गया। परिग्रह के प्रति इस महिला को घृणा हो गई है। अब इसके सांसारिक परिग्रह का त्याग है। जीवन के अन्तिम समय में मोह का विकास नहीं, मोह का अभाव होना चाहिए। दसवीं प्रतिमा वह है कि सांसारिक बातों के लिए अनुमति नहीं देगी। धार्मिक चर्चा के अलावा मुख से अन्य बातें न निकलेगी। यह अच्छा विचार किया है इस महिला ने। दसवीं प्रतिमा के भाव इसलिए किए कि अन्तिम समय में समाधि हो। इस महिला ने अपने जीवन के द्वारा धार्मिक विकास के लिए यहाँ सहयोग दिया है। अतः अन्त में कृतज्ञता प्रकट करने के लिए इनकी सेवा करना चाहिए। यह एक अच्छी शुरूआत है उदासीनाश्रम के लिए। वैयावृत्य करने से कराने वाले का तथा करने वाले का दोनों का जीवन सुधर जाता है।

❑ ❑ ❑

निर्विचिकित्सा ! सो क्या ?

सम्यग्दर्शन जो मोक्षमार्ग में अनन्य स्थान रखता है, उसके द्वारा वाणी आचार विचार समीचीन हो जाते हैं। जीव इसको स्थाई बनाने की चेष्टा करता है, इसमें जो आठ अंग है वे गृहस्थ के लिए महान् उपयोगी हैं। इन अंगों से सम्यग्दर्शन उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है। इसमें चार निःशंका, निःकांक्षा, निर्विचिकित्सा तथा अमूढ़दृष्टि अपने को लेकर हैं। बाकी चार स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना आदि पर को लेकर हैं। यहाँ पर समंतभद्राचार्य ने सम्यग्दर्शन की प्ररूपणा गृहस्थ को लेकर की है। पात्र को देखकर दान देने से पात्र को तथा दान देने वाले को दोनों को लाभ होता है। गृहस्थ गन्दा शरीर देखकर नाक सिकोड़ता है पर रत्नत्रय से आभूषित मुनि ऐसा कर लेगा तो मोक्ष मार्ग की उपासना नहीं कर सकेगा। गृहस्थ भी अगर मुनि की देह को देखकर घृणा करेगा तो उसे भी तीन काल में सुख शांति नहीं। आप अपने शरीर को लेकर घृणा करते हैं, पर जो स्नान न करने वाले हैं, जिनका शरीर बाह्य तप से तप गया है, धूल के कण लिपट गये हैं, उनसे घृणा करने पर न तो निर्विचिकित्सा अंग टिकेगा और न सम्यग्दर्शन ही टिकेगा।

मुनि का तत्त्व चिंतन अलग, गृहस्थ का अलग है। गृहस्थ को चिंतन हेतु देव, शास्त्र, गुरु बताये पर मुनि हरेक द्रव्य जो भी सामने आएगा उसके स्वरूप के बारे में चिंतन करेगा। आप लोगों की दृष्टि अन्दर के गुणों की ओर नहीं गई बल्कि बाहर जड़ शरीर की ओर ही दृष्टि जाती है। गृहस्थ शरीर से तथा उसके फलों से घृणा करता हुआ भी रत्नत्रय से विभूषित मुनियों के शरीर को मैला देखकर घृणा न करेगा। उसे मल नहीं मंगल मानेगा, दोषों को निकालने के लिए पवित्र द्रव्य मानेगा और कालांतर में समता को धारण करेगा। अभी आप जो इष्ट अनिष्ट मान रहे हैं, वह दृष्टि

सम्यक् नहीं कहलायेगी। इष्ट अनिष्ट कोई चीज नहीं है। इष्ट अनिष्ट दृष्टि में है पदार्थ में नहीं। अनादि से संसार में जो भ्रमण हो रहा है उसका कारण इष्ट अनिष्ट मानने से है। समय सार आप लोगों ने पुस्तक के रूप में देखा है, उसका अनुभव तभी होगा जब ज्ञान धारा (ज्ञेय) में हेय उपादेय नहीं होगा।

पढ़ पढ़ भये पण्डित, ज्ञान हुआ अपार।
निज वस्तु की खबर नहीं, सब नकटी का श्रृंगार।

जो मल (टट्टी) में नाक सिकोड़ने का कारण बना उसकी पूर्व पर्याय पर ध्यान जायेगा तो उसकी ओर (हल्वा पुड़ी आदि) इष्ट बुद्धि लगी है और अब थोड़ी देर में घृणा हो रही है। उत्पाद व्यय ध्रौव्य तो हर वस्तु के साथ लगा है। अतः आप में वास्तविक स्वरूप का दिग्दर्शन नहीं हुआ। कहा है कि –

आता यदा उदय में वह कर्म साता,
प्रायः त्वदीय मुख पे सुख दर्प छाता,
सिद्धान्त का इसलिए तुझको न ज्ञान,
तू स्वप्न को समझता असली प्रमाण।

ऐसा समझ रहा है यह प्राणी कि यह वास्तविक है, यह असली है, यह नकली है। यह एक तत्त्व के दो पहलू हैं, यह न असली है न नकली है। चीज को देखकर दृष्टि भ्रमित हो जाती है। आकांक्षा और ग्लानि, इन दोनों का अभाव तो तत्त्व का वास्तविक स्वरूप है, यह प्रथम सीढ़ी है। सुगन्ध-दुर्गन्ध के बारे में बहुत कुछ सुना पढ़ा होगा, प्ररूपणा की होगी पर गन्ध इष्ट अनिष्ट नहीं होती। पुद्गल का स्वभाव इष्ट अनिष्ट नहीं है। ज्ञान के साथ इष्ट अनिष्ट की कल्पना कलंक का टीका है, जिसे धोने के लिए वीतरागता सक्षम है। तभी राग-द्वेष नहीं होगा, यही वास्तविक धर्म की चरम सीमा है। और तभी आप धनी, कृतकृत्य बन जाएँगे आनन्द का अनुभव करेंगे। शास्त्र आपके लिए आयतन है। अनेकांत को समझने के लिए बहुत विशालता की, दृढ़ श्रद्धान की आवश्यकता है। जब ऐसा हो जायेगा तब कर्म के बारे में व उसके फलों के बारे में इष्ट अनिष्ट की कल्पना न होगी। वास्तविक धर्म एक अनोखा ही है जब वह प्रादुर्भूत हो जाता है, तब कहने की चीज ही नहीं है, अनुभव की है।

सद्बोध शिष्य दल को जब मैं दिलाऊँ,
स्वामी! निजानुभव मैं तब हो! न पाऊं।
ना शब्दगम्य, निजगम्य, अमूर्त हूँ मैं।
कैसे ? किसे ! कब उसे ! दिखला सकूँ मैं ॥

हे भगवान्! मैं तत्त्व से स्खलित हो जाता हूँ, उपयोग से च्युत हो जाता हूँ, जब मैं दूसरे को समझाना प्रारम्भ कर देता हूँ। शुद्धोपयोग स्वयं की द्रव्य, क्षेत्र, काल की अपेक्षा से है, पर की अपेक्षा से नहीं। अन्दर से फिर बाहर की ओर नहीं बढ़े, इस प्रकार का चिंतन जब होगा, तब ऐसी शांति होगी कि उसका वर्णन मुश्किल है। दूसरे का आधार लेना नीचे गिरना है। पुद्‌गल में रस नहीं, आत्मा में रस है। वीतराग की उपासना करनी है तो ग्लानि छोड़नी होगी। इष्ट अनिष्ट की कल्पना छोड़नी होगी। जो स्वभाव से च्युत कराने वाला है, उसे अपनाते ही क्यों हो? महावीर उस ओर गये जहाँ कोई नहीं था और जहां भीड़-भड़ाका था वहाँ पीठ दिखा दी। विकार से, घृणा से, अनिष्ट, इष्ट से दूर न होगे तब तक वास्तविक सुख न मिलेगा। वीतरागता को प्राप्त करने का ध्येय जिसका है, वही सम्यग्दर्शन का अधिकारी है, वरना तो मात्र अभिनय है। वीतराग धर्म को अपनाने की चेष्टा जो करेगा उसका ज्ञान समीचीनता की ओर जाएगा, वह सांसारिक कार्यों को नहीं अपनायेगा।

आचार्यों का लक्ष्य वीतरागता है न कि सम्यग्दर्शन मात्र। मोक्ष मार्ग कहते ही आपकी दृष्टि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की ओर हो, आपके मोह का नाश हो। ज्ञान प्राप्त हो तो उसी रूप त्याग भी होना चाहिए। आपको सुख की अनुभूति हो, यही मेरी इच्छा है। सम्यग्दर्शन व ज्ञान से सुख नहीं, पर उसके साथ चारित्र हो, तब सुख है। अतः गृहस्थाश्रम में रहते हुए उदासीन रहे और धीरे-धीरे वही सुख आप लोगों को मिले। रास्ता मालूम हो जाने के उपरांत भी दौड़ लगाने की चेष्टा करना, इधर-उधर ही भटकना, इसका मतलब या तो आपको मंजिल पता नहीं या रास्ते पर विश्वास नहीं। महाव्रत न ले सको तो अणुव्रत तो लो। इस विषम स्थिति में क्षेत्र भी आपेक्षित है उदासीन होने के लिए। उदासीन होने के बाद ३ बार सामायिक, पूजा, प्रक्षाल, शास्त्र स्वाध्याय करेंगे। आज जमाने के साथ-साथ आप उलट गये, दृष्टियाँ पलट गई, जिसने जीवन को पलट दिया। जीवन को बनाने के लिए उदासीनाश्रम की आवश्यकता है। तप के प्रति आपकी रुचि होनी चाहिए। मनुष्य जीवन को प्राप्त किया है, विवेक भी है, तो चारित्र को भी अपनावें, जिससे असंख्यात गुणी निर्जरा होगी, सुख का अनुभव होगा। भावों में यदि स्खलित भी हो जाये तो चारित्र होने पर भाव ठीक हो जाएँगे। चारित्र परमावश्यक है, उसे कुछ न कुछ अंशों में धारेंगे। १२ व्रतों को अनुपालन बहुत सरल है। सभी को छोड़कर वृद्धावस्था के जो व्यक्ति हैं, वे जब आपस में उदासीन होकर एक जगह रहेंगे तो शास्त्र पठन पूजा भक्ति करेंगे, तो सोलहवें स्वर्ग तक भी जा सकते हैं। जहाँ से मनुष्य भव प्राप्त कर पुरुषार्थ से मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं अगर चाहें। नहीं तो अनन्त संसार है। जीवन बहुत थोड़ा रहा है अतः उसे आदर्शमय बनाने के लिए व्रतों का पालन करें।

❑ ❑ ❑

करने योग्य कार्य

समंतभद्राचार्य यद्यपि मुनि थे, उन्होंने उस वक्त जो गृहस्थाश्रम में शिथिलता तथा आचार विचारों में कमियां देखी, वे कमियां दूर हों और गृहस्थों को यथोचित मार्ग मिल जाये, इसी दृष्टि को लेकर मुनि होते हुए भी रत्नकरण्डक श्रावकाचार की रचना की। ८४ लाख योनियों में मनुष्य योनि दुर्लभतम है। इस जीव को त्रस पर्याय मिलती है जिसकी अवधि ज्यादा से ज्यादा २ हजार सागर वर्ष की है। यदि इनमें यह जीव अपना विकास कर निकल गया, मुक्ति पा ली तो, उसे पुनः एकेन्द्रिय आदि आयु नहीं मिलती, वरना उसे निगोद यात्रा को निकलना ही पड़ता है। दो हजार सागर वर्ष में भी विकास योग्य पर्यायें मात्र ४८ मिलती हैं।

उसमें भी वास्तविक आत्मानुभूति प्राप्त करने की पर्यायें ८, १६ व २४ हैं। ८ पुरुष, १६ स्त्री पर्याय और २४ नपुंसक, पुरुष बहुत कम होंगे। इसमें विकलांगी, अल्पायु व लब्ध पर्याय वाले होंगे, म्लेच्छखण्ड में भी हो जायें। पुरुष होने पर भी ज्ञान न मिले तो यों ही सब चला जाये, उसके बाद निगोद की कोई सीमा नहीं है। ठण्डे दिमाग से सोचो-विचारो की कितनी दुर्लभतम पर्याय को प्राप्त किया, उसे भी विषय-वासना के लिए खर्च कर दो, तो यह कोई हमारी बुद्धिमत्ता नहीं। इस पर्याय में कार्यक्रम बनाना चाहिए आधा जीवन तो सोने में (नींद में) चला जाता है। बाकी बचे १२ घण्टे, उसमें आहार, विहार, निहार, गपशप में चला जाये, जमा में कुछ भी नहीं है।

वह प्राणी जीवन में विकास कर सकता है, जो उसमें डिवीजन (भाग) बना ले, और कार्य निर्धारित कर ले, तब तो बहुत जल्दी विकास हो सकता है। काल की अवधि आयु का पता नहीं Death keeps no calender. अतः विकास के लिए समय निकालना चाहिए, ताकि जीवन सुधर जाये। जीवन चला तो सब रहे हैं, पर सुधार की ओर दृष्टि नहीं। जिसे निगोद से डर है, वह ही मौलिक जीवन में सुधार के कार्य करेगा।

जिस प्रकार ५५ साल के बाद Government रिटायर कर देती है, उसी प्रकार २ हजार सागर में जीवन विकास न करने पर निगोद जाना ही पड़ेगा, जहाँ अनंत काल तक रहना पड़ेगा यह सिद्धान्त है। जिसका इस पर विश्वास है, वह मौलिक कार्य करेगा जीवन में विकास के लिए मनन चिंतन करेगा। सुख और दु:ख के लिए आपका भाग्य ही उपादान कारण है। यह जरूरी नहीं कि अभी आप जैसे हैं, वैसे ही बने रहेंगे। अनागत जीवन का विश्वास नहीं वर्तमान में जो मिला है, उसे काम में लेओ। मात्र खा पीकर मस्त नहीं होवें, समय न खोवें और भगवान् भजन, अरहंत सिद्ध में समय लगावें, जिससे असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा हो जाये। इसके लिए मैं यही कहता हूँ कि उदासीनाश्रम बन जाएगा, तो काम हो जायेगा। वरना धन या तो बच्चे ले लेंगे या Govt. ले लेगी। अत: उदासीनाश्रम में धन लग गया तो उसमें रहने वाले अरहंतसिद्ध का जापकर अंत में समाधीपूर्वक

मरण कर सकेंगे। अगले व इस जन्म में सुख मिलेगा। धन तो सरकार ढूँढ ही लेगी। अतः उसके द्वारा धार्मिक कार्य करो। धन न तो सरकार का है, न आपका।

अर्थ का उपार्जन परमार्थ के साधन के लिए है, अनर्थ के लिए नहीं। वही धन परिग्रह है जो धार्मिक क्षेत्र में खर्च न होकर अन्य सांसारिक कार्यों में हो। मूर्च्छा का नाम परिग्रह है। धन के द्वारा धर्म की प्रभावना हो सकती है, इसके द्वारा दूसरों का उपकार व अपना विकास कर सकते हैं। कुछ लोग चाहते हैं कि हम उदासीन बनकर रहें, भगवान को सुमरण करें और अंत में मरते समय सारा पैसा उदासीनाश्रम में दे जायें इसके लिए उदासीनाश्रम की आवश्यकता है। ऐसा न होने पर तो जीवन यों ही चला जायेगा, धन भी चला जायेगा। यहाँ पैसे, स्थान की कमी नहीं, उदासीन व्यक्तियों की कमी नहीं। यह अजमेर तीर्थ बन जाएगा। जहाँ समाधिपूर्वक मरण होता है, वह स्थान तीर्थ बन जाता है। मेरी दृष्टि में इससे बढ़कर कोई सत् कार्य नहीं है। जहाँ व्रती बन कर रहेंगे, आराम विलासिता को नहीं अपनाएँगे, वे भी लघु मुनि हैं। वे मुनि नहीं बनेंगे तो १२ व्रतों का पालन करेंगे, सल्लेखना जहाँ हो तो, वह स्थान तीर्थ है। जो इसमें सहयोग देगा, उसकी भी समाधि अवश्य होगी, वह भी कमियों को निकालकर इस भव व अगले भव को सुधारेगा और धीरे-धीरे अंतिम लक्ष्य को प्राप्त करेगा।

आपको कुछ दिन पूर्व शास्त्रीजी ने बताया था कि साधु मुनि बनने का उपदेश देते हैं। मैं शंका दूर कर लूं कि या तो आप मुनि बनना चाह रहे हैं, यदि नहीं तो उदासीन तो बनो। धर्म ध्यान के लिए, समाधिमरण के लिए वर्तमान में उपयुक्त स्थान नहीं है। उदासीनाश्रम में उदासीनता के, परीषह, उपसर्ग के चित्र लगेंगे जहाँ भावों को निर्मल बनाकर आगे बढ़ सकते हैं। घर में, नसियां आदि में ऐसा सम्भव नहीं है। जिसके जीवन के अन्त में समाधिमरण नहीं, वहाँ जीवन भर के पूजा प्रक्षाल, धार्मिक कार्य विफल हो जाते हैं। यह समाधिमरण जीवन की अंतिम परीक्षा है, जो इसमें पास हो जाता है, वह दुख नहीं उठाता है। जिसकी समाधि हो जाती है, वह उत्कृष्टता से २-३ तथा जघन्य से ७-८ भव में मुक्ति पा लेता है। फिर उसको शारीरिक मानसिक चिंता नहीं होगी, जिनेन्द्र के तीर्थ से बिछुड़ना न होगा, जिनवाणी न छूटेगी, धार्मिक भावों का अभाव न होगा, सम्यग्दर्शन का अभाव न होगा।

अन्त में, यहाँ पर उदासीनाश्रम हो जाये तो अच्छा रहेगा। णमोकार मंत्र बोलते हुए जीवन निकलना चाहिए। उदासीनाश्रम से आध्यात्मिक लाभ उठाएँगे। जहाँ विषय कषाय सम्बन्धी बातें न होगी, पूजन-प्रक्षाल, स्वाध्याय, वैयावृत्य होगा, यह आदर्श की बात है। इसे उचित समझकर करोगे तो हो सकता है कि अन्त में आपके परिणाम मुनि बनने के हो जायें इससे चारित्र धारण करने वालों पर उपकार हो जायेगा। धार्मिक वृत्ति सुधर जाएगी, धन Govt.के Tax से बच जायेगा। नाम भी

हो जायेगा काम भी हो जायेगा, विश्राम भी हो जायेगा। चातुर्मास होकर भी उसकी परम्परा चले, ऐसा विशेष कार्य होना ही चाहिए। मैं आदेश नहीं दे सकता हूँ, पर उपदेश के द्वारा कह सकता हूँ इस काम में समाज मदद करें उपकार ही है। कहा भी है कि–

मरहम पट्टी बाँध के वृण का कर उपचार,
ऐसा यदि न हो सके, डंडा तो मत मार।

अगर मरहम पट्टी बाँध कर घाव का उपचार न कर सको तो डंडा तो मत मारो। विरोध अगर नहीं है तो भी एक तरह से मदद ही है। अतः ऐसा कार्य करो, जिससे सब आनन्द का अनुभव कर लें।

❑ ❑ ❑

त्याग में ही सुख है

इस संसारी प्राणी को दुख जो हो रहा है, उसका अभाव करना है। यह प्राणी मान रहा है कि खाने-पीने, धन वैभव, सत्ता आदि में सुख है, लेकिन इनमें सुख नहीं है। इसके द्वारा तो दुख का ही अनुभव करना पड़ता है।

दाम बिना निर्धन दुखी, तृष्णा वश धनवान।
कहीं न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान ॥

आचार्य महोदय जीवन में खूब अध्ययन कर, सिद्धान्त का मंथन कर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि "कहीं न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान"। इसको जीवन में उतार, संसार की असारता के लिए खूब अध्ययन किया और सार वस्तु के लिए जीवन समर्पित किया। आक्रमण दूसरों पर और प्रतिक्रमण अपने पर होता है। आक्रमण आत्मा को दुख में डालने वाला, आत्मा की निधि खोने वाला होता है। प्रतिक्रमण इससे उल्टा होता है। आक्रमण और प्रतिक्रमण दोनों शब्द क्रम को लेकर हैं। क्रम अर्थात् प्राप्त करना। उपसर्ग है और प्रति भी उपसर्ग अपने पर है। दोनों का खेल देखो। एक तरफ सिकन्दर बादशाह जो अनेक देशों को जीत कर भारत को जीतने का प्रयास कर रहा है और एक तरफ कल्याण मुनि हैं। जीत किसकी होती है, उसके पीछे आप को लगना है। हार की तरफ कोई नहीं होता है। जो जीतता है समीचीन उतरता है, उसकी ओर देखना है। सिकन्दर देश-विदेश को जीतकर दंभ से आगे बढ़ रहा है, उसकी इच्छा है कि सब पर राज करूँ, सब मेरे अधिकार में रहें। बहुत कुछ कत्ल-विनाश हो रहा है। उसने सुन रखा है कि भारत में धन व धर्म की कमी नहीं है, वह भारत की ओर बढ़ा, पर वहाँ धर्म की विजय हो गई। वहाँ जाता है, जहाँ व्यक्ति प्रतिक्रमण में संलग्न है। वहाँ जाकर कहता है कि क्यों दुख उठा रहे हो, जो मांगना चाहो सो मांगो। तो दूसरी

ओर वाले कहते हैं, जो स्वयं भीख मांगता है, जो आक्रामक है, वह दूसरों के दुख को नहीं मिटा सकता।

प्रतिक्रमण जहाँ है वहाँ दया, अनुकम्पा विद्यमान है। निर्भीक होकर भी व्यक्ति कुछ न कुछ बोध दे सकता है। एक तरफ सिकन्दर बादशाह और दूसरी तरफ कल्याणमुनि। आज टोटल में एक जीरो और बढ़ जाने पर चाल टेढ़ी हो जाती है। जैसे-जैसे धन बढ़ता है, व्यक्ति ऊपर देखने लगता, नीचे नहीं। सिकन्दर कल्याण मुनि को देखता है और सोचता है कि वास्तविक जीवन यही है। आत्मा की उत्कर्षता के लिए काम करे। शरीर, मकान नाम की उत्कर्षता के लिए नहीं। काल द्रव्य हरेक को अपनी चपेट में ले लेता है, उसे पुराना बना देता है। हम अपनी आत्मा को जो मटमैली है, उसे राग-द्वेष से सुरक्षित रख सकते हैं।

सिकंदर ने दुनियाँ को नहीं मारा, अपने आप को मारा। ज्यों ज्यों परिग्रह बढ़ता चला जाता है तो वह व्यक्ति स्वतन्त्र विचरण नहीं कर पाता है। दो पैरों से चलने में सुविधा है, चार पैरों से चलने में गतिरोध, छः पैर से चलने में कम गति और आठ पैरों से चलने में तो बहुत बाधा आती है। सिकंदर ज्यों ज्यों देश जीतता है, त्यों त्यों उसकी इच्छा बढ़ती जाती है, चिंता बढ़ती चली जाती है, वह रात दिन प्रयास करता है। पर बोध होने पर अन्तिम समय में वह कहता है, कि दुनियाँ यह शिक्षण ले ले, ऐसा कार्य न करे। और जब मेरे शव को ले जावे तब मेरे दोनों हाथ खाली बाहर रहे, ताकि जनता जाने कि बादशाह खाली हाथ जा रहे हैं। आते वक्त मुट्ठी बन्द पर जाते वक्त खाली हाथ, कुछ नहीं। आप सोचते हैं कि आते समय वह दरिद्र थे, जाते वक्त साहूकार है। यही भ्रम है। जाते वक्त दिगम्बर ही जाते हैं, घर वाले सब छीन लेते हैं। दिगम्बर जाना पड़ता है। आप स्वयं जीवन में अगर दिगम्बर नहीं बनोगे तो अंत में बना दिए जाओगे।

आप लोग समय-समय पर सुख की सामग्री समझकर बाहरी वस्तुएँ बटोर रहे हैं। पर आत्म तत्त्व को जानने वाले निस्पृही मुनिराज जो मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा रखते, बाल के अग्रभाग पर रखने योग्य परिग्रह को भी न रखते हैं, न रखाते हैं, न अनुमोदन करते हैं। महावीर ने परिग्रह को जहर बताया, जिसे आप अमृत मान रहे हो। अमृत और जहर में जमीन-आसमान, संसार-मुक्ति, स्वभाव-विभाव, प्रकाश-अन्धकार की तरह फरक है। जिसके त्याग हैं, वही वास्तविक सुखी है। जितना परिग्रह से दूर उतना ऊपर उठेगा। तुम्बी भी कीचड़ के सम्बन्ध से भारी होकर पानी के तले बैठ जाती है। इसी प्रकार बाहरी बातों को अपनाकर यह आत्मा संसार में भटक रही है। अगर इनको नहीं छोड़ता है तो लोक के अग्रभाग तक नहीं पहुँच सकता है। अगर इसके लिए कोशिश नहीं करता है, तो इसका मतलब सिद्धान्त का मंथन नहीं किया।

जेल में रहने वाले सभी दुखी नहीं होते हैं। जेल में कैदी दुख का अनुभव करते हैं पर अधिकारी [जेलर] सुख का अनुभव करते हैं। जेल एक ही है। पर जेलर चाहता है कि जेल न छूटे वहाँ Govt. उसके वेतन बढ़ाती है, तरक्की होती है। जेल दुख के लिए तथा सुख के लिए कारण है। जेलर अपराधी नहीं पर कैदी अपराधी है। परिग्रह रूपी अपराध के अपराधी दुखी हैं तथा परिग्रह छोड़ने वाला सुखी है। जब तक अपेक्षा है, तभी तक देने की क्रिया है, जब कोई इच्छा नहीं होगी तब मुनि बन जायेंगे। सुख को अभीष्ट बना रखा है, तो विचार करो सुख क्यों नहीं मिलता? त्याग में महान् शक्ति है, झूठे त्याग करने में भी जब सुख का अनुभव होता है, तब सच्चे त्याग के सुख का तो कहना ही क्या! इससे वास्तविक आनन्द स्रोत बहने लगता है, वह सुख का ही अनुभव करता है न कि दुख का। त्याग की महिमा ही आत्मा की महिमा है। त्याग ही की महिमा सर्वोपरि है।

ग्रहण में आक्रमण है और प्रतिक्रमण में वह, जो ग्रहण किया उसका विमोचन। यहीं से धर्म की रूप रेखा बनती है। ग्रहण ही ग्रहण करना धर्म से दूर होना है। मोक्ष मार्ग का प्रथम सोपान है कि ग्रहण किए पदार्थ को छोड़कर सब से माफी मांगते हुए ऊर्ध्वगमन करेंगे। पलड़ा ऊपर उठेगा, कोई दबाने वाला नहीं होगा। किन्तु दुनियाँ के लोग कीमत नीचे जाने वाले पलड़े की करते हैं, पर आध्यात्मिक दृष्टि में तो वह पत्थर की नाव के समान है। अतः हमारा पलड़ा हल्का होना चाहिए। जो मूर्च्छा है प्रमाद व अज्ञान के द्वारा कि बड़ा बनूं, उसे दूर करो। क्रमण उपसर्ग में 'आ' नहीं 'प्रति' लगाओ। दोषों का आह्वान सो आक्रमण और दोषों को छोड़ना सो प्रतिक्रमण है। अतः किसे अपनाना है, उसे आपको देखना है। आप लोगों ने इस पंचम काल में भी महावीर भगवान् की प्रभावना के लिए जो कदम बढ़ाया है, वह श्लाघनीय है। उसके लिए और भी प्रयास करो। हवा जिस समय चलती हो उस समय धान को साफ कर लेना चाहिए। अतः महावीर के नाम की हवा चली है। Government भी उनके उपदेशों से प्रभावित होकर इस काम में मदद कर रही है।

अतः अपनी शक्ति को इस ओर लगाकर महावीर के नाम को विश्व के सामने रख सकते हैं। शान्ति प्रस्तावित हो सकती है विश्व में। महावीर के संदेश के अनुसार पंच पापों से दूर रहकर दोषों का निराकरण कर महावीर की प्रभावना बहुत अच्छी तरह कर सकते हैं। ऐसा करने से जैनेतर समाज में भी महावीर की प्रभावना होगी। बूँद-बूँद से घड़ा भरेगा। प्रतीक्षा और प्रयास की आवश्यकता है। रुकना नहीं है। जहाँ रुके वहीं END है। समय-समय पर एकत्रित किया परमाणु भी कालान्तर में मेरु बन सकता है। बूँद-बूँद से सागर भी भर सकता है। अनेक बूँदों की समष्टि सो सागर। अतः समय-समय पर प्रयास करने पर महावीर की प्रभावना का कार्य बृहद् रूप धारण कर सकता है।

❑ ❑ ❑

बिन माँगे मोती मिले

भगवान् महावीर के निर्वाणोत्सव के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न स्थानों पर समारोह आयोजित होने से प्रभावना बढ़ती है। यहाँ पर भी महावीर के उपासकों ने भगवान् महावीर की स्थापना करने का निश्चय किया। समंतभद्राचार्य ने कहा है कि-

अपत्य वित्तोत्तर लोक तृष्णया,
तपस्विनः केचनकर्म कुर्वते।
भवान् पुनर्जन्म जराजिहासया,
त्रयीं प्रवृत्तिं समधीर-वारुणत् ॥

संसार के प्राणी भगवान् की उपासना किसी न किसी अपेक्षापूर्वक करते हैं। कुछ लोग संतान प्राप्ति के लिए, कुछ लोग वित्त वृद्धि के लिए, कुछ लोग समाज में प्रतिष्ठा पाने के लिए और कुछ लोग आगामी भव की आकांक्षा में यानि अगले भव में ज्यादा वैभव मिले इस अपेक्षा से भगवान की उपासना करते हैं। लेकिन समंतभद्राचार्य कहते हैं कि हे भगवन्! आपने उपरोक्त भावना को लेकर उपासना नहीं की अपितु भव का नाश करने, संसार की उलझनों को छोड़ने के लिए उपासना की। महावीर ने कर्म की विचित्रता के बारे में सोचा। कर्म का उदय है, तब तक मिलेगा, जब कर्म का अभाव होगा तब नहीं मिलेगा।

महावीर ने उस व्यक्ति को भक्त माना है जो वित्त वैभव के लिए, दूसरे जीवन की आकांक्षा से उपासना नहीं करता। आप लोग धर्म की ओट में भी वह काम करते हैं कि जिससे संसार की वृद्धि हो रही है। वित्त वैभव की वृद्धि के लिए उपासना चल रही है महावीर के सामने भी। एक सेठ के पास एक व्यक्ति कुछ मांगने गया, सेठ ने कहा जो चाहो वो मांग लो उस व्यक्ति ने मात्र रोटी माँगी। इसी प्रकार आप सोचो महावीर से हम क्या मांगे? दाता देने वाला तो है, पर पात्र नहीं। महावीर ने कहा कि तुम्हारे पास इतनी निधि (जल) है कि उसे ज्यादा खोदने की जरूरत नहीं, मात्र कचरा जो ऊपर लग गया है, उसे हटाना है। पानी बाहर नहीं, भीतर है। आपकी उपासना में इच्छा आकांक्षा न हो तभी वास्तविक वीतरागता, वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो जाएगा।

आज परिग्रह के पीछे जीवन इतना व्यस्त हो गया कि उपासना में भी विचारों की तरंगें चलती रहती हैं। मात्र कामना, खाना, पीना, सोना यही आप लोगों के सामने है। आप सोचते हैं कि महावीर जी में छोटे घड़े की नसियां में अथवा तिजारा में भगवान् की मूर्ति में चमत्कार है। लेकिन महावीर अथवा अन्य वीतरागी भगवान् कोई चमत्कार नहीं दिखाते। आज तक आपने उनके स्वरूप को समझा ही नहीं, महावीर को दुनियाँ से मतलब नहीं है। चमत्कार तो आप जैसे भक्त लोग दिखाते हैं और महावीर की प्रभावना करते हैं। नमस्कार चमत्कार के लिए नहीं। चमत्कार का बहिष्कार कर, विषयों का तिरस्कार कर, नमस्कार करें, इसी में कल्याण निहित है। ❑ ❑ ❑

पूर्णता मिले ऐसे

सम्यग्दर्शन के ८ अंगों में अंग अंगी का भाव अभेदपने को लेकर चलता है। सम्यग्दर्शन ८ अंगों से मिला हुआ अंगी नहीं है, बल्कि ८ अंगों (गुणों) का समूह सम्यग्दर्शन है। आप लोग गुणी बनना चाहते हैं, पर गुणों का समादर नहीं करते। सम्यग्दर्शन को तो मोक्षमार्ग में कारण मानते हैं, पर उसके ८ अंगों की उपेक्षा करते हैं। इन अंगों के द्वारा अवगुणों को दूर कर गुणों के भण्डार बन सकते हैं। जीवन विकास दो पहलुओं को लेकर चलता है, एक दाता बने या पात्र बने। इसमें महत्ता कम ज्यादा हो, इस ओर दृष्टि न करें। हरेक में प्राथमिक और निःसम्पन्न दशा दोनों होती हैं, दोनों का महत्त्व होता है। निर्विचिकित्सा अंग मुनिराज का निःसम्पन्न दशा को लेकर पलता है, परन्तु गृहस्थ का प्रारम्भिक दशा को लेकर पलता है।

हमारा जीवन कब सुधरता है तथा भावों का अधःपतन कब हो जाता है? इसके उदाहरण हैं यशोधर मुनिराज, चेलना रानी और राजा श्रेणिक। यशोधर मुनिराज लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं, शरीर से निसंग हैं, आत्मध्यान में लीन हैं। जीवन की महत्ता जिसने न जानी, ऐसे श्रेणिक राजा ने उनके गले में मरा साँप डाल दिया और सातवें नरक की ३३ सागर की उत्कृष्ट आयु का बन्ध कर लिया, लेकिन इधर यशोधर मुनिराज ने असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा कर ली। राजा ने जब यह बात (सर्प गले में डालने की) रानी चेलना से कही, तो रानी पर तो जैसे वज्र गिर गया हो, ऐसी दुखी हुईं क्योंकि वह निर्विचिकित्सा अंग को पालने वाली थी। वह राजा को वन में ले गई, उपसर्ग दूर किया और प्रणाम किया। महाराज ने दोनों को आशीर्वाद दिया। उस वातावरण को देखने पर श्रेणिक ने विचारा कि वास्तविक धर्म यही है, क्योंकि रानी को विशेष आशीष नहीं और मेरे लिए अभिशाप भी नहीं। उसने अपनी आत्मा को धिक्कारा, फिर विशेष परिवर्तन हुआ यही कि नरक की आयु कम हुई। आयु का अभाव नहीं होता। कहा है–

निंदा करे, स्तुति करे, तलवार मारे,
या आरती मणिमयी, सहसा उतारे।
साधू तथापि मन में समभाव धारे,
वैरी सहोदर जिन्हें इकसार सारे ॥

यह वीतराग दशा है, इसमें कौन बैरी, कौन मित्र? न कोई बन्धु, न कोई शत्रु। क्या अनुकूल क्या प्रतिकूल, क्या श्मशान क्या राजमहल ? सब समान है, कोई अन्तर नहीं। कोई आरती उतारे या तलवार मारे मुनिराज कोई फरक नहीं मानते, लेकिन करने वाले पर फरक जरूर पड़ेगा। दोनों में से एक का कार्य परमार्थ के रूप में तथा दूसरे का अनर्थ के रूप में होगा।

श्रेणिक राजा पर नास्तिकता के भाव हट गये और आस्तिकता के भाव जागे। आप लोग

अगर किसी व्यक्ति को खून से भरा देखेंगे तो आपका हाथ नाक की तरफ जायेगा, लेकिन उसका खून बन्द नहीं करेंगे। चेलना रानी ने उपसर्ग दूर किया। गृहस्थ की दृष्टि मात्र शरीर पर ही नहीं बल्कि शरीर से हटनी भी चाहिए। शरीर में कुछ व्यवधान या बीमारी आ जाये तो उसे न छोड़ते हुए शरीर की सुरक्षा करें। धार्मिक क्षेत्र में किसी प्रकार का बन्धन नहीं, अगर है भी तो उसे समीचीन बनावें, तोड़े नहीं। किन्तु आज लाइफ इंश्योरेंस होता है जिससे कोई मर जाये, चला जाये चिन्ता नहीं, पैसा तो मिल ही जायेगा। निर्विचिकित्सा का मतलब मात्र शरीर की सेवा ही नहीं है, बल्कि यह देखना है कि शरीर से सम्यग्दर्शन आदि पल रहे हैं या नहीं।

अष्टपाहुड में भगवान् कुन्दकुन्द ने बताया है 'दंसण मूलो धम्मो'। दर्शन, धर्म का मूल है। जो दर्शन से विहीन है, वह धर्म नहीं, वन्दनीय नहीं है। उसका वन्दन हो जो दर्शन से युक्त हो। दर्शन दो प्रकार का है। एक बाह्य दर्शन और दूसरा अंतरंग। अंतरंग दर्शन का आधार बाह्य दर्शन है। जिस प्रकार तेल रखने के लिए पात्र (आधार) चाहिए यानि तेल आधेय, पात्र आधार है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र धर्म है, इसका मूल दर्शन है। दर्शन क्या है ? दर्शन है यथाजात रूप। २८ मूलगुण पालने योग्य जो लिंग है, वह यथाजात रूप है। वीतरागता का दर्शन करें और यथाजात रूप न हो, यह तीन काल में नहीं हो सकता है। रानी ने सोचा कि मुनि महाराज का शरीर ठीक चलेगा तो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ठीक पलेगा, इसीलिए रानी ने शरीर के उपसर्ग को दूर किया। सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र का आधार यथाजात रूप है। सम्यग्दर्शन वन्दनीय है, उसके साथ वीतरागता दिगम्बर मुद्रा है, तभी बहिरंग दर्शन है। उसके बाद अंतरंग दर्शन होगा।

गृहस्थ के निर्विचिकित्सा अंग में मात्र शरीर सेवा नहीं, धर्म की सुरक्षा हो, तभी वह पात्र बनने की क्षमता रखेगा, वह उस प्रकार बन्ध करेगा, ताकि मोक्ष मार्ग में उपयुक्त सामग्री प्राप्त हो जाये। अमूर्त आत्मा की उपासना, उसमें विश्वास कर सके, इसके लिए आचार्यों ने बहुत परिश्रम कर विशद विवेचन किया। वे तो कृतार्थ हो गये, जब उसको जीवन में उतारेंगे, तब हम भी कृतार्थ होंगे। जो चारित्र अपनाने का विचार रखता है तो चारित्रधारी के पास जायेगा, उनकी सेवा करेगा, उनके आदर्श को जीवन में उतारेगा, तभी सुख का अनुभव करेगा। उसका अपूर्ण जीवन पूर्णता में परिणत हो जायेगा।

❑ ❑ ❑

अमूढ़दृष्टि बनें - ऐसे!

सम्यग्दर्शन के चौथे अंग अमूढ़ दृष्टि के बारे में समन्तभद्राचार्य ने बताया कि अपने विचारों का उपयोग किए बिना एक मार्ग को अपना लेने से अनेक कठिनाइयां आती हैं, क्योंकि अपना विचार भी अपेक्षित है। जब तक विचारों से सामने वाली वस्तु को नहीं तौलते, तब तक नहीं

अपनाते। तौलने के लिए समीचीनता चाहिए। इसके लिए कुछ तर्क, कुछ अनुमान, आगम, अपने से ज्यादा अनुभवी के विचार होना चाहिए। अमूढ़ दृष्टि सम्यग्दर्शन का महत्त्वपूर्ण अंग है। कापुरुष का मतलब कायर से है। पथ के पीछे कापथ लग जाना ठीक नहीं, समीचीन नहीं। वह मंजिल तक पहुँचाने वाला नहीं है। कापथ पर विश्वास व उसकी उपासना जो करता है, वह मूढ़ दृष्टि कहलाएगा। कहा भी है कि :-

मिथ्या दिशा पकड़ के जब तूं चलेगा,
गंतव्य स्थान तुझको न कभी मिलेगा।
कैसे मिले सुख भले दुख क्यों टलेगा,
रागाग्नि से जल रहा, चिर औ जलेगा ॥

वास्तविक बात यह है कि अमूढ़ दृष्टि को अपनाने पर राग गौण और वीतराग मुख्य हो जाएगा। तब आप रागी द्वेषी के वचनों पर विश्वास नहीं करेंगे, बल्कि वीतराग-विज्ञान पर विश्वास, श्रद्धा लाएँगे, क्योंकि इसमें छल नहीं है। सामने वाले की दृष्टि जब वीतरागता को लेकर है तो उसके विचारों को बिना संदेह के अपना लेंगे। वीतरागता की बातें आपको अच्छी लगेंगी। जो स्वयं भूखा है वह दूसरे को रोटी नहीं दे सकता, जो वीतरागी नहीं है, वह वीतरागता को नहीं बता सकता है। जो कोई पुरुष रागी, द्वेषी, कपटी, मोही, मायावी है, वह तीन काल में भी रास्ता नहीं बता सकता है। रास्ता तो वीतरागी, सज्जन, सत् पुरुष ही बता सकते हैं। उनके बताये रास्ते को अपनाएँगे तो अमूढ़ दृष्टि को अपनाएँगे। सज्जन पुरुष के वचनों में विश्वास रखना अन्धविश्वास नहीं है, बल्कि इससे समीचीनता आती है। ऐसा कौन-सा विद्वान् है जो परोक्ष में तत्त्व का विश्वास रख कर प्रत्यक्ष में हाथ में रख कर दिखा सके? वह तो विश्वास रखकर ही अनुभव कर सकते हैं।

शब्दों पर सर्वप्रथम विश्वास रखो। विदेह क्षेत्र में भी जो प्रवचन होता है, वही यहाँ पर भगवान् कुन्दकुन्द ने संकलन किया है। वहाँ जाकर ही आप सुनेंगे, पर पुरुषार्थ तो करना ही होगा। विश्वास सर्वप्रथम परोक्ष में होता है। प्रत्यक्ष में तो अनुभव होता है। अमूढ़दृष्टि का मतलब राग द्वेष, सांसारिक बातों पर विश्वास नहीं होना। सुख के लिए सरल रास्ता है। पर आपको विश्वास ही नहीं। विश्वास हो जाये तो अन्दर की लहर बाहर आ जाएगी। आप दर्शन के लिए बाहर की ओर झाँक रहे हैं, पर आप अन्दर की ओर झाँक लो। वास्तविक दिग्दर्शन बातों में नहीं होता, उसके लिए निडर होने की जरूरत है। जहाँ थोड़ा परीषह उपसर्ग आ जाये तो आप घबरा जाते हैं। यह परीक्षा की चीज है। तेरा माल तो तेरे पास है, पर उसका स्थान भूल गया है, वह कहाँ से आएगा, ये भी तुझे पता नहीं है। मृग कस्तूरी ढूँढ़ने के लिए जंगलों में दौड़ता है पर उसे पता नहीं कि वह तो अपनी नाभि में है। आपने आज तक उस वस्तु को देखा ही नहीं, वीतरागता पर विश्वास लाए नहीं। रागी-द्वेषी की

अनुमोदना, सेवा, स्तुति, उपासना नहीं करने से सुख की प्राप्ति होगी। कापथ राग-द्वेष, संसार को बढ़ाने वाला सत्पुरुष नहीं, का पुरुष है, निंदक है। आप में अनादिकाल से अमूढ़दृष्टि आई ही नहीं।

वीतरागी के वचनों में विश्वास करने से राग गौण हो जायेगा। वीतरागता की उपासना चालू करने पर तो वीतरागी बनने में देर नहीं। मिथ्या दिशा को पकड़ने से मंजिल नहीं मिलेगी, चलते ही रहोगे। कर्मों के ईंधन को लेकर अग्नि जला रहे हो। अग्नि बुझाने के लिए पानी डालना पड़ेगा तथा ईंधन हटाना पड़ेगा। तप के द्वारा निर्जरा होती है, पर कथंचित् संवर से भी निर्जरा होती है। तृण रहित स्थान पर आग गिरने पर बुझाने की जरूरत नहीं है। यदि वीतरागता में विश्वास रखेंगे तो राग-द्वेष, मोह-माया के कर्म धीरे-धीरे निकल जायेंगे। रागी, द्वेषी, संसारी का विश्वास मत रखो। वीतराग मुद्रा को धारण करने वाले मुनिराज विषय-कषायों, राग-द्वेषों, परिग्रहों से दूर रहते हैं, वे कुछ नहीं चाहते। मात्र समीचीन रास्ता बताएँगे, सुख का रास्ता बताएँगे।

वीतरागता में, न डर है, न डराने की जरूरत है। मुनिराज जब प्रवृत्ति को छोड़कर निवृत्ति में तल्लीन हैं, आत्म तत्त्व में चित्त है, तो सिंह से भी नहीं डरेंगे न डराएँगे। जब प्रवृत्ति करेंगे, विहार करेंगे तो मार्ग में सिंह जिधर से आ रहा है, उससे दूर होकर निकलेंगे। आप तो (मुनिराज तो) सिंह से नहीं डरते, पर आपकी मुद्रा से वह डर जाये। प्रवृत्ति के समय पास नहीं जायेंगे उस समीचीन रूप से मन, वचन, काय को रोक लेंगे तो भय प्रकृति की उदीरणा नहीं होगी और मृग/हिरण भी इसी कारण खाज खुजा लेते हैं। बनती कोशिश वीतरागता की उपासना कर प्रवृत्ति को रोक कर निवृत्ति अपनाकर डरना व डराना नहीं चाहिए।

मुनिराज चाहते हैं कि दुनियाँ का कल्याण हो, वे चाहते हैं कि अनन्तकाल से प्राणी दुख उठा रहे हैं। इसका कारण रागी, द्वेषी पर विश्वास है। यही इनकी मूढ़ दृष्टि है। प्रयोजनभूत तत्त्व अतींद्रिय सुख के बारे में वीतरागी पर विश्वास हो। संसार के कार्यों की बात अलग है। वीतराग देव शास्त्र गुरु पर विश्वास अमूढ़दृष्टि है। परमार्थिक क्षेत्र में रागी, द्वेषी पर विश्वास नहीं होना चाहिए। वे रागी द्वेषी तो स्वयं अधर है, उनके पैर धरती पर नहीं टिकते वे दूसरों को क्या उठाएँगे। जो खुद दुखी हैं वह दूसरों के दुख कैसे मिटायेगा, यह अन्धविश्वास नहीं है। ऐसा विचार होना चाहिए कि इस विषम स्थिति में भी अनादिकाल से राग द्वेष को हम नहीं छोड़ रहे हैं और ऐसे योगीराज भी है जो राग द्वेष छोड़कर आत्म तत्त्व में लीन हैं। ऐसा एक बार विचार ध्यान हो जाये, ऐसा विश्वास हो जाये तो वह भी कालांतर में वैसा वीतरागी बन जायेगा। जो दृष्टि में माया घुसी पड़ी है, उसे हटाकर उसमें समीचीनता लानी है, तभी आपका कल्याण हो सकता है।

❑ ❑ ❑

उपगूहन अंग

सम्यग्दर्शन के ४ अंगों के बारे में संक्षेप में वर्णन आपने समझा। पाँचवाँ अंग है, उपगूहन, इसका अर्थ है छिपाना। संसारी जीव सुख चाहता है, दुख दूर करना चाहता है। अपने अन्दर में विकास तब होता है, जब दूसरों के दोषों को न देखें और गुणों के ग्राह्य बनें। दुनियाँ के दोष सामने लाना, अपनी मूर्खता है। हम अनादि काल से दूसरे के दोष देखते आये हैं, पर ऐसा नहीं सोचते कि दोष हम सभी ने किए हैं। संसारी दूसरों के दोषों को ढूँढ़ता है। पर जो संसार की ओर पीठ कर दे, अपने दोषों को न छिपाकर दुनियाँ के सामने आलोचना निंदा के द्वारा रखे तथा दूसरे के दोष छिपावे यही उपगूहन अंग है। गुणों की उपलब्धि के लिए भगवान् को नमस्कार किया जाता है। लेकिन गुणों को नहीं चाहते हुए दोषों का भण्डार बन जाते हैं। यही अनादि से परिणति हो रही है। कहा है कि :–

दुर्जन स्वभाव तुम सुनो कदलीवन में ऊँट।
जैसे रसाल छोड़ के ढूँढे बबूल ठूँठ ॥

काँटे को खाने वाला ऊँट रसाल को नहीं खाता, यह उसका स्वभाव बन गया। काँटा चुभ जाये तो परवाह नहीं, उसे उसी में रस आता है। दुर्जन व्यक्ति ने भी टेढ़ी चाल को अपना रखा है, वह अपनी निधि को नहीं खोजता, प्रयोजनभूत तत्त्व की गंध को नहीं पकड़ता। हम दूसरों की कमियों को, दोषों को ढूँढते हैं। छद्मस्थ में तो कमियाँ रहेंगी ही, क्षयोपशम ज्ञान के द्वारा गल्तियाँ तो होगी आप गल्तियों को छोड़ दो। कदलीवन की सुरक्षा के लिए काँटों की बाड़ तो लगायेंगे। जब तक छदमस्थ है तब तक दोष रहेंगे। छद्मस्थ अवस्था से छूटना चाहते हो और केवल ज्ञान की ओर प्रयास करना चाहते हो, तो उपगूहन अंग को पालें। श्रुतज्ञान को, उपगूहन को अपना लेंगे तो ज्यादा दिन संसार नहीं रहेगा। उपगूहन दोषों का निवारक होता है ग्राहक नहीं रहता। आप लोग कटाक्षों के भय से सिद्धान्त को छोड़ देते हैं पर दुख को नहीं छोड़ते। आपको सुख इसलिए नहीं हो रहा है क्योंकि आप अपनी बात रखने के लिए क्रोध, लोभ, भीरुत्व, हास्य को अपना लेते हैं। इसे छोड़ने पर सत् की प्राप्ति होगी। हमारी दृष्टि मात्र दोषों की ओर है, उपगूहन अंग की ओर नहीं। छद्मस्थ अवस्था में वही विद्वान् है जो सिद्धान्त के अनुरूप चल कर दोषों को न अपनाते हुए श्रुतज्ञान को रखता है।

श्रुतज्ञान केवलज्ञान तक पहुँचाने वाला माध्यम है। चर्म चक्षुओं के द्वारा दोष और पर्यायें सामने आती हैं पर ज्ञान चक्षुओं द्वारा पर्यायों के अलावा निर्विकार रूप भी सामने आता है। श्रोता वह नहीं है जो जोंक की तरह खराब खून को चूस लेता है, अच्छे खून को नहीं छेड़ता। श्रोता वही जो खराब चीजों को छोड़कर असली चीजों को पकड़े। हंस के समान बने, जो दूध-पानी के मिश्रण में

पानी को छोड़कर शक्ति के द्वारा दूध को ग्रहण करता है। इसी प्रकार श्रोता दोषों को टालते हुए उपगूहन को अपनावे। हेय उपादेय की शक्ति श्रुतज्ञान में है, श्रुताज्ञान में नहीं। चलनी के पास आटा नहीं रहता, भूसा रहता है। अतः चलनी न बनो। आटे रूपी गुण को आप ग्रहण कर लें और जो दोष रूपी भूसा है उसे छोड़ दे। यह बात जब होगी, तभी जीवन में विकास होगा।

ऐसा कोई व्यक्ति संसार में नहीं जो गुणवान ही हो। जो गुणवान ही है वह संसार से ऊपर उठा होगा, संसार में नहीं रहेगा। कुछ न कुछ कमियाँ सब में हैं। भगवान् कुन्द-कुन्द भी कहते हैं कि मुझमें भी कमियां हैं। पर दोष के प्रति दृष्टि नहीं है। दोष की तरफ दृष्टि न होना भी संवर है। जब आस्रव आएँगे नहीं तो निर्जरा के लिए देर नहीं। आने वालों की सीमा नहीं होती आए हुए की सीमा है। अनन्त का जो तांता है उससे डरना है। संवर के तत्त्व के साथ उपगूहन होता है। संवर तो आपका भी हो रहा है पर गुणों का संवर और दोषों का आस्रव हो रहा है। अतः दोषों का संवर और गुणों के आस्रव की आवश्यकता है। निर्दोषी और अदोषी में अन्तर है। भगवान् को वीतरागी कहा है, अरागी नहीं। निर्दोष होने के लिए उपगूहन की आवश्यकता है। हमारी ऊँट की तरह चाल है। हम केले के वन की ओर न देखकर बबूल की ओर देखते हैं। हाथी के समान बनो जो केले को खाता है। संसार में रहते हुए वीतरागी मुनि हाथी के समान केले का रसास्वादन करते हैं, काँटों की ओर नहीं देखते। कहा भी है-

संवेदना स्वयं की कितनी अनोखी,
तू एक बार उसको चख देख चोखी।
सारी व्यथा सहज से पल में मिटेगी,
आरोग्य पूर्ण नव चेतना मिलेगी ॥

एक बार आत्मा के बारे में विचार करें तो काँटों का अनुभव नहीं होगा, वहाँ शूल नहीं रहेंगे। त्रिशूल सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र होगा। हमने आज तक अपनी निधि का आस्वादन, संवेदन, साक्षात्कार नहीं किया। गुणों की गवेषणा करो अब तो, ताकि बेड़ा पार हो जाये। सबसे ज्यादा समय दोषों के अन्वेषण में लग रहा है, गुणों के अन्वेषण में नहीं। जब गुणों का अन्वेषण होगा तो वस्तु तत्त्व की ओर चले जायेंगे। जब गुणों का समादर करोगे तो हर-एक व्यक्ति के गुण आएँगे। दोषों की ओर दृष्टि नहीं होगी तो समय भी ज्यादा खर्च न होगा। हम अपने आपको उच्च, उच्चतर, उच्चतम बनाना चाहते हैं पर बंध नीच गोत्र का करते हैं। क्योंकि दोषों को अपनाते हैं, दूसरों की निंदा करते हैं। हमें हंस के, हाथी के समान बनना है, ऊँट, जोंक, चालनी के समान नहीं बनना है। उच्च गोत्र में बाहरी निमित्त भी पड़ता है। दूसरे को दोषी बनाना, निंदा करना, अपनी निंदा करना है। दूसरे की ओर दोषों के लिए एक उंगली उठाने पर चार उंगलियाँ अपनी ओर उठती हैं।

महावीर भगवान् मौन रहे। मौन का मतलब स्वीकृति नहीं। ''मौनम् सम्मत्ति लक्षणम्'' नहीं, बल्कि ''मौनम् सन्मति लक्षणम्'' है। उन्हें कोई गधा या पागल भी कह दे तो भूत नैगम संज्ञा की अपेक्षा से गधा पागल कहना ठीक ही है, ऐसा विचारा। इन सभी विकारों से हटकर उन्होंने संवेदना को जीवन में उतारा तो दुख, आपत्तियाँ क्षण भर में टल गयी और अनन्त सुखी बने। स्वसंवेदन अनोखी चीज है। सुख की व्याप्ति विषयों के साथ नहीं स्वसंवेदन में है। विषयों में पञ्चेन्द्रिय विषय के अलावा तथा इनसे बड़ा 'मान-सम्मान' भी विषय है। इससे ऊपर उठने पर स्वसंवेदन है। गुणों का अन्वेषण करने पर सम्यग्दर्शन निर्मल, निर्मलतर निर्मलतम् होगा अनन्त काल तक विश्राम होगा, सुख का अनुभव होगा। स्वसंवेदन में क्षणिक सुख नहीं अनन्त समय तक सुख है, कोई व्यथा नहीं। समय धीरे-धीरे जा रहा है, पूर्ण जीवन को वृथा न खोओ जरा (वृद्धावस्था) में कषाय तृष्णा तो बढ़ेगी पर इन्द्रिय क्षमता नहीं रहेगी। अत: अब चेत जाओ और शेष जीवन को संयम में, गुण ग्राहकता में बिताओ।

❑ ❑ ❑

स्थितिकरण ! सो क्या ?

प्राज्ञ का अर्थ विशेष रूप से जानने वाले यानि विद्वान्, पण्डित, ज्ञानी है। सम्यग्दर्शन के छठे अंग स्थितिकरण की सुरक्षा ज्ञानियों के द्वारा होती है। स्वयं की स्थिति को सम्भालते हुए दूसरे को स्खलित होते समय ऊपर उठावे, यही विद्वानों का काम है। नीचे गिरे को ऊपर उठाना ही वास्तविक काम है। उसके लिए पूरी शक्ति लगानी पड़ती है, अपने पैरों को मजबूत रखना पड़ता है। विद्वान् वह है, जो शक्ति न होने, प्रमाद से अथवा अज्ञान की वजह से नीचे गिर रहा है, उसे निष्प्रमादी होकर ऊपर उठावे। प्राज्ञ धर्म के साथ सम्बन्ध रखता है। स्खलन अधर्म है, स्थिति धर्म है। प्राज्ञ स्थिति को चाहता है, स्खलन को नहीं। गिरा व्यक्ति वह है जो उठ रहा था-पर नीचे गिर गया। ऊपर उठते हुए नीचे गिर गया, उसे ज्ञानी ही ऊपर उठायेगा। प्रागभाव और प्रध्वंसा भाव, ये दोनों हुआ करते है। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जिसके समय-समय पर भावों में परिवर्तन नहीं होता रहता है। संयम को अपनाने वाले व्यक्ति के भावों में भी परिवर्तन हो सकता है, अज्ञान व प्रमाद से।

पास होने की चेष्टा करने वाला व्यक्ति फैल (नापास) भी हो जाता है, पर वह उस व्यक्ति से तो अच्छा है जो परीक्षा में बिल्कुल नहीं बैठता। नापास को भी विषयों में नम्बर मिले, यूं कह सकते हैं, जितने चाहिए उतने न मिले। M.A. में एक छात्र फैल हो गया तो वह M.A. की अपेक्षा नापास है पर B.A. की अपेक्षा से तो पास है। वह दुबारा प्रयत्न करके पास हो सकता है। थोड़ी कमी को दूर करने के लिए ज्यादा समय की जरूरत नहीं। सप्लीमेंट्री वाले छात्र को साल भर

तक पढ़ने की जरूरत नहीं, महीने २ महीने में परीक्षा देकर पास हो सकता है। भावों में परिवर्तन आते ही हैं। जो ऊपर उठता है वह किसी न किसी आदर्श को लेकर उठता है। जो आदर्श नहीं रखता, वह एक दृष्टि से गिरा हुआ ही है। ज्ञानियों की उपयोगिता ज्ञानियों के लिए नहीं बल्कि अज्ञानियों के लिए है। जिसका मुख स्वच्छ व साफ है, उसके लिए दर्पण की जरूरत नहीं, दर्पण की कीमत वहाँ है, जिसके मुख पर कालिमा है। सामर्थ्य जिसके पास है वह स्खलित के सामने आदर्श उपस्थित करे। परिणामों में स्खलनता व विकास जल्दी-जल्दी होता है।

व्यक्ति एक अन्तर्मुहूर्त में मिथ्यात्व को पार कर सिद्धालय में विराजमान हो सकता है। परिणामों की बड़ी विचित्रता है। अतः हमेशा जागृत रहना चाहिए। पता नहीं किस समय प्रमाद के वश पतन हो जाये और जागृत होने पर विकास हो जाये। दीक्षा, नियम दिये नहीं जाते, लिए जाते हैं। हृदय में भाव जागृत होने पर व्यक्ति दीक्षा लेता है। एक राजा ने सात बार दीक्षा ली और सात बार वापस घर चला गया। आठवीं बार दीक्षा लेते ही पाँच मिनट में ही ऐसे भाव हुए कि केवल ज्ञान प्राप्त हो गया। चार पाये को तो आप बाँध सकते हैं, पर दो पाये को नहीं बाँध सकते। चौपाये के भी गले में पट्टा ही तो बाँध सकते हैं, पर विचारों को तो नहीं बाँध सकते। जीव ने अनन्त बार शादी की है। राजा ने अगर सात बार घर जाकर शादी की तो सात बार दीक्षा भी तो ली और प्राग्भाव, प्रध्वंसाभाव के द्वारा अनन्त संसार का छेद किया।

आत्मा की शक्ति अलौकिक है, अतींद्रिय है, पौद्गलिक नहीं। केवलज्ञान अनन्त लोकाकाश के ज्ञान को भी हजम कर लेता है। यह ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति आप सबमें है। कोई छोटा बड़ा नहीं है। पर्याय क्षणिक है। विशेषण पर्यायों में है अन्दर में नहीं। अन्दर सब समान है, ऐसा विचारने पर ही स्थितिकरण अंग अपनाएँगे। पुरुषार्थ करके भावों को स्थिर करो दृष्टि स्खलन की तरफ न रखो। स्खलित होना विद्वान् का काम नहीं। दूसरों को भी स्थितिकरण में रखो। गिरना नहीं है, चलते रहना है। इससे विद्वत्ता, ज्ञान सामने आता है। धर्म के साथ वात्सल्य, प्रेम रखने वाला दूसरे को कभी भी मिथ्या दृष्टि देखना पसन्द नहीं करेगा। उसकी यही दृष्टि होगी कि दूसरा ऊपर उठे उसकी दृष्टि समीचीन बने। इसके लिए पुरुषार्थ करना है। दृष्टि पर आई हुई मलिनता को पुरुषार्थ से दूर करना है। अभव्य तथा भव्य तुम्हारी दृष्टि में नहीं। गुरु वही है जो आगे बढ़ रहा है। भगवान् ऋषभनाथ बैठे रहे और पोता उनका सिद्ध हो गया। अतः कौन ऊँचा कौन नीचा है? ऐसा विकार स्खलन के लिए कारण है।

त्रैकालिक सत्ता को देखो, हरेक में वही सत्ता है, हरेक विकास कर सकता है। सब अंगों में स्थितिकरण सबसे बड़ा है। सम्यग्दृष्टि जब किसी का अनन्त संसार विच्छेद होता देखेगा तो आनन्द मनाएगा। स्थितिकरण में अपना व दूसरे का भी भला है। नीचे गिरे को उठाने पर सब प्रशंसा करेंगे।

अगर दूसरे का स्खलन दूर न कर सको तो अपना स्खलन तो दूर करो। अपने द्वारा अपना इलाज हो जाने पर दूसरे की ओर दृष्टि होगी। जीव का साधर्म भाई जीव ही है, धन वैभव नहीं। सबसे बड़ा वह है जो दर्शन ज्ञान, चारित्र से स्खलन को प्राप्त हो रहे अन्य व्यक्ति को हिम्मत बंधा दे, स्थित कर दे, रोक दे। जहाँ स्खलन है, वहाँ मदद की जरूरत है। दर्शन से गिरकर जो अनन्त को बढ़ा रहा है, उसे मदद करना है। धन के अभाव में आज कल के व्यक्तियों का धर्म निभाना मुश्किल है। कहा है कि गृहस्थ के पास कोड़ी नहीं तो कोड़ी का है (किसी काम का नहीं) और साधु के पास कोड़ी है तो कोड़ी का है (साधु किसी काम का नहीं)। गृहस्थ में धर्म की जरूरत है तो धन की भी जरूरत है। आज धन के अभाव में कई व्यक्ति धर्म छोड़ चुके हैं। धन के अभाव में जो धर्म से च्युत हो रहा है। उसको देखकर के धनवान व्यक्ति उसकी मदद नहीं करता तो वह भी पापी है। टार्च से दूसरे को रोशनी दिखाने पर कमी नहीं आती। धन जो पुण्य के द्वारा प्राप्त किया है, अपने काम के साथ दूसरे के काम आ जाये दूसरा धर्म पर टिक जाये। यही धन के द्वारा स्थितिकरण अंग को सुरक्षित रखना है।

❑ ❑ ❑

वात्सल्य अंग

आज सम्यग्दर्शन के वात्सल्य अंग के बारे में विचार करना है। जब संसारी प्राणी एक दूसरे से परस्पर प्रेम भाव रखता है, अर्थात् जीव जीव को पहचानता है वास्तविक दृष्टि से जान लेता है वह सम्यग्दृष्टि हो जाता है। यह पहचान मात्र शब्दों से नहीं, अन्दर से हो। जब सम्यग्दृष्टि तत्त्व चिंतन में लगता है, तब उसकी दृष्टि में कोई भी जीव किसी भी रूप में आ जाये तो भी वह विरोध भाव नहीं रखता। चाहे वह अनिष्ट करने वाला हो तब भी वह सब जीवों में मैत्री भाव रखेगा। जिस प्रकार सूर्योदय को देखकर कमल खिल जाता है उसी प्रकार वह गुणवान को देखकर उल्लास, आनन्द मनाएगा। ईर्ष्या भाव कदापि नहीं रखेगा, क्योंकि ईर्ष्या की तरफ दृष्टि होने पर गुण छूट जाते हैं। और दुखी, संत्रस्त, अनाथ, भयभीत को देखकर करुणा भाव धारण करेगा। वह सोचेगा कि यह भी जीव है, अपने स्वभाव से विमुख है, अतः इसे भी सुखी बना दूँ, दुख दूर कर दूँ। इसके लिए वह खुद न दुखी होता न खुश होता है, वह ऐसी प्रक्रिया करेगा कि दुखी का दुख दूर कर देगा। रोने वाले के साथ रोने के बजाये उसे धीरता बंधावेगा, अभय देगा।

जो प्रतीक है उसके बीच में हाथ दिखाया है। हाथ भय का प्रतीक भी है तो अभय का प्रतीक भी है। हमें दुखीजनों को देखकर वास्तविक दुख को मिटाना चाहिए। मानसिक और शारीरिक दुख तो है ही, पर एक आध्यात्मिक दुख भी है। इस आध्यात्मिक दुख के कारण ही संसारी प्राणी अनादि से दुखी है। जहाँ तक बन सके, तन मन धन से यथा योग्य सामने वाले के दुख को दूर करें, यही वात्सल्य अंग है। इस अंग को अपनाने वाले की दृष्टि ऐश आराम, तन-धन की ओर नहीं होगी

पर दूसरे के दुख को दूर करने की ओर जायेगी। वह रुदन करने वाले का रुदन बन्द करेगा, अभय दान देगा, उसे वास्तविक ज्ञान प्राप्त करायेगा। आत्मा की ओर दृष्टि जाएगी।

जीव दूसरे जीव को तब देखता है, जब वात्सल्य को अपनाता है। 'उपयोगो लक्षणम्' कहने से दुख दूर नहीं होगा। उपयोग खराब भी तो हो जाता है। आप पुत्रों, रिश्तेदारों से वात्सल्य करते हैं, वह वात्सल्य नहीं है, क्योंकि वहाँ पाने की अपेक्षा लगी है। जहाँ अपेक्षा है, वहाँ वात्सल्य नहीं, मोह है, स्वार्थ है, मोह की परिणति है। कसाई बकरे को खिलाता है, पिलाता है, वह वात्सल्य नहीं, क्योंकि एक महीने बाद उसे काट देगा। मोह के साथ अपेक्षा के साथ कोई कार्य न होकर वात्सल्य, करुणा के साथ हो। करुणा शारीरिक या वाचनिक नहीं है, यह जीव का एक भाव है। करुणा के अभाव में मोह पैदा होता है और मोह के अभाव में करुणा जागृत होती है। कहा भी है कि :-

रग रग से करुणा झरे, दुखी जनों को देख।
चिर रिपु लख ना नैन में, चिता रुधिर की रेख ॥

आज तक वास्तविक रूप में हमारे अन्दर करुणा बही ही नहीं दुखी जनों को देखकर के। वह करुणा ऊपर से नहीं अन्दर से होनी चाहिए। मोह के साथ सम्बन्ध नहीं होना चाहिए, बल्कि करुणा वात्सल्य के साथ हो। दुनियाँ मर जाये, मेरी पूर्ति हो यह स्वार्थ परायणता है। सीता के वियोग में राम रोने लगे, क्योंकि पाणिग्रहण करते समय प्रतिज्ञा की थी, एक दूसरे की रक्षा करेंगे, एक को दुखी देखकर, दूसरा भी दुखी होगा। यह एक सम्बन्ध है, किन्तु आज तो धन से सम्बन्ध होता है, आत्मा के साथ नहीं। सम्बन्ध होना चाहिए विकास के लिए, विषय तो कुछ समय के लिए आपेक्षित हो सकते हैं।

राम ने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक शरीर में प्राण होंगे, तब तक सीता की सुरक्षा करूँगा, इसीलिए राम दुखी हुए। आज भी वैसी प्रतिज्ञा तो होती है, पर वैसा भाव नहीं होता। विषयों में रच पच जाते हैं, विषय ध्येय बन जाते हैं, ऐसा होने पर वात्सल्य भाव नहीं होता। माँ (गाय) चाहती है कि बछड़ा ज्यादा दूध पीले ताकि जल्दी जल्दी बड़ा हो जाये, पर आप चाहते हैं कि दूध ज्यादा न पी ले। चेष्टा दोनों की अलग है। वात्सल्य वास्तव में गाय के पास है। जब विषयों को ध्येय नहीं बनाते हैं, तब जीव के विकास की ओर दृष्टि जाती है, दूसरे की सुरक्षा करते हैं, जब ऐसा नहीं है तो कसाई के समान है। दूसरा भले ही मर जाये, पर अपनी सुरक्षा हो। दूसरे को दुखी देखकर करुणा भाव अवश्य जागृत होना चाहिए। आप भोजन जरूर करें, पर आपके भोजन से दूसरा भूखा न मरे। आप सोचें कि मुझे खाना भी है, पर दूसरे को भी खाना है, यह सम्यग्दृष्टि का लक्षण है। ऐसा नहीं कि सारा खाना मैं ही खा लूँ। कितना भी खा लोगे तो भी शाम को भूख लगेगी ही।

रावण सीता को, उसके अन्दर की पीड़ा को नहीं देखता था, वह उसके शरीर को, रूप को देख रहा था। जब वात्सल्य हो जाता है तो जीव शरीर को नहीं, उसके अन्दर के भाव देखता है। धन तो जड़ की पर्याय है। धर्म वात्सल्य, चेतन की पर्याय है। राम के मन वचन काय से जो भाव जागृत हो रहे थे, वे भाव रावण के नहीं थे। जब अन्दर दुख होगा तो दुख बाहर आएगा। आत्मा दुखी होगी तो शरीर सूखने लगेगा। अन्दर आमोद-प्रमोद है तो दुखी नहीं होता। शारीरिक चेष्टा को देखकर ही करुणा नहीं, भावों में करुणा हो। जहाँ करुणा है, वहाँ कुछ न कुछ अंश में मोह का अभाव है। गृहस्थ में भी मोह का अभाव जरूरी है, तभी जीव का परित्राण होगा। तत्त्वों में मुख्य तत्त्व जीव है, जब उसको जान लेंगे तो वास्तविक करुणा होगी, यही तत्त्वार्थ श्रद्धान है। सम्यग्दर्शन की प्रादुर्भूति तो सातवें नरक में भी होती है। सम्यग्दर्शन से नरक, तिर्यञ्च, देवों में क्या हो रहा है ? यह नहीं देखना है। गृहस्थ को अपने को देखना है।

कोई भी जीव चाहे वह राजा हो या महाराज हो, मिथ्यादर्शन के साथ ही मनुष्य गति में जन्म लेगा, बाद में सम्यग्दर्शन को अपनाता है। धन से शरीर से वात्सल्य नहीं होता है। शरीर के साथ तो बहुत वात्सल्य सेवा की, पर शरीर करुणा वात्सल्य को नहीं जानता। करुणा का अनुभव करने वाला आत्मा है। अतः आत्मा पर, जीव पर करुणा करो। हरेक जीव वास्तविक तत्त्व को जान सकता है, केवलज्ञान को प्राप्त कर सकता है। सभी परिवार, देश व संसार के लोग क्षेम का अनुभव करें। उपदेश जीव के लिए है, पुद्‍गल के लिए नहीं। आचार्यों ने जीव को पहचानने की कला इतनी मजबूती से दिखाई, जो प्रयास किया, वह श्लाघनीय है। जो ज्ञान धारा पुद्‍गल की ओर थी उसे अपने नियंत्रण में किया। अन्धे बहरे को भी सुनाकर, अनुभव कराकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त कराया। किसी को समझाना तब कठिन हो जाता है, जब उसके समझने योग्य इन्द्रियाँ न हों। मोह से जो पागल है, उनको भी आचार्यों ने सीख दी।

लेकिन हम अपने आपको डेढ़ अक्कल वाला समझते हैं। हम सब कुछ इन्द्रियाँ व शाब्दिक ज्ञान को प्राप्त करके भी मोह नींद में सोये हुए हैं। जागते हुए भी नहीं चेतते। एक बार झलक पा लोगे तो बेड़ा पार हो जाएगा। इस जीव ने अनादि से उल्टी परिणति को अपना रखा है, यह अध्यात्म रस से दूर रहना चाहता है। आचार्य महोदय येन केन प्रकारेण उसे अध्यात्म रस पिलाना चाहते हैं। एक अंग को भी आप अपना लेंगे तो धीरे-धीरे सब अंग आ जाएँगे और सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जायेगा। यह विषय कषाय को गौण करने पर प्रादुर्भूत होगा। अनन्तानुबन्धी का अभाव होने पर होगा। इसे प्राप्त कर लेंगे तो कल्याण हो जायेगा।

❑ ❑ ❑

प्रभावना ! हो ऐसे

सम्यग्दर्शन का आठवां एवं अन्तिम अंग प्रभावना है। धर्म की प्राप्ति के लिए विशेष तौर से जो प्रयत्न किया जाये, उसका नाम प्रभावना है। जिस प्रकार शरीर की स्थिति के लिए अन्न-जल, वस्त्र जरूरी है, उसी प्रकार जीवात्मा के जीवन को चलाने के लिए उसके योग्य खुराक मिलनी चाहिए। मनुष्य के जीवन के लिए केवल अन्न-जल आदि ही जरूरी नहीं है, इनसे तो शरीर की सुरक्षा हो सकती है। किन्तु आत्मा का जीवन उसके योग्य भाव मिलने पर चलता है। आज तक हमने शरीर पुष्ट होने के लिए तो भावना भाई पर प्रभावना नहीं चाही। प्रभावना में शक्ति लगाकर अज्ञान रूपी अन्धकार को मिटा सकते हैं। प्रकाश के बिना जैसे हमारी गति रुक जाती है, उसी प्रकार ज्ञान के बिना सुख शांति नहीं। हमारे जीवन में इतना अन्धकार फैला है कि उसका अभाव हुआ ही नहीं। उसका अभाव ज्ञान से होगा। जिन शासन को अपने जीवन के साथ अपनाते हुए दूसरे को भी दिखावें। महावीर ने सच्चाई का मार्ग दूसरे को दिखाया खुद उस पर चलकर। जो अनादि से मिथ्या अन्धकार फैला है उसे हटाने के लिए सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्र को बताया।

जिनशासन की महत्ता बताने के लिए आचार्यों ने जीवन के अंत समय तक चेष्टा की है, तभी यह जिनशासन अक्षुण्ण रूप से चला आ रहा है। जिनशासन की सुरक्षा गृहस्थों व मुनियों ने की है। जब तक धर्म के प्रति आस्था नहीं होती, तब तक धर्म की सुरक्षा भी नहीं होती। अज्ञान रूपी अन्धकार को निकालने के लिए जो प्रयास किया जाता है, उसका नाम अहिंसा है। मुनिराज किसी से अपेक्षा व उपेक्षा नहीं रखते, यही मुनियों के द्वारा प्रभावना है। कार्य के बिना रहना बहुत मुश्किल है। बिना कार्य किए रहना रागी-द्वेषी गृहस्थ का काम नहीं चलता। जब तक काम रहेगा तब तक चैतन्य की शक्ति जागृत नहीं होती। कार्य जब नहीं करेंगे, शरीर की चेष्टा कम हो जाएगी, बोलना कम हो जाएगा, विचार कम हो जायेंगे, तभी वास्तविक सुख मिलने लगेगा। अशुभ कार्य से निवृत्ति शुभ कार्य को अपनाकर हो सकती है, पर गृहस्थ शुभ कार्यों से निवृत्ति नहीं ले सकता, वह सत् कार्य करेगा ही।

जिनके मन में किसी प्रकार का विकार नहीं है, वे ही दुनियाँ में जो चाहे कार्य कर सकते हैं। वे चाहते हैं सबको अन्दर का प्रकाश मिले, ज्ञान का उदय हो। अन्धकार दूर हो। अन्दर की एक किरण से तीन लोक जग मगा उठेगा। हमारे द्वारा यही अप्रभावना हो रही है कि अपनी निधि, प्रकाश को देखा नहीं, प्रकट ही नहीं किया। अहिंसा के उपासक में धर्म की प्रभावना की मन में उत्कंठा रहती है। मोक्ष मार्ग की, आत्म धर्म की प्रभावना हो, इस हेतु को लेकर आचार्यों ने ग्रन्थ लिखे जिसे पढ़कर, अध्ययन कर दूसरे भी लाभ उठावें। विद्वान्, सज्जन, महान् व्यक्तियों की यही शारीरिक, मानसिक, वाचनिक चेष्टा होती है कि सबका उपकार हो। महावीर ने अन्तिम समय तक खूब

प्रभावना की। केवल ज्ञान तो कइयों को प्राप्त होता है, पर दिव्य ध्वनि हरेक को प्राप्त नहीं होती। मुझे तो ज्ञान मिल गया, पर दुनियाँ को प्रशस्त मार्ग दिखा दूँ ताकि सब मोक्ष मंजिल पहुँचे। १६ कारण भावना भाकर तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो सकता है। इससे करोड़ों अरबों जीवों का उद्धार हो सकता है।

महावीर ने मिथ्यात्व रूपी अन्धकार को निकाल कर प्रकाश दिया, उनकी दिव्यध्वनि का आलम्बन लेकर गणधरों ने ग्रन्थों की रचना की। पूर्वजनों ने कितनी कितनी धर्म प्रभावना की, इसकी प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते। पौद्गलिक अन्धकार से तो आप डर जाते हैं, पर मिथ्या अन्धकार से कितनी आत्मा की हत्या हो रही है उससे नहीं डरते। महावीर स्वामी चेष्टा कर स्वयं तो अन्धकार से दूर हो गये पर वे चाहते थे कि सबका मिथ्या अन्धकार दूर हो जाये और मंजिल प्राप्त करे। महावीर ने अपने ज्ञान का लाभ सबको दिया। हम अपनी प्रभावना के द्वारा किसी को लाभ किसी को हानि पहुँचाना चाहते हैं। पर सब को लाभ होना चाहिए। वास्तविक प्रभावना मुनि वीतरागी करते हैं। सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद दण्ड भी देते हैं तो घमण्ड चूर करने के लिए न कि आत्मा को चूर करने के लिए। शिक्षा दीक्षा में यही दृष्टि रहती है कि समीचीन रास्ता बताया जावे। कुरास्ता, कुविचार छूट जाये, यही दृष्टि हमारे में हो। प्रभावना नाम के पीछे नहीं, काम के लिए हो। नाम तो सिर्फ महावीर का, धर्म का हो अपना नहीं।

नदी प्रवाह के समान अहिंसा धर्म है। अहिंसा धर्म महावीर का नहीं। महावीर ने भी इसे अपनाया था। महावीर के पहले वो था, अनादि से है। इसे ज्यों ही अपना लेंगे, तो कल्याण हो जायेगा। यह अहिंसा धर्म अव्यक्त रूप से है। हम चाहेंगे तब अहिंसा धर्म, प्रभावना अंग को अपना सकते हैं। यह अभी साढ़े अठारह हजार वर्ष तक रहेगा। आप लोगों का कर्त्तव्य है, जीवन जब तक मिला है, तब तक प्रभावना करें, ऐसा ठेका ले लो। पूर्ण विकास अभी नहीं तो मोक्ष के रास्ते पर कदम रखेंगे तो मंजिल के पास पहुँच सकते हैं। मुनि अथवा गृहस्थ होकर धर्म प्रभावना करें। जीवन में जो ज्ञान प्राप्त हुआ है उसे बढ़ाते चले जाये तो एक दो भव में मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं, ऐसा विश्वास करने पर ही मुक्ति मिलेगी। बिना प्रमाद के मोक्षमार्ग को अपनाने पर मंजिल पास होती जायेगी। एक अंग को अपनाने पर भी सम्यग्दर्शन टिक सकता है, सुख की प्राप्ति हो सकती है। आठों अंग चले गये तो सम्यग्दर्शन नहीं रहेगा, अंग के बिना अंगी की पहचान नहीं। अतः एक न एक अंग को तो धारण करो।

अब तो जागो

परमार्थ से संबन्ध रखने वाले शास्त्र, तपस्वी, परमार्थरूप देव, ये तीनों संसारी प्राणियों के लिए औषध के समान हैं। संसारी प्राणी रोगी के समान हैं, उसे समीचीन औषध मिल जाये तो रोग

चला जाएगा। समीचीन औषध के अभाव में ही यह रोग अनादि से लगा है। ज्ञान और विश्वास दोनों जरूरी हैं। जो खुद रोगी है, वह दूसरों का इलाज नहीं कर सकता है। उसी प्रकार संसारी प्राणी संसारी जीव को रास्ता नहीं बता सकता, वह तो खुद बीमार, रोगी है। संसारी जीव पर देव, शास्त्र, गुरु का प्रभाव पड़ता है। अपनी आत्मा के स्वभाव को भूल जाना और दूसरे पदार्थ को पकड़ना चोरी है। हम अनादिकाल से दूसरे पदार्थों को पकड़ने के कारण चोर ही बने हैं, साहूकार नहीं बने। दूसरे पदार्थों से संबंध रखना चोरी तथा अपनी निधि को भूल जाना अज्ञान है। हमारी दृष्टि पारमार्थिक नहीं बनी। वैराग्य धारण करने के बाद मुनिराज विश्व का कल्याण हो, ऐसी बात सोचते हैं। अतः परमार्थ की, वीतरागता की उपासना करो। सांसारिक कार्यों को पूर्ण करने के लिए धर्म का आलंबन नहीं होना चाहिए।

यदि सांसारिक कार्यों के लिए देव-शास्त्र गुरु का नाम लेंगे तो संसार वृद्धि ही होगी, संसार का नाश नहीं। जब एक जीवन में ही १८ नाते तक भी हो जाते हैं तो अनेक भवों के नातों का तो कहना ही क्या ? जो नग्न दिगम्बर हैं, वे किसी से नहीं डरेंगे, उनके पास तो सिवाय पिच्छिका-कमण्डलु के कुछ नहीं। अगर आप पिच्छिका-कमण्डलु लेंगे तो आप भी मुनि बन सकते हैं। हम रात दिन शरीर, राज्य, धन, घर के पीछे पड़े हुए हैं। वीतराग मुनि जहाँ भी जाते हैं, तो समझ लो उस जगह के जीवों का उद्धार होने वाला है। महाराज के द्वारा परमार्थ की कमाई होगी, अर्थ की कमाई नहीं। यह जीव राग के विकास योग्य पदार्थों के समार्जन में लगा है। दिगम्बर वीतराग मुद्रा स्वपर कल्याण कारक है। जवानी तो शरीर की अवस्था है, पुद्गल का खेल है। जब अन्दर आत्मचिंतन, तत्त्व का चिंतन चलता है, तब ये पर्यायें नजर नहीं आती। आप लोगों का थकने योग्य कार्य हो रहा है। परमार्थ भूत तत्त्व देव शास्त्र गुरु की उपासना से अनादि से किए अनर्थ दूर हो जाएँगे।

परमार्थ को जब वीतरागी मुनि समझाएँगे तो सब संसारी को चोर ही बताएँगे। मुनि जीवन मिलने के उपरांत भी संसारी जीव का कार्य स्वाधीनता पर आघात पहुँचाने वाला हो रहा है। परमार्थ की उपासना करने वाले मुनिराज महान् से महान् पापी को भी तिरा देते हैं। आपको ऐसा जीवन में कोई समय नहीं मिला जिसमें खाये, पीये, सोये नहीं हों। अब समंतभद्राचार्य आपको वीतरागता की ओर ले जाने की चेष्टा कर रहे हैं। आप देव-शास्त्र-गुरु की स्तुति, स्तुत्य बनने के लिए करें। उपासना करनी है, उपास्य बनने के लिए, न कि उपासक ही बने रहने के लिए। अनंत बार हरेक पर्यायें मिल चुकीं पर वीतराग रूप पर्याय नहीं मिली। अर्थ का समार्जन करते समय परमार्थ को मत भूलो, वरना फिर ८४ लाख योनियों में भटकते रहोगे, उपदेश भी नहीं मिलेगा। जो संकलन कर रहे हो वो तो मिल जाएगा। आत्मकल्याण के लिए ज्यादा समय नहीं चाहिए, जीवन निर्माण के लिए ज्यादा समय चाहिए। भवन निर्माण के लिए मात्र विचार ही करते रहे तो जीवन चला जाएगा,

इंजीनियर अल्प समय में ढूँढ़ो और निर्माण करो। चातुर्मास में सुनकर जीवन निर्माण में लगो और अपने आप चातुर्मास करो, अभी तो १२ मास संसारी कार्यों में लगे हो। समय की कीमत करो। वीतराग देव, जिनवाणी, गुरु की उपासना कर जीवन को राग से हटाने पर वीतरागमय बन जाओगे।

❑ ❑ ❑

एकता ही शक्ति

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की समष्टि सो मोक्ष मार्ग है। हरेक क्षेत्र में समन्वय की नीति काम करती है। एक कार्य की निष्पत्ति के लिए अनेक कारण अपेक्षित हैं। इसीलिए आचार्यों ने मोक्ष मार्ग में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनों अंगों को कारण माना। हमारी शक्ति नष्ट नहीं हुई है, पर बिखरी हुई है, वह एक साथ हो जाये तो काम बन सकता है। आत्मा के पास ज्ञान, दर्शन, चारित्र का अभाव नहीं है, पर शक्ति बँटी हुई है। आचार्यों का ग्रन्थ लिखने का यही उद्देश्य था कि जो शक्ति बाहर बिखर रही है, उसे अन्दर लगा दिया जाये, तो काम बन सकता है। संसारी प्राणी की नीति बंटवारे में रही है, संग्रह में नहीं। संग्रह करेगा भी तो अकेला रहकर। शक्ति को केन्द्रीभूत करो, जब तक शक्ति केन्द्रीभूत नहीं होगी तब तक ध्यान भी नहीं होगा। ध्यान के लिए दर्शन ज्ञान चारित्र पूर्ण रूपेण एक होने चाहिए। आप लोगों की शक्ति यदि एक घर में रह जाये तो गाँव पर प्रभाव पड़ सकता है। कोई तकलीफ नहीं देगा अलग रहने पर किसी विशेष कार्य को नहीं कर सकते। नाचने, बजाने व गाने वाला तीनों एकता में होंगे तो ही आनन्द आयेगा, वरना नहीं। पृथक्-पृथक् परिणमन में रुचि, रस नहीं आता, हानि ही होती है। आप लोग शारीरिक, वाचनिक व मानसिक शक्ति को दिन भर बांटते रहते हैं, इनको एक रूप कर दें तो तीन लोक को जीत सकते हैं। हम अपने बल की उपयोगिता न करके दुख पा रहे हैं, भटक रहे हैं।

अनेकान्त का मतलब एकता है। अनेकांत दृष्टि एकता का प्रतीक है। अनेकान्त का मतलब शक्ति को इधर उधर खर्च न कर समीचीन रूप में काम में लेवें। एकांतपने को लेकर जो चलते हैं, वे स्व का और पर का घात करते हैं। एक दूसरे का उपकार करने वाले, एक दूसरे का मूल्यांकन करने वाले स्व का और पर का कल्याण करने वाले हैं। बिजली जो हर समय काम आती है, उसका क्या रहस्य है? करेंट तभी आता है जब एकता को धारण करते हैं। दोनों तारों का सम्बन्ध होने पर बिजली प्राप्त होगी। Connection मिलने पर उजाला होगा। एकांत व अनेकांतवादी मिल जाये तो सुख ही सुख है। एकांतवादी आपस में नहीं मिल पायेंगे। शरीर के पास शरीर बैठने से काम नहीं होगा। मन के पास मन बैठने से काम होगा। मन का सम्बन्ध आत्मा के साथ है। धार्मिक क्षेत्र में भी शरीर-वचन के Control में होने के बाद मन का कंट्रोल न हो तो ज्ञान शक्ति को उपयोग में नहीं ला सकते। सुख की इच्छा करने वाले के लिए हरेक क्षेत्र में एकता की बड़ी आवश्यकता है। आप लोगों का बल जब बँट जायेगा तो कीमत नहीं रहेगी।

दूसरों का महत्त्व कम करने के कारण ही आज भारत में जैनियों की संख्या धीरे-धीरे कम होती जा रही है। केवल पैसे से ही काम नहीं होता। जब तक आप समाज में रहेंगे, तब एक दूसरे का कार्य अपेक्षित है। पड़ोस में वैरी भी होगा तो भी आपकी सुरक्षा ही होगी। जंगल में एकांत स्थान में जहाँ पड़ोसी न होंगे तो नींद भी नहीं आएगी। हरेक व्यक्ति एक दूसरे की हरेक दृष्टि से सहायता करता रहता है। भारत में एकता का अभाव होने पर ही ब्रिटिश लोग आए और राज्य किया। एकता का अभाव महान् दुख का कारण है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकता के लिए बार-बार आचार्य महोदय प्रयास कर रहे हैं। एक गाड़ी के दो पहियों में से एक का स्क्रू ढीला होने पर दूसरे का स्क्रू भी ढीला हो जाएगा और चल न सकेगा। बैल भी एक ही तरफ चलेंगे तो गाड़ी चलेगी। अतः जब तक हम शक्ति को केन्द्रीभूत नहीं करेंगे तब तक कुछ नहीं होगा। सूर्य की किरणों में शक्ति निहित है, पर फैली हुई है, जब एक स्थान पर केन्द्रित कर दी जाये तो यह प्रकाश जला भी देगा। लकड़ी से लकड़ी टकराएगी तब भी अग्नि होगी। एक ही स्थान पर जोर से पानी गिरने पर ही बिजली होती है। अभेदपने को अपनाने पर, एक दूसरे के मिलने पर ही तीसरी चीज पैदा होती है। लेकिन आपके दर्शन ज्ञान चारित्र पर मोह का साम्राज्य हो रहा है। जब ये तीनों मिल जायेंगे तो मोह भाग जायेगा। समष्टि, मिलने या केन्द्रीभूत का नाम ही ध्यान है। इसके लिए प्रयास करना है, तभी केवल ज्ञान रूपी बिजली पैदा होगी।

शक्ति का सदुपयोग ही सम्यग्दर्शन और शक्ति का दुरुपयोग मिथ्यादर्शन है। सम्यग्दर्शन से सुख और मिथ्यादर्शन से दुख होता है। शारीरिक मानसिक चेष्टा से विश्व के ऊपर महावीर के उपदेशों का प्रभाव पड़ेगा। अभी तो सिर्फ आप इस कार्य के लिए शारीरिक व वाचनिक चेष्टा ही कर रहे हैं। धर्मचक्र का समादर शक्ति को एक करके करना। तन, मन, धन लगाकर कार्य करना है। निर्वाण महोत्सव के अन्दर यह एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। यह धर्म चक्र सब जगह जाकर प्रभाव डालेगा, इसके द्वारा बहुमुखी प्रचार होगा। आप उसे देखकर, तन-मन-धन लगाकर अपने जीवन को सफल बना सकते हैं। अपने जीवन में यह अनमोल घड़ी आई है। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग को दुनियाँ के सामने रखने की चेष्टा ही प्रभावना है। तप भी प्रभावना का अंग है। भगवान् महावीर के रूप को तप के द्वारा सामने रखना। आकर्षित करने योग्य कार्य, धर्म के समीप लाने योग्य कार्य करने वाला व्यक्ति पूजा कर प्रभावना कर सकता है। ऐसा करने पर अहिंसा तत्त्व को हरेक व्यक्ति जान सके, अपना सकेगा। धर्म चक्र आपके यहाँ भी आएगा, यह सौभाग्य की बात है। जब आवे तब बहुत एकता की आवश्यकता है।

❑ ❑ ❑

निर्मद बनें ! सो ऐसे

सम्यग्दर्शन के लिए ८ अंगों का पालन, देव, शास्त्र, गुरु पर अटूट विश्वास तथा तीन मूढ़ताओं से दूर होना बताया है, तभी मोक्षमार्ग प्रशस्त बनता है। मान कषाय के वशीभूत होकर यह प्राणी अपने स्वभाव को भूल जाता है। मान जब बहुत गृद्धता को प्राप्त कर लेता है, तब मद के रूप में परिवर्तित हो जाता है। मन, वचन, काय से जब मान कषाय बाहर आती है तब वह मद हो जाती है। अनेक ग्रन्थों का मंथन कर दौलतरामजी ने छहढाला में कहा है कि सम्यग्दर्शन में दोष लगाने वाला मद है। गंदे मुख को गंदे हाथ से साफ नहीं किया जाता है। बल्कि साफ हाथ से गंदे मुख को साफ किया जाता है। सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाने के लिए मद को हटाकर निरभिमानता को अपनाना चाहिए। आप लोगों का समय प्रायः करके मद की उन्नति में ही चला जाता है। मात्र खाने, पीने, यत्र, तत्र, विचरण करने अथवा मूंछ ऊपर करने में ही आपको रस आता है। इनके वशीभूत होकर बहुमूल्य समय को गंवा देते हैं। जिसने आत्म स्वभाव का चिंतन किया है, वह इस बारे में नहीं सोचते हैं। ज्ञान विवेक होने पर इस प्रकार गड्डों से बचना है। आपको सोचना है कि विवेक को किस उपयोग में लाया जाये।

आचार्य महोदय, जो कि मद से दूर हैं उनने सर्व प्रथम ज्ञान का मद बताया है। ज्ञान के मद के बारे में विवेचन लिख बोल कर भी नहीं कर सकते। ज्ञान कब मद होता है तथा कब मोक्ष मार्ग का कारण बनता है? जब ज्ञान बाहर की ओर दौड़ता है, नाम चाहता है, तब क्षणिक होता है। जब वही ज्ञान अपने आपको सुधारने में लग जाता है, तब सम्यक् ज्ञान कहलाता है। आज तक हमारा ज्ञान संसार का कारण बना और संसार दुख का कारण है। आप लोगों को शाब्दिक ज्ञान के लिए उपासना नहीं करनी है। शाब्दिक ज्ञान से आप मोक्ष मार्ग नहीं, संसार मार्गी कहलाओगे। शाब्दिक ज्ञान पुस्तकों में मिल सकता है, आत्मिक ज्ञान नहीं। आत्मिक ज्ञान शाब्दिक नहीं है, वह अन्दर ही उत्पन्न होता है, वह पौद्गलिक नहीं है। शाब्दिक ज्ञान ध्येय नहीं, माध्यम है। पण्डितों के पास पोथियों का सीमित शाब्दिक ज्ञान होता है। अन्दर का ज्ञान पूर्ण होता है। ज्ञान दर्शन को मोक्ष मार्ग नहीं कहा, बल्कि सम्यक् युक्त दर्शन ज्ञान चारित्र को मोक्ष मार्ग बताया है। शाब्दिक ज्ञान को नहीं, आत्मिक ज्ञान को टटोलना है। शब्दों के द्वारा ज्ञान को पकड़ते हैं तो स्खलन होता है। ज्ञान में स्खलन होगा तो शब्दों में भी स्खलन हो जाता है।

ज्ञान कुछ ओर चाहता है, शब्द कुछ ओर चाहते हैं। रटने से अन्दर के भाव जागृत नहीं होंगे। प्रतीति सत्य वह है जो शब्दों पर लक्ष्य नहीं, भावों से प्रतीति होवे। शब्दों को पकड़कर मोक्ष मार्ग को तीन काल में भी नहीं अपना सकते। ज्ञान और शाब्दिक ज्ञान में अन्तर है। वास्तविक ज्ञान से शब्दों में अन्तर नहीं पड़ता है। अन्दर जो कुछ है, उसे ही बाहर लाने की चेष्टा होगी। आज वक्ता

और श्रोता शब्दों को पकड़कर अन्दर के ज्ञान को महत्त्व नहीं देते। दूसरे को आकर्षित करने के लिए, यश, पूजा, आदर कीर्ति पाने के लिए जो ज्ञान है, वह वास्तविक ज्ञान, प्रभावना नहीं कहलाएगा। आप चाहते हैं, शब्दों का प्रयोग करना, भले ही भाव चले जायें तो परवाह नहीं। एक अंग्रेज को जैन धर्म के वास्तविक मर्म को समझाने के लिए अंग्रेजी में ही समझाना होगा न कि संस्कृत-हिन्दी में। ऐसा होना चाहिए कि भावों को ठेस न पहुँचे, सिद्धान्त में अन्तर न आवे चाहे शब्दों में परिवर्तन आ जाये। अन्दर का आशय समझाना है। शब्द भले ही भिन्न हों, पर आशय एक हो। शब्द जहाँ से निकल रहे हैं, उसका नाम ज्ञान है, उसका विकास करना है, उसको लेकर मद की प्रादुर्भूति नहीं होगी। शब्दों को लेकर मद पैदा होता है। स्वभाव का परिज्ञान ही ज्ञान है, उसको लेकर मद नहीं होता। जो मद में डूबे हैं वे नरक कुण्ड में ही पड़े रहेंगे। अतः निर्मद होकर, निरभिमान होकर अपने जीवन में विकास करना है, तभी आप अनन्त सुख का अनुभव कर सकते हैं। आचार्यों का लक्ष्य ग्रन्थों की रचना कर मद का, विद्वत्ता का प्रदर्शन करना नहीं था वे तो उपयोग को स्थिर करने, उसे निर्मल, निर्मलतर, निर्मलतम् बनाने के लिए लिखते हैं। अतः उसी लक्ष्य को लेकर पढ़ें और आत्म कल्याण करें।

❑ ❑ ❑

पूजा का मद

कल ज्ञान मद के बारे में सुना। आज दूसरा जो पूजा मद है, उसके बारे में कहना है। किसी एक अवस्था को लेकर यह व्यक्ति जिस क्षेत्र में रहता है, वहाँ के लोगों से पूजा, सत्कार, विनय चाहता है। अपने गुण गान चाहता है। यही मद है। लेकिन प्राणी को यह मालूम नहीं कि अपनी पूजा, यश, कीर्ति वास्तव में किस में निहित है। पूजा, लाभ के पीछे पड़ने से ये चीजें छूट जाती हैं। जो पूजा कीर्ति चाहता है, वह अपने आपको नहीं पहचानता।

मानाभिभूत मुनि आतम को न जाने,
तो वीतराग प्रभु को वह क्या पिछाने ?
जो ख्याति लाभ निज पूजन चाहता है,
ओ! पाप का वहन ही करता वृथा है।

आपने संसार का विनाश हो (छूट जाये) उसके अनुरूप कार्य किया ही नहीं। जिस प्रकार का कर्म करेंगे, उसका वैसा ही फल मिलेगा। ख्याति लाभ पूजा न कोई देता है, न कोई लेता है, ये सब काल्पनिक विषय हैं। वास्तविक मोक्षार्थी वही है, जो इन क्षणिक पर्यायों को दुख का कारण मानता है। श्रेयोमार्गी वही कहलाता है, जो क्षणिक पर्यायों को सुखकर नहीं मानता, वह मान-सम्मान, ख्याति-लाभ को नहीं चाहता, वह तो किए कर्मों को नेस्तनाबूत (समाप्त) करना चाहता है।

वह सोचता है कि कल जिसकी पूजा हो रही थी आज उसे गाली दी जा रही है, कल जिसका अपमान हो रहा था, आज वही सम्मान पा रहा है। वह इन क्षणिक पर्यायों में हर्ष-विषाद नहीं करता, वह जानता है अनेक जन्मों के किए कर्मों के फलों को भुगतना पड़ेगा, कर्म सिद्धान्त में भूल नहीं होती।

कर्म जिस सीमा में बंधेगा, वह उसी सीमा में उदय में आकर फल दिये बिना नहीं रह सकता है। जब उस श्रेयोमार्गी को विश्वास हो जाता है, तो इनमें हर्ष विषाद नहीं करता। हर्ष विषाद मान कषाय को लेकर होता है। मान कषाय जब गृद्धता को लेकर होती है, तब मद पैदा होता है। अतः हे जीव! समझ! तेरा हित अहित किसमें है? अहित से बचना ही हित की ओर अग्रसर होना है। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जो गर्त या अग्नि में पैर रखेगा। वह शरीर को बचाने की चेष्टा करेगा। घर में अग्नि लग जाने पर सामग्री को छोड़कर जीवन को बचाना चाहेगा। सुजान हित चाहता है, वह मद आदि को, दुख को बंधन का कारण मानता है। जो सुख, स्वाधीनता प्रदान करने वाला है, उसे जल्दी-जल्दी प्राप्त करने की चेष्टा करेगा। हाथ में एक तरफ विषय सामग्री हो और चाहे कि मोक्ष मार्ग मिल जाये, यह नहीं हो सकता है। जो हाथ में विषय पकड़ रखा है, उसे छोड़ दो, वही मोक्ष मार्ग है।

वास्तविक हित जिसमें है, उसकी सुरक्षा के लिए कोशिश करनी है। ख्याति, लाभ, पूजा में पड़कर वास्तविक नाम को नहीं खोना है, वास्तविक नाम आत्माराम है। यह पूजा मद खतरनाक है। वित्त गृहस्थ के लिए इतना खतरनाक नहीं है, जितना मद है। मदिरा का असर तो सीमित होता है, कम नशा भी होता है। लेकिन मद का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। मद की सामग्री शराब, गाँजा आदि मादक पदार्थ नहीं हैं। मद आत्मा की नशीली चीज है। आत्मा को नशा चढ़ जाये तो अमृत भी पिला दो तो भी नशा नहीं उतरेगा। मद का नशा चढ़ने पर ही ज्ञान शक्ति खत्म हो जाती है। अतः आत्मा पर नशा चढ़े ऐसे मद से बचने की आवश्यकता है। मद का नशा ४ तरह से होता है। सबसे पहले युवावस्था का नशा। कहते हैं कि गधा पच्चीसी लगी है। सो २५ साल तक की उम्र में गधे के समान आचरण प्रायः करके हो जाता है। युवावस्था होने के साथ रूप मिल जाये तो और भी लहर आ जाती है, फिर वित्त मिल जाये और अंत में हुकूमत भी मिल जाये तो वह पागल हुए बिना नहीं रहेगा। आप भी वित्त, रूप, युवावस्था हर दम चाहते हैं। लेकिन अपने आप चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ जायेंगी, कंचन सी काया मिट जाएगी तब जो इसमें रस लेता है, वह घबराऐगा, उदास हो जाएगा। घर से उदास नहीं होगा, धर्म से उदास होगा।

जिन्हें वास्तविक ये चार चीजें नहीं चाहिए, वही सुजान है। जो संसार सामग्री को चाहता है, वह मोक्ष को नहीं चाहता, संसार को चाहता है। मोक्ष मार्गी हुकूमत को नहीं चाहता। आप अपनी

Credit परसनेलिटी, नाम चाहते हैं। आत्माराम को आराम को नहीं चाहते, यही भूल भरी बात है। आप वास्तविक रहस्य को समझते ही नहीं। जो पूजा को नहीं चाहता है, वही पूजक बनने वाला है। ज्ञान उत्पन्न होने के बाद हेय से बचने और उपादेय का संकलन करेगा। विवेक होने के बाद हेय का संकलन व विकास नहीं हो सकता। कोई रोगी रोग से दूर होना चाहे और दवा भी न लेवे तो रोग दूर नहीं हो सकता। शरीर व वचन पर बंधन हो सकता है, पर विचार पर कोई बंधन पट्टी नहीं है, विचार के लिए आँख खुली है। गलत भाव आ जाएँ तो कान पकड़ लो। शरीर के कान नहीं पकड़ना है, बल्कि उसके लिए पश्चाताप, प्रतिक्रमण करो।

गृहस्थ और मुनि दोनों मोक्ष मार्गी हैं। जिस प्रकार एक बच्चा पहली कक्षा में दूसरा एम.ए. में पढ़ता है पर कहलायेंगे विद्यार्थी ही। पढ़ाने में फरक हो सकता है पर शिक्षक में नहीं। समंतभद्राचार्य का विषय गृहस्थ को लेकर और कुन्दकुन्द का मुनि को लेकर था। समंतभद्राचार्य ने गृहस्थों को सम्बोधित करने तथा कुन्दकुन्द ने मुनियों को सम्बोधित करने का कार्य किया। मद मोक्षार्थी के लिए बाधक है। वर्तमान में मद के जो भाव हैं, उनसे घृणा होना ही पश्चाताप है। वित्त को लेकर मद नहीं चाहेंगे। वित्त तो शरीर के लिए माध्यम हो सकता है। वित्त आने पर शरीर चले, नहीं भी चले, पुरुषार्थ करने पर भी फल मिले ही, यह बात नहीं है। विधि प्रतिकूल होने पर पुरुषार्थ भी ठण्डे पड़ जाते हैं। रूप हुकूमत को लेकर अभिमान नहीं करना चाहिए, ये क्षणिक है, कर्म का उदय है तब ये मिलते हैं। ऐसे कर्म भी उदय में आ सकते हैं कि जो आपके यहाँ नौकर हैं, उनके यहाँ जाकर भी आपको सेवा करनी पड़े। इसमें जो सुजान है, वे हर्ष विषाद नहीं करते। हरिश्चन्द्र राजा का उदाहरण आपके सामने है, हरिश्चन्द्र ने राजा होकर भी हरिजन के घर नौकरी की। जो कर्म को समझता है, वह हर्ष विषाद नहीं करता। अभी आपके पास ज्ञान है। जब ज्ञान धन लुट जायेगा तो कर्म फल को नहीं झेल सकोगे। अतः कर्म रूपी ऋण से अऋण होना चाहते हैं तो मद नहीं करें, तभी वास्तविक सुजान बन सकते हैं। छोटा बड़ा मोक्ष मार्ग में नहीं है। जो मद हर्ष विषाद से दूर हो गया, अपने आपमें स्थित है, वही पूज्य है।

❑ ❑ ❑

कुल का मद

आज कुल मद के बारे में बताना है। जो कुल को मुख्यता देकर मान करता है, वह मदवान कहलाता है। म्यान और तलवार दो चीज हैं। तलवार को रखने का स्थान म्यान है। तलवार काम की चीज है। यह जीव म्यान में तलवार की भांति शरीर में रह रहा है। यह जीव आत्मा की कीमत नहीं करता पर शरीर यानि म्यान की कीमत करता है, सेवा करता है उसकी प्रशंसा, सुरक्षा, संवर्धन चाहता है। जो कुल को ही महत्त्व देता है, वह शारीरिक जड़ पर्याय को ही अच्छा मानने लगता है,

उससे बड़ा मूर्ख कोई नहीं है। हमारा उच्च कुल है, हमारे दादा, परदादा सिंहासन पर थे या हैं इससे मैं उच्च कुल का हूँ, इसीलिए अभिमान करें, यह ठीक नहीं। संतान के क्रम से आते हुए जो अच्छा बुरा आचरण है, उसका नाम है गोत्र। जो उच्च कार्य करता है, वह अच्छा, और जो बुरा कार्य करता है, वह नीच कहलाता है।

यह गोत्र कर्म कैसे बनता है। कोई कहे कि धनवान साहूकार उच्च कुलीन है सो यह बात नहीं। वह तो साता वेदनीय कर्म से मिले धन से धनवान बना है न कि उच्च कुल की अपेक्षा से। शरीर से स्वच्छ, हृष्ट पुष्ट है, वह भी भोगान्तराय कर्म से खा पी रहा है न कि उच्चकुल की अपेक्षा से। जो बुद्धिमान है, वह भी ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से बुद्धिवान है न कि उच्चकुल की वजह से। जो दीर्घायु है वह भी उच्चकुलीन नहीं है, क्योंकि नरक में ३३ सागर की आयु वाला भी होता है, जो उच्च गोत्र वाला नहीं फिर उच्च कुलीन कौन-सा बनता है ? तो बताया है कि जिनका आचरण अच्छा है जिनका सम्बन्ध आर्यों के साथ रहता है, वह उच्च का बन्ध कर रहा है तथा उसके उच्च का उदय भी है। हम बातों-बातों में मद करते हैं। वास्तव में मद जड़ की पर्यायों को लेकर होता है। शारीरिक पर्यायें यदि पूर्व में कुलीन न हों तो भी सच्चे चारित्र के संसर्ग से उच्च कुलीन हो जायेगा। भरत चक्रवर्ती के ३२ हजार रानियाँ म्लेच्छ खण्ड की होती है, वे भी भरत के संसर्ग से उच्च कुलीन हो जाती हैं। आत्मा में जब उज्ज्वल भाव जाग्रत होते हैं तो उसका प्रभाव शरीर पर भी पड़ता है। जैसे-जैसे उज्ज्वल भाव को मनुष्य अपनाता है तैसे-तैसे उसका शरीर भी उज्ज्वल बनता जाता है। जब शुद्धोपयोग स्थिर रह जायेगा तब शरीर भी परम औदारिक हो जायेगा, वह सप्तधातुओं से दूर हो जायेगा, तथा उसमें निगोदिया जीव नहीं रहेंगे। बिल्कुल अचित्त, शुद्ध बन जायेगा। आत्मा में परिणाम उज्ज्वल हो तो उसे कुलीन कहना पड़ेगा। प्रायः संसारी प्राणी शरीर को अपना मानता है, उसमें ही सुख मानता है।

आचार्यों ने इसीलिए कहा है कि शरीर को लेकर जो ग्लानि, मद होते हैं, वे आत्मा के स्वभाव नहीं है। जब आत्मा में विचार, मनन, चिंतन किया जाये तो शरीर गौण हो जाता है। शरीर उसी स्थान पर ही है, पर धार्मिक क्षेत्र में उसका ज्यादा सम्बन्ध नहीं रहता। जीव का उद्धार शरीर पक्ष गौण होने पर होगा। कुल मद, गोत्र मद गौण होने पर आप उद्धार कर सकते हैं। गोत्र कर्म पर अभिमान समाप्त होना चाहिए। अभिमान मोह को लेकर होता है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, मोक्ष मार्ग, आत्मा के विकास के लिए मोहनीय कर्म का क्षयोपशम जरूरी है। ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम मोक्षमार्ग के लिये कारण नहीं है। मोहनीय कर्म का क्षयोपशम जरूरी है। अनन्तानुबंधी का क्षयोपशम होने पर सम्यग्दर्शन पैदा होता है। अतः अनन्तानुबन्धी मद नहीं करना चाहिए। शरीर की सुरक्षा के लिए जो भाव हैं, वे मद नहीं हैं। भोगभूमि में उच्चकुल आदि का विचार नहीं होता यहाँ मनुष्यों में

होता है। भोगभूमि में अत्याचार, अनाचार नहीं होता पर वे उनके त्यागी नहीं होते। मिथ्यादर्शन व सम्यग्दर्शन दोनों के साथ उच्च नीच का विचार नहीं है। अतः इस गोत्र कर्म को मिटाने के लिए कार्य करना है। गोत्र पर अभिमान करने पर फिर गोत्र कर्म का बंध होता है, उसके अगुरु लघुत्व का प्रादुर्भाव नहीं होता। ऊँचा नीचा गोत्र कर्म के अधीन है। अतः उस पर अभिमान नहीं होना चाहिए। आत्मा के उज्ज्वल भाव को उच्चकुलीन माना है। सबका भला चाहने वाले का कुल भी उच्च व पूजनीय बन जाता है।

बंधन करना खुद के साथ दूसरे के लिए भी बंधन होता है। रोने वाला खुद भी रोता है, तथा दूसरे को भी रुला देता है, दुखी बना देता है। महावीर ने पृथ्वी को कुटुम्ब नहीं माना पर पृथ्वी पर रहने वालों को कुटुम्ब माना। वही माता-पिता कृतार्थ हो जाते हैं जिनका बालक अष्ट कर्मों को नष्ट करने के लिए मोक्ष मार्ग को अपनाता है। लेकिन आप अपने आपको धन्य समझते हैं, बेटे बेटियों की शादी करने में, क्योंकि गोत्र को सुरक्षित रखना चाहते हैं। लेकिन धर्माचार्य जो ग्रन्थ लिखते समय अष्ट कर्मों से वेष्टित थे, फिर भी उन्होंने अष्ट कर्मों को संसार का कारण माना। ये कर्म राग द्वेष के द्वारा होते हैं, और राग द्वेष अच्छा बुरा मानने पर होते हैं। महावीर ने जब संसार को अच्छा नहीं माना तो उनके उपासक अच्छा क्यों मानते हैं? महावीर ने तो मोक्ष को अच्छा माना। आप लोग अपने बच्चों की जल्दी-जल्दी शादी करके गले में माला डालकर दो पाये से चार पाये वाला बना देते हैं। दो पैर वाले को कौन बाँध सकता है, पर चार पैर वाले के तो पट्टा बाँध देते हैं। उसे चतुर्भुज बना देते हैं, यानि चारों गतियों का मालिक बना दिया। चार पैर, चार हाथ रखकर मोक्ष का संपादन नहीं कर सकता। गोत्र कुल को सुरक्षित रखने को विवाह करता है।

संसार में आत्मा भटकता आ रहा है। अनंतों बंधन कट जाये जब जागृत अवस्था में आत्मा हो, नींद नहीं लगी हो, गाढ़ नींद मत लगने दो। क्योंकि जो मोह नींद में सो जाये तो धार्मिक गूँज उसके कानों तक नहीं पहुँच सकती, क्योंकि वह भावों के विकल्पों में बंधा हुआ है कुल को आभूषण मानता है। सिद्धों के ८ गुण भी ८ कर्मों के अभाव में होते हैं। आप ८ कर्मों व उनके फलों को सुरक्षित रखना चाहते हैं, यही भूल है। आठ कर्म तो भिन्न हैं ही, पर उनको माध्यम बनाकर निमित्त रूप से फल मिलता है वह भी आत्मा से भिन्न है। पर आप कर्म व उनके फलों की अनुभूति चाहते हैं। साता व असाता के उदय में हर्ष-विषाद, राग-द्वेष होता ही है। आप कर्म व उनके फलों को भिन्न मानकर गौण करो, तभी आत्मा की अनुभूति होगी। मद के अभाव में अनुभूति होगी। वह दुखी रहेगा जो कर्मों की ओर दौड़ रहा है, उनके फलों को चाह रहा है।

भगवान् कर्म का उदय नहीं लाते वे तो निष्पक्ष हैं। पक्षपात से दूर, हर्ष विषाद से दूर हैं, वे कर्मों से दूर हैं, वे कर्मों को जीवन में नहीं लाते। सम्यग्दृष्टि को कर्मों से दुख होता है, वह कर्मों को

व उनके फलों को नहीं चाहकर मोक्ष को चाहता है। आत्मिक परिणामों को चाहता है। मद अपने से भिन्न परिणामों को लेकर होता है। आत्मिक परिणाम में मद नहीं है। अतः चैतन्य शक्ति के बारे में विचार करो, कर्मों को, मदों को फेंक दो। जिस प्रकार स्वादिष्ट पदार्थ बहुत ज्यादा गर्म होने पर हाथ में रखने पर फेंक देते हो, उसी प्रकार कर्म व फलों को भी फेंक दो। जब कर्म बाँधते समय मुहूर्त नहीं तो छोड़ते समय भी मुहूर्त नहीं है। कर्म व फल भिन्न हैं, दूसरे के अधीन हैं। इन पर, मदों पर हर्ष-विषाद न करो, राग-द्वेष न करो, तभी वीतरागता के भाव जागृत होंगे और आप पूज्य हो जाओगे।

❑ ❑ ❑

जाति का मद

मोक्षमार्ग के प्रथम अंग सम्यग्दर्शन में दोष लगाने वाले, उसको अधूरा रखने वाले मदों के बारे में वर्णन, विश्लेषण गत तीन-चार दिनों से हो रहा है। आज जाति मद का वर्णन करना है। व्यवहारिक क्षेत्र में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध रहता है। यह भी रहस्य को लिए हुए है। जब किसी का Operation होता है, तब खून की जरूरत पड़ने पर खून का निरीक्षण होता है, सम्बन्धी का खून लिया जाता है, ताकि वही सत्व गुण मिल जाये। जो माता-पिता में गुण, सत्व रहते हैं, वे संतान में कम होकर आते हैं और सात आठ भव बाद संबंध टूट जाता है। विवाह करते समय भी इस बात का ध्यान रखते हैं, गोत्र आदि मिलाते हैं और Difference रखते हैं। कुल और जाति का शरीर पर प्रभाव पड़ता है।

जिस बात को आचार्यों ने वर्षों पूर्व लिखा, उसे वर्तमान में देख सकते हैं। जाति काल का विरोध नहीं, उस व्यवहार क्षेत्र के बारे में चर्चा नहीं। यहाँ पर धार्मिक क्षेत्र में चर्चा करनी है। अन्दर आत्मा के वर्णन में कोई व्यवस्था सम्बन्ध नहीं, सभी पर्यायों को गौण कर आत्मा के बारे में विचार करेंगे। अनादिकाल से जीव के बारे में चर्चा, अध्ययन किया ही नहीं, मात्र कुल जाति की ही चर्चा की। धार्मिक क्षेत्र में जाति कुल का निषेध नहीं तो स्थान भी नहीं दिया, आवश्यकता नहीं समझी। आत्मा का विकास करना आत्मा जब चाहेगा तो शरीर संबंधी पदार्थों को गौण करेगा। शरीर को ही जब व्यक्ति अपना भोग्य पदार्थ मानता है तब इसे सामाजिक व्यवस्थाओं के बन्धन में रहना पड़ता है। माँ के, पिताजी के कहने पर चलना पड़ेगा, विवाह होने पर पत्नी के कहे अनुसार चलना पड़ेगा। हाँ में हाँ मिलानी पड़ेगी। जब शरीर को भोग्य पदार्थ नहीं माना, पर समझ लेते हैं, तब सभी कार्य गौण हो जाएँगे। मोक्ष मार्ग में शारीरिक भोग नहीं मानसिक विषय नहीं, प्राप्तव्य चीज आत्मा है। मोक्ष मार्ग पर चलना चाहते हो तो बाहरी शारीरिक भोग आदि को भूल जाओ। जिस क्षेत्र में जाना ही नहीं, उसकी निंदा या स्तुति करो कोई जरूरी नहीं।

जिस पदार्थ को नहीं चाहते हो तो उसकी जानकारी व कीमत जानने की आवश्यकता नहीं। वे पदार्थ देखने में आते हुए भी नहीं देखना है, विचार नहीं करना है। जिसे चाहना है, उससे मतलब रखना है। मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त व्यक्ति दुनियादारी की चीजों को नहीं चाहेगा, भूल जायेगा और जहाँ अन्य व्यक्ति प्रशंसा करेगा तो वहाँ नहीं रहेगा। अतः जाति-कुल मद को गौण कर दो, भूल जाओ, प्रशंसा गुणगान जहाँ हो वहाँ मत जाओ। मिथ्यादृष्टि के साथ रहना मिथ्याशास्त्र को पढ़ना तथा मिथ्यात्व की उपासना करने से मोक्ष मार्ग को भूल जाओगे।

शरीर के लिए जो जाति-कुल मद हैं, वे मोक्ष पथिक के लिए खतरनाक हैं। जो मोक्ष मार्ग को नहीं चाहते हैं, उनके लिए तो शास्त्र उपदेश जरूरी नहीं है। सर्वप्रथम उधर निदान, लक्ष्य, प्रतिज्ञा, दृष्टि होनी चाहिए, जिसे प्राप्त करना है। रोगी को देखते समय निदान कर औषध दी जाती है। हमें भी निदान करना है कि क्या चाहिए। हमें सुख चाहिए तो सुख से दूर रखने वाले तथा दुख लाने वाले पदार्थों से आप अवश्य डरेंगे। रोगी को अपथ्य छोड़ना पड़ेगा, वरना दवाई का असर नहीं होगा और एक बीमारी दूर होकर दूसरी बीमारी हो जायेगी। एक आकुलता मिटने पर १० सामने खड़ी हो जायेगी। सिगड़ी में आप पानी गरम कर रहे हैं। अगर हवा ऊपर करेंगे तो पानी गरम नहीं होगा, और हवा नीचे करेंगे तो जल्दी गरम हो जाएगा। हवा सिगड़ी को लग रही है, पर ऊपर करने पर बाधक और नीचे करने पर साधक है।

आप सुख चाहते हैं तो सोचो जो कर रहे हैं वे दुख के कारण हैं या नहीं। चार संज्ञा लगी है। संज्ञा का मतलब इच्छा है। आपकी इच्छा दुख के लिए कारण बन रही है। अतः मदों को छोड़कर निर्मद बनकर वस्तु के बारे में विचार करना होगा। सुख की प्राप्ति के प्रयास में अनन्त भव निकल गये लेकिन सुख नहीं मिला। जब समीचीन प्रयास होगा तो मोक्ष मार्ग पर आरूढ़ हो जाओगे। मद की सामग्री भव भव में नहीं मिले चाहे भव नहीं कटे। आज पूजन की सामग्री में भी मद आ गया। नीचे दिखाने का नाम मद है। मद की सामग्री न मिलेगी तो पूजन की सामग्री मिल ही जायेगी। भावों में निर्मलता है, निर्मद है तो सब मिलेगा।

आज आपको भावों में भगवान् से नहीं पड़ोसी से डर रहता है, नाम नीचे न रह जाये, अनादर न हो जाये, मेरे पास कुछ नहीं है। लेकिन भगवान् के पास, निकट वही बैठ सकता है जो निर्मद है, जिसके पास कुछ नहीं है। आप तो मात्र श्वेताम्बर बने हैं, दिगम्बर बने ही नहीं। दिगम्बर तो मुनि हैं। पूजन में भी मद का अभाव अनिवार्य है। निर्मदी निर्विकारी संतोषी बनो। लौकिक क्षेत्र में मद को लेकर आगे पीछे चलता है, पर धार्मिक क्षेत्र में निर्मद होकर आगे बढ़ते हैं। उच्चता, आदर निर्मद होने में है। जाति आत्मा की नहीं, जाति शरीर को लेकर है। यह जाति नाम कर्म है।

आप एक इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जिनके मन नहीं है, उनसे बड़े हैं, पर पंचेन्द्रिय से स्पर्धा

करते हैं, स्पर्धा ही नहीं-ईर्ष्या करते हैं। एक इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय से पंच इन्द्रिय संज्ञी उच्च है। आप मद करते हैं साधर्मी भाइयों से। पर क्यों मद करते हैं ? आपके पास व उनके पास सब चीज बराबर है, कोई छोटा बड़ा नहीं है। जाति का सम्बन्ध धर्म से नहीं है। जैन, धर्म से तथा जाति, कर्म से संबंध रखने वाले हैं। जाति नाम कर्म सबके उदय में है, उसको लेकर मद करना मूर्खता है। अहिंसा का पालन करते समय हिंसा को छोड़ने के लिए सर्वप्रथम संज्ञी पंचेन्द्रिय जो मोक्ष को प्राप्त करने वाले पात्र हैं, उसकी सुरक्षा करो।

सर्व प्रथम पुरुष-स्त्रियाँ, फिर तिर्यञ्च और फिर स्थावर की सुरक्षा कही है। आप सर्व प्रथम आलू को तो छोड़ देंगे पर सामने पञ्चेन्द्रिय है, उसको साबुत निगल जायेंगे। सर्व प्रथम संज्ञी पंचेन्द्रिय के साथ मद छोड़ो, फिर जीव के विकास को दृष्टि में रखकर तिर्यञ्च आदि की रक्षा करो। आप साथी को लेकर मद करते हैं। जवान-जवान से, वृद्ध-वृद्ध से तथा महिला-महिला से मद करती है। अतः मद को छोड़ो। यह मद साधर्मी भाईयों को लेकर होता है। जैनेतर को लेकर नहीं। जो साधर्मी भाई से द्वेष रखता है, वह किसी की भी रक्षा नहीं कर सकता। सर्वप्रथम आप त्रस जीवों में साधर्मी की चिंता मिटाओगे तो धर्म का विकास होगा। तिर्यञ्च की रक्षा से उतनी धर्म की भावना नहीं होती जितनी साधर्मी की सुरक्षा से। जहाँ गिराने का लक्ष्य है वहाँ कुछ भी नहीं कर सकते। गिराने व बचाने के लिए ज्यादा समय की जरूरत नहीं। जब साधर्मी से प्रेम होगा तो संकट में भी सुरक्षा होगी। जब मद है तो गिराने की दृष्टि होगी। अतः जाति कुल का मद नहीं करना। पहले पंचेन्द्रिय जाति की सुरक्षा न हो, मनुष्य जाति की रक्षा हो। मनुष्य से मद छोड़कर साथी बना लें। पुरुष ही मोक्ष प्राप्त करने में अग्रणी है।

❑ ❑ ❑

बल का मद

आज बल मद के बारे में बताना है। संसार अवस्था में अनेक प्रकार का बल माना जाता है, जैसे मनोबल, वचन बल, काय बल, इन्द्रिय बल, धन बल इत्यादि हैं। इनको लेकर अभिमान करना अनन्त बल यानि आत्मा के बल को खोना है। ये मनोबल हरेक के लिए प्राप्य नहीं है। मनोबल का वास्तविक लाभ कर्म मल को धोने के लिए होता है। मन के बिना मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते तथा उसके बारे में विचार भी नहीं कर सकते। प्रयोजन भूत तत्त्व के बारे में विचार मन के द्वारा होता है। अन्तिम पर्याप्ति मनःपर्याप्ति ही है, ये जब प्राप्त हो जाये तो मोक्ष मार्ग के लिए ज्यादा पूँजी की जरूरत नहीं।

जब आत्मा के अनन्त बल के बारे में विचार करते हैं तो मन-वचन और काय बल को इसके काम में ले आते हैं। आप वचन बल, काय बल को प्रमुखता देते हैं, आत्म बल को भूल जाते

हैं और शरीर की सुरक्षा की ओर लग जाते हैं। आपको मनोबल की सुरक्षा करनी है। मनुष्य जीवन की सुरक्षा नहीं, आत्मा की सुरक्षा करनी है। मनुष्य जीवन आत्मा का जीवन नहीं है। मनुष्य जीवन मिला, वह त्रैकालिक नहीं रहेगा, यह आत्मा का स्वभाव नहीं है, कर्म फल का परिपाक है। तीनों बलों को मोक्ष साधन में काम में लाना चाहिए। आत्मा का अनन्त बल इसके पीछे रुका है। जब आत्मा के बल की सुरक्षा करेंगे तब तीनों बलों की सुरक्षा नहीं मात्र समादर करेंगे। आत्मा के अनन्त बल की प्रादुर्भूति के लिए इन तीनों बलों की सुरक्षा करनी है। मन बल, वचन बल व काय बल सीमित है, अनन्त नहीं है। आप इन तीनों सीमित को पकड़कर अनंत को खो रहे हैं और अंत को प्राप्त कर रहे हैं। इन तीनों बलों को आपने अनन्त बार प्राप्त किया पर अनन्त का अनुभव नहीं किया, अनन्त का लक्ष्य नहीं बनाया। वही जीवन सुखमय शांतमय है, जिन्होंने अनन्त को लक्ष्य रखा। इन तीनों का आत्मा के साथ त्रैकालिक संबंध नहीं है।

एकेन्द्रिय में मनोबल व वचन बल नहीं रहता है तथा काय बल में भी जीव के लक्षण दृष्टि में नहीं आते हैं। अतः हम लोगों को सोचना है कि अनन्त का बल पाकर भी अनन्त का अनुभव हमने क्यों नहीं किया। एक कार्य की निष्पत्ति के लिए अनेक कारण अपेक्षित है। मोक्ष मार्ग प्राप्त करने योग्य सामग्री निमित्त मिला, बाह्य कारण भी मिला, पर आभ्यन्तर उपादान कारण में यह लक्ष्य ही नहीं बना कि अनन्त को प्राप्त करना है। वही व्यक्ति मन, वचन, काय, धन बलों को सुरक्षित रखता है जो अनन्त का लक्ष्य नहीं रखता वह सांसारिक पर्यायों की सुरक्षा का लक्ष्य रखता है और उन्हीं के संवर्धन के लिए आज शिक्षा हो रही है। अनन्त को प्राप्त करने का प्रयास कहीं नहीं हो रहा है। नाश की ओर शक्ति बढ़ रही है, विकास की ओर नहीं। पतन की ओर जाने के लिए प्रयास की जरूरत नहीं पड़ती, पर विकास के लिए प्रयास की जरूरत है।

आज भवन बनाने के लिए नहीं, तोड़ने के लिए प्रयास चल रहा है। आपने दुर्लभता से मिली चीजों के साथ अनन्त का विचार नहीं किया। जब पूर्वभव में यही विचार किया तो ये चीजें, बल मिला, मनुष्य पर्याय मिली। अल्पारंभ व अल्प परिग्रह को आपने पूर्व जन्म में अपनाया तब तो मनुष्य जन्म मिला, अब आप बहु आरम्भ बहु परिग्रह को अपनाकर नारकी बनने की कोशिश कर रहे हैं। जिस प्रकार सूर्योदय से पूर्व आभा, उजाला होने की पूर्व सूचना है उसी प्रकार बहु आरम्भ, बहु परिग्रह, अति संक्लेश परिणाम नरक गति का उदय होने की आभा, पूर्व सूचना है। पूर्व में अल्प आरम्भ अल्प परिग्रह रखकर सोचा कि मनुष्य जन्म पाकर मोक्ष प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ करूँगा, लेकिन यहाँ मनुष्य भव पाकर आप इस बार नहीं, अगली बार उद्धार करने की बात विचार कर आज नगद कल उधार वाली बात चरितार्थ कर रहे हैं।

मिली वस्तु को उपयोग में न लाकर भावी अव्यक्त पर्याय की इच्छा करना मूर्खता है। जो वर्तमान का समादर करता है, वही भावी का समादर करेगा। जो वर्तमान में डावांडोल है, उसका भविष्य अन्धकारमय है। उसका अनन्त इन्तजार कर रहा है, पतन उसका निश्चित है। आप यथोचित उपयोग न लाकर अनन्त बल को प्राप्त नहीं करना चाहते और मन, वचन, काय बल को लेकर मद करते हैं। अनन्त बल पर मद नहीं होता है।

यह अनन्त बल आत्मा का स्वभाव है। विभाव, भिन्न पदार्थ को लेकर अभिमान होता है। अनन्त के सामने अंत की कीमत नहीं। अनन्त का विचार करने वाला अन्त के सीमित बल की ओर नहीं देखेगा। हमारे जीवन का अन्त होने जा रहा है, पर हम साधन जुटाते जा रहे हैं और अनन्त का विचार नहीं कर रहे हैं। मनुष्य उपकार करने में सर्वश्रेष्ठ है। वह मोक्षमार्ग को प्राप्त कर सकता है। समंतभद्राचार्य ने अभयदान में श्रेष्ठ तिर्यञ्च को माना है, वह अपने काय बल को भी न्यौछावर कर देता है। समय-समय पर आये प्रासंगिक संकटों को दूर कर लेने की प्रक्रिया का नाम दान है। जिसको जिस समय जिस वस्तु की जरूरत है, उसे वही समर्पण कर देना अभयदान है। सुरक्षा के लिए बल को काम में लें, लड़ें तो स्वर्ग मिल सकता है। और दूसरे को मिटाने के लिए लड़ें, बल का उपयोग करें तो नरक होता है। जो नहीं लड़े, पर मुनि बनकर केवल ज्ञान प्राप्त कर उपदेश देकर स्वयं तो मोक्ष पाता ही है और अनन्त जीवों का अनन्त संसार काट देता है। जिसने सुरक्षा के बारे में विचार किया उसे अवश्य मुक्ति मिलेगी। जहाँ मन बल या वचन बल या काय बल किसी को भी जरूरत हो उसका प्रयोग हो।

वचन व काय बल का प्रयोग नहीं कर सकते तो मन बल का प्रयोग सब का कल्याण चाह कर हो सकता है। सिंह की गति पाँचवें नरक तक, पर मनुष्यरूपी सिंह की गति, सातवें नरक तक है। मनुष्य बलवान है, वह सातवें नरक तक जा सकता है तो पुरुषार्थ कर मोक्ष तक भी जा सकता है। और सिंह भी अणुव्रत धारण कर १६ वें स्वर्ग तक जा सकता है, बल का उपयोग विकास की ओर लगाकर आगे बढ़ सकता है। महिलाएँ भी व्रतादिधारण कर स्त्री पर्याय को छेदकर स्वर्गीय संपदा प्राप्त कर वहाँ से मनुष्य बनकर मोक्ष प्राप्त कर सकती हैं। मुक्ति के लिए पुरुष वेद जरूरी है। पर मुक्ति-शक्ति के दुरुपयोग करने पर नहीं मिलेगी। नरक में मात्र नपुंसक वेद ही होता है। आज तक हमने पंचमगति को नहीं अपनाया। बल का मद किया, यह मद अध:पतन का प्रतीक है। अतः क्षणिक पौद्गलिक पर्यायों को लेकर मद न करें, बल का सदुपयोग कर उपकार करो और जीवन को विकसित बनाओ।

❑ ❑ ❑

ऋद्धि मद

जो ज्ञान, पूजा, कुल, जाति और बल को लेकर मद करता है, वह सम्यग्दर्शन को दूषित व नेश्तनाबूद करता है। अब आचार्य ऋद्धि के बारे में कहते हैं। सुकृत का फल ऋद्धियाँ है। एक ऐसी शक्ति विद्यमान हो जाती है, जिससे अच्छे व बुरे कार्य कर सकते हैं। आज तक हमने ऋद्धियों का दुरुपयोग ही किया। ऋद्धि प्राप्त करके उसका उपयोग सांसारिक कार्यों में जो करता है, वह मोक्ष की ओर नहीं बढ़ पाता। कलंकित हो जाता है, वास्तविक मार्ग को छोड़कर बाहर की ओर दृष्टि कर देता है।

आचार्यों ने ऋद्धियों को दूर रखा है। वे ऋद्धियाँ उत्पन्न होने के बाद भी लक्ष्य दूसरी ओर रखते हैं। क्षणिक ऋद्धियों को प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करते। ऋद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं तथा जो ऋद्धियाँ प्राप्त करने की चेष्टा करता है, दोनों में फरक है। प्राप्त करने की चेष्टा में लक्ष्य दूसरा होता है। और अपने आप प्राप्त हो जायें तो लक्ष्य उस ओर नहीं रखते, विचार नहीं लाते। आज संसारी प्राणी ऋद्धियों को जीवन का लक्ष्य बना रहे हैं। ऋद्धियों से संसार पर प्रभाव पड़ सकता है, शक्ति प्रकट हो सकती है, नाम, कीर्ति गुणगान हो सकता है। इसमें पड़कर जीवन को भी समर्पित कर दिया जाता है।

आज तक हमने उपासना बहुत की और नव ग्रैवेयक तक भी गये पर अविनश्वर सुख की प्राप्ति नहीं हुई। जब ऋद्धियों को भूल जाएँगे तब यह सुख प्राप्त होगा। श्रुत की आराधना करने पर दसवें अंग तक पहुँचने पर लगभग ७०० विद्यायें एक साथ सेवा में खड़ी हो जाती है। आज हम शक्ति का, ज्ञान का दुरुपयोग करते हैं तो फल भी उल्टा ही मिलता है। शक्तियाँ भी भिन्न प्रकार की होती हैं। वृद्धावस्था में इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती, पर विचार की-अनुभव की शक्ति चरम सीमा पर होती है, गम्भीरता भी ज्यादा होती है। यह लौकिक क्षेत्र की बात है, धार्मिक क्षेत्र की नहीं। अत: शक्ति का सदुपयोग हो दुरुपयोग नहीं। जब बाहर में रस आने लगता है, लौकिक की ओर देखता है तो आध्यात्मिक दृष्टि खत्म हो जाती है। ध्यान चरम सीमा पर होता है तो श्रुत की प्राप्ति तथा बाद में केवल ज्ञान की भी प्राप्ति हो जाती है। किसान घास फूस को लक्ष्य कर खेती नहीं करता, धान को लक्ष्य कर खेती करता है। धान के साथ उसे घास भी मिल जाता है। धान के द्वारा खुद का और घास के द्वारा जानवर का पेट भरता है।

ऋद्धियों को सांसारिक कार्यों में उपयोग करने से आत्मिक विकास रुक जाता है। जब ऋद्धियों की अपेक्षा, उसके फल की आकांक्षा न रखकर आगे बढ़ेंगे तो प्रभावना वीतरागता से होगी, उतनी असंख्यात ऋद्धियों से भी नहीं होगी। सम्यग्दृष्टि भी प्रभावना अंग का धारक तब कहलाता है, जब मनोवेग (मनोरथ) को रोक कर ज्ञान रथ पर आरूढ़ हो जाता है। प्रवृत्ति बिल्कुल रुक जाये,

ओझल हो जाये। शारीरिक, मानसिक और वाचनिक चेष्टा जब रुक जाती है, तब ही वास्तविक प्रभावना है। ख्याति लाभ पूजा तथा सांसारिक बातों को रोक कर तथा ऋद्धियों को गौण कर ध्यान में आगे बढ़ाना है। अगर ज्ञान रूपी रथ पर आगे बढ़ना असाध्य हो जाये तो ज्ञान दर्शन की शक्ति को, ऋद्धियों को धर्म की प्रभावना में लगाया जाये। बड़ी हानि से बचने के लिए छोटी हानि को मंजूर करते हैं। ज्यादा (पूर्ण) बन्ध का प्रसंग आ जाये तो छोटा, थोड़ा बंध हो जाये तो कोई बात नहीं, पर वापस उसी स्थिति को प्राप्त करने का लक्ष्य होना चाहिए। ऋद्धि का प्रयोग करना जो जाने, उसे बता देना तो ठीक भी है, वरना बन्दर के हाथ में हुकूमत देना जैसा होगा। ऋद्धियाँ भी सीमा में रहती हैं।

सम्यग्दृष्टि के लिए सीधा काम करती हैं लेकिन उनका दुरुपयोग करने पर उल्टा फल भी देती हैं, दुखदायी हो जाती है। आज अगर निष्कषायी, निष्क्रोधी नहीं बन सकते तो अनन्तानुबन्धी का अभाव तो कर सकते हैं। सद् ऋद्धि दूसरे के कल्याण के लिए पर असद् ऋद्धि दूसरे व अपना भी नाश कर देती है। जो व्यक्ति कषायी, अज्ञानी है, वह ऋद्धियाँ पाकर भी दूसरों का अकल्याण ही करेगा। आज तक हमने कुऋद्धियाँ पाकर दुरुपयोग कर स्थावर तन ही धरा। सम्यग्दर्शन के, विवेक के अभाव में विषयों की लालसा में ऋद्धियाँ तो प्राप्त की पर फल उल्टा ही मिला।

विवेक व सम्यग्दर्शन के साथ ही सुख शांति मिलती है। जो ऋद्धियों पर मद करेगा, दूसरों को आकर्षित करना चाहेगा तो सम्यग्दर्शन में दोष लगाएगा तथा चरम सीमा पर मद करेगा तो सम्यग्दर्शन से च्युत हो जायेगा। बात-बात पर कषाय करना आत्मा को कष्ट पहुँचाना है, उसे विदीर्ण करना है। स्वर्गों में स्वर्गीय सम्पदा भोगते हुए गुलाम बना रहना पड़ता है, उसमें माफी छुट्टी नहीं है। जो सम्यग्दर्शन से दूर है, उसे ऐसा मानसिक दुख होता है।

वास्तविक ऋद्धि तो वीतराग है, जिससे केवल ज्ञान प्राप्त हो सकता है, वह अनन्त है, अविनश्वर है। वीतराग की ऋद्धि को लक्ष्य बनाकर आगे बढ़ेंगे तो अनादि का दुख छूट जाएगा और अविनश्वर सुख की प्राप्ति होगी। सांसारिक ऋद्धियों के लिए अनन्त समय बीत गया और केवलज्ञान की ऋद्धि के लिए अन्तर्मुहूर्त चाहिए। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, वीतरागता ही ऋद्धि है बाकी सब विषयों की वृद्धि हैं, उनसे केवलज्ञान नहीं होगा। अतः ऋद्धियों पर मद नहीं करना चाहिए। केवलज्ञान प्राप्त करने के साधनों को अपनावें और शक्ति का सदुपयोग करें।

❑ ❑ ❑

तप करो - मद नहीं

आचार्य श्री सातवें तप मद के बारे में आज वर्णन करते हैं। तप का अर्थ है अशुद्ध से शुद्ध बनने का उपाय। अशुद्ध पदार्थ को शुद्ध बनाने के लिए तपाया जाता है। मिट्टी को तपाकर शुद्ध

बनाकर घड़ा बनाया जाता है, तभी वह घड़ा जल धारण कर सकता है। दूध में से घृत निकालने के लिए तपाना जरूरी है, पाषाण में से सोना निकालने के लिए तपाना जरूरी है, उसी प्रकार आत्मा को शरीर से अलग करने के लिए तप है। शरीर से आत्मा तप द्वारा अलग हो सकती है। अशुद्धि से शुद्धि तप द्वारा ही होती है। तप पाथेय का काम करता है। तभी शुद्ध बुद्ध हम बनेंगे जब अपने आपको तप द्वारा तपा लें। तप रूपी अग्नि के द्वारा कर्मरूपी ईंधन को नष्ट कर सकते हैं, तभी आत्मा निर्बन्ध हो जाता है। तप को पाथेय के रूप में लें तो ठीक है, वरना यह अपने लिए भी हानिकारक हो जाता है। अग्नि से खाना पकाते हैं, पर असावधानी से अन्य कुछ भी जैसे हाथ पांव आदि भी जल सकते हैं। तप अग्नि के समान है। तप से कर्म भी जल जाते हैं, पर अविवेक होने पर आत्मा भी जल सकती है। तप को साधन बनावेंगे, विशुद्धि को लक्ष्य रखेंगे तो तप ठीक काम करेगा।

आचार्यों ने १२ प्रकार के तप आत्मा को विशुद्ध बनाने के लिए बताये हैं। पर साथ में यह भी कहा है कि–भव की वांछा नहीं होनी चाहिए। इन तपों के साथ में भव की वांछा अशुद्धि प्रदान करती है। भव की वांछा न होने पर तप के द्वारा शुद्धि की ओर आगे बढ़ सकते हैं। सांसारिक सामग्री की वांछा रखने पर आप कर्मों को नहीं तपाएँगे, बल्कि आत्मा को तपाएँगे। तप साधन होकर भी बाधक बन जायेगा। वांछा न होने पर आत्मा निखर उठता है, कर्म मल छूट जाता है। आचार्य अमितगति जी भगवान की भक्ति करते हुए कहते हैं कि हे भगवान्! मैं शरीर से पृथक् होने के लिए तप कर रहा हूँ। अनादि से बंधन में हूँ, कारावास का अनुभव कर रहा हूँ। आपके प्रसाद से शरीर से पृथक् होऊँ, ऐसी शक्ति देवें। भव की वांछा होने पर कर्म शरीर को नहीं जलाएगा, आत्मा को जलाएगा, आत्मा दुख का अनुभव करेगा।

आपकी दृष्टि बाहरी तप की ओर तो जाती है, पर आंतरिक तप की ओर नहीं जाती। आत्मा Direct बाहरी तप नहीं कर सकता। उपवास, व्रत आदि करने वाले हम नहीं हैं, जब ध्यान में यह आ जाएगा तो मद नहीं करेंगे। आप अपने भावों के ही कर्त्ता हैं, जब भावों में मद हो रहा हो तो उसे दूर करने की चेष्टा करनी है। अपनाना दूसरे द्रव्य का नहीं, अपने स्वभाव का होता है। अनादि से तप तो किया पर नैमित्तिक बाहरी तप ही किया, आभ्यंतर तप नहीं किया जो वास्तविक आत्मा का है। कर्मरूपी ईंधन तभी जलेगा, जब आभ्यंतर तप होगा। आपको शरीर के मल को दूर हटाना है या आत्मा के मल को दूर हटाना है? शरीर के मल को दूर करने से आत्मा का मल दूर न होगा। परमार्थ से बाहर साधक को न होना चाहिए।

आत्मा का सम्बन्ध Direct किन-किन से है यह सोचना है। आभ्यन्तर तप लक्ष्य है और बाह्य तप साधन है। आभ्यन्तर से निर्जरा होती है। बाह्य तप से आभ्यन्तर तप में मजबूती निर्मलता आती है। आत्मा आभ्यंतर तप से निर्मल होगी। संसारी प्राणी भव सुख की वांछा को लेकर तप को

अपनाता है। बाह्य निमित्त द्रव्य क्षेत्र काल को लेकर है। शरीर जिस समय नहीं चलता और क्षेत्र अनुकूल न हो तो बाह्य तप की ओर दृष्टिपात न कर मात्र आभ्यन्तर भावों को स्थिर एवं निर्मल बनाओ। आभ्यन्तर तप को लेकर कभी मद नहीं होता बाह्य तप को लेकर ही मद होता है। सम्यग्दर्शन पर मद नहीं होता, पर उसके अनुसार जब क्रिया करता है, तब अन्दर की ओर दृष्टि न होने पर बाह्य में मद हो जाता है। जब मद, अभिमान हो रहा हो तो समझ लो कि दृष्टि अन्दर नहीं गई। कहा है कि–

दीवार है अमित जो अवरुद्ध द्वार
क्यों हो प्रवेश निज में जब है विकार।
कैसे सुने जबकि अंदर मुक्ति नार,
जो आप बाहर खड़े करते पुकार ॥

बाहर ही बाहर से आप भगवान को पुकार रहे हैं, कह रहे हैं कि किवाड़ खोल दो, मैं आ रहा हूँ। लेकिन बीच में दीवारें है, जिससे बाहर की आवाज अन्दर नहीं पहुँचती है। आप स्वयं भी अन्दर प्रवेश नहीं कर रहे हैं, मात्र बाहर से ही आवाज लगा रहे हैं। जब तक दीवार है, पर्दा है विकार रूपी दीवार को आप जब तक नहीं तोड़ेंगे, तब तक अन्दर नहीं जा सकते। अन्दर जाने के लिए विकार रूपी रिबन को काटना पड़ेगा। बाहरी तप को लेकर यदि मद करेंगे तो तीन काल में भी अन्दर प्रवेश नहीं हो सकेगा, रहस्य समझ में नहीं आ सकेगा। अंतिम लक्ष्य अन्दर जाना होना चाहिए। बाहरी प्रक्रिया तो मात्र साधन है। अन्दर जाने पर निराकृत अवस्था प्राप्त हो जाएगी।

आज तक हमने मदवान होकर तप किया, जिसके कारण नवग्रैवेयक तक जा आए। साधक कभी भी दूसरे के सामने प्रकट नहीं करता, वह तो साध्य को पकड़ने की चेष्टा करता है। वह सोचता है कि इस अनन्त संसार में किसे-किसे दिखाऊँ। इसमें तो अनन्त समय लग जाएगा वह तो स्वयं ही अपने अन्दर देखने लगता है। दिखाने में अन्य द्रव्यों से सम्बन्ध होता है, कुछ भव की इच्छा होती है। पर देखने में दूसरे की आवश्यकता नहीं। दिखाने में दूसरे को समझना पड़ेगा और अगर वह नहीं समझेगा तो उस पर क्रोध होगा, कषाय होगी और अपने देखने की क्रिया से भी च्युत हो जाना पड़ेगा। दूसरे को दिखाने में बाह्य तप ही तो मिलेगा पर अन्दर का तप नहीं दिखेगा।

सद् बोध शिष्य दल को जब मैं दिलाऊँ।
स्वामी निजानुभव को तब मैं न पाऊँ ॥

आचार्य पूज्यपाद समाधितन्त्र में कहते हैं कि शिष्य को भी जब तप को दिखाता हूँ तो अन्दर में शुद्धोपयोग को भूल जाता हूँ, मैं बाहर आ जाता हूँ। हमारी दृष्टि अन्दर की ओर नहीं जाती, महावीर को नहीं देख पाती, बाहरी मनोरम दृश्यों में फिसल जाती है, बाह्य तप ही दिख पाता है।

विषयों की लालसा के साथ जीने वाले जीव भगवान् के समवसरण में जाकर भी केवलज्ञान को नहीं देखेंगे, वीतरागता को नहीं देखेंगे। मात्र छत्र, चमर देखेंगे, मन्द-मन्द पवन का अनुभव कर बाहरी दृश्यों को देखेंगे, बहुत बढ़िया महावीर जैसा शरीर चाहेंगे महावीर के पास केवलज्ञान था और हम बाहर रह गये। अन्दर प्रवेश के लिए विकार का अभाव होना चाहिए। विकार के अभाव होने पर किसी मन्दिर अथवा संघ की जरूरत नहीं होती।

भव की वाँछा के साथ दुनियाँ के पदार्थ आपेक्षित हैं। किन्तु वास्तविक सम्यग्दृष्टि जो है, आभ्यन्तर की ओर दृष्टि करने वाला, बाहर नहीं देखेगा। आभ्यन्तर तप में जो साधन है उसे रखो, बाकी को छोड़ो। आत्मा के साथ सम्बन्ध न होने पर मद किसी न किसी रूप में रहेगा, आभ्यन्तर तप को नहीं चाहने पर बाह्य तप को चाहेगा और तब ही वह मद करेगा। अतः वे अज्ञानी हैं जो बहुत तप, परिश्रम करके भी अन्दर के मल को धोने की चेष्टा नहीं करते। बाहर से बर्तन साफ कर लिए पर अन्दर से साफ नहीं करने पर उसमें दूध फट जाएगा।

आभ्यन्तर शुद्धि के साथ बाह्य शुद्धि सापेक्षित है। बाहर व अन्दर से पात्र को साफ करना जरूरी है। आभ्यन्तर तप में प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, व्युत्सर्ग, स्वाध्याय और ध्यान है। जिस प्रकार १६ बार सोने को तपाने पर उसकी शुद्धि होती है, उसी प्रकार ध्यान की शुद्धि होती है। ध्यानरूपी अग्नि से आभ्यन्तर द्रव्य को स्वच्छ बना देते हैं। जिसको दोषों के प्रति घृणा नहीं है, प्रायश्चित नहीं है, बड़ों के प्रति विनय नहीं है, तो उसका जीवन यूँ ही चला जाता है। महावीर के झण्डे के नीचे आकर भी जीवन को सार्थक नहीं बनाया, संताप को दूर नहीं किया। वास्तविकता को लेकर तप करोगे तो कर्म से मुक्त हो जाओगे। कमी तप में नहीं है, भगवान् महावीर का रास्ता अप्रमाण नहीं है। पर अपने पास कमी है, हमने विपरीत दिशा को पकड़ कर रखा है। अतः तप का मद नहीं करना है, तप को जीवन का अंग बनाना है और तप से आत्मा को उज्ज्वल बनाना है। शुद्ध बनने पर, उज्ज्वल बनने पर आत्मा फिर कभी भी अनन्तकाल तक अशुद्ध नहीं बनेगी अतः उसे शुद्ध बनाने का प्रयास करो।

❑ ❑ ❑

तन पाकर - तनो नहीं

यदि मोक्षमार्गी बने रहना चाहते हो तो आठ प्रकार के मद, जो कि आप लोगों को मोक्ष मार्ग से स्खलित करने वाले हैं, उनसे दूर रहें। आठवाँ मद शरीर को लेकर है। प्रायः लोग शारीरिक सुरक्षा के लिए मद करते हैं। वपु यानि शरीर कहा है। शरीर की कीमत है या आत्मा की कीमत है, इसके बारे में सोचना है। शरीर तो शरारती है, पर आत्मा के पास गुण है, वह शरीफ है। शरीर को वही व्यक्ति महत्त्व देता है जो वास्तविक आत्मा का विकास नहीं करना चाहता है। अनादि से बंधन का

अनुभव जो हो रहा है, वह शरीर को लेकर है। आत्मा को दुख शरीर के कारण है। शरीर का होना ही संसारी प्राणी के लिए दुख का मूल है। शरीर पृथक् होने पर आत्मा मुक्त हो जाता है।

जो शरीर को लेकर मद करेगा, वह मुक्ति नहीं चाहेगा। वह शरीर को रखना चाहेगा और शरीर छूटने से पहले दूसरे शरीर का इन्तजाम करेगा। आप लोग शरीर की सुरक्षा के लिए कैसे-कैसे काम करते हैं। घर में पंखा है सर्दी में उसे चलाते भी नहीं, और उसे फेंकते भी नहीं, दूसरे को हाथ भी नहीं लगाने देते, वह पंखा ज्येष्ठ माह में काम का है। ज्येष्ठ माह में गरम कपड़े पेटी में बन्ध कर रख देते हैं। जो मुक्ति चाहता है वह शरीर की सुरक्षा नहीं चाहेगा। शरीर की सुरक्षा का मतलब संसार की सुरक्षा है। आठों मदों को अपनाने से शरीर तो अनादि से मिल रहा है। बाल्यावस्था आती है और चली जाती है, जवानी भी आती है और चली जाती है पर वृद्धावस्था आती है और समेट कर ले जाती है। समय-समय पर उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य हो रहा है। एक सत्ता के ये तीन पहलू हैं, वे समय समय पर प्रकट होते रहते हैं।

दीपक का अभाव होने पर प्रकाश का अभाव हो जाता है, और अन्धकार छा जाता है। अन्धकार और प्रकाश दोनों पुद्‌गल की दशा है। अतः पुद्‌गल का अभाव नहीं होता। तीर्थंकरों के शरीर में छोटा मोटा परिवर्तन होता है। जन्म के समय बालक परन्तु मुक्ति के समय बड़ा शरीर होता है। हमारी आँखों को परिवर्तन नहीं दिखता। उनका शरीर बिगड़ता नहीं है, पर परिवर्तन तो होता है। मानतुंगाचार्य ने भी भक्तामर स्तोत्र में स्तुति करते हुए कहा है कि -

यैः शांतरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं
निर्मापितस्त्रि - भुवनैकललामभूत।
तावंत एव खलु तेप्यणवः पृथिव्यां
यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति ॥ १२ ॥

हे भगवान! आपके समान रूप अन्यत्र नहीं है क्योंकि आपने पूर्व में ऐसा सुकृत पुण्य अर्जन किया है कि कांति के परमाणु आपके शरीर में समाये हुए हैं। आपके शरीर से दूसरे की तुलना नहीं की जा सकती। भगवान महावीर ने पूर्व में १६ कारण भावना भाई थीं उस वक्त ऐसा शरीर मिले कि मद न कर मोक्ष का संपादन करूँ। दुनियाँ में विहार कर मोहग्रस्त जीवों को उपदेश दे सकूँ। महावीर ने जितनी शक्ति मांगा उससे स्वयं का व दुनियाँ का भला चाहा, तभी उन्हें उत्तम संहनन के साथ कान्ति युक्त शरीर मिला, उन्होंने शरीर को लेकर मान का, मद का अनुभव नहीं किया।

कामदेव के शरीर में तो परिवर्तन आता है, पर तीर्थंकर के शरीर में जो जात रूप होता है, परिवर्तन नहीं होता, अन्तिम समय तक रहता है। उनके दाढ़ी मूंछ भी नहीं आती। कामदेव के ये बातें लागू नहीं है।

मनोज्ञ शरीर को लेकर भी महावीर ने मद नहीं किया, पर कांति को दुनियाँ के सामने प्रकट करने के लिए दिगम्बर अवस्था धारण की और शरीर को परिश्रम में लगाकर केवलज्ञान की प्राप्ति की। उन्होंने ऐसे शरीर को पाकर भी भोगों में उसे न लगाकर योग को धारण किया।

एक व्यक्ति कुरूप है, इसलिए शादी नहीं होती और एक सुरूप व्यक्ति शादी नहीं करना चाहता, दोनों में फरक है। उन्होंने (महावीर) सुरूप होकर भी भोगों में नहीं योग में शरीर को लगाया। शरीर को ठेस नहीं पहुँचाई। उन्होंने आहार विहार भी किया, शारीरिक शक्ति ऐसी थी कि निहार नहीं होता था, मल पैदा नहीं होता था, यह उत्कृष्ट शक्ति थी, जो दिव्य शरीर वालों के होती है। महावीर ने शरीर को वास्तविक तप में ही लगाया। एक क्षण भी भोगों की ओर मन नहीं लगाया। अनादि काल से प्राणी खाता, पीता, सोता आया है, भोग-विलास में रमता भोगता आया है, पर महावीर ने कभी भी पूर्व जीवन के भोगों को स्मरण नहीं किया विलासिता को याद नहीं किया। सुरूप शक्ति को तप के लिए काम में लिया। आप सुरूप बनने के लिए स्नो पाउडर, साबुन लगाते हैं लेकिन जो रूप है, वह तो रहेगा। महावीर ने मद का त्याग कर निर्मद को अंगीकार किया। उन्होंने २५०० वर्ष पूर्व आठों मदों को छोड़कर सिद्ध अवस्था को प्राप्त किया। आप पर्याय बुद्धि के बारे में विचार न करो। पर्याय दृष्टि ठीक नहीं है, द्रव्यदृष्टि ही ठीक है। द्रव्य का मतलब रुपये पैसे नहीं। आत्मिक दृष्टि को स्थान दो।

महावीर ने सत् की ओर लक्ष्य रखा उस सत् में परिवर्तन विकार, दोष नहीं है। उसमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य नहीं है। उसके बारे में महावीर ने विचार किया तो ८ मद गल गये। हम लोगों की दृष्टि त्रैकालिक सत्ता की ओर जाती ही नहीं, और पर्यायों को देखकर मद की प्रादुर्भूति हो जाती है। द्रव्य शक्ति निर्विकार है, वह वीतरागता को लिए है, समता का भण्डार है। कहा है कि-

सत्ता नहीं जनमती उसका न नाश,
पर्याय का जनन केवल और ह्रास।
पर्याय है लहर, वारिधि सत्य सत्ता,
ऐसा सदैव कहते गुरुदेव वक्ता ॥

रात-दिन सत्ता का अवलोकन करने वाले गुरुदेव जो कि आरम्भ-परिग्रह से दूर है त्रैकालिक सत्ता का वे ही अवलोकन करते हैं। संसारी प्राणी आनन्द का अनुभव, सुख शांति चाहता है, पर उसे सुख शांति नहीं मिलती, उसकी दृष्टि से आगे सृष्टि बनती जाती है। वह पर्यायों की ओर दृष्टि जाने के कारण ही दुख पाता है। अथाह समुद्र को लेकर अध्ययन करने पर कमी बेसी नहीं होती, पर मंद बुद्धि वाले लोग सागर को न देखकर लहर को देखते हैं। लहर तो हर समय परिवर्तित होती रहती है, वह हर समय उसी स्थान पर नहीं रहती। संसारी प्राणी को मालूम नहीं वर्तमान पर्याय उत्पाद,

व्यय, ध्रौव्य को लेकर है। वह वर्तमान पर्याय की सुरक्षा के लिए प्रबन्ध करता है। जिसे दुनियाँ के दृश्य को देखकर सत्ता के बारे में विचार हो जाये, उसे ही स्वयंभू कहते हैं। दिखाने में दूसरे को व स्वयं को दुख होता है। एक समय में उत्पाद व्यय ध्रौव्य में परिवर्तन होता है। कहते हैं–

प्रत्येक काल उठता मिटता पदार्थ,
जो ध्रौव्य भी प्रवहमान वही यथार्थ
योगी उसे समझते, लखते सदीव,
आनंद का अनुभव, वे करते अतीव ॥

समय-समय पर मिट रहा, उठ रहा है, योगी उसे देखकर आनन्द का अनुभव करते हैं। हर्ष विषाद का अनुभव नहीं करते। आनन्द तो परमानन्द है। संसारी प्राणी आनन्द की अनुभूति नहीं करता पर मिटने पर विषाद का तथा उठने पर हर्ष का अनुभव करते हैं। जिस प्रकार बच्चा खिलौना टूटने पर रोता है, पर पिताजी नहीं रोते, बल्कि उसे समझाते हैं, उसी प्रकार मैं आपको समझाता हूँ, आप बच्चे से भी बच्चे बन गये। आप पर्याय, नश्वर चीज पर विश्वास लाते हैं। अनन्त शक्ति भी उठने मिटने को नहीं रोक सकती। समुद्र में लहर को कोई भी नहीं रोक सकता।

काल अकृत्रिम है, रत्न राशि की भाँति कालाणु बिखरे पड़े हैं, हरेक क्षेत्र में उनका आवास है, उन बिखरे द्रव्यों में परिवर्तन कर देते हैं। आपको मात्र लिखना नहीं, लखना है। लिखने में परिश्रम दूसरे की सहायता पड़ती है, पर लखना स्वभाव है, उसमें दूसरे की सहायता की जरूरत नहीं। जो लखने लग जाये वही वास्तविक साधु है। लिखने पर तो भाषास्पद बन जाता है। शब्दों को बाँधना शोभा नहीं, ज्ञान को बाँधना नहीं। आपने बन्धन को, पर्यायों को तो अच्छा माना, पर त्रैकालिक सत्ता को नहीं। गुरुदेव पर्याय को भुलाकर पाठक को सत्ता दिखा देते हैं। लहर को देखेंगे तो राग-द्वेष रूपी अन्दर की लहर आएगी। आप सोचें की सागर उठता मिटता नहीं, लहर ही उठती मिटती है। सागर के अवलोकन करने पर लहर आ जाएगी, फिर लहर पर राग द्वेष नहीं होगा। लहर (पर्याय) को देखने पर सत्ता ओझल हो जाएगी। जब आयु समाप्त होगी, तब परमाणु इस प्रकार बिखर जायेंगे जैसे पारा बिखर जाता है और अन्त में राख भी उड़ जायेगी। व्यय उत्पाद क्षणिक हैं, सत्ता घूम रही है, उसके बारे में सोचना है। शरीर बिखरने पर उपदेश सुनने की क्षमता नहीं रहेगी। अतः आत्मा को शुद्ध बनाने की चेष्टा करो। शरीर को लेकर मद, अभिमान न करो तीर्थंकर भगवान्, साधु परमेष्ठी कहते हैं कि मद आदि तेरा स्वभाव नहीं है। अतः उन्हें छोड़ो। आठों मदों को छोड़कर संसार नश्वरता के बारे में कर्म की विचित्रता के बारे में, अध्ययन करें और केवलज्ञान की प्राप्ति करें।

❑ ❑ ❑

मंगल भावना

विदाई बेला पर

आचार्य समन्तभद्राचार्य जी कहते हैं कि अनादि से मिथ्या अंधकार फैला है आत्मा की शक्ति लुप्त हो रखी है, उसको प्रकाशमान करने के लिए ही महान् आत्माओं का जन्म लेना होता है। स्व के साथ पर का उद्धार भी होता है। जब तक संसार में प्राणी रहता है, तब तक दूसरे के लिए ही कार्य होता है। एक बार वीतराग विज्ञानता आ जायेगी तो सभी जीवों के दुख दूर हो जाएँगे, उन्हीं के विचारों के अनुरूप तथा गुरुवर्य आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज का आशीर्वाद यह बल देता है कि स्व पर कल्याण हो, जीवन का यही लक्ष्य बना रहे। मिथ्यांधकार का नाश हो, प्रकाश का अन्त न हो, मल दोष न हो, शक्ति नष्ट न हो।

हम अनन्त शक्ति के धारक बनें, दुनियाँ को मार्ग मिले। अन्धकार वही है जो मिथ्या है। भ्राँति महान् खतरे की चीज है। विपरीत बुद्धि संसार में दुख देने वाली है। महाराज श्री ने अन्तिम समय में यहीं इसी जिले में जीवन व्यतीत किया, उनके पार्थिव शरीर का विमोचन भी इसी जिले में हुआ, चातुर्मास भी इसी जिले में हुए। लोगों का भाग्य था तब ही आचार्य श्री का यहीं रहना हुआ। यहाँ के लोगों का भाग्य है कि मैंने दूर जाकर भी यहाँ चातुर्मास किया। अब आपको जीवन के लक्ष्य के बारे में सोचना चाहिए।

धर्म ध्यान व प्रभावना की दृष्टि से अजमेर जिला उत्कृष्ट है। इस अजमेर क्षेत्र में मुझे धर्म ध्यान हुआ, उसे मैं भूल नहीं सकता। नदी के पानी के रुकने पर पानी के स्वाद में कमी आ जायेगी। बादल एक जगह रहेंगे तो एक बार बरसकर रुक जाएँगे बारिश नहीं होगी। बादलों के हवा के द्वारा आगे जाने पर नये बादल आएँगे और बरसात होगी। नवीनता आती जाएगी, उत्साह बढ़ता जायेगा। अभी जीवन का वास्तविक मौलिक, पुनीत अवसर आया है, जिसे प्राप्त करने के लिए आपने बहुत प्रयत्न किया होगा। २५००वें निर्वाणोत्सव के लिए कहीं विरोध नहीं है। जहाँ भी कार्य हो रहे हैं, अद्भुत हो रहे हैं। शक्ति को न छिपाकर इसी में लगाना है। यह मुझे विश्वास है कि आप अपनी पूरी शक्ति इसमें लगाएँगे। एक साल तक कार्यक्रम चलाते रहे तो जीवन भर चलाने की कोशिश करेंगे इससे अलौकिक प्रभावना होगी। आपका भी अवश्य कल्याण हो जाएगा। महावीर के गुणगान, कीर्ति, यश फैलाने के लिए जीवन के अन्तिम समय तक व्यस्त रहें। मैंने गुरु महाराज के परोक्ष में २ चातुर्मास किए, मैं अन्त में उनको याद करता हूँ और यह दोहा कहता हूँ।

तरणि ज्ञानसागर गुरो, तारो मुझे ऋषीश।
करुणा कर करुणा करो, कर से दो आशीष॥

❑ ❑ ❑

बात तो सही है !

अभी आपने सुकौशल महाराज की प्रेरणास्पद कथा क्षुल्लकजी द्वारा सुनी। जब कभी भी मैं इस कथा को सुनता हूँ, तो मेरा वैराग्य बढ़ जाता है, पर आपको वैराग्य क्यों नहीं होता? राजकीय सम्पदा को छोड़कर, सुकुमार शरीर की ओर ध्यान न देते हुए सुकौशल महाराज ने वैराग्य को अपनाया। जीव का हित-अहित निष्कषाय और कषाय पर निर्भर है। इस संसारी प्राणी का हित धर्म के अलावा तथा अहित अधर्म (पाप) के अलावा किसी में नहीं है। जब निष्कषाय भाव जागृत हो जाएँगे, तब सारी पर्यायें नष्ट हो जाएँगी।

धर्म के आधार से श्वान भी विकास को प्राप्त होकर पूज्य बन जाता है, पर यदि श्रेष्ठ पुरुष भी कषायी हो जाये तो नीच बन सकता है। आत्मा का हित अहित किसमें है ? यह विचारो कि आत्मा के अहित विषय-कषाय और हित वैराग्य ज्ञान है। आप कषायों को अच्छा और निष्कषाय को कष्ट का कारण मानते हैं। जब आप को यह विश्वास हो जाएगा कि राग द्वेष जो कर रहे हैं, वे दुख का कारण हैं, तो आप लोग राग-द्वेष कषाय को छोड़ देंगे। विषय को विष के समान और कषाय को कसाई के समान जब समझ लेंगे, तो जिस प्रकार आप जहर (विष) और कसाई से दूर रहने की कोशिश करते हैं। उसी प्रकार विषय कषाय से दूर रहने की चेष्टा करेंगे। तभी आत्मा पर विश्वास कर प्रभु के बताए पथ पर अग्रसर होंगे।

आप सुकौशल मुनि की कथा को सुनकर वैराग्य नहीं बढ़ाते। दुर्लभतम नर जन्म मिला इसमें भोग विलास की ही बातें हो तो जीवन में अन्धकार ही बढ़ेगा। भेद ज्ञान होने पर ही वह अन्धकार मिटेगा। आपने वीतराग पथ को दुख का मूल ही माना, लेकिन अब इसे सुख का कारण समझने पर भी इसे पकड़ने की चेष्टा नहीं कर रहे हैं। जिस प्रकार बच्चा बार-बार दीपक को पकड़ना चाहता है, लेकिन एक बार दीपक से हाथ जल जाने पर वह दीपक को नहीं पकड़ना चाहेगा। आपका हाथ अभी जला नहीं विषय रूपी दाह से इसीलिए आनन्द का अनुभव कर रहे हैं। जिस प्रकार दाद खुजली को खुजाने पर पहले तो मजा आता है, पर बाद में ज्यादा खुजाने पर खून भी निकल जाता है, बीमारी बढ़ जाती है। इसी प्रकार विषय कषाय दुख की ओर ले जाते हैं। कहा भी है कि-

पर्याय को क्षणिक को लख मूढ़ रोता,
सामान्य को निरखता, बुध तुष्ट होता।
विज्ञान की विकलता दुख क्यों न देगी,
तृष्णा न क्षार जल से मिटती बढ़ेगी।

आप समझते हैं कि विषयों से तृष्णा नहीं बढ़ेगी। अगर १ किलो जल में १ किलो नमक

मिला दे तो उसे पीने से प्यास नहीं बुझेगी। विषयों का विमोचन कर विषयों को मिटा सकते हैं। २ दिन तक तो भूखे व्यक्ति को भूख लगेगी उसके बाद भूख नहीं लगेगी। रोटी खाने से मात्र २-४ घण्टे भूख मिटा सकते हैं। विषयों को भोगेंगे तो तृष्णा बढ़ेगी। अग्नि में ईधन डालने पर अग्नि बुझेगी नहीं, उद्दीप्त होगी। कर्म के उदय से फल मिटता है, उसमें वीतरागी, समता के धारक हर्ष-विषाद नहीं करते। खारे जल से प्यास मिटेगी नहीं, उद्दीप्त होगी। आप लोग समझते हुए भी नहीं समझ रहे हैं। एक बार विज्ञान जागृत हो जाएगा तो भी ज्यादा कहने की जरूरत नहीं। आपको एक बार भी अनुभव हुआ कि विषय विष के समान है। सामने वाले को गुस्सा तभी आता है, जब विरोध होता है। चुप रहने पर सामने वाला भी चुप होकर बैठ जायेगा।

जब तक आपको नरकों की वेदना याद नहीं आती, तब तक विषय कषाय छूटते नहीं। भेदविज्ञान के उपरांत व्यक्ति विषय कषाय की तरफ नहीं जाता। अगर जाना भी पड़े तो जिस प्रकार आप घृणा योग्य स्थान पर नाक पकड़ जल्दी वहाँ से जाना चाहेंगे, उसी प्रकार वह भी जाएगा। यह लोभी जीव वैराग्य दृश्य को देखकर भी विषयों की ओर ही जाता है। मनुष्य गति मिलने पर भी भेद विज्ञान न हो तो कुछ नहीं होता। विषयों में बहुत मजा मानता है, ठण्डी-ठण्डी लहर का अनुभव करता है। मोह का साम्राज्य तब तक होता है, जब तक अच्छे को बुरा और बुरे को अच्छा मानता है। जिनेन्द्र भगवान हैं, स्वाध्याय के लिए शास्त्र है, पर परिणति विषय कषायों की ओर जा रही है, अतः विषयों में आसक्ति कम होनी चाहिए। एक बार अन्दर से चिंगारी बाहर आ जाये, भेद विज्ञान जागृत हो जाये तो मोह रूपी अन्धकार नहीं रहेगा। मोह मद पी रखा है, तभी दूसरे ने आप पर अधिकार जमा रखा है।

ज्योत्सना जगे, तम टले नव चेतना है,
विज्ञान-सूरज छटा तब देखना है।
देखे जहाँ परम पावन है प्रकाश,
उल्लास हास, सहसा लसता विलास।

विज्ञान रूपी सूर्य के उदय होने पर जीवन में बसन्त-सी बहार आ जाती है, सुख का अनुभव होने लगता है। जिसके जीवन में ऐसा प्रकाश नहीं है, वह कहीं भी चला जाये उसे अन्धकार ही मिलेगा। अन्धे के सामने अन्धेरा है, सवेरा देखने के लिए उसके पास आँखें नहीं है। ये यन्त्र, शास्त्र वैराग्य के दृश्य हैं। बोध आ जाये तो क्रोध मिट जाएगा। आपमें क्रोध की बाढ़ आ रही है, विषय को भोगने की आकांक्षा है। प्रतिकूल वस्तु को अनुकूल मत समझो, अपनी दृष्टि को मांजो। जब तृष्णा में विकास होगा तो विज्ञान की विकलता दुख ही देगी, जीवन में रुदन रहेगा। क्योंकि उसका ज्ञान जब विपरीत है तो उसके विपरीत फल मिल रहा है। अज्ञान दुख का मूल

कारण है, विज्ञान सुख का कारण है। हेय को छोड़ना होगा और उपादेय को पाना होगा। सही रास्ते पर लग जायें तो समझो भेद विज्ञान हो गया। विषय-कषायों से मुख मोड़ो तभी आत्म-दर्शन होगा वरना तो दुख ही दुख है।

❑ ❑ ❑

उपकार - वीर का

मैं आप लोगों को महावीर के पथ की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ। महावीर का यह तीर्थ बहुत विशद उदार है, इसको प्राप्त कर कोई पावन हुए बिना नहीं रहेगा। इस तीर्थ से ही देव-दानव, मनुष्य व तिर्यञ्चों का उद्धार हुआ है। जिस प्रकार महावीर ने अपने आपके जीवन को समृद्धशाली, अपूर्ण से पूर्ण बनाया, उसी प्रकार हमें भी बनाना है। नदी की भांति है महावीर का तीर्थ, जो कोई भी आता है तो उसे अपनी चीज दे देता है। तभी उपयोग में भी चेतनता आ जाती है। महावीर के तीर्थ से उपयोग निर्मल से निर्मलतर, निर्मलतम् हो जाता है। गुरु की अनुपस्थिति में (पात्र के न होने पर) महावीर की दिव्य ध्वनि नहीं खिरी। गुरु के उपदेश स्वयं के लिए नहीं थे, किन्तु दुनियाँ के लिए थे। लोगों ने समझा कि महान् विभूति दुनियाँ के लिए ही होती है। गाये भैंसे चारा खाकर मीठा-मीठा दूध प्रदान करती हैं। शुष्क भोजन खाकर मिष्ठ दूध देती है। नदी नाले पहाड़ों, चट्टानों से टकराकर, बहकर दुनियाँ को मीठा जल प्रदान करते हैं। पेड़ पौधे भी सर्दी गर्मी सहकर दूसरों को छाया प्रदान करते हैं। सज्जनों के वित्त वैभव भी दूसरों के उपकार के लिए होते हैं। उपकार का अर्थ संकट का निवारण है। संकट के निवारण के लिए जो महान् आत्माओं के द्वारा कार्य किया जाता है वह उपकार कहलाता है। जो भूखा नहीं है, उसके पास जलेबी भी रख दो, तो वह उपकार नहीं है।

सम्पत्ति भिन्न-भिन्न प्रकार की है। दुनियाँ की सम्पत्ति एक तरफ और महावीर की सम्पत्ति एक तरफ है। महावीर की सम्पत्ति की कीमत सबसे ज्यादा होगी। तीन लोक की सम्पदा आ जाए तो भी तुलना नहीं की जा सकती। महावीर में अलौकिक शक्ति जो प्रादुर्भूत हुई उसे उन्होंने दुनियाँ के लिए समर्पित की। वे उस ओर बढ़े और दुनियाँ को रास्ता मिला। निर्वाण का अर्थ जीवन का निर्माण है। जीवन जब तक निर्मित नहीं, जीवन में विकास नहीं होता है तो जीवन जीवन नहीं कहलाता। दुनियाँ के निर्माण में महावीर का उपासक आनन्द का अनुभव करेगा, भले ही खुद का उपकार हो या न हो। धर्म के भाव जितनी मात्रा में होने चाहिए, उतने तो नहीं हैं, फिर भी धर्म के भाव लोगों में हैं। यही आगे जाकर महावीर जैसे बनेंगे। पौधे में धीरे-धीरे ही छाया के भाव, फलों के चिह्न प्रादुर्भूत हो जाते हैं।

इस २५००वें निर्वाणोत्सव से दुनियाँ का उद्धार होने का समय आ गया है। ऐसी-ऐसी

अनोखी बातें हो रही हैं, जो पूर्व में अन्तराल में सुनने में नहीं आईं। राष्ट्र व राज्यों की ओर से महावीर के संदेश को मान्यता मिल जाना कोई मजाक या खेल नहीं। ऐसी विषम स्थिति में भी जहाँ ५५ से ७० करोड़ की आबादी है, वहाँ २५०० साल बाद भी महावीर के संदेश राष्ट्र के लिए प्रेरणास्पद हैं। जब राष्ट्र को मंजूर है, तो प्रजा भी वही बातें मंजूर करेगी, उसी अनुरूप चलेगा। भाव निक्षेप तो अन्तिम है, पर नाम निक्षेप तो हो ही जायेगा। महावीर के नाम लेने वाले संदेश अच्छे लग गये, इसका मतलब हित निहित है। महावीर तो कल्याण कर चले गये, पर उनके तीर्थ द्वारा भी अरबों जीवों का कल्याण हो रहा है। वृषभनाथ को भी अहिंसा धर्म प्रचार करने के लिए जितना समय मिला उससे भी ज्यादा समय महावीर को मिला। चतुर्थ काल में २४ तीर्थंकर अपेक्षित हैं। महावीर को चतुर्थ, पंचम व फिर पंचम काल अहिंसा प्रचार हेतु मिला। साढ़े इक्यासी हजार वर्ष उपरांत तीर्थंकर का जन्म होगा। महावीर भगवान को महत्त्व ज्यादा देंगे। हम महावीर के पक्ष की तरफ हो जाएँ तो सम्यक्त्व बिगड़ेगा भी नहीं। महावीर का बहुत कम समय में बहुत ज्यादा उपदेशों का प्रचार हुआ। उपशम सम्यक्त्व तो थोड़े काल के लिए होता है। क्षयोपशम सम्यक्त्व में शांतिनाथ शांति के कर्ता पार्श्वनाथ विघ्न के हर्ता हैं, ऐसा विकल्प हो सकता है फिर भी यह विकल्प सम्यक्त्व के लिए घातक नहीं है।

महावीर के तीर्थ में ही हम पीड़ा को दूर कर रहे हैं उन्होंने जो उपकार किया, वह याद रहेगा, चिरस्मरणीय रहेगा। हमको सोचना है कि दूसरों की मदद भी करना है, महावीर से मदद लेकर। गिरा हुआ व्यक्ति गिरे हुए को नहीं उठा सकता। महावीर ने अपने जीवन को पतित से पावन बनाया। आज तक हमारी ऐसी भावना नहीं हुई। मन, वचन, काय, कृत-कारित अनुमोदना से नहीं चाहा कि हमारा उद्धार हो तथा साथ ही साथ दूसरे का भी उद्धार हो। आप तो महावीर के उपासक कहलाते हैं तो यह परम कर्त्तव्य है कि दुनियाँ के दुख दूर करें। महावीर के निर्वाणोत्सव में ऐसे कार्य (प्रभावना) करो कि आने वाली पीढ़ी व आज की संतान को राह मिल सके। विचार साकार हो जाये अपने आपको धन्य समझो कि इस समय आपका जन्म हुआ। आगे आने वाली पीढ़ी को ऐसी सामग्री नहीं मिलेगी, ऐसे कार्य करने के लिए। धीरे-धीरे धार्मिक वृत्तियों का अधःपतन हो रहा है। प्रलयकाल में धार्मिक वृत्तियों का अभाव होता जाता है, धार्मिक बातों का ह्रास होने लगता है। धर्म कर्म नष्ट होता है। हमारा जीवन अच्छा है कि ये बातें अभी नहीं हैं।

महावीर ने जो राह बताई, वह हमें अक्षुण्ण मिल रही है। आप किसी भी स्थिति में रहे, कहीं भी रहें, यह भाव हो- कि सुखी रहे सब जीव जगत के कोई कभी न घबराये, बैर पाप अभिमान छोड़ जग नित्य नये मंगल गावें- ये भाव इतने उज्ज्वल हैं कि पैसे से प्रभावना की जरूरत नहीं। मात्र मन में महावीर को याद रखते हुए ये भाव धारण करेंगे तो आपको भी शांति मिलेगी। व

अड़ोसी-पड़ोसी को भी शांति मिलेगी। मन में विकार नहीं हो तो तन में भी विकार नहीं होता है। दुखी जीवों को देखकर यह भाव हो कि कब ये सुखी बनेंगे। इसीलिए केवल ज्ञान की वाणी प्रामाणिक है कि वहाँ राग द्वेष का अभाव है। दूसरे को डर लगे, उस प्रकार की बातें नहीं करनी चाहिए। मन में शब्दों में और कार्य में कोमलता हो तो फिर निर्वाणोत्सव भी सार्थक हो जायेगा। डॉक्टर वैद्य जीने की आशा न भी हो तो भी वे रोगी को यह नहीं कहते कि तुम्हारी बीमारी ठीक नहीं होगी। वह यही कहता है कि तुम जल्दी-जल्दी ठीक हो जाओगे, ऐसा कहने पर रोगी का १२ आना रोग चला जाता है। रोगी को अभय मिल जाता है। अतः आप भी यही भावना भाओ कि अभय हो, दुनियाँ का कल्याण हो...।

❑ ❑ ❑

आप भी-तर जाओ

संसारी प्राणी यात्रा कर रहा है, जिस प्रकार आप लोग कुछ पाथेय लेकर यात्रा करते हैं, उसी प्रकार यह प्राणी भी अपनी यात्रा में कुछ कमाता कुछ खर्च करता है। अनादि से सुख की खोज के लिए जन्म मरण कर भ्रमण करता है। अनेक बार इसने कुछ पाथेय लेकर यात्रा की किन्तु उस पाथेय का स्वाद इसे नहीं आया सुख का अनुभव नहीं किया। दुख क्यों हो रहा है, सुख क्यों नहीं ? इसके लिए कहा है-

दाम बिना निर्धन दुखी, तृष्णा वश धनवान।
कहीं न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान ॥

संसार में कहीं सुख नहीं है, सब जगह देखा, दुख का ही अनुभव किया। कुछ अपने आपको धनवान समझते हैं। जिन्होंने सुख प्राप्त कर लिया है, उनका अनुभव है कि जब तक धन नहीं, तब तक दुख होता है और तृष्णा वश जो धनवान है, वह भी इतना ही दुःखी है कि जितना निर्धन होता है। अन्त में यही कहना पड़ा कि संसार में सुखी कोई नहीं है। कहा है कि-

चक्री बने, सुर बने, तुम सर्वभौम,
पे अंत में फल मिला, सुख का विलोम।
जो अग्नि में सहज शीतलता कहाँ है,
जो उष्णता धधकती रहती वहाँ है ॥

हम शीतलता के लिए जा रहे हैं, पर अग्नि के सामने शीतलता की अनुमति नहीं होगी। स्वर्गीय सम्पदा व चक्रीपने में भी सुख का अनुभव नहीं हुआ, तो यहाँ पर धन को लेकर सुख का अनुभव कैसे हो सकता है? पर धर्म को न चाहने वाला तथा धन को चाहने वाला यहाँ भी दुखी है तथा आगे भी दुखी ही रहेगा, वह तृष्णा वश दु::खी है। जैसे भूख लग रही हो तो एक आधा घण्टा

भूखा और रहा जा सकता है, पर रोटी का टुकड़ा दिखा दे तो भूख ज्यादा बढ़ जायेगी। तृष्णा वश धनी ज्यादा दुखी हो जाता है। धन के उत्पादन में दुख है उसके संवर्धन में दुख है। पानी अन्दर आता है तो कम गति से तथा बाहर ज्यादा तेज गति से जाता है। धन भी उसी प्रकार आते वक्त धीरे-धीरे कम मात्रा में आता है, पर जाते वक्त अधिक मात्रा में जल्दी-जल्दी जाता है, तो दुख होता है।

धन के उपासक के आर्त-रौद्र परिणाम हो जाते हैं, खाना-पीना सोना भी छूट जाता है। यह जन्म-मरण आज का व्यवसाय नहीं किन्तु बहुत दिन का है। यह निश्चित मानो वह घड़ी आने वाली है, जिस दिन शरीर छूटेगा, परन्तु उसके पूर्व पुरुषार्थ करना है। जो मरण को प्राप्त करता है तो वह जन्म भी धारण करेगा कहा है कि ''मरता है तो मर जा, जीते जी कुछ कर जा''। कुछ न कुछ करना है, पर धन का संचय नहीं। हम अपनी परम्परा को छोड़ने को तैयार नहीं है। हम जानते हैं कि फलाना आदमी मर गया हमारा भी नंबर आएगा। मरण तो निश्चित है, पर जीवन में करने की नहीं सोचते। जिनको यह विश्वास हो जाये तो फिर ''स्वार्थ त्याग की कठिन तपस्या बिना खेद जो करते हैं, ऐसे ज्ञानी साधु जगत के दुख समूह को हरते हैं।''

जीवन में खुद के दुख को मिटाते हुए दूसरों के दुख को, तड़फन को मिटाने की चेष्टा करें। जब तक जीवन है, तब तक करें, मौत आने पर तो वह रुकेगी नहीं। काल भी पूर्व सूचना देकर आता है। जब तक सुरक्षित है तब तक काम कर लो। काल पर विजय प्राप्त करो, कुछ करके बताओ। मरना निश्चित है, उसके उपरांत जीना भी है। जन्म मरण छूटे, इसके लिए दुख दूर करने के लिए यही रास्ता है कि जीवन को अपने पीछे लगावें। धर्म को आदर्श को सामने रखें, धन को पीठ पीछे रखें। ऐसा कोई भी नहीं है जो धन-धन नहीं कहता है। धन के अर्जन व उसके संवर्धन के लिए आप बहुमूल्य समय को लगा देते हैं और मरण का आह्वान करते हैं, मरण के पास जाते हैं। धर्म के संवर्धन से काल धीरे-धीरे सरकता है, आयु बढ़ जाती है। प्रायः सभी को काल की चेतावनी Warning मिलती है। बाल सफेद हो जाना यह 1st Warning है। काले भी थोड़े ही रहते हैं। दूसरे दांतों का टूटने लगना है, आज कल इसे छिपाने के लिए नकली दांत भी लगा लेते हैं। तीसरी चेतावनी आँखों से कम दिखना है, इसके लिए भी चश्मा लगा लेते हैं। फिर कमर झुकने लगती है और लकड़ी भी हाथ में ले ली जाती है। काल अब जल्दी करता है, अतः ऐसा कार्य करो कि जिससे जन्म-मरण की प्रणाली का सत्यानाश हो जाये, तब जीवन रहेगा। जन्म जीवन नहीं है, अतः रहने की आपको आशा है, पर मरने की नहीं। जो जन्म की सुरक्षा नहीं करता वह मरण से नहीं डरता। जीवन को धन के लिए न बेचो। जीवन निर्माण के लिए समय देंगे तो वह निर्माण, मुक्ति, पाथेय का काम करेगा। आप लोग समय-समय पर उस सामग्री को बटोर रहे हैं, जिससे दुख की ही वृद्धि हो रही है, सुख का नाम नहीं है। हरेक क्षेत्र में हरेक समय देखा, पर सुख नहीं मिला।

कहा भी है कि–

ना नीर के मंथन से नवनीत पाते।
अक्षुण्ण कार्य करते थक मात्र जाते ॥

नीर के मंथन से थक जाएँगे, हाथ दुखने लगेगा, पर नवनीत नहीं मिलेगा। वह घड़ी आने वाली है जब शरीर छूटेगा। अतः ऐसे कार्य, पुरुषार्थ करो, स्वार्थ त्याग की कठिन तपस्या करो प्रेरणा मेरी होगी। आप प्रेरणा प्राप्त करते हुए भी लाभ नहीं उठा रहे हैं, वास्तविक मूल्यांकन नहीं करते हैं। दुनियाँ पर संकट न आवे, जब यह भाव जागृत हो जायेगा, तभी वस्तु तत्त्व को देख सकेंगे। जब यह भाव नहीं, तब तक धन के भाव तथा धन की लहर रहेगी। हम धन को गौण कर धर्म की बात करें। जब दूसरों पर संकट नहीं तब दुख का अनुभव नहीं होगा। आप जितने-जितने दुख को दूर करेंगे तभी समझो कि धर्म रूपी तीर्थ में प्रयास कर रहे हैं। मात्र धर्म की ओर दृष्टि रखकर कार्य करेंगे तो कर्म का क्षय होगा, धर्म के चिह्न मिलेंगे, अन्दर की शक्ति बाहर आएगी। आत्मा की ओर दृष्टिपात करो, तभी आनन्द की अनुभूति होगी।

❑ ❑ ❑

सच्चा दर्पण

यह संसारी प्राणी सुख चाहते हुए भी सुख का रास्ता भूला हुआ है। उसे सुख का रास्ता बताने वाले आचार्य कुन्दकुन्द ने अष्टपाहुड ग्रन्थ के मोक्षपाहुड में कहा है। जो आर्त रौद्र में लिप्त संसारी प्राणी है, उनके लिए कहा है। वे कहते हैं कि अब तक मैंने जो कुछ विवेचन किया, वह श्रमणों के लिए था, अब मैं श्रावकों का सम्यक्त्व क्या होता है ? उसके बारे में बताता हूँ। जो प्राणी मोक्ष को चाह रहा है, उसको मालूम नहीं कि आचार्य क्या कहेंगे ? पर आचार्य जानते हैं कि यह प्राणी भागता हुआ आया है। अतः मैं इसको मोक्ष का मार्ग न बताऊँ तो टूट जायेगा। अतः वे श्रावकों के बारे में बताते हैं। श्रावक वह होता है जो समाधि का उम्मीदवार होता है, वह समाधि प्राप्त करने की शिक्षा प्राप्त कर रहा है। उस समाधि को प्राप्त करने की इच्छा भगवान् अभिनन्दन जब तक गृहस्थ में रहे, तब तक न कर सके। जब उन्होंने दोनों प्रकार की ग्रन्थियों को हटा दिया, तभी समाधि को प्राप्त किया। अतः इसीलिए वे पूज्य हैं। वही बात आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि जो समाधि को प्राप्त करना चाहते हैं, इसकी प्राप्ति कैसे हो? इसकी शिक्षा कहा मिलेगी ? श्रावकों को बहुत मीठे वचनों से सम्बोधन करते हैं कि हिंसा से रहित जो धर्म है वही वास्तविक धर्म है। जहाँ हिंसा है, हिंसा करते हैं, वहाँ धर्म नहीं है। अहिंसा रूप धर्म का श्रद्धान सम्यक्त्व है। अठारह दोषों

से रहित अरहंत पर श्रद्धान सम्यक्त्व है और निर्ग्रन्थ पर श्रद्धान सम्यग्दर्शन है पर दोनों अलग-अलग हैं। लक्ष्य एक है, पर पात्र दो हैं। पात्र सुख चाहते हैं। रोगी का महत्त्व नहीं डॉक्टर का महत्त्व है। पात्र कहता है कि अनादि काल से भटक रहा हूँ, भगवन्! आपको तरण-तारण समझकर आया हूँ, कुछ रास्ता बताओ। आचार्य रास्ता बताएँगे, समाधि का विश्लेषण करेंगे। जिसका बाहर के साथ Attachment है, उसके लिए समाधि को अपनाना बहुत मुश्किल है। लेकिन डॉक्टर तभी कहलाएगा, जब रोग से मुक्त करेगा, वरना तो कैसे डॉक्टर ?

भक्तामर स्तोत्र में स्वामी मानतुंगाचार्य ने कहा है कि इसमें कोई विस्मय नहीं है कि आपके पास कोई आ जाये, दर्शन करे और आप जैसा बन जाये। यह तो लोहे और पारसमणी का सम्बन्ध होने पर सोना बनेगा। भगवान् का सान्निध्य पाकर भगवान बन जाये, इसमें विस्मय नहीं। विस्मय की बात यह है कि भगवान का सान्निध्य पाकर भी भगवान न बने। भक्ति के द्वारा भी मुक्ति होती है, पर भक्ति से ही मुक्ति हो, सो यह बात नहीं। भगवान की भक्ति से रास्ता दिख सकता है। भगवान दर्पण के समान हैं, उससे कालिमा दिखेगी, पर दर्पण कालिमा को नहीं मिटाएगा। हमें ही मिटानी होगी। दर्पण देखने के बाद उसकी Value नहीं, उसके बाद हाथ की आवश्यकता है। हाथ ही कालिमा को मिटाएगा। भगवान महावीर का दर्शन समाधि का कारण है, समाधि नहीं। संसारी प्राणियों को देव दर्शन करना आवश्यक है। दर्पण में काँच के पीछे लेप है, तभी उसमें प्रतिबिम्बित होता है, सामान्य काँच में नहीं। परन्तु दर्पण में काँच के पीछे वाला लेप दिखाई नहीं देता। लेप की तरफ देखने से मुख भी नहीं दिखता, उस पर लगी कालिमा को नहीं ढूँढ सकता।

अरहंत देव दर्पण हैं, काँच नहीं। दर्पण में जाकर अपने दोष देखेंगे, तुलना करेंगे। दूसरों को देखकर दोष दूर नहीं कर सकते हैं। असाधारण भगवान् का मुख देखकर ही दोष दूर कर सकते हैं, सदोष को देखने से दोष दूर नहीं होंगे। दर्पण में धूली लगी होगी तो मुख पर भी धूली ही नजर आएगी। यह दर्पण सदोष है आप लोगों का अपना काम जो होगा, वह सिद्ध परमेष्ठी को देखकर नहीं होगा, अरहंत भगवान् के द्वारा ही होगा। आप लोगों को आँखों के द्वारा अरहंत भगवान् देखने में आते हैं। आपको अपने आप में तल्लीन होने की विधि मालूम नहीं है। अरहंत का लक्षण है निर्ग्रन्थ साधुओं में कोई अन्तर नहीं, साधु इन्हें भी कहा है और उन्हें भी कहा है। पुलाक वकुश आदि भेष साधक के कहे हैं। यथा रूप धारी है। जैसे-जैसे गुण बढ़ते गये तैसे-तैसे Quality में अन्तर आ गया। किन्तु विद्यार्थी नाम ही उनका है! एम.ए. का पढ़ने वाला तथा प्राइमरी में पढ़ने वाला दोनों है तो विद्यार्थी ही, परन्तु एम.ए. वाला भले ही सोलहवीं कक्षा में फैल हो जाये पर प्राइमरी वाले को तो पढ़ा ही सकता है। यह सिद्ध है कि आप लोग अभी अधूरे हैं, इसीलिए महावीर भगवान् का आलम्बन आवश्यक है। ध्यान रखो कि आलम्बन किस लिए है। दर्पण की आवश्यकता

मात्र मनोरंजन के लिए नहीं, दोष मिटाने के लिए है। हिंसा रहित धर्म और अठारह दोषों से रहित जो अरहंत है, वही आप्त है। मोक्ष मार्ग के नेता सिद्ध नहीं हैं। संसारी प्राणियों को सद्बोधन देने वाले अरहंत नेता है। वे आप्त १८ दोषों से दूर हैं।

जिसके राग-द्वेष-मोह नहीं है, वे आप्त बन सकते हैं। महावीर में श्रद्धान वही रखता है, जो बिल्कुल उज्ज्वल बनना चाहता है, निर्गुणी बनना चाहता है, जीवन के बारे में विचार करना चाहता है। व्यापकता को अपनाएँ बिना दुनियाँ का उद्धार नहीं हो सकता है। दवाई पी लेगा, तो रोग अवश्य मिटेगा। भगवान् कुन्दकुन्द ने श्रावकों को नहीं भूला है। समाधि की उत्पत्ति के लिए दोनों ग्रन्थियों को हटा लिया है। आचार्य समन्तभद्र भगवान शांतिनाथ की स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे भगवन्! जो मनुष्य चक्र प्राप्त करते हैं उसे आपने समाप्त कर दिया, पर बाद में आपने मोह रूपी चक्र को भी ढूँढ कर कैसे समाप्त किया? नरेन्द्र के पास जो चक्र है, तथा मोह चक्र है-दोनों पौद्गलिक हैं, दोनों मूर्त हैं, दोनों में स्पर्श रस गन्ध वर्ण मौजूद है। आत्मा पर प्रहार करने वाला नरेन्द्र चक्र नहीं, मोह चक्र है। औदारिक शरीर पर नरेन्द्र चक्र का प्रभाव पड़ सकता है। पर तैजस, कार्मण पर, सूक्ष्म शरीर पर नहीं। नरेन्द्र चक्र से मोह चक्र को नहीं जीत सकते। अतः भगवान शांतिनाथ ने उसको फेंक दिया और मोह चक्र को जीतने के लिए समाधि प्राप्त करने के लिए निर्ग्रन्थ अवस्था को धारण किया।

कर्मों की तरफ मत देखो, राग द्वेष कम करो। मोहरूपी अविद्या अपने आप चली जायेगी। मोहनीय विद्यमान है, तो सारी फौज विद्यमान है। मोहनीय कर्म निःशस्त्र है, मात्र सामने खड़ा है। आठों कर्म निःशक्त होते ही जहर से रहित सर्प के समान हो जाते हैं। जहरीला दांत टूट जाता है। जब बांसुरी (बीन) बजने लगती है, सर्प नाचने लगता है। बांसुरी वाला सर्प को नहीं मारता। क्योंकि अब उसमें जहर का प्रभाव नहीं है। उसी प्रकार मोह का प्रभाव वीतराग परिणामों पर नहीं पड़ता है। लड़ाई मोह के साथ है, उसके साथ लड़कर भी राग द्वेष नहीं करना है, वही वास्तविक समाधि है। जो जानता है, जो जाना जा रहा है, ये दोनों समयवर्ती पर्यायें हैं। किन्तु ज्ञानी इन दोनों में कभी आकांक्षा, राग-द्वेष नहीं करता है।

आचार्य कुन्दकुन्द पात्र को पथ पर ले जाने की चेष्टा करते हैं। राग-द्वेष, मोह की वजह से होता है। किन्तु आत्म समर्पण कर रही है कर्मों की फौज। कर्म उदय में आ रहे हैं, वीतराग परिणामों पर कोई प्रभाव नहीं। समाधि में बैठा व्यक्ति क्या देख रहा है कि सारे संसारी पदार्थ आत्मा से भिन्न-भिन्न हैं। शरीर के लिए जो इष्ट अनिष्ट बनते हैं। यह शरीर भी आत्मा से भिन्न है, तादात्म्य को लेकर नहीं है। मोह के अस्तित्व में भी समाधि हो सकती है, होती है। इसके बाद जो शरीर कर्मों के द्वारा बनता है, ये द्रव्य कर्म भी आत्मा से भिन्न है। इनसे नाता सम्बन्ध नहीं है। जिन ८ कर्मों के

निमित्त राग द्वेष हैं, वे आत्मा से पृथक् हैं। जो राग द्वेष होते हैं, जो इन्द्रियाँ ज्ञान रूप हैं, वे भी आत्मा से भिन्न हैं। औपपादिक ज्ञान किस काम का। त्रैकालिक सम्बन्ध उपयोग के साथ है। मति-श्रुता-वधि मनःपर्यय ज्ञान भी भिन्न हैं, तेरे नहीं हैं। क्षणिक पर्यायें है। अन्तिम सीढ़ी यह है कि वर्तमान में जो जान रहा है, वह भी तेरा नहीं, जो जाना जायेगा, वह भी तेरा नहीं। ज्ञान गुण, ज्ञेय गुण है, वह भी तेरा नहीं। उसको भी भूल जा, अर्थ पर्याय भी तेरा नहीं, क्षणिक है। फिर मोह भाग जायेगा।

मात्र सामने भगवान् विराजमान हैं, जिनका आलम्बन लेना है। वह आत्मानुभूति कैसे हो सकती है? महान् दैदीप्यमान दीपक जल रहा है। पर दिखने में नहीं आ रहा है। उसके दिखे बिना अन्धकार छाया हुआ है। दूसरे से लाइट मांग रहे हैं, पर सर्च लाइट जो तेरे पास है, उसका बटन दबाना नहीं चाहता है। समाधि रूप चक्र को लेकर मोह का संहार कर। अपने आप में तल्लीन हो जाओगे तो तुम्हें कोई नहीं रोकेगा। मोह चपरासी बन जायेगा, वरना तो राजा महाराजा बना रहेगा। लालसा, आकांक्षा को छोड़कर आगे बढ़ जाओ, जहाँ प्रकाश, समाधि, आनन्द की लहर है। अन्त में मैं यही कहूँगा।

ज्योत्सना जगे तम टले, नव चेतना है।
विज्ञान-सूरज-छटा, तब देखना है ॥
देखे जहाँ परम पावन है प्रकाश।
उल्लास, ह्रास, सहसा लसता विलास ॥

❑ ❑ ❑

आचार्य विद्यासागरजी ज्योतिश्चक्र के दर्पण में

वर्तमान में इस दुःषम पंचम कलिकाल में जहाँ चहुँ ओर विनाश का हिंसक ताण्डव दृष्टिगोचर हो रहा है। वहीं काम, क्रोध, मोह-माया, तृष्णा, वैमनस्य एवं भोगलिप्सादि दुष्प्रवृत्तियों ने मानव मात्र को अपने नाग-पाश में बाँध रखा है। वातावरण अत्यन्त विषाक्त होता जा रहा है। सम्पूर्ण विश्व में लोग अपनी आत्महंता प्रवृत्तियों में संलग्न दिखाई दे रहे हैं। मानवता करुण क्रन्दन कर रही है। भद्रजन निरन्तर परम सत्ता से अपने उत्थान व विश्व कल्याण हेतु तथा इस सृष्टि की अनमोल कृति की रक्षा हेतु प्रार्थना में रत हैं।

प्रार्थना व्यर्थ नहीं जाती, फिर परमेश्वर तो दयानिधान हैं उनकी करुणा त्रैलोक्य में विख्यात है। आखिर प्रार्थना उस ब्रह्माण्ड की सर्वोच्च सत्ता तक पहुँची एवं परम सत्ता ने भद्र जनों की पुकार पर करुणा वश कुछ उपाय का निर्णय लिया। यकायक एक तीक्ष्ण विद्युत प्रभा कोंधी एवं लुप्त हो गई। लेकिन परम सत्ता को संकेत मिल गया। उसने अपने चैतन्य के अनमोल खजाने की ओर दृष्टिपात किया और एक दुर्लभ रत्न उस रत्न राशि में से ढूँढ़ा जिसकी विद्युत आभा अत्यन्त आलोकित थी। दुर्लभ रत्न देखा गया, परखा गया फिर प्रकृति सत्ता सन्तुष्ट हुई।

१० अक्टूवर १९४६, सम्वत् २००३ की आश्विन मास की वह पावन शरद पूर्णिमा, तिस पर निर्मल विमल उज्ज्वल शीतल चन्द्र किरणें चहुँ ओर व्याप्त, वह अर्द्ध निशा का सन्नाटा। जब समस्त चराचर निद्रा-देवी के आगोश में मस्त था। ऐसे मोहक वातावरण में हिंसा व दुर्नीतियों से

जन्माङ्ग चक्र
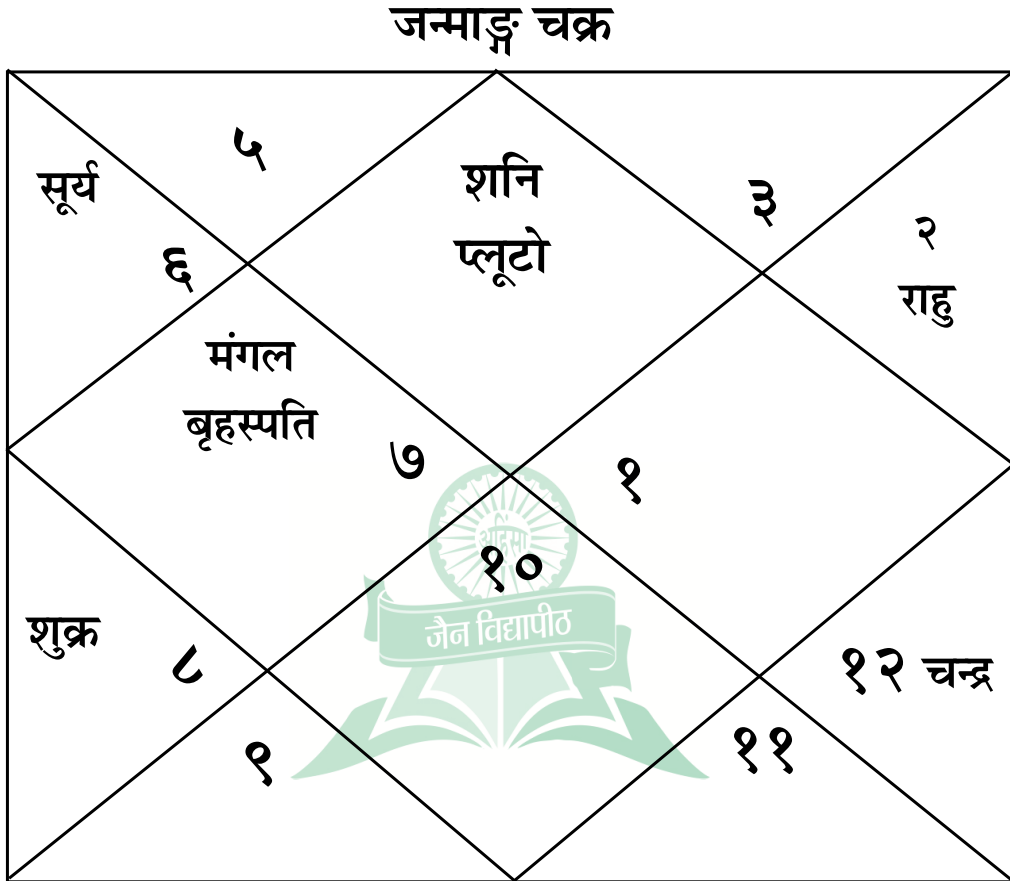
जन्म दिनांक १०/११ अक्टूबर १९४६ आश्विन शुक्ला १५ वि.सं. २००३ समय-रात्रि करीब १:५० पर बुधवार-गुरुवार की रात्रि स्थान-ग्राम सदलगा, जिला-बेलगाँव, प्रान्त-कर्नाटक।

संत्रस्त मानवता को त्राण दिलाने हेतु भव्य जीवों को काल के विकराल भय से अभय प्रदान करने हेतु एवं सम्पूर्ण मानवता को फिर अहिंसा का सन्देश देकर सन्मार्ग पर चलाने हेतु मार्ग प्रशस्त हुआ। प्रकृति ने उस अनमोल विद्याधर रूपी रत्न को विद्याधरों के लोक से धरती पर अवतरित होने हेतु सुमंगल अवसर प्रदान किया।

ज्योतिश्चक्रे तु लोकस्य, सर्वस्योक्तं शुभाशुभम्।
ज्योतिर्ज्ञानं तु यो वेद, स याति परमां गतिम् ॥

शैशव कब बीता ? कैसे गुजर गए वे अनमोल क्षण ? मातृ एवं पितृ सत्ता सांसारिक

व्यामोह की अर्द्ध चेतनावस्था में लीन रही। उन्होंने उस दुर्लभ रत्न की आभा में अपने को विस्मृत कर दिया।

लेकिन पुष्प की सौरभ अन्य लोगों के लिए होती है। पुष्प देव सत्ता को भी प्रिय रहते हैं फिर वह रत्न पुष्प तो एक विशिष्ट उद्देश्य हेतु प्रस्फुटित हो रहा था। यौवन का आगमन हुआ। अचानक देव योग से चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर जी, ऋद्धिधारक सरीखे तपोनिधि आचार्य की तप सुरभि वातावरण में व्याप्त हुई। विद्याधररूपी रत्न के नथुनों में जो पहुँची सौरभ, और जीवन उद्देश्य को पूर्ण करने की दिशा में चेतना अग्रसर हुई, फिर ब्रह्मचर्य व्रत धारण हुआ योग मार्ग की दिशा में कदम बढ़ाना प्रारम्भ हुआ। आचार्य देशभूषणजी ने एक और बालक को ब्रह्मचर्य व्रत देकर दिगम्बर श्रमण परम्परा पर चलने हेतु प्रथम सीढ़ी चढ़ने का सौभाग्य प्रदान किया।

दीक्षाङ्ग चक्र
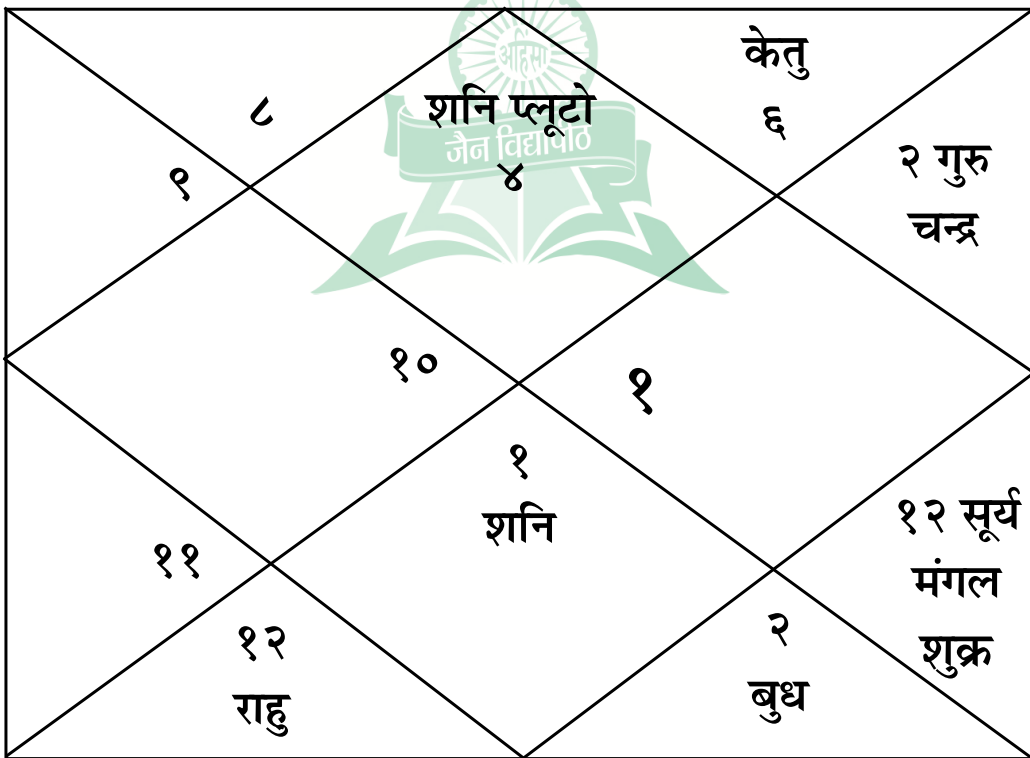
— दीक्षा —

दिनांक ३० जून, १९६८ मध्याह्न, १½ से ४ बजे तक

स्थान-श्री बड़े धड़े की नसियां अजमेर (राजस्थान)

साधु समागम, एकांत चिंतन, मनन, स्वाध्याय ने वैराग्य रूपी पौधे का सिंचन प्रारम्भ कर जड़ें दृढ़ बना डालीं। और यकायक एक दिन विद्याधर रूपी रत्न पंछी उड़ चला, जो पहुँचा एक स्वर्णिम आभा युक्त नगरी, सभी धर्म मतावलम्बियों का संगम स्थल अजमेर नगर। जहाँ की धर्म प्राण जनता परम श्रद्धेय आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज के अथाह ज्ञान समुद्र की जल राशि से सुधामृत का पान कर रही थी।

श्रमसाध्य यात्रा से क्लान्त थकी हारी काया लेकिन अत्यन्त आंतरिक उत्साह, समेटे विद्यारत्न जा पहुँचे अपने परम शिक्षक के पास। कुशल कारीगर के पास जिससे कि वह नर रत्न तराशा जाकर अपने आभामय स्वरूप की प्राप्ति हो सके।

चन्द क्षण, क्षणिक अल्प वार्ता, दो परम आत्माओं का मिलन सहज समागम विद्या रूपी दीपक प्रज्ज्वलित होने को तत्पर एवं ज्ञान रूपी दीपक लौ को प्रज्ज्वलित करने को तत्पर। इस तरह गुरुवर्य ज्ञानसागर से विद्योपलब्धि प्राप्त कर वह रत्न बन गया विद्या सागर। दीक्षा पूर्व की देवराज इन्द्र के वैभव समान शोभा यात्राओं को अत्यन्त उत्साह से जन साधारण ही नहीं अपितु सूक्ष्म लोक की देवात्मायें, ऋषि मुनि एवं दिवंगत दिव्यात्मायें व भद्रजन भी देखकर अपने नयन तृप्त कर रहे थे। फिर आखिर आ पहुँची वह अनमोल घड़ी, दीक्षा संस्कार की विधि प्रारम्भ हुई। स्थानीय बड़े घड़े की नसियां में मुनि श्रावक श्राविकाओं का चतुर्विध संघ विद्यमान एक विशाल पाण्डाल में। जैसे किसी तीर्थंकर का समवसरण हो। हर धड़कन उद्वेलित थी हर सांस वैराग्य की सुरभि से आप्लावित थी। ग्रीष्म की ज्वाला अपने चरमोत्कर्ष पर थी। अन्ततोगत्वा दीक्षा संस्कार सम्पन्न हुआ, दिगम्बर वेश धारण हुआ और देवराज इन्द्र भी रोक नहीं सके अपने को, स्वर्गलोक से मेघ कुमारों को साथ ले आ पहुँचे अभिवादन को चन्द क्षणों में ही निर्मल जल राशि बरसा कर ग्रीष्म ऋतु की तपन से व्याकुल हृदयों को शीतलता प्रदान करने लगे। क्यों न हो जब विद्याधर से विद्यासागर बने प्रकृति के अनमोल चैतन्य नर रत्न ने अहिंसा के परम संदेश को जन जन तक पहुँचाने का संकल्प लिए और शिवपथ पर आरूढ़ हो चले दिगम्बर वेश धारण कर वह महामुनि।

ऐसे दुर्लभ सन्त पहिले तो इस युग में दृष्टिगोचर ही नहीं होते फिर उनका सहज समागम उपलब्ध हो जाये यह हमारा परम सौभाग्य है। धन्य है वे कर पात्र जिन्होंने ऐसे महान् सन्त के चरण वन्दन कर उनके श्री चरणों में अपना आपाद मस्तक झुका कर चरण रज ग्रहण की। निश्चय ही बड़े भागी हैं उनके वे भक्त जो निरन्तर तन-मन धन से उनकी भक्ति में तत्पर हैं लीन हैं। क्यों नहीं प्रकृति उन पर अपना वरद् हस्त रख कर श्री व समृद्धि से उन्हें परिपूर्ण करेगी।

ज्योतिष विज्ञान उन भव्यात्माओं के चर्चा का विषय है जो स्वयं ज्योतिः स्वरूप है। भास्कर सदृश स्वयं जो प्रचण्ड तेजोमयीप्रभा से युक्त है मति श्रुत अवधि व कैवल्य की ज्ञान राशि जिनकी

ज्योति आभा है। सन्त तो स्वयं ज्योतिर्मय एवं त्रिकालज्ञ होते हैं समस्त चराचर व सकल ब्रह्माण्ड की क्रियाओं का ज्ञान उन्हें हस्त कमलवत् होता है। स्वात्मलीन ऐसी परम चैतन्य आत्माओं के सम्बन्ध में कुछ कहना व लिखना सूर्य को दीपक दिखलाने के समान है इसे अपनी अल्पज्ञता नहीं तो और क्या कहूँ। मेरा प्रिय विषय रहा है ज्योतिष। आचार्य श्री के प्रति श्रद्धाभाव व कुछ मित्रों का आग्रह। मन का पंछी उड़ चला ज्योतिष के स्वप्न लोक में और जा पहुँचा ब्रह्माण्ड के ऊर्ध्वलोक स्थित विद्याधरों की पावन सूक्ष्म शरीरी बस्ती में। विचरण करने लगा। आकाशस्थ ग्रह स्थिति का अवलोकन करने लगा। जन्म चक्र के कोष्ठों में लिपि बद्ध ग्रह राशि व उनकी आकाशस्थ स्थिति को निहारने लगा और इस तरह पूज्य आचार्य श्री के जन्म चक्र, दीक्षा चक्र व आचार्य पद प्राप्ति के समय की ग्रह स्थिति का चक्र बना फिर कुछ लिखा जा सका।

आचार्यङ्गम चक्र
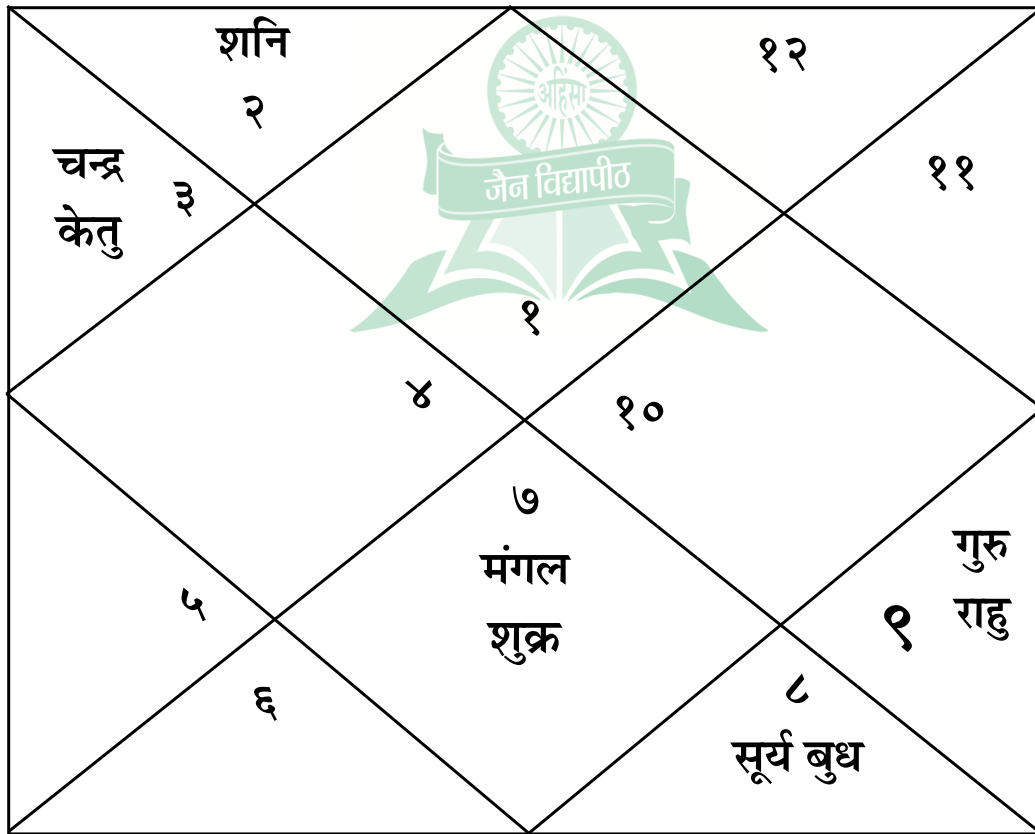
आचार्य पद

दिनांक - २२ नवम्बर, १९७२, सायंकाल करीब ४ से ५ बजे तक

स्थान - नसीराबाद (राजस्थान)

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणां ज्योतिषं मूर्धनि स्थितम् ॥

जब तत्त्व वाला चर राशि का कर्क लग्न। लग्न में बलवान शनि व प्लूटो। लग्नेश भाग्य भवन में स्थित। जल सी शुचिता, सौम्यता व शीतलता प्रदान करता हुआ। शनि कठोर तपश्चर्या पूर्ण जीवन जीने को बाध्य करता हुआ-दृढ़ निश्चयी होने का द्योतक बना है।

तृतीय सप्तम व दशम भाव पर शनि की पूर्ण दृष्टि, अतएव भ्रातृ सुख न्यून। स्वयं को पत्नी सुख नहीं। भ्रमणशील एवं भिक्षावृत्ति से जीवनयापन, उत्कृष्ट श्रम तत्पश्चात् सफलता। अन्य लोगों पर पूर्ण प्रभावी, आत्मध्यान में लीनता का द्योतक।

कर्क राशि स्थित लग्न में प्लूटो परम आध्यात्मिक उपलब्धियां प्रदान करने वाला एवं धर्माराधना में निरन्तर अग्रसर रखने वाला परम आर्ष मार्ग पर चलने की प्रेरणा देने वाला है।

द्वितीयेश सूर्य की तृतीय भाव में बुध की उच्च राशि में स्थिति परम साहसी व जातक को अतीन्द्रिय क्षमता से सम्पन्न बनाती है। पराक्रमी एवं पूर्वाचार्यों द्वारा स्थापित श्रमण मार्ग पर चलते हुए मोक्ष गामी चेतना होने का संकेत देती है। नेपच्यून का साथ चेतना को उतरोत्तर प्रगति व परम समाधि को उपलब्ध होने की ओर एवं निरन्तर उग्र तपस्या में लीन रह धर्माराधना में सक्रिय रखता है। तात्पर्य है कि पूर्ण संन्यासी योग घटित होता है।

सूर्य एवं चन्द्रमा परस्पर आमने सामने है एतद् द्वारा स्वभाव में मधुरता युक्त दृढ़ निश्चयी व निरन्तर तीर्थाटन व तीर्थोद्धार करने वाला प्रवासी व भ्रमण शील व्यक्तित्व होना बतलाता है यहीं श्री कण्ठ योग घटित होता है जिसका तात्पर्य है ऐसा व्यक्ति शिव सम्प्रदाय (ऋषभनाथ) में दिगम्बरी जैनेश्वरी दीक्षा में दीक्षित होता है।

चन्द्रमा पर नेपच्यून की दृष्टि की वजह से स्वप्निल कायिक विकास व मानसिक सिद्धियों की उपलब्धि संभव होती है। निरन्तर सद्धर्माराधना में प्रवीण क्रियाशील रहता है ऐसा पुरुष। उत्कृष्ट काव्य रचना में भी रत रहता है।

तुला राशि में बुध व गुरु की युति चतुर्थ भाव में है व मंगल भी साथ है। मोक्षाधि पति बुध, धर्माधिपति गुरु व राज्याधिपति मंगल तीनों बलवान ग्रहों के प्रभाव से ऐसा व्यक्ति महाकवि, लेखक, आगम ज्ञान का धारक, पूर्ण पाण्डित्य से युक्त वक्ता, होता है। यह निरन्तर गूढ़ ज्ञानाभ्यास में रत रहकर गुरु पद अर्थात् धर्माधिपति या धर्माचार्य के पद को सुशोभित करता है। अनेक विद्यायों जैसे न्याय, छन्द, व्याकरण, दर्शन, योग आदि में उत्कृष्ट विद्वत्ता अर्जन करता है। दशम भाव पर उक्त ग्रहों की दृष्टिवश, जातक अपनी रचनाओं व सम्यक् आचरण के बल पर तथा निरन्तर अध्यापन द्वारा ज्ञान प्रदान करता हुआ समाज को उपकृत करता है। सत्ता, न्याय व शासन करने की क्षमता भी

यही योग प्रदान करता है, इसी वजह से निर्भीक व्यक्तित्व प्रकट हुआ है। यहाँ कारण है कि आप आचार्य पद से विभूषित होकर एक बहुत विशाल मुनि, आर्यिकाओं, ब्रह्मचारी, श्रावक-श्राविकाओं के संघ प्रमुख बने है एवं अपनी धीर वीर गम्भीर वाणी में प्रवचनों के माध्यम से लोकोपकार में संलग्न है। विद्वज्जनों, भद्रजनों, जैन एवं अजैन जन साधारण द्वारा ही नहीं, साधु संन्यासियों, ज्ञानियों एवं शासन सत्ता में प्रमुख व्यक्तियों द्वारा भी वन्दनीय हैं।

मिथुन राशि पर गुरु की दृष्टि उत्तम गायन शैली हेतु कण्ठ में सरसता व मधुरता प्रदान करती है।

पंचम भाव में मंगल की राशि में शुक्र व केतु की युति एवं मंगल शुक्र का परावर्तन योग है। एकादश भाव में बहुत अच्छी स्थिति का राहू है।

वृश्चिक के पृष्ठ भाग में स्थित तीक्ष्णता के समान अपनी वय के उत्तरार्द्ध में इस व्यक्तित्व का जाज्वल्यमान व दैदीप्यमान होना संभव है। लेकिन उत्कृष्ट प्रयासों द्वारा ही सफलता मिले। वृश्चिक दंश का योग भी जन्म पत्रिका में भाषित है। इसके अतिरिक्त वृषभ राहु जो स्वयं अमृत पायी है, अमरत्व प्रदान करने में कुछ भी कृपणता नहीं दिखा रहा है। अर्थात् अमरत्व को उपलब्ध होंगे।

शनि से मंगल बुध गुरु का केन्द्र योग, सूर्य शनि का त्रिरेकादश योग, सूर्य चन्द्र का सम सप्तम योग, चन्द्र राशि से त्रिकोण में शनि, तृतीय में सूर्य व उससे नवम में राहु की स्थिति, लग्न स्थित कर्क गत शनि की स्थिति इस जातक को पूर्ण वैराग्य युक्त महान् त्यागी, संन्यासी, परमज्ञानी, परीषह जयी एवं शिव स्वरूप दिगम्बर वेष धारण कर मुनि बन विचरण करने का स्पष्ट योग दर्शाती है।

आपकी दिगम्बर मुनि दीक्षा दिनांक ३० जून, १९६८ आषाढ़ शुक्ला पंचमी वि.सं. २०२५ को अजमेर नगर राजस्थान में मध्याह्न डेढ़ से चार बजे तक सम्पन्न हुई। लेखक स्वयं उपस्थित होकर उस भव्य दृश्य का अवलोकन कर रहा था। प्रमुख दीक्षा संस्कार के वक्त आकाश में तुला लग्न गतिमान था। गुरु व चन्द्र को सिंह राशि में एकादश भाव में युति व स्थिति थी। सप्तम भाव में मंगल की राशि में शनि था। अष्टम भाव में वृष राशि में मित्र क्षेत्री बुध। नवम भाव में सूर्य, मंगल व शुक्र बुध की राशि में स्थित थे। षष्ठ भाव में राहु व द्वादश भाव में केतु स्थित थे।

यह स्थिति पूर्ण काल सर्प योग बनाती है। द्वादश भाव में स्थित केतु मोक्ष प्रदाता बन रहा है। सप्तम भाव का शनि अपनी उच्च राशि पर दृष्टिपात कर टंकोत्कीर्ण तपस्या के मार्ग पर अग्रसर कर निरन्तर भ्रमणशील जीवन व्यतीत करने का, वैराग्यमयी, श्रमण संस्कृति की श्रेष्ठ स्थिति में दिगम्बर मुनि वेष धारण कर लेने को बाध्य कर रहा है। ऐसा दृढ़ निश्चय केवल शनि ग्रह ही प्रदान कर सकता है।

मिथुन राशि में शुक्र, सूर्य, मंगल निरन्तर धर्म वृद्धि, भाग्य वृद्धि व यश वृद्धि के सूचक बन रहे हैं। तीनों ग्रह वायु तत्त्व के माध्यम द्वारा दिगम्बरत्व भूषित इस ऋषि के तपोमयी जीवन व ज्ञान की सुरभि चहुँ और विस्तीर्ण करने को उद्यत है।

एकादश भाव में गुरु व चन्द्र की स्थिति सूर्य की राशि में अपने मकसद अर्थात् ध्येय में पूर्ण सफलता का निर्देश कर रही है। इन्हीं ग्रहों की सूर्य मंगल शुक्र से त्रिरेकादश व बुध से केन्द्र योग स्थिति परम ज्ञान को उपलब्ध होने का योग बना रही है। इस भूखण्ड पर ही नहीं अपितु दिग-दिगांतर में वैराग्यमयी तपोपूर्ण श्रमण संस्कृति की कीर्ति का सत्-संदेश प्रसारित करने का संकेत दे रही है जो अनेक प्राणियों को सन्मार्ग पर अग्रसर होने को प्रेरित करती रहेगी।

आपको दिनांक २२.११.१९७२ को सायंकाल करीब ४ से ५ बजे के बीच अपने दीक्षा गुरु आचार्य श्री ज्ञान सागर जी महाराज द्वारा आचार्य पद से विभूषित किया गया। क्या ही विचित्र दृश्य था। गुरु स्वयं शिष्य को अपना अदृश्य मुकुट पहना रहे हैं अपना पद प्रदान कर रहे हैं एवं स्वयं शिष्य के कदमों में विराज कर नमन कर रहे हैं। प्रसंग वश लिख रहा हूँ कि जिन्हें अध्यात्म मार्ग का ज्ञान है वे जानते हैं कि अन्त में सभी पद संन्यासी की मुक्ति में बाधक हैं। ऋषि-मुनि जन परम निर्लिप्त, आत्मस्थ रहते हुए परम जाग्रत व आत्मचिंतन में तल्लीन रहते हुए पंचभूतमयी काया के कलेवर का त्याग करते हैं। आचार्य पूज्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज तो स्वयं ज्ञानवारिधि थे परम ज्ञानी थे भला वे इस सुअवसर का त्याग कैसे कर सकते थे। जिन आँखों ने यह दृश्य देखा था आज भी उनका रोम-रोम उस दृश्य की स्मृति मात्र से तरंगायित हो जाता है। उस समय उस दिन आकाश में मेष लग्न उदित था ग्रहस्थितिनुसार वृष राशि में शनि, मिथुन राशि में चन्द्र व केतु, तुला राशि में स्वग्रहो शुक्र व मंगल, वृश्चिक राशि में सूर्य व बुध तथा धनु राशि में गुरु व राहु उपस्थित थे।

मेष लग्न पर बलवान् शुक्र व मेषाधिपति मंगल की पूर्ण दृष्टि है अतः अधिकार व उच्च पद प्राप्ति का योग शनि की दशम दृष्टि कुम्भ राशि पर इसमें सहायक। गुरु की पूर्ण दृष्टि लग्न पर।

तात्पर्य है कि यह स्थिति आचार्य पद दिलाने का हेतु बनी। घुमन्तु जीवन चन्द्र केतु की स्थिति से मन की शक्तियों पर विजय एवं शुक्र मंगल दृढ़ निश्चय व मधुरता युक्त शासन क्षमता में वृद्धि का संकेत देती है। अष्टमस्थ सूर्य व बुध पर शनि की दृष्टि तपोमयी जीवन विरक्त व संन्यास योग की प्रत्यक्ष झलक देती है।

नवम् भावस्थ स्वग्रही धनु राशि का गुरु निरन्तर भाग्य वृद्धि, धर्म वृद्धि व उज्ज्वल कीर्ति प्रदान करती है। यही स्थिति चन्द्र से दृष्ट होने से सत् धर्म एवं पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित धर्म की प्रभावना करने का निर्देश देती है। यही स्थिति लोक पूजित, श्रेष्ठ लब्धिधारक व ऊर्ध्वलोक हेतु निरन्तर प्रयासरत रखती है।

आपकी जन्म पत्रिका में, जन्माङ्गचक्र, दीक्षाङ्गचक्र व आचार्यङ्ग चक्र में बहुत कुछ समानता है। सूर्य का शनि से दृष्ट होना, दिगम्बर संन्यासी वेष धारण करने का योग है। जन्म व आचार्य चक्र में मेष राशि लग्न व दशमस्थ अपने स्वामी से दृष्ट है। जन्म व दीक्षा दोनों चक्रों में सूर्य शनि त्रिरेकादश योग है। चन्द्र व शनि एक दूसरे में नवम पंचम अर्थात् त्रिकोण में है।

ज्योतिष शास्त्रों के अनुसार शनि चन्द्र की युति प्रतियुति दृष्टि, सूर्य शनि की युति–प्रतियुति दृष्टि एवं गुरु मंगल व बुध की युति–प्रतियुति दृष्टि प्रवज्या लेकर, वैराग्यपूर्ण साधुमार्ग पर चलने की क्षमता प्रदान करती है। तीर्थंकर महावीर, श्री गौतम बुद्ध, श्री नानकदेव, महर्षि रमण शंकराचार्य आदि अनेक महान् पुरुषों के जन्म चक्रों को देखें तो उक्त योग प्रत्यक्ष देखने को मिलते हैं।

इसके अतिरिक्त पूर्ण व खण्डित रूप से निम्न योग भी आपके जन्म चक्र में घटित दिखाई देते हैं। केमद्रुम योग, काल सर्प योग, श्रीकण्ठ योग, शुभवेसियोग, पुष्कल योग, सरस्वती योग, श्रीनाथ योग, महायोग, शंख व दाम योग, शौर्य व अम्बुधि योग आदि पूर्ण व आंशिक रूप से आपके जीवन को प्रभावित कर रहे हैं। इनसे स्पष्ट आभास होता है कि इनके रूप में ससम्मान भिक्षावृत्ति से जीवनयापन करने वाला, घुमन्तु जीवन जीने वाला ,शिव स्वरूप दिगम्बर श्रमण सम्प्रदाय में दीक्षित, सुन्दर गुणनिधि, शासन कर्त्ता, शुभ वाणी युक्त श्रेष्ठ पद धारक, सत्य वक्ता, लोक पूजित, शास्त्रार्थ पारंगत, पूर्ण पाण्डित्ययुक्त काव्य–नाटक, गद्य–पद्य रचना में निपुण, निरन्तर धर्माराधना द्वारा आर्ष व आगम मार्ग पर चलने वाला, ब्रह्मज्ञान पारायण, धर्माचार्य, सौम्य व सात्विक ब्रह्म तेज युक्त, जितेन्द्रिय, परोपकारी, ऋद्धि–सिद्धि धारक, तीर्थोद्धारक आदि गुणों से विभूषित एक महान् आत्मा अवतरित हुई है। जो निरन्तर अपनी दिव्य देशना द्वारा जैन–अजैन सभी धर्ममतावलम्बियों को सत्य व सन्मार्ग पर चलने को प्रेरित करेगी। ये ऋषि अनेकों का जीवन बदलेंगे। उन्हें परमार्थ ज्ञान की ओर बढ़ने में पूर्ण साधक होंगे।

प्रशमरस निमग्नं दृष्टियुग्मं प्रसन्नं
वदन–कमलमङ्कः कामिनीसङ्ग शून्यः,
करयुगमपि यत्ते शस्त्रसंबन्धबन्ध्यं,
तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव ॥

अतिरिक्त इसके यदि हम पाराशरी पद्धति, विंशोत्तरी, अष्टोत्तरी व कालचक्र दशान्तर्गत उक्त जन्म पत्रिका का अध्ययन करें तो भी उत्तरोत्तर धर्म मय प्रगति युक्त जीवन का संकेत मिलता है एवं परम चैतन्यमयी अवस्था में समाधि घटित भाषित होती है अर्थात् देह त्याग संभव होता है।

आयुष्य के सम्बन्ध में कई मत–मतान्तर ज्योतिष में प्रचलित है तथापि कालचक्र की परिधिनुसार ७२ से ७६ वर्ष के मध्य आप इस पंचभूत काया का त्याग कर सकेंगे। कुछ असाता

वेदनीय से शारीरिक व्याधि से यदि मुक्त हों तो ८६ वर्ष तक जीवन धारा प्रवाहित हो सकेगी। ज्योतिष सिद्धान्त के अनुसार अष्टमेश, लग्नेश व दशमेश १-४-५-७-९-१० वें भाग में स्थित हो तो दीर्घायु योग होता है-शुभ ग्रह भी इन्हीं भावों में हो तो भी दीर्घायुयोग होता है। आचार्य श्री जी के जन्म चक्र में अष्टमेश शनि लग्न में, लग्नेश चन्द्रमा नवम् भाव में व दशमेश मंगल चतुर्थ भाव में स्थित है साथ ही शुभ ग्रह भी चतुर्थ पंचम व नवम् भाव में है। सूर्य तीसरे भाव में व राहु एकादश भाव में स्थित है अतः दीर्घायु योग स्पष्ट है।

अन्त में श्री जिनेन्द्रदेव से विनम्र प्रार्थना है कि आप चिरायु हों, शतायु हों एवं अपनी धवलकीर्तियुक्त धर्मध्वजा को धर्माकाश में उन्मुक्त रूप से फहराते हुए विचरण करें।

मुमुक्षुओं की ज्ञान पिपासा का अपनी अमृतमयी वाणी से तृप्त करें। परमोत्कृष्ट कैवल्ययुक्त मुक्त अवस्था को उपलब्ध होवें। तीर्थंकरों के समान तीर्थोद्धारक बने, धर्म की पुर्नस्थापना कर निरन्तर अनन्त काल तक शरद्-पूर्णिमा के चन्द्र की उज्ज्वल ज्योत्सनाओं से साधकों के शिवपथ को आलोकित करते हुए अभिवंदित होवें।

प्रस्तुत विवेचन में अपनी अल्प प्रज्ञा व उपलब्ध तथ्यों के आधार पर संक्षिप्त रूप से लिख सका हूँ, यह भी संभव हुआ है, आचार्य श्री के प्रति विनयी भावों व श्रद्धा वश एवं अन्य सन्तों, भद्रजनों व मित्रों के आग्रह के कारण। इसमें एक साधक की नजर है, एक भविष्य वक्ता का कथन है एक मोक्षाभिलाषी जिन भक्त के भाव हैं। त्रुटियां अवश्यम्भावी है। विज्ञ-जन संशोधन कर पढ़ें एवं संभव हो तो मुझे भी अवगत कराने का कष्ट करें।

क्योंकि संत तो स्वयं मानस के पार आत्मस्थ जीवन जीते हैं उनके प्रति कुछ कहना, व लिखना अत्यन्त कठिन है। तथापि क्षुद्र (शूद्र) प्रयास है अतः अनुपयुक्त यदि कुछ लगे तो सुहृदयी पाठक मुझे क्षमा प्रदान करें।

❑ ❑ ❑

समीचीन धर्म

आचार्य कुन्दकुन्द के रहते हुए भी आचार्य समन्तभद्र का महत्त्व एवं लोकोपकार किसी प्रकार कम नहीं है। हमारे लिए आचार्य कुन्दकुन्द पिता तुल्य हैं और आचार्य समन्तभद्र करुणामयी माँ के समान हैं। वही समन्तभद्र आचार्य कहते हैं कि –

देशयामि समीचीनं धर्मम् कर्मनिवर्हणम्।
संसार दुखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥

रत्नकरण्डक श्रावकाचार- २

अर्थात् मैं समीचीन धर्म का उपदेश करूँगा। यह समीचीन धर्म कैसा है ? 'कर्मनिवर्हणम्' अर्थात् कर्मों का निर्मूलन करने वाला है और 'सत्त्वान्' प्राणियों को संसार के दुखों से उबारकर उत्तम सुख में पहुँचाने वाला है।

आचार्य श्री ने यहाँ 'सत्त्वान्' कहा, अकेला 'जैनान्' नहीं कहा। इससे सिद्ध होता है कि धर्म किसी सम्प्रदाय विशेष से संबंधित नहीं है। धर्म निर्बन्ध है, निस्सीम है सूर्य के प्रकाश की तरह। सूर्य के प्रकाश को हम बंधन युक्त कर लेते हैं, दीवारें खींचकर, दरवाजे बनाकर, खिड़कियाँ लगाकर। इसी तरह आज धर्म के चारों ओर भी सम्प्रदायों की दीवारें सीमाएँ खींच दी गयी हैं।

गंगा नदी हिमालय से प्रारम्भ होकर निर्बाध गति से समुद्र की ओर प्रवाहित होती है। उसके जल में अगणित प्राणी किलोंलें करते हैं, उसके जल से आचमन करते हैं, उसमें स्नान करते हैं, उसका जल पीकर जीवन-रक्षा करते हैं, अपने पेड़-पौधों को पानी देते हैं, खेतों को हरियाली से सजा लेते हैं। इस प्रकार गंगा नदी किसी एक प्राणी, जाति अथवा सम्प्रदाय की नहीं है, वह सभी की है। यदि कोई उसे अपना बतावे तो गंगा का इसमें क्या दोष? ऐसे ही भगवान वृषभदेव अथवा भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्म पर किसी जाति-विशेष का आधिपत्य संभव नहीं है। यदि कोई आधिपत्य रखता है तो यह उसकी अज्ञानता है।

धर्म और धर्म को प्रतिपादित करने वाले महापुरुष सम्पूर्ण लोक की अक्षय निधि हैं। महावीर भगवान् की सभा में क्या केवल जैन ही बैठते थे ? नहीं, उनकी धर्मसभा में देव, देवी, मनुष्य, स्त्रियाँ, पशु-पक्षी सभी को स्थान मिला हुआ था। अतः धर्म किसी परिधि से बँधा हुआ नहीं है। उसका क्षेत्र प्राणी मात्र तक विस्तृत है।

आचार्य महाराज अगले श्लोक में धर्म की परिभाषा का विवेचन करते हैं, वे लिखते हैं कि –

सद्दृष्टि ज्ञान-वृत्तानि धर्मं, धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः॥

रत्नकरण्डक श्रावकाचार - ३

अर्थात् **(धर्मेश्वरा)** गणधर परमेष्ठी; **(सद्दृष्टि ज्ञानवृत्तानि)** समीचीन दृष्टि, ज्ञान और सद्आचरण के समन्वित रूप को **(धर्मं विदुः)** धर्म कहते हैं। इसके विपरीत अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र **(भवपद्धतिः)** संसार पद्धति को बढ़ाने वाले **(भवन्ति)** हैं।

सम्यग्दर्शन अकेला मोक्षमार्ग नहीं है किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का समन्वित रूप ही मोक्षमार्ग है। वही धर्म है। औषधि पर आस्था, औषधि का ज्ञान और औषधि को पीने से ही रोगमुक्ति संभव है। इतना अवश्य है कि जैनाचार्यों ने सद्दृष्टि पर सर्वाधिक बल दिया है। यदि दृष्टि में विकार है तो निर्दिष्ट लक्ष्य को प्राप्त करना असंभव ही है।

मोटरकार, चाहे कितनी अच्छी हो वह आज ही फैक्टरी से बनकर बाहर क्यों न आयी हो, किन्तु यदि उसका चालक मदहोश है तो वह गंतव्य तक पहुँच नहीं पायेगा। वह कार को कहीं भी टकराकर चकनाचूर कर देगा। चालक का होश ठीक होना अनिवार्य है, तभी मंजिल तक पहुँचा जा सकता है। इसी प्रकार मोक्षमार्ग का पथिक जब तक होश में नहीं है, जब तक उसकी मोह नींद का उपशमन नहीं हुआ, तब तक लक्ष्य की सिद्धि अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

मिथ्यात्व रूपी विकार, दृष्टि से निकलना चाहिए तभी दृष्टि समीचीन बनेगी, और तभी ज्ञान भी सुज्ञान बन पायेगा। फिर रागद्वेष की निवृत्ति के लिए चारित्र-मोहनीय कर्म के उपशम से आचरण भी परिवर्तित करना होगा, तब मोक्षमार्ग की यात्रा निर्बाध पूरी होगी।

ज्ञान-रहित आचरण लाभप्रद न होकर हानिकारक ही सिद्ध होता है। रोगी की परिचर्या करने वाला यदि यह नहीं जानता है कि रोगी को औषधि का सेवन कैसे कराया जाए तो रोगी का जीवन ही समाप्त हो जायेगा। अतः समीचीन दृष्टि, समीचीन ज्ञान और समीचीन आचरण का समन्वित रूप ही धर्म है। यही मोक्षमार्ग है।

❑ ❑ ❑

निर्मल दृष्टि

दर्शन विशुद्धि मात्र सम्यक् दर्शन नहीं है। दृष्टि में निर्मलता होना दर्शन विशुद्धि है और दृष्टि में निर्मलता आती है तत्त्व चिंतन से।

कार्य से कारण की महत्ता अधिक है क्योंकि यदि कारण न हो तो कार्य निष्पन्न नहीं होगा। फूल न हो तो फल की प्राप्ति नहीं होगी।

कुछ लोग ऐसे भगवान् की कल्पना करते हैं जो उनकी सब शुभाशुभ इच्छाओं की पूर्ति करें। 'खुदा मेहरबान तो गधा पहलवान' ऐसा लोग कहते हैं। इसीलिए भगवान् महावीर को बहुत से लोग भगवान् मानने को तैयार नहीं। किन्तु सत्य/तथ्य ये हैं कि भगवान् बनने के पहले तो शुभाशुभ कार्य किए जा सकते हैं, भगवान बनने के बाद नहीं।

भगवान् महावीर जब पूर्व जीवन में नंदराज चक्रवर्ती थे, तब उनको एक विकल्प हुआ कि मैं सम्पूर्ण प्राणियों का कल्याण करूँ और इसी विकल्प के फलस्वरूप उन्हें तीर्थंकर प्रकृत्ति का बंध हुआ। कल्याण करने के लिये भी बंधन स्वीकार करना पड़ा। ये बंधन चेष्टा पूर्वक किया जाता है तो इस बंधन के पश्चात् मुक्ति होती है। यदि माँ केवल अपनी ही ओर देखे, तो बच्चों का पालन सम्भव नहीं होगा।

'पर' के कल्याण में भी 'स्व' कल्याण निहित है। ये बात दूसरी है कि फिर दूसरे का कल्याण हो अथवा न भी हो। किसान की भावना यही रहती है कि ''वृष्टि समय पर हुआ करें'' और वृष्टि तो जब भी होगी सभी के खेतों पर होगी किन्तु जब किसान फसल काटता है तो अपनी ही काटता है, किसी दूसरे की नहीं। अर्थात् कल्याण सबका चाहता है किन्तु पूर्ति अपने ही स्वार्थ की करता है।

दर्शन-विशुद्धि मात्र सम्यग्दर्शन नहीं है। **दृष्टि में निर्मलता का होना दर्शन-विशुद्धि है और दृष्टि में निर्मलता आती है तत्त्व चिन्तन से।**

हमारी दृष्टि बड़ी दोषपूर्ण है। हम देखते तो अनेक वस्तुएँ हैं किन्तु उन्हें हम साफ नहीं देख पाते। हमारी आँखों पर किसी न किसी रंग का चश्मा लगा हुआ है। प्रकाश का रंग कैसा है? आप बतायें। क्या यह लाल है? क्या हरा या पीला है? नहीं, प्रकाश का कोई वर्ण नहीं। वह तो वर्णातीत है, किन्तु विभिन्न रंग वाले काँच के संपर्क से हम उस प्रकाश को लाल, पीला या हरा कहते हैं। इसी प्रकार हमारा या हमारी आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है? '**अवर्णोऽहं**' मेरा कोई वर्ण नहीं, '**अरसोऽहं**' मुझ में कोई रस नहीं '**अस्पर्शोऽहं**' मुझे छुआ नहीं जा सकता। यह मेरा स्वरूप है। किन्तु इस स्वयं को आप पहिचान नहीं पाते। यही है हमारी दृष्टि का दोष।

हम पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट की धारणा बनाते हैं। कुछ पदार्थों को हम इष्ट मानते हैं जिन्हें हम हितकारी समझते हैं। कुछ पदार्थों को अनिष्ट मानते हैं, जिन्हें अहितकारी समझते हैं। पर वास्तव में कोई पदार्थ न इष्ट है और न अनिष्ट है। इष्ट-अनिष्ट की कल्पना भी हमारी दृष्टि का दोष है।

इसी प्रकार जैनाचार्यों ने बताया है कि आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न। ऊपर का आवरण ये शरीर केवल एक छिलके के समान है यह उन्होंने अनुभव द्वारा बताया है किन्तु हम अनुभव की बात भी नहीं मानते। हमारी स्थिति बच्चे जैसी है। दीपक जलता है तो बच्चे को यह समझाया जाता है कि इसे छूना नहीं। उसे दीपक से बचाने की भी चेष्टा की जाती है किन्तु फिर भी वह बच्चा उस दीपक पर हाथ धर ही देता है और जब एक बार जल जाता है तो फिर वह उस दीपक के पास अपना हाथ नहीं ले जाता। हमारी दृष्टि का परिमार्जन तभी समझा जायेगा, जब हम प्रत्येक वस्तु को उसके असली रूप में देखें/समझें।

यह दर्शन-विशुद्धि लाखों करोड़ों मनुष्यों में से किसी एक को होती है, किन्तु होगी ये विशुद्धि केवल मन्दकषाय में ही। **शास्त्रीय भाषा में दर्शन-विशुद्धि चौथे गुणस्थान से आठवें गुणस्थान के प्रथम भाग तक हो सकती है। सद्‌गृहस्थ की अवस्था से लेकर उत्कृष्ट मुनि की अवस्था तक यह विशुद्धि होती है।** एक बार प्रारम्भ हो जाने पर फिर श्रेणी में भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है किन्तु होगा मंद कषाय के सद्‌भाव में। दूसरे के कल्याण की भावना का विकल्प जब होगा, तभी तीर्थंकर प्रकृति का बंध होगा। तीर्थंकर प्रकृति एक ऐसा निकाचित बंध है जो नियम से मोक्ष ही ले जायेगा।

कल शास्त्री जी मेरे पास आये थे। साथ में गोम्मटसार की कुछ प्रतियाँ लाये थे। उसमें एक बात बड़े मार्के की देखने को मिली। तीर्थंकर प्रकृति का उदय चौदहवें गुणस्थान में भी रहता है। जब जीव मोक्ष की ओर प्रयाण करता है तब यह तीर्थंकर प्रकृति अपनी विजयपताका फहराते हुए चलती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कषायों से ही कर्मबंध होता है और कषायों से ही कर्मों का निर्मूलन होता है। जैसे पानी से ही कीचड़ बनता है और पानी में ही घुलकर यह गंगा के जल का भाग बन जाता है जिसे लोग सिर पर चढ़ाते हैं और उसका आचमन करते हैं। 'काँटा ही काँटें को निकालता है, यह सभी जानते हैं।

दर्शन-विशुद्धि भावना और सम्यक्‌दर्शन में एक मौलिक अन्तर है। **दर्शन विशुद्धि में केवल तत्त्वचिंतन ही होता है, पंचेंद्रियों के विषयों का चिन्तन नहीं चलता, किन्तु सम्यग्दर्शन में विषय चिन्तन भी सम्भव है।**

दर्शन-विशुद्धि भावना चार स्थितियों में भायी जा सकती है। प्रथम मरण के समय, द्वितीय भगवान के सम्मुख, तृतीय अप्रमत्त अवस्था में और चौथे कषाय के मन्दोदय में।

तीर्थंकर प्रकृति पुण्य का फल है पुण्यफला अरहंता। किन्तु इसके लिये पुण्य कार्य पहले होना चाहिए। प्रवृत्ति ही निवृत्ति की साधिका है। राग से ही वीतरागता की ओर प्रयाण

होता है। एक सज्जन ने मुझ से कहा–''महाराज, आप एक लंगोटी लगा लें तो अच्छा हो, क्योंकि आपके रूप को देखकर राग की उत्पत्ति होती है।'' मैंने कहा–भैया, तुम जो चमकीले-भड़कीले कपड़े पहिनते हो, उससे राग बढ़ता है अथवा यथाजात अवस्था से। नग्न दिगंबर रूप तो परम वीतरागता का साधक है। विशुद्धि में आवरण कैसा? विशुद्धि में तो किसी भी प्रकार का बाहरी आवरण बाधक है, साधक को वह किसी अवस्था में हो नहीं सकता। अन्तरंग का दर्शन तो यथाजात रूप द्वारा ही हो सकता है, फिर भी यदि इस रूप को देख कर किसी को राग का प्रादुर्भाव हो, तो मैं क्या कर सकता हूँ। देखने वाला भले ही मेरे रूप को न देखना चाहे तो अपनी आँखों पर पट्टी बाँध ले। पानी किसी को कीचड़ थोड़े ही बनाना चाहता है। जिसकी इच्छा कीचड़ बनने की हुई उसकी सहायता अवश्य कर देता है। पानी एक ही है। जब वह मिट्टी में गिरता है तो उसे कीचड़ बना देता है। जब वह बालू में गिरता है तो उसे सुन्दर कणदार रेत में परिवर्तित कर देता है। वही पानी जब पत्थर पर गिरता है तो उसके रूपरंग को निखार देता है। **पानी एक ही है, किन्तु जो जैसा बनना चाहता है उसकी वैसी ही सहायता कर देता है। इसी प्रकार नग्न रूप वीतरागता को पुष्ट करता है किन्तु यदि कोई उससे राग का पाठ ग्रहण करना चाहें, तो ग्रहण करें, इसमें उस नग्न रूप का क्या दोष? ये तो दृष्टि का खेल है।**

❑ ❑ ❑

विनयावनति

विनय जब अंतरंग में प्रादुर्भूत हो जाती है तो उसकी ज्योति सब ओर प्रकाशित होती है। वह मुख पर प्रकाशित होती है, आँखों में से फूटती है, शब्दों में उद्भूत होती है और व्यवहार में प्रदर्शित होती है।

विनय का महत्त्व अनुपम है। यह वह सोपान है जिस पर आरूढ़ होकर साधक मुक्ति की मंजिल तक पहुँच सकता है। विनय आत्मा का गुण है। यह विनय नामक गुण तत्त्व-मंथन से ही उपलब्ध हो सकता है। **विनय का अर्थ है-सम्मान, आदर, पूजा आदि।** विनय से हम आदर और पूजा तो प्राप्त करते ही हैं, साथ ही, सभी विरोधियों पर विजय भी प्राप्त कर सकते हैं। **क्रोधी, कामी, मायावी, लोभी सभी विनय द्वारा वश में किये जा सकते हैं।** विनयी दूसरों को भलीभाँति समझ पाता है और उसकी चाह यही रहती है कि दूसरा भी अपना विकास करें। अविनय में शक्ति का बिखराव है, विनय में शक्ति का केन्द्रीकरण है। कोई आलोचना भी करें तो हम उसकी चिन्ता न करें। विनयी आदमी वही है जो गाली देने वाले के प्रति भी विनय का व्यवहार करता है।

एक जंगल में दो पेड़ खड़े हैं-एक बड़ का और दूसरा बेंत का। बड़ का पेड़ घमण्ड में चूर है। वह बेंत के पेड़ से कहता है- तुम्हारे जीवन से क्या लाभ है? तुम किसी को छाया तक नहीं दे सकते और फल तथा फूल का तो तुम पर नाम ही नहीं। मुझे देखो, मैं कितनों को छाया देता हूँ यदि मुझे कोई काट भी ले तो मेरी लकड़ी से बैठने के लिए सुन्दर आसनों का निर्माण हो सकता है। तुम्हारी लकड़ी से तो दूसरों को पीटा ही जा सकता है। सब कुछ सुनकर भी बेंत का पेड़ मौन रहा। थोड़ी देर में मौसम ऐसा हो जाता है कि तूफान और वर्षा दोनों साथ-साथ प्रारम्भ हो जाते हैं। कुछ ही क्षणों में बेंत का पेड़ साष्टांग दण्डवत् करने लगता है, झुक जाता है किन्तु बड़ का पेड़ ज्यों का त्यों खड़ा रहा। देखते-देखते ही पाँच मिनट में तूफान का वेग उसे उखाड़कर फेंक देता है। बेंत का पेड़ जो झुक गया था, तूफान के निकल जाने पर फिर ज्यों का त्यों खड़ा हो गया। विनय की जीत हुई, अविनय हार गया। जो अकड़ता है, गर्व करता है उसकी दशा बिगड़ती ही है।

हमें शब्दों की विनय भी सीखना चाहिए। शब्दों की अविनय से कभी-कभी बड़ी हानि हो जाती है। एक भारतीय सज्जन एक बार अमेरिका गये। वहाँ उन्हें एक सभा में बोलना था। लोग उन्हें देखकर हँसने लगे और जब वे बोलने के लिये खड़े हुए तो हँसी और अधिक बढ़ने लगी। उन भारतीय सज्जन को थोड़ा क्रोध आ गया, मंच पर जाते ही उनका पहला वाक्य था 'पचास प्रतिशत अमेरिकन मूर्ख होते हैं।' अब क्या था। सारी सभा में हलचल मच गई और सभा अनुशासन से बाहर हो गई। पर तत्काल ही उन भारतीय सज्जन ने थोड़ा विचार कर कहना शुरू किया- क्षमा करें, पचास प्रतिशत अमेरिकन मूर्ख नहीं होते। इन शब्दों को सुनकर सभा में फिर शान्ति हो गई और सब लोग यथास्थान बैठ गये। देखो, अर्थ में कोई अन्तर नहीं था, केवल शब्द-विनय द्वारा वह भारतीय सबको शान्त करने में सफल हो गया।

विनय जब अन्तरंग में प्रादुर्भूत हो जाती है तो उसकी ज्योति सब ओर प्रकाशित होती है। वह मुख पर प्रकाशित होती है, आँखों में से फूटती है, शब्दों में उद्भूत होती है और व्यवहार में भी प्रदर्शित होती है। विनय गुण से समन्वित व्यक्ति की केवल यही भावना होती है कि सभी में यह गुण उद्भूत हो जाय। सभी विकास की चरम सीमा प्राप्त कर लें।

मुझसे एक सज्जन ने एक दिन प्रश्न किया, महाराज, आप अपने पास आने वाले व्यक्ति से बैठने को भी नहीं पूछते बुरा लगता है, आप में इतनी भी विनय नहीं महाराज। मैंने उनकी बात बड़े ध्यान से सुनी और कहा- भैया, साधु की विनय और आपकी विनय एक-सी कैसे हो सकती है? आपको मैं कैसे कहूँ - आइये, बैठिए। क्या यह स्थान मेरा है? और मान लो कोई केवल

दर्शन मात्र के लिए आया हो तो? इसी तरह मैं किसी से जाने को भी कैसे कह सकता हूँ? मैं आने-जाने की अनुमोदना कैसे कर सकता हूँ? कोई मान लो रेल या मोटर से प्रस्थान करना चाहता हो, तो मैं उन वाहनों की अनुमोदना कैसे करूँ जिनका मैं वर्षों पूर्व त्याग कर चुका हूँ। और मान लो कोई केवल परीक्षा करना चाहता हो, तो उसकी विजय हो गयी और मैं पराजित हो जाऊँगा। आचार्यों का उपदेश मुनियों के लिए केवल इतना ही है कि वे हाथ से कल्याण का संकेत करें और मुख का प्रसाद बिखेर दें। इससे ज्यादा उन्हें कुछ और नहीं करना है।

''मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिक क्लिश्यमानाविनेयेषु।'' यह सूत्र है। तब मुनि आपके प्रति कैसे अविनय की भावना रख सकता है? उसे तो कोई गाली भी दे तो भी वह सबके प्रति मैत्री-भाव ही रखता है। जंगल में दंगल नहीं करता, मंगल में अमंगल नहीं करता। वह तो सभी के प्रति मंगल-भावना से ओतप्रोत है।

सो धर्म मुनिन कर धरिये, तिनकी करतूति उचरिये।
ताको सुनिये भवि प्रानी, अपनी अनुभूति पिछानी॥

– छहढाला

साधु की मुद्रा तो ऐसी वीतरागतामय होती है जो दूसरों को आत्मानुभव का प्रबल साधन बन जाती है।

फिर एक बात और भी है। अगर किसी को बिठाना दूसरों को अनुचित मालूम पड़े अथवा स्थान इतना भर जाय कि फिर कोई जगह ही अवशेष न रहे तो, ऐसे में मुनि महाराज वहाँ से उठना पसन्द करेंगे अथवा उपसर्ग समझ कर बैठे रहेंगे, तो भी उनकी मुद्रा ऐसी होगी कि देखने वाला भी उनकी साधना और तपस्या को समझ कर शिक्षा ले सके। बिच्छू के पास एक डंक होता है। जो व्यक्ति उसे पकड़ने का प्रयास करता है, वह उसको डंक मार ही देता है। एक बार ऐसा हुआ। एक मनुष्य जा रहा था, उसने देखा, कीचड़ में एक बिच्छू फँसा हुआ है। उसने उसे हाथ से जैसे ही बाहर निकालना चाहा, बिच्छू ने डंक मारने रूप प्रसाद ही दिया, और कई बार उसे निकालने की कोशिश में वह डंक मारता रहा। तब लोगों ने उससे कहा- बावले हो गये हो। ऐसा क्यों किया तुमने? अरे भाई बिच्छू ने अपना काम किया और मैंने अपना काम किया, इसमें मेरा बावलापन क्या? उस आदमी ने ये उत्तर दिया। इसी प्रकार मुनिराज भी अपना काम करते हैं। वे तो मंगल की कामना करते हैं और गाली देने वाले उन्हें गाली देने का काम करते हैं। तब तुम कैसे कह सकते हो कि साधु किसी के प्रति अविनय का भाव रख सकता है।

शास्त्रों में अभावों की बात आई है। जिसमें प्राग्भाव का तात्पर्य है पूर्व पर्याय का वर्तमान

में अभाव और प्रध्वंसाभाव का अभिप्राय है वर्तमान पर्याय में भावी पर्याय का अभाव। इसका मतलब है कि जो उन्नत है वह गिर भी सकता है और जो पतित है वह उठ भी सकता है। और यही कारण है कि सभी आचार्य महान् तपस्वी भी त्रिकालवर्ती तीर्थंकरों को नमोऽस्तु प्रस्तुत करते हैं और भविष्यत् काल के तीर्थंकरों को नमोऽस्तु करने में भावी नय की अपेक्षा सामान्य संसारी जीव भी शामिल हो जाते हैं, तब किसी की अविनय का प्रश्न ही नहीं है। आपकी अनंत शक्ति को भी सारे तपस्वियों ने पहिचान लिया है, चाहे आप पहिचाने अथवा नहीं। आप सभी में केवलज्ञान की शक्ति विद्यमान है यह बात भी कुन्दकुन्दादि महान् आचार्यों द्वारा पहचान ली गई है।

अपने विनय गुण का विकास करो। विनय गुण से असाध्य कार्य भी सहज साध्य बन जाते हैं। यह विनय गुण ग्राह्य है, उपास्य है, आराध्य है। भगवान् महावीर कहते हैं- मेरी उपासना चाहे न करो, विनय गुण की उपासना जरूर करो। **विनय का अर्थ यह नहीं है कि आप भगवान के समक्ष तो विनय करें और पास-पड़ोस में अविनय का प्रदर्शन करें। अपने पड़ोसी की भी यथायोग्य विनय करो।** कोई घर पर आ जाये तो उसका सम्मान करो। ''**मानेन तृप्ति न तु भोजनेन**'' अर्थात् सम्मान से तृप्ति होती है, भोजन से नहीं। अतः विनय करना सीखो, विनय गुण आपको सिद्धत्व प्राप्त करा देगा।

❑ ❑ ❑

सुशीलता

'निरतिचार' शब्द बड़े मार्के का शब्द है। व्रत के पालने में यदि कोई गड़बड़ न हो तो आत्मा और मन पर एक ऐसी छाप पड़ती है कि खुद का तो निस्तार होता ही है, अन्य भी जो इस व्रत और व्रती के संपर्क में आ जाते हैं वे भी तिर जाते हैं।

शील से अभिप्राय स्वभाव से है। स्वभाव की उपलब्धि के लिए निरतिचार व्रत का पालन करना ही शीलव्रतेष्वनतिचार कहलाता है। व्रत से अभिप्राय नियम, कानून अथवा अनुशासन से है। जिस जीवन में अनुशासन का अभाव है वह जीवन निर्बल है। **निरतिचार व्रत पालन से एक अद्‌भुत बल की प्राप्ति जीवन में होती है।** निरतिचार का मतलब ही यह है कि जीवन अस्त-व्यस्त न हो, शान्त और सबल हो।

रावण के विषय में यह विख्यात है कि वह दुराचारी था किन्तु वह अपने जीवन में एक प्रतिज्ञा में आबद्ध भी था। उसका व्रत था कि वह किसी नारी पर बलात्कार नहीं करेगा, उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे नहीं भोगेगा और यही कारण था कि वह सीता का हरण तो कर लाया, किन्तु

उनका शील भंग नहीं कर पाया। इसका कारण केवल उसका व्रत था, उसकी प्रतिज्ञा थी। यद्यपि यह सही है कि यदि वह सीताजी के साथ बलात्कार का प्रयास भी करता तो भस्मसात् हो जाता किन्तु उसकी प्रतिज्ञा ने उसे ऐसा करने से रोक लिया।

ये 'निरतिचार' शब्द बड़े मार्के का शब्द है। व्रत के पालन में यदि कोई गड़बड़ न हो तो आत्मा और मन पर एक ऐसी गहरी छाप पड़ती है कि खुद का तो निस्तार होता ही है, अन्य भी जो इस व्रत और व्रती के संपर्क में आ जाते हैं वे प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकते। जैसे कस्तूरी को अपनी सुगन्ध के लिए किसी तरह की प्रतिज्ञा नहीं करनी पड़ती, उसकी सुगन्ध तो स्वतः चारों ओर व्याप्त हो जाती है। वैसी ही इस व्रत की महिमा है।

'अतिचार' और 'अनाचार' में भी बड़ा अन्तर है। 'अतिचार' दोष है जो लगाया नहीं जाता, प्रमादवश लग जाता है, किन्तु अनाचार तो सम्पूर्ण व्रत को विनष्ट करने की क्रिया है। मुनिराज निरतिचार व्रत के पालन में पूर्ण सचेष्ट रहते हैं। जैसे कई चुँगी चौकियाँ पार कर गाड़ी यथास्थान पहुँच जाती है उसी प्रकार मुनिराज को भी बत्तीस अन्तराय टालकर निर्दोष आहार और अन्य उपकरण आदि ग्रहण करना पड़ते हैं।

निरतिचार व्रत पालन की महिमा अद्भुत है। एक भिक्षुक था। झोली लेकर एक द्वार पर पहुँचा रोटी माँगने। रूखा जवाब मिलने पर भी नाराज नहीं हुआ बल्कि आगे चला गया। एक थानेदार को उस पर तरस आ गया और उसने उस भिक्षुक को रोटी देने के लिए बुलाया। पर भिक्षुक थोड़ा आगे जा चुका था। इसलिए उसने एक नौकर को रोटी देने भेज दिया। "मैं रिश्वत का अन्न नहीं खाता भइया!" ऐसा कहकर वह भिक्षुक आगे बढ़ गया। नौकर ने वापिस आकर थानेदार को भिक्षुक द्वारा कही गयी बात सुना दी और वे शब्द उस थानेदार के मन में गहरे उतर गये। उसने सदा-सदा के लिए रिश्वत लेना छोड़ दिया। भिक्षुक की प्रतिज्ञा ने, उसके निर्दोष व्रत ने थानेदार की जिंदगी सुधार दी। जो लोग गलत तरीके से रुपये कमाते हैं वे दान देने में अधिक उदारता दिखाते हैं। वे सोचते हैं कि इसी तरह थोड़ा धर्म इकट्ठा कर लिया जाय, किन्तु धर्म ऐसे नहीं मिलता। धर्म तो अपने श्रम से निर्दोष रोटी कमा कर दान देने में ही है।

अंग्रेजी में कहावत है कि मनुष्य केवल रोटी से नहीं जीता, उससे भी ऊँचा एक जीवन है जो व्रत साधना से उसे प्राप्त हो सकता है। आज हम मात्र शरीर के भरण-पोषण में लगे हैं। व्रत, नियम और अनुशासन के प्रति भी हमारी रुचि होनी चाहिए। अनुशासन विहीन व्यक्ति सबसे गया बीता व्यक्ति है। अरे भइया! तीर्थंकर भी अपने जीवन में व्रतों का निर्दोष पालन करते हैं। हमें भी करना चाहिए!

हमारे व्रत ऐसे हों, जो स्वयं को सुखकर हों और दूसरों को भी सुखकर हों। एक सज्जन जो संभवतः ब्राह्मण थे मुझसे कहने लगे–महाराज, आप बड़े निर्दयी हैं। देने वाले दाता का आप आहार नहीं लेते। तो मैंने उन्हें समझाया–भइया! देने वाले और लेने वाले दोनों व्यक्तियों के कर्म का क्षयोपशम होना चाहिए। दाता का तो दानान्तराय कर्म का क्षयोपशम होना आवश्यक है पर लेने वाले का भी भोगान्तराय कर्म का क्षयोपशम होना चाहिए। दाता लेने वाले के साथ जबर्दस्ती नहीं कर सकता क्योंकि लेने वाले के भी कुछ नियम, प्रतिज्ञायें होती हैं। जिन्हें पूरा करके ही वह आहार ग्रहण करता है।

सारांश यही है कि सभी को कोई न कोई व्रत अवश्य लेना चाहिए, वे व्रत नियम बड़े मौलिक हैं। सभी यदि व्रत ग्रहण करके उनका निर्दोष पालन करते रहें, तो कोई कारण नहीं कि सभी कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न न हों।

❑ ❑ ❑

निरन्तर ज्ञानोपयोग

ज्ञान का प्रवाह तो नदी के प्रवाह की तरह है। उसे सुखाया नहीं जा सकता, बदला जा सकता है। इसी प्रकार ज्ञान का नाश नहीं किया जा सकता है। उसे स्व-पर कल्याण की दिशा में प्रवाहित किया जा सकता है। यही ज्ञानोपयोग है।

'अभीक्ष्णज्ञानोपयोग' शब्द तीन शब्दों से मिलकर बना है- अभीक्ष्ण + ज्ञान + उपयोग अर्थात् निरन्तर ज्ञान का उपयोग करना ही अभीक्ष्णज्ञानोपयोग है। आत्मा के अनन्त गुण हैं और उनके कार्य भी अलग-अलग हैं। ज्ञान गुण इन सभी की पहिचान कराता है। सुख जो आत्मा का एक गुण है उसकी अनुभूति भी ज्ञान द्वारा ही संभव है। ज्ञान ही वह गुण है जिसकी सहायता से पाषाण में से स्वर्ण को, खान में से हीरा, पन्ना आदि को पृथक् किया जा सकता है। **अभीक्ष्णज्ञानोपयोग ही वह साधन है जिसके द्वारा आत्मा की अनुभूति और समुन्नति होती है।** उसका विकास किया जा सकता है।

आज तक इस ज्ञान की धारा का प्रायः दुरुपयोग ही किया गया है। ज्ञान का प्रवाह तो नदी के प्रवाह की तरह है। जैसे गंगा नदी के प्रवाह को सुखाया नहीं जा सकता, केवल उस प्रवाह के मार्ग को हम बदल सकते हैं। उसी प्रकार ज्ञान के प्रवाह को सुखाया नहीं जा सकता, केवल उसे स्व-पर हित के लिये उपयोग में लाया जा सकता है। ज्ञान का दुरुपयोग होना विनाश है और ज्ञान का सदुपयोग करना ही विकास है, सुख है, उन्नति है। ज्ञान के सदुपयोग के लिये जागृति परम आवश्यक है। हमारी हालत उस कबूतर की तरह हो रही है जो पेड़ पर बैठा है और पेड़ के नीचे

बैठी हुई बिल्ली को देखकर अपना होश-हवास खो देता है। अपने पंखों की शक्ति को भूल बैठता है और स्वयं घबराकर उस बिल्ली के समक्ष गिर जाता है तो उसमें दोष कबूतर का ही है। हम ज्ञान की कदर नहीं कर रहे बल्कि जो ज्ञान द्वारा जाने जाते हैं उन ज्ञेय पदार्थों की कदर कर रहे हैं। होना इससे विपरीत चाहिए था अर्थात् ज्ञान की कदर होना चाहिए।

ज्ञेयों के संकलन मात्र में यदि हम ज्ञान को लगा दें और उनके समक्ष अपने को हीन मानने लग जायें, तो वह ज्ञान का दुरुपयोग है। ज्ञान का सदुपयोग तो यह है कि हम अन्तर्यात्रा प्रारम्भ कर दें और यह अन्तर्यात्रा एक बार नहीं, दो बार नहीं, बार-बार अभीक्ष्ण करने का प्रयास करें। वह अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग केवल ज्ञान को प्राप्त कराने वाला है, आत्म-मल को धोने वाला है। जैसे प्रभात बेला की लालिमा के साथ ही बहुत कुछ अंधकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग द्वारा आत्मा का अंधकार भी विनष्ट हो जाता है और केवल ज्ञान रूपी सूर्य उदित होता है। अतः ज्ञानोपयोग सतत चलना चाहिए।

'उपयोग' का दूसरा अर्थ है चेतना। अर्थात् अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग अपनी खोज चेतना की उपलब्धि का अमोघ साधन है। इसके द्वारा जीव अपनी असली सम्पत्ति को बढ़ाता है, उसे प्राप्त करता है, उसके पास पहुँचता है। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग का अर्थ केवल पुस्तकीय ज्ञान मात्र नहीं है। **शब्दों की पूजा करने से ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, सरस्वती की पूजा का मतलब तो अपनी पूजा से है, स्वात्मा की उपासना से है।** शाब्दिक ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं है, इससे सुख की उपलब्धि नहीं हो सकती। शाब्दिक ज्ञान तो केवल शीशी के लेबिल की तरह है, यदि कोई लेबिल मात्र घोंट कर पी जाय तो क्या इससे स्वास्थ्य-लाभ हो जायेगा? क्या रोग मिट जायेगा? नहीं, कभी नहीं। अक्षर ज्ञानधारी बहुभाषाविद् पण्डित नहीं है। वास्तविक पण्डित तो वह है जो अपनी आत्मा का अवलोकन करता है। **स्वात्मानं पश्यति यः सः पण्डितः।** पढ़-पढ़ के पण्डित बन जाये, किन्तु निज वस्तु की खबर न हो तो क्या वह पण्डित है? अक्षरों के ज्ञानी अक्षर का अर्थ भी नहीं समझ पाते। 'क्षर' अर्थात् नाश होने वाला और 'अ' के मायने 'नहीं' अर्थात् मैं अविनाशी हूँ, अजर-अमर हूँ, यह अर्थ है अक्षर का, किन्तु आज का पंडित केवल शब्दों को पकड़ कर भटक जाता है।

शब्द तो केवल माध्यम है अपनी आत्मा को जानने के लिए, अन्दर जाने के लिए। किन्तु हमारी दशा उस पंडित की तरह है जो तैरना न जानकर अपने जीवन से भी हाथ धो बैठता है। एक पंडित काशी से पढ़कर आये। देखा, नदी किनारे मल्लाह भगवान की स्तुति में संलग्न है। बोले- ए मल्लाह! ले चलेगा नाव में, नदी के पार। मल्लाह ने उसे नाव में बैठा लिया। अब चलते-चलते पंडित जी रौब झाड़ने लगे अपने अक्षर ज्ञान का। मल्लाह से बोले- कुछ पढ़ा-

लिखा भी है? अक्षर लिखना जानता है? मल्लाह तो पढ़ा-लिखा था ही नहीं, सो कहने लगा- पंडितजी मुझे अक्षर ज्ञान नहीं है। पंडित बोले-तब तो बिना पढ़े तुम्हारा आधा जीवन ही व्यर्थ हो गया। अभी नदी में थोड़े और चले थे कि अचानक तूफान आ गया, पंडित जी घबराने लगे। नाविक बोला-पंडितजी मैं अक्षर लिखना नहीं जानता किन्तु तैरना जरूर जानता हूँ। अक्षर ज्ञान न होने से मेरा तो आधा जीवन गया, परन्तु तैरना न जानने से तो आपका सारा जीवन ही व्यर्थ हो गया।

हमें तैरना भी आना चाहिए। तैरना नहीं आयेगा तो हम संसार समुद्र से पार नहीं हो सकते। अतः **दूसरों का सहारा ज्यादा मत ढूँढ़ो। शब्द भी एक तरह का सहारा है। उसके सहारे, अपना सहारा लो।** अन्तर्यात्रा प्रारम्भ करो।

ज्ञेयों का संकलन मात्र तो ज्ञान का दुरुपयोग है। ज्ञेयों में मत उलझो, ज्ञेयों के ज्ञाता को प्राप्त करो। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग से ही 'मैं कौन हूँ'? इसका उत्तर प्राप्त हो सकता है।

परमाण नय निक्षेप को, न उद्योत अनुभव में दिखै।
दृग ज्ञान सुख बलमय सदा, नहिं आन भाव जु मो बिखै।
मैं साध्य साधक मैं अबाधक, कर्म अरु तसु फलनितैं।
चित पिण्ड चंड अखण्ड सुगुण, करण्ड च्युत पुनि कलनितैं ॥

शुद्धोपयोग की यह दशा इसी अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। अतः मात्र साक्षर बने रहने से कोई लाभ नहीं है। 'साक्षर' का विलोम 'राक्षस' होता है। साक्षर मात्र बने रहने से राक्षस बन जाने का भी भय है। अतः अन्तर्यात्रा भी प्रारम्भ करें, ज्ञान का निरन्तर उपयोग करें अपने को शुद्ध बनाने के लिए।

हम अमूर्त हैं, हमें छुआ नहीं जा सकता, हमें चखा नहीं जा सकता, हमें सूँघा नहीं जा सकता, किन्तु फिर भी हम मूर्त बने हुए हैं क्योंकि हमारा ज्ञान मूर्त में संजोया हुआ है। अपने उस अमूर्त स्वरूप की उपलब्धि, ज्ञान की धारा को अन्दर आत्मा की ओर मोड़ने पर ही सम्भव है।

❑ ❑ ❑

संवेग

जिस प्रकार ललाट पर तिलक के अभाव में स्त्री का सम्पूर्ण शृंगार अर्थहीन है, मूर्ति के नहीं होने पर जैसे मंदिर की कोई शोभा नहीं है, उसी प्रकार बिना संवेग के सम्यग्दर्शन कार्यकारी नहीं है। संवेग सम्यग्दृष्टि साधक का अलंकार है।

संवेग का मतलब है संसार से भयभीत होना, डरना। आत्मा के अनन्त गुणों में यह संवेग भी एक गुण है। पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं कि सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है- सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन। संवेग, सराग सम्यग्दर्शन के चार लक्षणों में से एक है। जैसे ललाट पर तिलक के अभाव में स्त्री का शृंगार अर्थहीन है, मूर्ति के न होने पर मंदिर की कोई शोभा नहीं है। वैसे ही बिना संवेग के सम्यग्दर्शन कार्यकारी नहीं है। संवेग, सम्यग्दृष्टि साधक का अलंकार है।

संवेग एक उदासीन दशा है जिसमें रोना भी नहीं है, हँसना भी नहीं है, पलायन भी नहीं है, बैठना भी नहीं है, दूर भी नहीं हटना है और आलिंगन भी नहीं करना है। यह जो आत्मा की अनन्य स्थिति है वह सद्गृहस्थ से लेकर मोक्ष-मार्ग पर आरूढ़ मुनि महाराज तक में प्रादुर्भूत होती है। मुनि पग-पग पर डरता है और सावधान रहकर जीवन जीता है। वह अपने आहार-विहार में, उठने, बैठने और लेटने की सभी क्रियाओं में सदैव जाग्रत रहता है, सजग रहता है। यदि ऐसा न हो तो वह साधु न होकर स्वादु बन जायेगा। **साधु का रास्ता तो मनन और चिंतन का रास्ता है। उसकी यात्रा अपरिचित वस्तु (आत्मा) से परिचय प्राप्त करने का उत्कृष्ट प्रयास है।** ऐसे संवेग-समन्वित साधु के दर्शन दुर्लभ हैं। आप कहते हैं कि हम 'वीर' की सन्तान हैं। बात सही है। आप 'वीर' की सन्तान तो अवश्य हैं, किन्तु उनके अनुयायी नहीं। सही अर्थों में आप 'वीर' की सन्तान तभी कहे जायेंगे जब उनके बताये मार्ग का अनुसरण करेंगे।

संवेग का प्रारम्भ कहाँ? जब दृष्टि नासाग्र हो, केवल अपने लक्ष्य की ओर हो, और अविराम गति से मार्ग पर चले। आपने सर्कस देखा होगा। सर्कस में तार पर चलने वाला न ताली बजाने वालों की ओर देखता है और न ही लाठी लेकर खड़े आदमी को देखता है। उसका उद्देश्य इधर-उधर देखना नहीं है उसका उद्देश्य तो एकमात्र संतुलन बनाये रखना और अपने लक्ष्य पर पहुँचना होता है। यही बात संवेग की है।

सम्यग्दर्शन के बिना पाप से डरना नहीं होता। संसार से 'भीति' सम्यग्दर्शन का अनन्य अंग है। वीतराग सम्यग्दर्शन में ये 'संवेग' अधिक घनीभूत होता है। संवेग अनुभव और श्रद्धा के साथ जुड़ा हुआ है। इस संवेग की प्राप्ति अति दुर्लभ है। वीतरागता से पूर्व यह प्रस्फुटित होता है और फिर वीतरागता उसका कार्य बन जाती है। संवेग के प्रादुर्भूत होने पर सभी बाहरी आकांक्षाएँ छूट जाती हैं। जहाँ संवेग होता है वहाँ विषयों की ओर रुचि नहीं रह जाती, उदासीनता आ जाती है।

भरत चक्रवर्ती का वर्णन सही रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है। उनके भोगों का वर्णन तो किया जाता है किन्तु उनकी उदासीनता की बात कोई नहीं करता। एक व्यक्ति अपने बारह बच्चों के बीच रहकर बड़ा दुखी होता है। उसकी पत्नी उससे कहती है- भरत जी इतने बड़े

परिवार के बीच कैसे रहते होंगे। जहाँ छियानवे हजार रानियाँ, अनेक बच्चे और अपार सम्पदा थी। उनके परिणामों में तो कभी क्लेश हुआ हो, ऐसा सुना ही नहीं गया। वह व्यक्ति भरत जी की परीक्षा लेने पहुँच जाता है, भरत जी सारी बात सुनकर उसे अपने रनिवास में भेज देते हैं। उस व्यक्ति के हाथ पर तेल से भरा हुआ कटोरा रख दिया जाता है और कह दिया जाता है कि सब कुछ देख आओ, लेकिन इस कटोरे में से एक बूँद भी नीचे नहीं गिरनी चाहिए अन्यथा मृत्यु-दण्ड दिया जायेगा। वह व्यक्ति सब कुछ देख आया पर उसका देखना न देखने के बराबर ही रहा, सारे समय बूँद गिर जाने का भय बना रहा। तब भरतजी ने उसे समझाया, 'मित्र, जागृति लाओ, सोचो, समझो। ये नव निधियाँ, चौदह रत्न, ये छियानवे हजार रानियाँ, ये सब मेरी नहीं हैं। मेरी निधि तो मेरे अंतरंग में छिपी हुई है- ऐसा विचार करके ही मैं इन सबके बीच शांत भाव से रहता हूँ।

रत्नत्रय ही हमारी अमूल्य निधि है। इसे ही बचाना है। इसको लूटने के लिये कर्म चोर सर्वत्र घूम रहे हैं। जाग जाओ, सो जाओगे तो तुम्हारी निधि ही लुट जायेगी।

कर्म चोर चहुँ ओर सरवस लूटें सुध नहीं।

संवेगधारी व्यक्ति अलौकिक आनन्द की अनुभूति करता है। चाहे वह कहीं भी रहे, किन्तु संवेग से रहित व्यक्ति स्वर्ग सुखों के बीच भी दुख का अनुभव करता है और दुखी ही रहता है।

❑ ❑ ❑
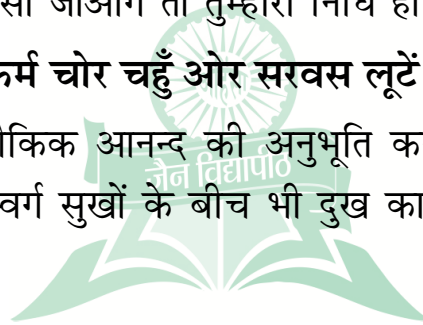
त्यागवृत्ति

त्याग के पहले जागृति परम अपेक्षणीय है। निजी सम्पत्ति की पहचान जब हो जाती है तब विषय-सामग्री निरर्थक लगती है और उसका त्याग सहज सरलता से हो जाता है।

यथाशक्ति त्याग को 'शक्तितस्त्याग' कहते हैं। शक्ति अनुलंघ्य यथाशक्ति अर्थात् शक्ति की सीमा को पार न करना और साथ ही अपनी शक्ति को नहीं छिपाना इसे यथाशक्ति कहते हैं और इस शक्ति के अनुरूप त्याग करना ही शक्तितस्त्याग कहा जाता है।

भारत में जितने भी देवों के उपासक हैं, चाहे वे वृषभ के उपासक हों, चाहे वे राम के उपासक हों अथवा बुद्ध के उपासक हों, सभी त्याग को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। ऐसे ही महावीर के भी उपासक हैं, किन्तु महावीर के उपासकों की विशेषता यही है कि उनके त्याग में शर्त नहीं है, हठग्राहिता नहीं है। यदि त्याग में कोई शर्त है तो वह त्याग महावीर का कहा हुआ त्याग नहीं है।

सामान्य रूप से त्याग की आवश्यकता हर क्षेत्र में है। रोग की निवृत्ति के लिए, स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिए, जीवन जीने के लिए और इतना ही नहीं, मरण के लिए भी त्याग की आवश्यकता है। जो ग्रहण किया है उसी का त्याग होता है, पहले ग्रहण, फिर त्याग, यह क्रम है। ग्रहण होने के कारण ही त्याग का प्रश्न उठता है। अब त्याग किसका किया जाये? तो अनर्थ की जड़ का त्याग अर्थात् हेय का त्याग किया जाये। कूड़ा-कचरा, मल आदि ये सब हेय पदार्थ हैं। इन हेय पदार्थों के त्याग में कोई शर्त नहीं होती, न ही कोई मुहूर्त्त निकलवाना होता है, क्योंकि इनके त्याग के बिना न सुख है, न शान्ति। इन्हें त्यागे बिना तो जीवन भी असम्भव हो जायेगा।

त्याग करने में दो बातों का ध्यान रखना परम अपेक्षणीय है। पहला यह कि दूसरों की देखा-देखी त्याग नहीं करना और दूसरा ये कि अपनी शक्ति की सीमा का उल्लंघन नहीं करना, क्योंकि इससे सुख के स्थान पर कष्ट की ही आशंका अधिक है।

त्याग में कोई शर्त नहीं होनी चाहिए। किन्तु हमेशा से आप लोगों का त्याग शर्त युक्त रहा है। दान के समय भी आपका ध्यान आदान में लगा रहता है। यदि कोई व्यक्ति सौ रुपये के सवा सौ रुपये प्राप्त करने के लिये त्याग करता है तो वह कोई त्याग नहीं माना जायेगा। यह दान नहीं है, आदान है। एक विद्वान् ने लिखा है कि दान तो ऐसा देना चाहिए जो दूसरे हाथ को भी मालूम न पड़े। यदि त्याग किये हुए पदार्थ में लिप्सा लगी रही, इच्छा बनी रही, यदि इस पदार्थ के भोगने की वासना हमारे मन में चलती रही और अधिक प्राप्ति की आकांक्षा बनी रही तो यह त्याग नहीं कहलायेगा।

बाह्य मलों के साथ-साथ अंतरंग में रागद्वेष रूपी मल भी विद्यमान है जो हमारी आत्मा के साथ अनादि काल से लगा हुआ है। इसका त्याग करना/छोड़ना ही वास्तविक त्याग है। ऐसे पदार्थों का त्याग करना ही श्रेयस्कर है जिनसे रागद्वेष, विषय-कषायों की पुष्टि होती है।

अजमेर में एक सज्जन मेरे पास आये और बोले- महाराज, मेरा तो भाव-पूजा में मन लगता है, द्रव्य-पूजन में नहीं। तो मैंने कहा, भइया, ये तो दान से बचने के लिए पगडण्डियाँ हैं। पेट-पूजा के लिए कोई भाव-पूजा की बात नहीं करता। इसी तरह भगवान की पूजा के लिये सस्ते पदार्थों का उपयोग करना और खाने-पीने के लिये उत्तम से उत्तम पदार्थ लेना यह भी सही त्याग नहीं है। जब भगवान को चढ़ाया हुआ द्रव्य भोगना नहीं है तब उनके लिये सुरभित सुगंधित पदार्थ क्यों चढ़ाना, ये हमारे मन की विचित्रता है। **पूजा का मतलब तो यह है कि भगवान के सम्मुख गद्गद् होकर विषयों और कषायों का समर्पण किया जाये।**

जब तक इस प्रकार का समग्र-समर्पण नहीं होता, तब तक पूजा की सार्थकता नहीं है।

त्याग के पहले जागृति परम अपेक्षणीय है। निजी सम्पत्ति की पहिचान जब हो जाती है, उस समय विषय-सामग्री कूड़ा-कचरा बन जाती है और उसका त्याग सहज हो जाता है। इस कूड़े-कचरे के हटने पर अपनी अन्तरंग की मणि अलौकिक ज्योति के साथ प्रकाशित हो उठती है। त्याग से ही आत्मारूपी हीरा चमक उठता है। जैसे कूड़ा-कचरा जब साफ हो जाता है तब जल निर्बाध प्रवाहित होने लगता है। इसी प्रकार विषय-भोगों का कूड़ा-कचरा जब हट जाता है तो ज्ञान की धारा निर्बाध अन्दर की ओर प्रवाहित होने लगती है।

आतम के अहित विषय-कषाय, इनमें मेरी परिणित न जाये।

और

यह राग-आग दहै सदा तातैं समामृत सेइये।
चिर भजे विषय-कषाय अब तो त्याग निज-पद वेइये॥

ये राग तपन पैदा करता है। **विषय-कषाय हमें जलाने वाले हैं।** यह हमारा पद नहीं है। यह 'पर' पद है। अपने पद में आओ। आज तक हम आस्रव में जीवित रहे हैं। **निर्जरा कभी हमारा लक्ष्य नहीं रहा। इसलिये दुख उठाते रहे।** जब तक हम भोगों का विमोचन नहीं करेंगे, उपास्य नहीं बन पायेंगे।

योग जीवन है, भोग मरण है। योग सिद्धत्व को प्रशस्त करने वाला है और भोग नरक की ओर ले जाने वाला है। आस्था जागृत करो। विश्वास/आस्था के अभाव में ही हम स्व-पद की ओर प्रयाण नहीं कर पाये हैं। त्याग के प्रति अपनी आस्था मजबूत करो ताकि शाश्वत सुख को प्राप्त कर सको।

❑ ❑ ❑

सत्-तप

तप, दोषों की निवृत्ति के लिए परम रसायन है। मिट्टी भी तपकर ही पूज्य बनती है। अग्नि की तपन को पार करके ही वह पात्र के रूप में उपयोगी बन जाती है।

भारत भूमि का एक-एक कण तपस्वियों की पद-रज से पुनीत बन चुका है। तप की प्रशंसा केवल इन महर्षियों, योगियों और तपोभूत पुरुषों द्वारा ही नहीं गायी गयी। अन्य पुरुषों, कवियों ने भी तप की यशोगाथा गायी है। राष्ट्रकवि स्वर्गीय 'मैथिलीशरण गुप्त' ने लिखा है-

नारायण नारायण धन्य है नर साधना।
इन्द्रपद ने की है जिसकी शुभाराधना ॥

भोगासक्त देवों ने भी इस तप-साधना की प्रशंसा की है। वे स्वर्गों से उतरकर उनका कीर्तन-पूजन करने के लिये आते हैं जो नर से नारायण बनने की साधना में लगे हैं।

तप, दोषों की निवृत्ति के लिये परम रसायन है। मिट्टी भी तपकर ही पूज्य बनती है। जब वह अग्नि की तपन को पार कर लेती है तब पक्के पात्र घड़े आदि का रूप धारण कर लेती है और आदर प्राप्त करती है। कहा भी है-'पहले कष्ट फिर मिष्ट'। पदार्थ की महत्ता वेदना सहकर ही होती है।

आप दुखी होने पर सुख का रास्ता ढूँढ़ते हैं और साधु समागम में आते हैं। साधु-समागम में सुख मानकर भी यदि कुछ प्राप्त नहीं करते तो आपका आना व्यर्थ ही होगा। जिस भू-तल पर हम रहते हैं वह एक प्रकार का जंक्शन है। प्रत्येक दिशा में यहाँ से मार्ग जाते हैं। यहाँ से नरक की ओर यात्रा की जा सकती है, स्वर्ग जाया जा सकता है, पशु-योनि को पाया जा सकता है मनुष्य भी पुनः हुआ जा सकता है और परमात्मा पद की उपलब्धि भी की जा सकती है। जहाँ भी जाना चाहें, जा सकते हैं। साधना स्वाश्रित है।

गृहस्थी में आतप है, कष्ट है, छटपटाहट है। जैसे पूड़ी कड़ाही में छटपटाती है, वही दशा गृहस्थ की होती है। तप द्वारा उस कष्ट का निवारण संभव है। एक बार गृहस्थ अवस्था में मेरी बाँह मोच गयी थी, मैंने स्लोन्स बाम लगायी। उससे सारा दर्द धीरे-धीरे जाता रहा। इसी तरह संसार की वेदना को मिटाने के लिये तप रूपी बाम का उपयोग करना होगा। कार्य सिद्धि के लिए तप अपनाना ही होगा। लोहे की छड़ आदि जब टेढ़ी हो जाये तो केवल तपाकर ही उसे सीधा बनाया जा सकता है अन्यथा सभी साधन व्यर्थ हो जाते हैं। उसी प्रकार विषय और कषाय के टेढ़ेपन की निवृत्ति के लिये आत्मा को तपाना ही एकमात्र अव्यर्थ साधन है।

इच्छा का निरोध कौन करें? वानर? नहीं नर, केवल नर। वानर तो पशु है। नारकी भी नहीं कर सकते। देव भी नहीं कर सकते। ये सब तो अपनी गलती का प्रायश्चित्त कर सकते हैं। साधना तो केवल नर ही कर सकता है। धन्य है नर साधना! नर-पद एक ऐसा मैदान है जहाँ पर नारायण बनने का खेल खेला जा सकता है। अभी कुछ दिन पहले एक सज्जन कह रहे थे- ''धन्य है हमारी यह सुहाग नगरी! फिरोजाबाद! इसने आचार्य महावीरकीर्ति जैसी मूर्ति को उत्पन्न किया है।'' ठीक है महावीरकीर्ति महाराज यहाँ पैदा हुए और उन्होंने साधना द्वारा अपना कल्याण किया, किन्तु आपको क्या मिला? आप भी महावीरकीर्ति महाराज जैसे बने क्या? महावीरकीर्ति महाराज जैसे तपस्वी आपके लिये आदर्श तो बन सकते हैं आपकी कालिमा का संकेत दे सकते हैं किन्तु वे स्वयं आपकी कालिमा मिटा नहीं सकते। दर्पण आपके मुख पर लगे धब्बे को दिखा सकता है लेकिन वह धब्बा जब भी मिटेगा आपके प्रयास से ही मिटेगा। आपको

यह मनुष्य जीवन मिला है तो साधना करनी ही चाहिए, अन्यथा आप जानते ही हैं कि **'तप' का विलोम 'पत' होता है अर्थात् गिरना। साधना के अभाव में पतन ही होगा।**

इच्छाएँ प्रत्येक के पास हैं किन्तु इच्छा का निरोध केवल तप द्वारा ही संभव है। यदि इच्छाओं का निरोध नहीं हुआ, तो ऐसा तप भी तप नहीं कहा जायेगा। **'तपसा निर्जरा च'** अर्थात् तप से निर्जरा भी होती है। यदि तप करने से आकुलता हो और निर्जरा न हो तो वह तप भी तप नहीं है। **साधन वही है जो साध्य को, दिशा/लक्ष्य/मंजिल दिला दे सके, कारण वही साधकतम है जो कार्य को सम्पन्न करा दे। औषधि वही है जो रोग की निवृत्ति कर दे। तप वही है जो नर से नारायण बना दे।**

गृहस्थ भी घर में थोड़ी-बहुत साधना कर सकता है किन्तु आज तो वह भी नहीं होती। आज का गृहस्थ तो राग-द्वेष और विषय-कषाय में अनुरक्त रह कर उपास्य की मात्र शाब्दिक उपासना कर रहा है। एक राजा था। वह अपने राज्य में दुष्टों का निग्रह करता था और शिष्ट प्रजा का पालन करता था। एक बार लोगों ने राजा से शिकायत की- महाराज, आपके राज्य में एक व्यक्ति ऐसा पैदा हो गया है जो आपकी आज्ञा का पालन नहीं करता और न ही आपका राज्य छोड़ना चाहता है। उसे राजा ने बुलाकर बड़े प्रेम से उसकी आवश्यकताओं की जानकारी ली। एक-एक करके उसने अपनी ढेरों आवश्यकताएँ राजा के सामने रखी। राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह व्यक्ति इतनी इच्छाएँ तो रखता है परंतु पुरुषार्थ कुछ भी नहीं करना चाहता। आवश्यकता आविष्कार की जननी है, परंतु आज तो आविष्कार जितने अधिक हो रहे हैं उतनी ही अधिक आवश्यकताएँ बढ़ रही हैं। राजा को उस व्यक्ति की इतनी प्रबल इच्छाएँ देख कर उसे अपने राज्य से निकल जाने का आदेश देना पड़ा। इच्छाओं के कारण उस व्यक्ति को हमेशा दुख झेलना पड़ा।

अतः केवल आवश्यकता की वस्तुएँ रखो, शेष से नाता तोड़ लो। उपासना वासना नहीं है। उपासना में तो वासना का निरोध है। वासना के निरोध से ही उपास्य से सम्बन्ध स्थापित हो सकता है।

कुछ समयसार पाठी सज्जन मेरे पास आते हैं कहते हैं, महाराज, हमें तो कुछ इच्छा है ही नहीं। न खाने की इच्छा है, न पीने की इच्छा है और न कोई अन्य इच्छा होती है। सब कुछ सानंद चल रहा है। उनकी बात सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य होता है। अगर खाने की इच्छा नहीं है तो फिर लड्डू आदि मुँह में ही क्यों डाले जा रहे हैं, कान में या और किसी के मुँह में क्यों नहीं डाल देते। बिना इच्छा के ये सब क्रियाएँ कैसे चल सकती हैं। प्रवृत्ति इच्छा के बिना नहीं होती। प्रवृत्ति को छोड़कर निवृत्ति के मार्ग पर जाना ही श्रेयस्कर है। ❑ ❑ ❑

साधु-समाधि सुधा-साधन

हर्ष विवाद से परे आत्म-सत्ता की सतत् अनुभूति ही सच्ची समाधि है।

यहाँ समाधि का अर्थ मरण से है। साधु का अर्थ है श्रेष्ठ/अच्छा अर्थात् श्रेष्ठ/आदर्श। मृत्यु को साधु-समाधि कहते हैं। 'साधु' का दूसरा अर्थ 'सज्जन' से है। अतः सज्जन के मरण को भी साधु-समाधि कहेंगे। ऐसे आदर्श-मरण को यदि हम एक बार भी प्राप्त कर लें तो हमारा उद्धार हो सकता है।

जन्म और मरण किसका? हम बच्चे के जन्म के साथ मिष्ठान्न वितरण करते हैं। बच्चे के जन्म के समय सभी हँसते हैं, किन्तु बच्चा रोता है। इसलिये रोता है कि उसके जीवन के इतने क्षण समाप्त हो गये। जीवन के साथ ही, मरण का भय शुरू हो जाता है। वस्तुतः जीवन और मरण कोई चीज नहीं है। यह तो पुद्‌गल का स्वभाव है, वह तो बिखरेगा ही।

आपके घरों में पंखा चलता है। पंखे में तीन पंखुड़ियाँ होती हैं। और जब पंखा चलता है तो एक पंखुड़ी मालूम पड़ती है। ये पंखुड़ियाँ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की प्रतीक हैं और पंखे के बीच का डंडा जो है वह सत् का प्रतीक है। हम वस्तु की शाश्वतता को नहीं देखते, केवल जन्म-मरण के पहलुओं से चिपके रहते हैं जो भटकाने/घुमाने वाला है।

समाधि ध्रुव है, वहाँ न आधि है, न व्याधि है और न ही कोई उपाधि है। मानसिक विकार का नाम आधि है। शारीरिक विकार व्याधि है। बुद्धि के विकार को उपाधि कहते हैं। समाधि मन, शरीर और बुद्धि से परे हैं। समाधि में न राग है, न द्वेष है, न हर्ष है और न विषाद। जन्म और मृत्यु शरीर के हैं। हम विकल्पों में फँस कर जन्म-मृत्यु का दुख उठाते हैं। अपने अन्दर प्रवाहित होने वाली अक्षुण्ण चैतन्य-धारा का हमें कोई ध्यान ही नहीं। अपनी त्रैकालिक सत्ता को पहिचान पाना सरल नहीं है। समाधि तभी होगी जब हमें अपनी सत्ता की शाश्वतता का भान हो जायेगा। साधु-समाधि वही है **जिसमें मौत को मौत के रूप में नहीं देखा जाता है। जन्म को भी अपनी आत्मा का जन्म नहीं माना जाता। जहाँ न सुख का विकल्प है और न दुख का।**

आज ही एक सज्जन ने मुझसे कहा,''महाराज, कृष्ण जयन्ती है आज।'' मैं थोड़ी देर सोचता रहा। मैंने पूछा क्या कृष्ण जयन्ती मनाने वाले कृष्ण की बात आप मानते हैं? कृष्ण गीता में स्वयं कह रहे हैं कि मेरी जन्म-जयन्ती न मनाओ। मेरा जन्म नहीं, मेरा मरण नहीं। मैं तो केवल सकल ज्ञेय ज्ञायक हूँ। त्रैकालिक हूँ। मेरी सत्ता तो अक्षुण्ण है। अर्जुन युद्ध-भूमि में खड़े थे। उनका हाथ अपने गुरुओं से युद्ध के लिए नहीं उठ रहा था। मन में विकल्प था कि कैसे मारूँ अपने ही गुरुओं को। वे सोचते थे चाहे मैं भले ही मर जाऊँ किन्तु मेरे हाथ से गुरुओं की सुरक्षा होनी चाहिए। मोहग्रस्त ऐसे अर्जुन को समझाते हुए श्री कृष्ण ने कहा-

जातस्य हिध्रुवो मृत्यु ध्रुवो जन्म मृतस्य च।
तस्माद परिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥

जिसका जन्म है उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है और जिसकी मृत्यु है उसका जन्म भी अवश्य होगा। यह अपरिहार्य चक्र है, इसलिये हे अर्जुन! सोच नहीं करना चाहिए।

अर्जुन! उठाओ अपना धनुष और क्षत्रिय-धर्म का पालन करो। सोचो, कोई किसी को वास्तव में मार नहीं सकता। कोई किसी को जन्म नहीं दे सकता। इसलिये अपने धर्म का पालन श्रेयस्कर है। जन्म-मरण तो होते ही रहते हैं। आवीचि मरण तो प्रतिसमय हो ही रहा है। कृष्ण कह रहे हैं अर्जुन से, और हम हैं केवल जनम-मरण के चक्कर में, क्योंकि चक्कर में भी हमें शक्कर-सा अच्छा लग रहा है।

तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान।
रागादि प्रकट ये दुख दैन, तिन ही को सेवत गिनत चैन ॥

हम शरीर की उत्पत्ति के साथ अपनी उत्पत्ति और शरीर-मरण के साथ अपना मरण मान रहे हैं। अपनी वास्तविक सत्ता का हमको भान ही नहीं। सत् की ओर हम देख ही नहीं रहे हैं। हम जीवन और मरण के विकल्पों में फँसे हैं किन्तु जन्म-मरण के बीच जो ध्रुव सत्य है उसका चिन्तन कोई नहीं करता। साधु-समाधि तो तभी होगी जब हमें अपनी शाश्वत सत्ता का अवलोकन होगा। अतः जन्म-जयन्ती न मनाकर हमें अपनी शाश्वत सत्ता का ही ध्यान करना चाहिए, उसी की सँभाल करनी चाहिए।

वैयावृत्य

वास्तव में दूसरे की सेवा करने में हम अपनी ही वेदना मिटाते हैं। दूसरों की सेवा में निमित्त बनकर अपने अंतरंग में उतरना ही सबसे बड़ी सेवा है।

वैयावृत्य का अर्थ है-सेवा, सुश्रुषा, अनुग्रह, उपकार। सेवा की चर्चा करते ही हमारा ध्यान पड़ोसी की ओर चला जाता है। बचाओ शब्द कान में आते ही हम देखने लग जाते हैं कि किसने पुकारा है, कौन अरक्षित है और हम उनकी मदद के लिये दौड़ पड़ते हैं। किन्तु अपने पास में जो आवाज उठ रही है उसकी ओर आज तक हमारा ध्यान नहीं गया। सुख की खोज में निकले हुए पथिक की वैयावृत्ति आज तक किसी ने नहीं की। सेवा,तभी हो सकती है जब हमारे अन्दर सभी के प्रति अनुकम्पा जागृत हो जाये। अनुकम्पा के अभाव में न हम अपनी सेवा कर सकते हैं और न दूसरे की ही सेवा कर सकते हैं।

सेवा किसकी? ये प्रश्न बड़ा जटिल है। लौकिक दृष्टि से हम दूसरे की सेवा भले कर लें किन्तु पारमार्थिक क्षेत्र में सबसे बड़ी सेवा अपनी ही हो सकती है। आध्यात्मिक दृष्टि से किसी अन्य की सेवा हो ही नहीं सकती। भगवान का उपकार भी उसी को प्राप्त हो सकता है जो अपना उपकार करने में स्वयं अपनी सहायता करते हैं। दूसरों का सहारा लेने वाले पर भगवान कोई अनुग्रह नहीं करते। सेवा करने वाला वास्तव में अपने ही मन की वेदना मिटाता है। यानि अपनी ही सेवा करता है। दूसरे की सेवा में अपनी ही सुख-शांति की बात छिपी रहती है।

मुझे एक लेख पढ़ने को मिला। उसमें लिखा था कि इंग्लैण्ड का गौरव उसके सेवकों में निहित है। किन्तु सच्चा सेवक कौन? तो एक व्यक्ति कहता है कि चाहे सारी सम्पत्ति चली जाय, चाहे सूर्य का आलोक भी हमें प्राप्त न हो किन्तु हम अपने देश के श्रेष्ठ कवि शेक्सपियर को किसी कीमत पर नहीं छोड़ सकते। वह देश का सच्चा सेवक है कहा भी है- **''जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि''**। ठीक है, कवि गूढ़ तत्त्व का विश्लेषण कर सकता है किन्तु एक काम तो वह भी नहीं कर सकता, वह 'निजानुभवी नहीं बन सकता।' ऐसा कहा जा सकता है कि जहाँ न पहुँचे कवि, वहाँ पहुँचे निजानुभवी-पाश्चात्य देश शब्दों को महत्व अधिक देते हैं जबकि भारत देश अनुभव को ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानता है। कवि और चित्रकार प्रकृति के चित्रण में सक्षम है किन्तु यही मात्र हमारा लक्ष्य नहीं, तट नहीं। स्वानुभव ही गति है और हमारा लक्ष्य भी है। स्वानुभवी बनने के लिये स्व-सेवा अनिवार्य है। स्वयंसेवक बनो, पर सेवक मत बनो। मात्र भगवान् के सेवक भी स्वयंसेवक नहीं बन पाते। **'खुदा का बन्दा' बनना आसान है किन्तु 'खुद का बन्दा' बनना कठिन है। खुद के बन्दे बनो।** भगवान् की सेवा आप क्या कर सकेंगे? वे तो निर्मल और निराकार बन चुके हैं। उनके समान निर्मल और निराकार बनना ही उनकी सच्ची सेवा है।

हम शरीर की तड़पन तो देखते हैं किन्तु आत्मा की पीड़ा नहीं पहचान पाते। यदि हमारे शरीर में कोई रात को भी सुई चुभो दे तो तत्काल हमारा समग्र उपयोग उसी स्थान पर केन्द्रित हो जाता है। हमें बड़ी वेदना होती है किन्तु आत्म-वेदना को हमने आज तक अनुभव नहीं किया। शरीर की सड़ांध का हम इलाज करते हैं किन्तु अपने अंतर्मन की सड़ांध/उत्कट दुर्गंध को हमने कभी असह्य माना ही नहीं। आत्मा में अनादि से बसी हुई इस दुर्गंध को निकालने का प्रयास ही वैयावृत्य का मंगलाचरण है।

हमारे गुरुवर आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज ने 'कर्त्तव्य पथ प्रदर्शन' नाम के अपने ग्रन्थ में एक घटना का उल्लेख किया है। एक जज साहब कार में जा रहे हैं अदालत की ओर। मार्ग में

देखते हैं कि एक कुत्ता नाली में फँसा हुआ है। जीवैषणा है उसमें किन्तु प्रतीक्षा है कि कोई आ जाये और उसे कीचड़ से बाहर निकाल दे। जज साहब कार रुकवाते हैं और पहुँच पाते हैं उस कुत्ते के पास। उनके दोनों हाथ नीचे झुक जाते हैं और झुककर वे उस कुत्ते को निकाल कर सड़क पर खड़ा कर देते हैं। **सेवा वही कर सकता है जो झुकना जानता है।** बाहर निकलते ही उस कुत्ते ने एक बार जोर से सारा शरीर हिलाया और पास खड़े जज साहब के कपड़ों पर ढेर सारा कीचड़ लग गया। सारे कपड़ों पर कीचड़ के धब्बे लग गये। किन्तु जज साहब घर नहीं लौटे। उन्हीं वस्त्रों में पहुँच गये अदालत में। सभी चकित हुए किन्तु जज साहब के चेहरे पर अलौकिक आनन्द की अद्‌भुत आभा खेल रही थी। वे शांत थे। लोगों के बार-बार पूछने पर बोले-मैंने अपने हृदय की तड़पन मिटाई है, मुझे बहुत शांति मिली है।

वास्तव में, दूसरे की सेवा करने में हम अपनी ही वेदना मिटाते हैं। दूसरों की सेवा हम कर ही नहीं सकते। दूसरे तो मात्र निमित्त बन सकते हैं। उन निमित्तों के सहारे अपने अंतरंग में उतरना, यही सबसे बड़ी सेवा है। वास्तविक सुख स्वावलम्बन में है। आरम्भ में छोटे-छोटे बच्चों को सहारा देना होता है किन्तु बड़े होने पर उन बच्चों को अपने पैरों पर बिना दूसरे के सहारे खड़े होने की शिक्षा देनी होगी। आप हमसे कहें कि महाराज आप उस कुत्ते को कीचड़ में से निकालेंगे या नहीं, तो हमें कहना होगा कि हम उसे निकालेंगे नहीं। हाँ, उसको देखकर अपने दोषों का शोधन अवश्य करेंगे। आप सभी को देखकर भी हम अपना ही परिमार्जन करते हैं क्योंकि हम सभी मोह कर्दम में फँसे हुए हैं। बाह्य कीचड़ से अधिक घातक यह मोह-कर्दम है।

आपको शायद याद होगा हाथी का किस्सा जो कीचड़ में फँस गया था। वह जितना निकलने का प्रयास करता उतना अधिक उसी कीचड़ में धँसता जाता था। उसके निकलने का एक ही मार्ग था कि कीचड़ सूर्य के आलोक से सूख जाये। इसी तरह आप भी संकल्पों-विकल्पों के दल-दल में फँस रहे हो। अपनी ओर देखने का अभ्यास करो, तब अपने आप ही ज्ञान की किरणों से यह मोह की कीचड़ सूख जायेगी। बस, अपनी सेवा में जुट जाओ, अपने आप को कीचड़ से बचाने का प्रयास करो। भगवान महावीर ने यही कहा है- ''सेवक बनो स्वयं के'' और खुदा ने भी यही कहा है -खुद का बन्दा बन। एक सज्जन जब भी आते हैं एक अच्छा शेर सुनाकर जाते हैं। हमें याद हो गया-

अपने दिल में डूबकर पा ले, सुरागे जिंदगी।
तू अगर मेरा नहीं बनता, न बन, अपना तो बन॥

❑ ❑ ❑

अर्हत् भक्ति

भक्ति-गंगा की लहर हृदय के भीतर से प्रवाहित होनी चाहिए और पहुँचनी चाहिए वहाँ, जहाँ निस्सीमता है।

आज हम अर्हत् भक्ति की प्ररूपणा करेंगे। **अर्हतीति अर्हत् अर्थात् जो पूज्य हैं उनकी उपासना, उनकी पूजा करना। इसी को अर्हत् भक्ति कहते हैं, किन्तु प्रश्न है पूज्य कौन? किसी ने कहा था-भारत देश की विशेषता ही ये है कि यहाँ पूज्य ज्यादा हैं और पूजने वाले कम हैं।** उपास्य ज्यादा हैं उपासक कम। जब पूज्यों की कमी हुई तो प्रचुर मात्रा में मूर्तियों का निर्माण होने लगा। पूज्य कौन है? इसी प्रश्न का उत्तर पहले खोजना होगा क्योंकि पूज्य की भक्ति ही वास्तविक भक्ति हो सकती है। अन्य भक्तियाँ तो स्वार्थ साधने के लिये भी हो सकती हैं। पूज्य की भक्ति में गतानुगतिकता के लिये स्थान नहीं है। दो सम्यग्दृष्टियों के भाव, विचार और अनुभव में अन्तर होना संभव है। भले ही लक्ष्य एक हो क्योंकि अनुभूति करना हमारे अपने हाथ की बात है। भाव तो असंख्यात लोक प्रमाण है।

आज से कई वर्ष पूर्व दक्षिण से एक महाराज आये थे। उन्होंने एक घटना सुनाई। दक्षिण में एक जगह किसी उत्सव में जुलूस निकल रहा था। मार्ग थोड़ा सकरा था पर साफ सुथरा था। अचानक कहीं से आकर एक कुत्ते ने उस मार्ग में मल कर दिया। स्वयं-सेवक देखकर सोच में पड़ गया। परन्तु जल्दी ही विचार करके उसने उस मल पर थोड़े से फूल डाल कर ढक दिया। अब क्या था एक-एक करके जुलूस में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति ने उस पर फूल चढ़ाये और वहाँ फूलों का अम्बार लग गया। वह स्थल पूज्य बन गया। ऐसी मूढ़ता के लिये भक्ति में कोई स्थान नहीं है।

भक्ति किसकी? जो भक्तों से कहे, आ जाओ मेरी ओर, और मेरी पूजा करो, मैं तुम्हें शरण दूँगा। ऐसा कहने वाला भगवान नहीं हो सकता। जहाँ लालसा है ख्याति की, वहाँ भगवान कैसे? काम भोग की आकांक्षा रखने वालों से भगवान् का क्या वास्ता? **''भगवान् भक्त के वश में होते आये'' इस कहावत का भी अर्थ गहराई से समझना पड़ेगा। भगवान् तो चुम्बक हैं जो उस लोहे को अपनी ओर खींच लेते हैं जिसे मुक्ति की कामना है। उस पाषाण को कभी नहीं खींचते जिसे भुक्ति की कामना है।**

भक्ति-गंगा की लहर हृदय के भीतर से प्रवाहित होनी चाहिए और पहुँचनी चाहिए वहाँ, जहाँ निस्सीमता है। गंगा के तट पर पहुँचकर एक आदमी चुपचाप नदी का बहना देखता रहा।

उसके गंगा से यह पूछने पर कि वह कहाँ दौड़ी चली जा रही है? नदी ने मौन उत्तर दिया वहाँ जा रही हूँ, जहाँ मुझे शरण मिले। पहाड़ों में शरण नहीं मिली। मरुभूमि और गड्ढों में मुझे शरण नहीं मिली, जहाँ सीमा है, वहाँ शरण मिल नहीं सकती, नदी की शरण तो सागर में है, जहाँ पहुँच कर बिन्दु सिन्धु बन जाता है और जहाँ इन्दु भी गोद में समा जाता है।

पूजा करो, पूर्ण की करो। अनंत की करो। लोक में विख्यात है कि सुखी की पूजा करोगे तो तुम स्वयं भी सुखी बन जाओगे। गंगा, सिन्धु के पास पहुँच कर स्वयं भी सिन्धु बन गयी। वहाँ गंगा का अस्तित्व मिटा नहीं, बिन्दु मिटी नहीं, सागर के समान पूर्ण हो गयी। जैसे एक कटोरे-जल में लेखनी द्वारा एक कोने से स्याही का स्पर्श कर देने से सारे जल में स्याही फैल जाती, है इसी तरह गंगा भी सारे सिन्धु पर फैल गयी अपने अस्तित्व को लिए हुए। इसे जैनाचार्यों ने स्पर्द्धक की संज्ञा दी है जिसका अर्थ है शक्ति। यह कहना उपयुक्त होगा कि भगवान् भक्त के वश में होते आये और भक्त भगवान् के वश में होते आये, क्योंकि जहाँ आश्लेष हो जाये, वही है असली भक्ति का रूप।

हमारी मुक्ति नहीं हो रही क्योंकि हमारी भक्ति में भुक्ति की इच्छा है। जहाँ लालसा हो, भोगों की इच्छा हो, वहाँ मुक्ति नहीं। भक्ति में तो पूर्ण समर्पण होना चाहिए। पर समर्पण है कहाँ? हम तो केवल भोगों के लिए भक्ति करते हैं अथवा हमारा ध्यान पूजा के समय भी जूतों-चप्पलों की ओर ज्यादा रहता है। मैंने एक सज्जन को देखा भक्ति करते हुए। एक हाथ चाबियों के गुच्छे पर और एक हाथ भगवान् की ओर उठा हुआ। यह कौन-सी भक्ति हुई, भइया बताओ। कल आपको क्षुल्लकजी ने यमराज के विषय में सुनाया था। दांत गिरने लगे, वृद्धावस्था आ गई तो अब समझो श्मशान जाने का समय समीप आ गया किन्तु आप तो नई बत्तीसी लगवा लेते हैं क्योंकि अभी भी रसों की भुक्ति बाकी है। रसों की भक्ति वाला कभी मुक्ति की ओर देखता नहीं। भक्ति मुक्ति के लिए है और भुक्ति संसार के लिए है। हम अपने परिणामों से ही भगवान् से दूर हैं और परिणामों की निर्मलता से ही उन्हें पा सकते हैं।

भक्ति करने के लिए भक्त को कहीं जाना नहीं पड़ता। भगवान् तो सर्वज्ञ और सर्वव्यापी हैं। जहाँ बैठ जाओ, वहीं भक्ति कर सकते हो। हमारे भगवान् किसी को बुलाते नहीं और यदि आप वहाँ पहुँच जायेंगे तो आपको दुतकारेंगे भी नहीं। क्या सागर, गंगा नदी से कहने गया कि तू आ, किन्तु नदी बहकर सागर तक गई तो सागर ने उसे भगाया भी नहीं। **मन्दिर उपयोग को स्थिर करने के लिये हैं। किन्तु सबके उपयोग को स्थिर करने में निमित्त बने, ये जरूरी नहीं है।**

जैनाचार्यों ने कहा, जो अर्हंत को जानेगा, वह खुद को भी जानेगा। पूज्य कौन है? मैं स्वयं पूज्य, मैं स्वयं उपास्य। मैं स्वयं साहूकार हूँ तो भीख किससे मांगूं?

मैं ही उपास्य जब हूँ स्तुति अन्य की क्यों?
मैं साहूकार जब हूँ, फिर याचना क्यों?

बाहर का कोई भी निमित्त हमें अर्हत् नहीं बना सकता। अर्हत् बनने में साधन भर बन सकता है, अर्हत् बनने के लिए दिशा-बोध भर दे सकता है पर बनना हमें ही होगा। इसीलिये भगवान् महावीर और राम ने कहा- तुम स्वयं अर्हत् हो। हमारी शरण में आओ, ऐसा नहीं कहा। कहेंगे भी नहीं। ऐसे ही भगवान वास्तव में पूज्य हैं। तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपने अन्दर डूब जायें। मात्र बाहर का सहारा पकड़ कर बैठने से अर्हन्त पद नहीं मिलेगा।

जब तक भक्ति की धारा बाहर की ओर प्रवाहित रहेगी तब तक भगवान् अलग रहेंगे और भक्त अलग रहेगा। जो अर्हत् बन चुके हैं उनसे दिशा-बोध ग्रहण करो और अपने में डूब कर उसे प्राप्त करो। "**जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।**" यही है सच्ची अर्हत् भक्ति की भूमिका। गहरे पानी पैठ वाली बात को लेकर आपको एक उदाहरण सुनाता हूँ। एक पण्डित जी रोज सूर्य को नदी के किनारे एक अंजुलि जल देते थे और फिर नदी में गोता लगाकर निकल आते थे। एक गड़रिया जो रोज उन्हें ऐसा करते देखता था उसने पूछा- महाराज, यह गोता क्यों लगाते हो पानी में? पंडित जी बोले-तू क्या जाने गड़रिये, ऐसा करने से भगवान् के दर्शन होते हैं। भगवान् के दर्शन, ओह! आपका जीवन धन्य है, मैं भी करके देखूँगा और इतना कहकर गड़रिया चला गया। दूसरे दिन पंडित जी के आने से पहिले वह नदी में कूद गया और डूबा रहा दस मिनट पानी में। जल देवता, उसकी भक्ति और विश्वास देखकर दर्शन देने आ गये और पूछा- माँग वरदान, क्या माँगता है? गड़रिया आनंद से भरकर बोला- दर्शन हो गए प्रभु के, अब कोई माँग नहीं। प्रभु के दर्शन के बाद कोई माँग शेष नहीं रहती। ऐसे ही गहरे अपने अन्दर उतरना होगा तभी प्राप्ति होगी प्रभु या स्वयं या आत्मा की। महावीर जी में मैंने देखा एक सज्जन को। घड़ी देखते जा रहे हैं और लगाये जा रहे हैं चक्कर मंदिर के। पूछने पर बताया, एक हजार आठ चक्कर लगाना है। पहले एक सौ आठ चक्कर लगाए थे, बड़ा लाभ हुआ था। ऐसे चक्कर से, जिसमें आकुलता हो, कुछ नहीं मिलता। भक्ति का असली रूप पहिचानो, तभी पहुँचोगे मंजिल पर, अन्यथा संसार की मरुभूमि में ही भटकते रह जाओगे।

❑ ❑ ❑

आचार्य-स्तुति

आचार्य स्वयं भी तैरता है और दूसरों को भी तैराता है। आचार्य नौका के समान है। वह पूज्य है।

इन भावनाओं के अंतर्गत अरहंत परमेष्ठी के बाद आचार्य परमेष्ठी की भक्ति का विवेचन है। सिद्ध परमेष्ठी को यहाँ ग्रहण नहीं किया गया क्योंकि उपयोगिता के आधार पर ही महत्त्व दिया जाता है। जैनेतर साहित्य में भी भगवान से बढ़कर गुरु की ही महिमा का यशोगान किया है।

गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरु आपकी गोविंद दियो बताय॥

'बताय' शब्द के स्थान पर यदि 'बनाय' शब्द रख दिया जाय तो अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि गुरु शिष्य को भगवान् बना देते हैं। इसीलिए उन्हें तरणतारण कहा गया है। गुरु स्वयं तो सत्पथ पर चलते हैं, दूसरों को भी चलाते हैं। चलने वाले की अपेक्षा चलाने वाले का काम अधिक कठिन है। रास्ता दूसरों को तारता है इसलिए वह तारण कहलाता है। पुल भी तारण है। किन्तु रास्ता और पुल दोनों स्वयं खड़े रह जाते हैं। 'गुरु' स्वयं भी तैरते हैं और दूसरों को भी तैराते हैं। इसलिए उनका महत्त्व शब्दातीत है। आचार्य नौका के समान हैं जो स्वयं नदी के उस पार जाती है और अपने साथ अन्यों को भी पार लगाती है।

भगवान् महावीर की वाणी गणधर आचार्य की अनुपस्थिति होने से छियासठ दिन तक नहीं खिरी। आचार्य ही उस वाणी को विस्तार से समझाते हैं। वे अपने शिष्यों को आलंबन देते हैं, बुद्धि का बल प्रदान करते हैं, साहस देते हैं। जो उनके पास दीक्षा लेने जाये, उसे दीक्षा देते हैं और अपने से भी बड़ा बनाने का प्रयास करते हैं। **वे शिष्य से यह नहीं कहते तू मुझ जैसा बन जाये वे तो कहते हैं तू भगवान बन जाये।**

मोक्षमार्ग में आचार्य से ऊँचा साधु का पद है। आचार्य अपने पद पर रहकर मात्र उपदेश और आदेश देते हैं, किन्तु साधना पूरी करने के लिये साधु पद को अंगीकार करते हैं। मोक्षमार्ग का भार साधु ही वहन करता है। इसीलिए चार मंगल पदों में, चार उत्तम पदों में और चार शरण पदों में आचार्य पद को पृथक् ग्रहण न करके साधु पद के अंतर्गत ही रखा गया है। आचार्य तो साधु की ही एक उपाधि है जिसका विमोचन मोक्ष-प्राप्ति के पूर्व होना अनिवार्य है। **जहाँ राग का थोड़ा भी अंश शेष है, वहाँ अनन्त पद की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसीलिए साधना में लीन साधु की वंदना और तीन प्रदक्षिणा आचार्य द्वारा की जाती है।**

मैंने अभी दो दिन पूर्व थोड़ा विचार किया इस बात पर कि भगवान महावीर अपने साधना काल में दीक्षा के उपरान्त बारह वर्ष तक निरन्तर मौन रहे। कितना दृढ़ संकल्प था उनका। बोलने में सक्षम होते हुए भी, वचन गुप्ति का पालन किया। वचन-व्यापार रोकना बहुत बड़ी साधना है। लोगों को यदि कोई बात करने वाला न मिले तो वे दीवाल से ही बातें करने लगते हैं। एक साधु थे। नगर से बाहर निकले इसलिये कि कोई उनसे बातें न करे किन्तु फिर भी, एक व्यक्ति उनके साथ हो गया और बोला-महाराज, मुझे अपने जैसा बना लें। मैं आपकी सेवा करता रहूँगा। आपको कोई न कोई सेवक तो चाहिए अवश्य सेवा करने के लिये। साधु बड़े पशोपेश में पड़ गये। आखिर बोले, सबसे बड़ी मेरी सेवा आप ये ही करो कि बोलो नहीं। बोलना बन्द कर दो। बोलने वालों की कमी नहीं है, प्रायः सर्वत्र मिल जाते हैं। मुझे स्वयं भी एक ऐसी घटना का सामना करना पड़ा मदनगंज, किशनगढ़ में। ब्रह्मचर्य अवस्था में एक स्थान पर बैठकर मैं सूत्रजी का पाठ कर रहा था। एक बूढ़ी माँ आई और मुझसे कुछ पूछने वहीं बैठ गयी। मैं मौन ही रहा परन्तु धीरे-धीरे वहाँ और भी कई मातायें आकर बैठने लगीं और दूसरे दिन से मुझे वह स्थान छोड़ना पड़ा। विविक्त शय्यासन अर्थात् **एकांतवास भी एक तप है जिसे साधु तपता है इसलिए कि एकान्त में ही अन्दर की आवाज सुनाई पड़ती है। बोलने से साधना में व्यवधान आता है।**

आचार्य कभी भी स्वयं को आचार्य नहीं कहते। वे तो दूसरों को बड़ा बनाने में लगे रहते हैं। अपने को बड़ा कहते नहीं। कोई और उन्हें कहे तो वे उसका विरोध भी नहीं करते और विरोध करना भी नहीं चाहिए। गाँधीजी के सामने एक बार यह प्रश्न आया। एक व्यक्ति उनके पास आया और बोला, महाराज, आप बड़े चतुर हैं, अपने आप को महात्मा कहने लग गये। गाँधीजी बोले, ''भैया, मैं अपने को महात्मा कब कहता हूँ। लोग भले ही कहें। मुझे क्या? मैं किसी का विरोध क्यों करूँ?'' यही उनकी महानता है।

❑ ❑ ❑

शिक्षा-गुरु स्तुति

जैसे माँ अपने बच्चे को बड़े प्रेम से दूध पिलाती है वैसी ही मनोदशा होती है बहुश्रुतवान महाराज की। अपने पास आने वालों को वे बताते हैं संसार की प्रक्रिया से दूर रहने का ढंग और उनका प्रभाव भी पड़ता है क्योंकि वे स्वयं उस प्रक्रिया की साक्षात् प्रतिमूर्ति होते हैं।

बहुश्रुत का तात्पर्य उपाध्याय परमेष्ठी से है। उपाध्याय ये तीन शब्दों से मिलकर बना है उप+ अधि+आय। 'उप' माने पास/निकट 'अधि' माने बहुत समीप अर्थात् सन्निकट और 'आय' माने आना अर्थात् जिनके जीवन का संबंध अपने शुद्ध गुण पर्याय से है जो अपने शुद्ध गुण पर्याय

के साथ अपना जीवन चला रहे हैं, वे उपाध्याय परमेष्ठी हैं। उनकी पूजा, उपासना या अर्चना करना, यह कहलाती है बहुश्रुत-भक्ति।

आचार्य और उपाध्याय में एक मौलिक अन्तर है। आचार्य महाराज उपाध्याय परमेष्ठी पर भी शासन करते हैं। उनका कार्य होता है आदेश देना। 'पर' का हित उनका कर्त्तव्य है। अतः वे कटु शब्दों का भी प्रयोग करते हैं। प्रिय, कटु और मिश्रित इन तीनों प्रकार के वचनों का प्रयोग आचार्य परमेष्ठी करते हैं किन्तु उपाध्याय परमेष्ठी उनसे बिल्कुल भिन्न हैं। उपाध्याय महाराज तो बड़े मीठे शब्दों में वचनामृत पान कराते हैं अपने शिष्यों को। जैसे माँ अपने बच्चे को बड़े प्रेम से दूध पिलाती है वैसी ही मनोदशा होती है उपाध्याय महाराज की। अपने पास आने वालों को वे बताते हैं संसार की प्रक्रिया से दूर रहने का ढंग और उनका प्रभाव भी पड़ता है क्योंकि वे स्वयं ही उस प्रक्रिया की साक्षात् प्रतिमूर्ति होते हैं। उपाध्याय महाराज आत्मा की बात करते हैं। उनके पास न पंचेन्द्रिय विषयों की चर्चा है, न कषायों की, न आरंभ की और न परिग्रह की। विषय और कषायों में अनुरंजन, आरंभ व परिग्रह में आसक्ति तथा संचय की प्रवृत्ति का नाम ही संसार है। जहाँ विषय, कषाय, आरंभ व परिग्रह का सर्वथा अभाव है वहाँ मुक्ति है। उपाध्याय परमेष्ठी इसी मुक्ति की चर्चा करते हैं और उस उपदेश के अनुरूप आचरण भी करते हैं। इसी कारण उनका प्रभाव लोगों पर पड़ता है। प्रभाव केवल आचरण का ही पड़ सकता है, वचनों का नहीं। वचनों में शक्ति अद्भुत है। वचन को योग माना है किन्तु उन वचनों के अनुरूप कार्य भी होना चाहिए।

एक बच्चा गुड खाता था। माँ बड़ी परेशान थी। एक साधु के पास पहुँची। 'महाराज, इसका गुड़ खाना छुड़वा दीजिये, बहुत खाता है।' साधु ने कहा- आठ दिन बाद आना इस बच्चे को लेकर। साधु ने इस बीच पहले स्वयं त्याग किया गुड़ खाने का और आठ दिनों में पूरी तरह उन्होंने गुड़ का परित्याग कर दिया। नौवें दिन जब वह माँ आयी उस बच्चे को लेकर, तो साधु ने उस बच्चे से कहा बच्चे गुड़ नहीं खाना। बच्चे ने तुरन्त उस साधु की बात मान ली। बोला महाराज आपकी बात मान सकता हूँ, माँ की नहीं क्योंकि डाक्टर ने माँ को भी मना किया है गुड़ खाने को, किन्तु छिपकर खा लेती है। इधर माँ ने साधु को टोक दिया बाबाजी इतनी सी बात उसी दिन कह देते। मुझे आठ दिन प्रतीक्षा क्यों करवाई? साधु का विनम्र उत्तर था माँ जी, जब तक गुड़ में मेरी लिप्सा थी तब तक मेरे उपदेश का क्या प्रभाव हो सकता था?

उपाध्याय परमेष्ठी एक अनूठे साधक हैं। उपदेश सुनने वाला पिघल जाता है उनके उपदेश को सुनकर। जो अनादि काल से जन्म, जरा और मरण के रोग से पीड़ित है वह रोगी दौड़ा चला आता है उपाध्याय परमेष्ठी के पास और उसे औषधि मिल जाती है अपने इस रोग

की। रोगी को रोग मुक्त वही डाक्टर कर सकता है जो स्वयं उस रोग से पीड़ित न हो। एक डाक्टर के पास एक रोगी पहुँचा। उसे आँखों का इलाज कराना था। उसे एक पदार्थ 'दो' दिखाई पड़ते थे। किन्तु परीक्षण के समय ज्ञात हुआ कि स्वयं डाक्टर की आँख में ऐसा रोग था जिसे एक ही पदार्थ 'चार' पदार्थों-सा दिखाई पड़ता था। अब आप ही बतायें वह डाक्टर क्या इलाज करेगा। ऐसे स्थान से तो निराशा ही हाथ लगेगी।

संसार मार्ग का समर्थक कभी भी मुक्ति मार्ग का सच्चा उपदेश दे नहीं सकता क्योंकि उसे उसमें रुचि ही नहीं है। उपाध्याय परमेष्ठी ही मुक्ति मार्ग का उपदेश दे सकते हैं क्योंकि वे स्वयं ही उस मार्ग के अडिग और अथक पथिक हैं।

एक जैन सज्जन मेरे पास आये, उनका प्रश्न था- महाराज! आचार्य समन्तभद्र के एक श्लोक से हिंसा का उपदेश ध्वनित होता है। उन्होंने कौवे के मांस का उपदेश दिया है, अन्य मांस का नहीं। मैं दंग रह गया। मैंने उन्हें समझाया- ''भइया! ये हिंसा का उपदेश नहीं है। यहाँ तो उस आदमी को महत्त्व दिया गया है जिसने कुछ त्यागा है। यहाँ तो छोड़ने का उपदेश दिया गया है, ग्रहण का नहीं। भोगों का समर्थन नहीं किया गया है, त्याग का समर्थन किया है। पात्र देखकर ही उपाध्याय परमेष्ठी उपदेश दिया करते हैं। यदि पात्र-भेद किए बिना उपदेश दिया जाये तो वह सार्थक नहीं हो सकता। जो रात दिन खाता है उसे रात्रि में पहले अन्न का भोजन छुड़वाया जाता है वही उपयुक्त है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसे रात्रि में अन्य पदार्थों के ग्रहण का उपदेश दिया गया हो''।

राजस्थान में एक प्रथा प्रचलित है जिसे कहते हैं 'गढ़का तेरस'। अनन्त चतुर्दशी के पूर्व तेरस को खूब डटकर गरिष्ठ भोजन कर लेते हैं और ऊपर से कलाकन्द भी खा लेते हैं फिर चौदस के दूसरे दिन उपवास के बाद पारणा बड़े जोर-शोर से करते हैं। ऐसे व्रत पालने से कोई लाभ होने वाला नहीं है। हमारी इच्छाओं का मिटना ही व्रतों में कार्यकारी है।

स्तुतिः स्तोतु साधोः कुशल-परिणामाय स तदा।
भवेन् मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः॥

उपाध्याय परमेष्ठी उपस्थित हों अथवा न हों, उनके लिखे हुए शब्दों का भी प्रभाव पड़ता है। द्रोणाचार्य की प्रतिमा मात्र ने एकलव्य को धनुर्विद्या में निष्णात बना दिया। ऐसे होते हैं उपाध्याय परमेष्ठी। उनको हमारा शत् शत् नमोऽस्तु!

❑ ❑ ❑

भगवद्-भारती-भक्ति

अज्ञात का ज्ञान और अनुभव प्राप्त करके जो विशिष्ट शब्द बोले जाते हैं जिनका संबंध हमारी आन्तरिक निधि से होता है वे शब्द प्रवचन कहलाते हैं।

वचन और प्रवचन में बड़ा अन्तर है। जो साधारण शब्द हम बोलते हैं वे वचन हैं। प्रवचन वे विशेष शब्द हैं जिनका सम्बन्ध साँसारिक पदार्थों से न होकर उस अनमोल निधि से है जो हमारे अन्दर है। अज्ञात का अनुभव एवं ज्ञान प्राप्त करके जो विशेष शब्द खिरते हैं, बोले जाते हैं, वे शब्द प्रवचन कहलाते हैं। आत्मानुभूति के लिये किये गये विशेष प्रयास को प्रवचन कहते हैं। महावीर भगवान् ने अज्ञात और अदृष्ट का अनुभव प्राप्त किया। अतः जो भी वचन खिर गये वे सरस्वती बन गये। श्रुत की आराधना एक महान् कार्य है।

श्रुत के दो भेद हैं- द्रव्य-श्रुत और भाव-श्रुत। शाब्दिक वचन द्रव्य-श्रुत हैं और अन्दर की पुकार भाव-श्रुत है। विद्वान् लोग इसी श्रुत का सहारा लेते हैं धन का सहारा नहीं लेते। वस्तुतः, विद्वान् वे ही हैं जो अनादिकालीन दुखों के विमोचन के लिये सरस्वती की आराधना करते हैं। लक्ष्मी की आराधना नहीं करते। आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं-

न शीतलाश्चन्दन चन्द्ररश्मयो न गांगमम्भो न च हारयष्टयः।
यथा मुनेस्तेनघ-वाक्य-रश्मयः शमाम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चिताम्॥

हे शीतल प्रभु! विद्वान् लोग शीतलता की प्राप्ति के लिये न चन्दन का सहारा लेते हैं न चन्द्र किरणों का, न गंगा के जल का और न हार का। वे आपके वचनों का सहारा लेते हैं क्योंकि उन्हीं से वास्तविक शीतलता मिलती है।

द्रव्य-श्रुत एक चाबी की तरह है जिससे मोह-रूपी ताले को खोला जा सकता है किन्तु चाबी मिलने पर ताला खुल ही जाये ये बात जरूरी नहीं। उस चाबी का प्रयोग यदि हम किसी दूसरे ताले में करेंगे तो ताला कभी नहीं खुलेगा। आज तक हमने यही किया है। द्रव्यश्रुत के महत्त्व को नहीं समझा। द्रव्यश्रुत का महत्त्व तो तभी है जब आप इसके सहारे से अपनी अलौकिक आत्म-निधि को प्राप्त कर लें। शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निराकार आत्मा का अनुभव कर लें। दूध में घी है किन्तु हाथ डालने मात्र से मिलने वाला नहीं। घी प्राप्ति के लिये मंथन करना पड़ेगा दूध का। **आज तक हमने इस द्रव्यश्रुत का उपयोग आत्मा की प्राप्ति के लिये किया ही नहीं। इसीलिए विद्वान् भी लक्ष्मीवान की तरह आज तक दुखी है।**

सरस्वती को दीपक की उपमा दी गई है जो हमारे मार्ग को प्रशस्त करता है किन्तु जिसके हाथ में दीपक है यदि वह भी इधर-उधर देखता हुआ असावधानी से चले तो सर्प पर भी पैर पड़

सकता है, वह भटक भी सकता है। इन्द्रियाधीन होने के कारण कषायों के शमन से ही सुख की प्राप्ति होती है और कषायों के शमन से ही भावश्रुत प्रादुर्भाव होता है। वैसे द्रव्यश्रुत और भावश्रुत दोनों ही लाभदायक हैं किन्तु भावश्रुत तो अनिवार्य रूप से लाभदायक है।

अविनाशी जीव-द्रव्य के ज्ञान के लिए शाब्दिक ज्ञान अनिवार्य नहीं है। एक साधु के पास एक शिष्य आया। बोला-''महाराज, मुझे दीक्षित कर लो, आपके सहारे से मेरा भी कल्याण हो जायेगा।'' शिष्य बिल्कुल निरक्षर और कम बुद्धि वाला था। साधु महाराज ने कई मन्त्र सिखाये किन्तु उसे कोई मन्त्र याद ही नहीं होते थे। गुरु महाराज बड़े चिन्तित 'कि कैसे कल्याण हो इसका क्या करें? इसे कुछ याद नहीं होता' आखिर उसे छह अक्षरों का एक मन्त्र महाराज ने सिखाया **''मा रुष, मा तुष'' अर्थात् रोष द्वेष मत करो, तोष राग मत करो।** शिष्य उसे भी भूल गया और केवल उसे याद रहा तुषमास भिन्नं अर्थात् छिलका अलग और दाल अलग। अचानक एक दिन उसने एक बुढ़िया माँ को दाल से छिलका अलग करते हुए देखा। बस, इसी से उसका कल्याण हो गया। ये शिष्य शिवभूति महाराज थे। जो आत्मा अलग और शरीर अलग ऐसे भेद-विज्ञान को प्राप्त होकर अन्तर्मुहूर्त के लिए 'स्व' में लीन हो गये और उन्हें केवल-ज्ञान की प्राप्ति हो गयी। वे मुक्त हो गये।

हमें भी भेद-विज्ञान की कला में पारंगत होना चाहिए। भावश्रुत की उपलब्धि के लिये हमारा अथक प्रयास चलना चाहिए। अरे भइया! शरीर के साथ जीवन का जीना भी कोई जीवन है? शरीर तो जड़ है और आत्मा उजला हुआ चेतन है। जिस क्षण यह भेद-विज्ञान हो जायेगा, उस समय न भोगों की लालसा रहेगी, न ही अन्य इच्छाएँ रहेंगी। मोह विलीन हुआ कि समझो दुख विलीन हुआ। सूर्य के उदित होने पर क्या कभी अंधकार शेष रह सकता है? किन्तु आज तो इस भेद विज्ञान का भी अर्थ गलत ही लगाया जा रहा है। शरीर अलग और आत्मा अलग है। इसलिये शरीर को खूब खिलाओ-पिलाओ, आत्मा का उससे कुछ बिगाड़ होना नहीं है। यह तो अर्थ का अनर्थ है भइया! हमारी दशा तो उस बुढ़िया की तरह हो गयी है जिसकी सुई घर में कहीं खो गयी थी। अँधेरे में वह उसे ढूँढ़ नहीं पा रही थी, तब किसी ने उजाले में ढूँढ़ने का परामर्श दिया और बुढ़िया बाहर जहाँ थोड़ा प्रकाश था वहाँ ढूँढ़ने लगी, पर वहाँ कैसे मिल सकती थी। हमारी भी अनमोल निधि हमारे पास है किन्तु हम उसे बाह्य पदार्थों में ढूँढ़ रहे हैं। अर्थ का अनर्थ लगा रहे हैं। यह कैसी बिडम्बना है।

द्रव्यश्रुत आवश्यक है भावश्रुत के लिये। द्रव्यश्रुत ढाल की तरह है और भावश्रुत तलवार की तरह है किन्तु ढाल और तलवार को लेकर रणांगण में उतरने वाला होश में भी होना चाहिए।

द्रव्यश्रुत द्वारा वह अपनी रक्षा करता रहे और भाव-श्रुत में लीन रहने का प्रयास करें। यही कल्याण का मार्ग है।

एक सज्जन ने मुझसे प्रश्न किया महाराज इस पंचम काल में तो मुक्ति होती नहीं। आपकी क्या राय है? मैंने कहा कथंचित् सही है यह बात। ''महाराज, जो बात सही है, उसमें भी आप कथंचित् लगा रहे हैं।'' वे सज्जन बोले! हाँ भाई! कथंचित् लगा रहे हैं इसलिये कि आज द्रव्य-मुक्ति भले न हो, पर भाव-मुक्ति तो तुरन्त हो सकती है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन, धन आदि इनका विमोचन करो, छुटकारा पा जाओ उन पदार्थों से जिनको आप पकड़े बैठे हैं अपने परिणामों में भावों में, बस! तुरन्त कल्याण है यही तो है भाव मुक्ति। यही तो है प्रवचन भक्ति!

❑ ❑ ❑

विमल-आवश्यक

मनुष्य-जीवन आवश्यक कार्य करने के लिए मिला है अनावश्यक कार्यों में खोने के लिये नहीं। जो पाँच इन्द्रियों और मन के वश में नहीं है वह 'अवश' है और 'अवशी' के द्वारा किया गया कार्य 'आवश्यक' कहलाता है।

'आवश्यकापरिहाणि'- दो शब्दों से मिलकर बना है-'आवश्यक' और 'अपरिहाणि' अर्थात् आवश्यक कार्यों को निर्दोष रूप से सम्पन्न करना। आवश्यक कार्यों को समयोचित करने के लिये बुद्धिमत्ता आवश्यक है। एक अपढ़ बहू एक घर में आ गई। पड़ोस में किसी के यहाँ मौत हो गयी थी। सास ने उसे वहाँ भेजा सांत्वना देने के लिए। बहू गई और सांत्वना शाब्दिक देकर आ गई। रोई नहीं। सास ने कहा/समझाया कि वहाँ रोना आवश्यक था बहू। अचानक दूसरे ही दिन पड़ोस के एक अन्य घर में पुत्र का जन्म हुआ। सास ने बहू को भेजा और वहाँ पहुँचते ही बहू ने रोना शुरू कर दिया। घर लौटी तो सास के पूछने पर उसने सब कुछ कह दिया। सास ने बहू को फिर समझाया क्या करती हो बहू, वहाँ तो तुझे प्रसन्न होकर गीत गाना चाहिए था, अब आगे ध्यान रखना। फिर एक दिन की बात है वह बहु ऐसे घर में गयी जहाँ आग लग गयी थी। वहाँ जाकर उसने गीत गाये और प्रसन्नता व्यक्त की। आप जान रहे हैं उस अनपढ़ बहू के ये काम समयोचित नहीं थे। इसीलिए आप सब हँस रहे हैं उसकी बात सुनकर। किन्तु यदि आप अपने ऊपर ध्यान दो तो पाओगे कि आप सबका जीवन भी कितना अव्यवस्थित हो रहा है। महर्षि जन आपके क्रिया-कलापों को देखकर हँसते हैं क्योंकि आप के सभी कार्य अस्त व्यस्त हैं। आपको नहीं मालूम-कब, कहाँ कौन-सा कार्य करना है।

भगवान् वृषभनाथ को अन्तिम कुलकर माना गया है। उनके समय से ही भरत क्षेत्र में

भोगभूमि का अन्त हुआ और कर्मभूमि का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने सारे समाज को तीन भागों में विभक्त कर छः कार्यों में लगाया। यह आपको समझना है कि भोगभूमि नहीं है यहाँ। कर्मभूमि है। पुरुषार्थ आपको अनिवार्य रूप से करना है। भोग आपको मिलने वाले नहीं है। हमने ये सारी बातें रटी हुई हैं। समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय आदि सभी खोल-खोल कर हमने रट डाले हैं। किन्तु उनमें कही गयी शिक्षाओं के अनुरूप हमारे कार्य नहीं बन पाये। वृषभनाथ भगवान् ने युग के आरम्भ में लोगों को अन्न पैदा करना, अन्न खाना सिखाया और बाद में मोक्षमार्ग की साधना की भी प्ररूपणा की है। आप केवल खाना खाने तक सीमित रह गये। पर लौकिक शिक्षा को हृदयंगम किया ही नहीं।

आप विवेक और बुद्धि के अभाव में आवश्यक कार्यों को तो करते नहीं, वासना के दास बने हुए हैं। 'आवश्यक' शब्द की निष्पत्ति की चर्चा करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है, जिसने इन्द्रियों के दासपने को अंगीकार कर लिया, वह वशी है। जो मन और पाँच इन्द्रियों के वश में नहीं है वह अवशी है। अवशी केवल आवश्यक कार्य ही करेगा, अनावश्यक कार्य नहीं करेगा। आवश्यक कार्य कौन-सा? करने योग्य कार्य ही आवश्यक कार्य है और मनुष्य जीवन आवश्यक कार्य करने के लिये मिला है। अनावश्यक कार्यों में खोने के लिये नहीं मिला। **योग-साधन के लिये जीवन मिला है भोग साधन के लिए नहीं।** ध्यान रखें, त्रस पर्याय सीमित है और इसी में आवश्यक कार्य किये जा सकते हैं। कुल दो हजार सागर का समय मिला है, इसके उपरान्त पुनः निगोद में लौट कर जाना ही पड़ेगा। इन दो हजार सागर में मनुष्य के केवल अड़तालीस भव मिलते हैं। मनुष्य के इन अड़तालीस भवों में भी सोलह बार स्त्री पर्याय के, चौबीस नपुंसक के भव और शेष आठ पुरुष पर्याय के हैं। इस प्रकार अगर देखा जाये तो पूरा विकास करने के लिये आठ ही भव मिले हैं। यदि ये भव यूँ ही चले गये तो पछताना पड़ेगा। ''अब पछताये होत क्या, जब चिड़िया चुग गई खेत''। डूबने के उपरान्त किसी को बचाया नहीं जा सकता।

मणि को समुद्र में फेंक देने के उपरान्त उसे पाया नहीं जा सकता। गाड़ी छूटने के समय आप यात्री से कहें - ''केन्टीन में चलो, थोड़ा विश्राम कर लो।'' तब क्या वह आपकी बात मानेगा? कभी नहीं मानेगा। वह जानता है कि गाड़ी छूटने का मतलब परेशानी कई घण्टों की। ऐसा ही ये मनुष्य जीवन है।

अकबर और बीरबल का एक उदाहरण मुझे याद आता है। एक व्यक्ति आया और उसने प्रश्न किया राज दरबार में- सत्ताईस में से दस निकाल दिए जाएँ तो कितने बचेंगे? किन्तु बीरबल का उत्तर बड़ा अजीब था। उसने कहा सत्ताईस में से दस निकल जाने पर कुछ नहीं बचेगा। सभी

भौचक्के रह गये। यह क्या उत्तर है? कौन-सी स्कूल में पढ़ा है यह? इतना भी ज्ञान नहीं। तब बीरबल ने समझाया- सत्ताईस नक्षत्र होते हैं उनमें से दस नक्षत्र ऐसे हैं जिनमें वर्षा होती है यदि वे नक्षत्र निकाल दिये जायें तो वर्षा के अभाव में फसल नहीं होगी। अन्न का एक दाना भी घर में नहीं आ पायेगा। अकाल की स्थिति हो जायेगी और सभी भूखों मर जाएँगे। कुछ भी शेष नहीं रहेगा। इसी प्रकार त्रस पर्याय से मनुष्य-भव निकाल दो फिर कल्याण का अवसर कहीं नहीं मिलेगा।

भोग-भूमि में भोग भोगने होंगे। उसके बिना निस्तार नहीं है। उत्तम भोगभूमि में तीन पल्य तक रहना होगा, मध्यम भोगभूमि में दो पल्य और जघन्य भोग-भूमि में एक पल्य की उम्र बिताना होगी। उत्तम भोगभूमि में तीन दिन के उपरान्त चौथे दिन एक भुक्ति अनिवार्य है। मध्यम और जघन्य भोगभूमि में क्रमशः दो दिन और एक दिन के उपरान्त एक भुक्ति करनी ही होगी। इसे कोई टाल नहीं सकता। भोग भोगने ही पड़ेंगे किन्तु **कर्मभूमि में भोगों के पीछे दौड़ना ही व्यर्थ है। यहाँ तो पुरुषार्थ द्वारा, संयम द्वारा अपनी स्वतन्त्र सत्ता को पाया जा सकता है। यहाँ खाना खाओ तो जागृति के लिये, योग-साधना के लिए, सोने के लिए नहीं।** यह शरीर योग साधना के लिए माध्यम है। इसके माध्यम से ही अलौकिक आनन्द में प्रवेश किया जा सकता है। सभी तीर्थंकरों ने यही किया। उन्होंने मात्र सिखाया ही नहीं, करके भी दिखाया। हमें अवसर को पहचानना चाहिए वरना पछताना पड़ेगा, वैसे कई बार पछताये भी हैं परन्तु स्मरण नहीं। श्वान की टेढ़ी पूंछ के समान जो कि कभी सीधी नहीं हो पायी, हमारी भी मनोदशा है। उठो, जाग्रत हो, अनादि के कुसंस्कारों को तिरस्कृत करके निगोद की यात्रा से बचो, जहाँ-

'एक श्वास में आठ दस बार, जन्मयो मर्‌यो भर्‌यो दुख भार'

समय के साथ चलकर यह आवश्यक कार्य निर्दोष पूर्वक करना चाहिए।

❑ ❑ ❑

धर्म-प्रभावना

वह मार्ग जिसके द्वारा आदमी शुद्ध बुद्ध बनें उस सत्य-मार्ग अर्थात् मोक्ष-मार्ग की प्रभावना ही मार्ग-प्रभावना या धर्म प्रभावना है।

मृग्यते येन यत्र वा सः मार्गः अर्थात् जिसके द्वारा खोज की जाये उसे मार्ग कहते हैं। जिस मार्ग द्वारा अनादि से भूली वस्तु का परिज्ञान हो जाये, जिस मार्ग से उस आत्म तत्त्व की प्राप्ति हो जाये, उस मार्ग की यहाँ चर्चा है। धन और नाम प्राप्त करने का जो मार्ग है उस मार्ग का

यहाँ जिक्र नहीं है। **मोक्ष मार्ग, सत्य मार्ग, अहिंसा मार्ग यानि वह मार्ग जिसके द्वारा यह आत्मा शुद्ध बने, उस मार्ग की प्रभावना ही मार्ग-प्रभावना कहलाती है।**

रविषेणाचार्य के पद्मपुराण को पढ़ते समय हमें रावण द्वारा निर्मित शान्तिमय मन्दिर के प्रसंग को देखने का अवसर मिला। दीवारें सोने की, दरवाजे वज्र के, फर्श सोने-चाँदी के, छत नीलम मणि की। ओह! इतना सुन्दर मन्दिर बनवाया रावण ने और स्वयं उसमें ध्यान मग्न होकर बैठ गया। सोलह दिन तक विद्या की सिद्धि के लिये बैठा रहा ध्यानमग्न। ऐसा ध्यान जिसमें मन्दोदरी की चीख पुकार को भी नहीं सुना रावण ने। किन्तु यह ध्यान, धर्म ध्यान नहीं था। बगुले के समान ध्यान था, केवल अपना स्वार्थ साधने के लिये। आप समझते होंगे रावण ने धर्म की प्रभावना की। नहीं, उसने मिथ्यात्व का पोषण करके धर्म की अप्रभावना की।

स्वामी समन्तभद्र ने लिखा है-

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।
जिनशासनमाहात्म्य प्रकाशः स्यात्प्रभावना॥

व्याप्त अज्ञान अंधकार को यथाशक्ति दूर करना और जिन शासन की गरिमा को प्रकाशित करना ही वास्तविक प्रभावना है। जो स्वयं अज्ञान में डूबा हो उससे प्रभावना क्या होगी? रावण अन्याय के मार्ग पर चला। नीति विशारद होकर भी वह अनीति को अपनाने वाला बना। उसके ललाट पर एक कलंक का टीका लगा हुआ है। ऐसा कोई भी व्यक्ति क्यों न हो, उसके द्वारा प्रभावना नहीं हो सकती। प्रभावना देखनी हो तो देखो उस जटायु पक्षी की। जिस संकल्प को उसने ग्रहण किया, उसका पालन शल्य रहित होकर जीवन के अंतिम क्षणों तक किया। सीताजी की 'त्राहि माम्! त्राहि माम्'- आवाज सुनकर वह चल पड़ा उस अबला की सहायता के लिये। वह जानता था कि उसकी रावण से लड़ाई हाथी और मक्खी की लड़ाई के समान है। रावण का एक घातक प्रहार ही उसकी जीवन लीला समाप्त कर देने के लिये पर्याप्त है किन्तु अनीति के प्रति वह लड़ने पहुँच गया और अपने व्रत का निर्दोष पालन करते हुए प्राण त्याग दिये। यही सच्ची प्रभावना है। रावण को उससे शिक्षा लेनी चाहिए थी और हमें भी सीख मिलनी चाहिए।

आज कितना अन्तर है हममें और उस जटायु पक्षी में। हम एक-एक पैसे के लिये अपना जीवन और ईमान बेचने को तैयार हैं। अपने द्वारा लिये गये व्रतों के प्रति कहाँ हैं हमें समर्पण, आस्था और रुचि, जैसी जटायु पक्षी में थी। हम व्रत लेते हैं तो छूट जाते हैं या छोड़ देते हैं। कई लोग कहते हैं-महाराज! रात्रि भोजन का हमारा त्याग। किन्तु इतनी छूट रख दो जिस दिन रात्रि में भोजन का प्रसंग आ जाये उस दिन भोजन रात में कर लें। यह कोई व्रत है। यह तो छलावा है।

ऐसे लोगों से तो हम यही कह देते हैं कि प्रसंग आने पर दिन का व्रत ले लो और बाकी समयों की चिन्ता मत करो। निर्दोष व्रत का पालन ही मार्ग-प्रभावना में कारण है।

जटायु पक्षी किसी मन्दिर में नहीं गया किन्तु उसका मंदिर उसके हृदय में था। जिसमें श्री जी के रूप में उसके स्वयं की आत्मा थी। हमें भी उसी **आत्मा की विषय-कषायों से रक्षा करनी चाहिए। इसे ही मार्ग-प्रभावना कहा जायेगा।**

हमने कई बार आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज से पूछा था- महाराज, मुझ से धर्म की प्रभावना कैसे बन सकेगी? तब उनका उत्तर था-आ**र्षमार्ग में दोष लगा देना अप्रभावना कहलाती है तुम ऐसे अप्रभावना से बचते रहना बस! प्रभावना हो जायेगी।** मुनि मार्ग सफेद चादर के समान है उसमें जरा-सा दाग लगना अप्रभावना का कारण है। उनकी यह सीख बड़ी पैनी है। इसलिये प्रयास मेरा वही रहा कि दुनिया कुछ भी कहे या न कहे, मुझे अपने ग्रहण किये हुए व्रतों का परिपालन निर्दोष रूप से करना है।

भगवान् महावीर के उपदेशों के अनुरूप अपना जीवन बनाओ। यही सबसे बड़ी प्रभावना है। मात्र नारेबाजी से प्रभावना होना संभव नहीं है। रावण को राक्षस कहा है, वह वास्तव में राक्षस नहीं था किन्तु आर्य होकर भी उसने अनार्य जैसे कार्य किये। अन्त तक मिथ्यामार्ग का सहारा लिया। कुमार्ग को ही सच्चा मार्ग मानता रहा। 'मेरा है सो खरा है' और 'खरा है सो मेरा है'- इस वाक्य में मिथ्यात्वी और सम्यक्त्वी का पूर्ण विवेचन निहित है। वाक्य के प्रथम अंश के अनुरूप जिनका जीवन है वे कुमार्गी है और वाक्य के दूसरे हिस्से के अनुयायी सन्मार्गी हैं। हमारे अन्दर यह विवेक हमेशा जाग्रत रहना चाहिए कि मेरे द्वारा ऐसे कोई कार्य तो नहीं हो रहे जिनसे दूसरों को आघात पहुँचे। यही प्रभावना का प्रतीक है।

कल हमें 'तीर्थंकर' पत्र में एक समाचार देखने को मिला। लिखा था धर्मचक्र चल रहे हैं बड़ी प्रभावना हो रही है। सोचो, क्या इतने से ही प्रभावना हो जायेगी। मात्र प्रतीक पर हमारी दृष्टि है। सजीव धर्मचक्र कोई नहीं चल रहा उसके साथ। सजीव धर्मचक्र की गरिमा की ओर हमारा ध्यान कभी गया ही नहीं। सजीव धर्मचक्र है वह आत्मा जो विषय और कषायों से ऊपर उठ गयी है। मात्र जड़ धन-पैसे से धर्म प्रभावना होने वाली नहीं। जनेऊ, तिलक और मात्र चोटी धारण करने से प्रभावना होने वाली नहीं है। प्रभावना तो वस्तुतः अंतरंग की बात है। परमार्थ की प्रभावना ही प्रभावना है। परमार्थ के लिये कोई धन का विमोचन करें, वह भी प्रभावना है।

आचार्य कुन्दकुन्द का नाम बड़ा विख्यात है। हम सभी कहते हैं मंगलं कुन्दकुन्दार्यो अर्थात् कुन्दकुन्दाचार्य मंगलमय हैं। किन्तु हम उनकी भी बात नहीं मानते। शास्त्रों की वे ही बातें

हम स्वीकार कर लेते हैं जिनसे हमारा लौकिक स्वार्थ सिद्ध हो जाता है। परमार्थ की बात हमारे गले उतरती ही नहीं है। उनके ग्रन्थ-'समयसार प्राभृत में' एक गाथा आयी है जिसका सार इस प्रकार है- विद्यारूपी रथ पर आरूढ़ होकर मन के वेग को रोकते हुए जो व्यक्ति चलता है, वह बिना कुछ कहे हुए जिनेन्द्र भगवान् की प्रभावना कर रहा है।

विषय कषायों पर कंट्रोल करो। वीतरागता की ही प्रभावना है, रागद्वेष की प्रभावना नहीं है। भगवान् ने कभी नहीं कहा कि मेरी प्रभावना करो। उनकी प्रभावना तो स्वयं हो गयी है। लोकमत के पीछे मत दौड़ो, नहीं तो भेड़ों की तरह जीवन का अन्त हो जायेगा। मालूम है उदाहरण भेड़ों का। एक के बाद एक सैकड़ों भेड़ें चली जा रहीं थीं, एक गड्ढे में एक गिरी तो पीछे चलने वाली दूसरी गिरी, तीसरी भी गिरी और इस तरह सबका जीवन गिरकर समाप्त हो गया। उनके साथ एक बकरी भी थी किन्तु वह नहीं गिरी। क्यों? वह भेड़ों की सजातीय नहीं थी। उसी तरह झूठ हजारों हैं जो एक न एक दिन गिरेंगे। किन्तु सत्य केवल एक है अकेला है। उस सत्य की प्रभावना के लिये कमर कसकर तैयार हो जाओ। सत्य की प्रभावना तभी होगी जब तुम स्वयं अपने जीवन को सत्यमय बनाओगे, चाहे तुम अकेले ही क्यों न रह जाओ, चुनाव सत्य का जनता अपने आप कर लेगी।

❑ ❑ ❑

वात्सल्य

दूध पानी को मिला सकता है विजातीय होने पर भी, पर हम तो सजातीय को भी नहीं मिला पाते। सोचो समय रहते एक डोरी में बंध जाओ और फिर देखो, कैसा अलौकिक आनंद आता है।

प्रवचन वात्सल्य का अर्थ है-साधर्मियों के प्रति करुणाभाव। **''वत्से धेनुवत्सधर्मणि स्नेहः प्रवचनवत्सलत्वम्'' जैसे गाय बछड़े पर स्नेह करती है इसी प्रकार साधर्मियों पर स्नेह रखना प्रवचन वात्सल्य है। वात्सल्य एक स्वाभाविक भाव है। साधर्मी को देखकर उल्लास की बाढ़ आना ही चाहिए। प्रवचन वात्सल्य का उतना ही अधिक महत्त्व है जितना प्रथम दर्शनविशुद्धि भावना का।** साधर्मी में वात्सल्य रखने वाला अवश्य ही तीर्थंकर प्रकृति का बंध करेगा। आचार्यों ने कहा है कि साथ वाले के प्रति औचित्यपूर्ण व्यवहार ही होना चाहिए। किन्तु आज देखने में आता है कि सजातीय भाइयों में प्रेम ओझल-सा हो गया है। हम अपने से ऊँचे को और नीचे वाले को स्थान दे सकते हैं किन्तु समान लोगों को सहन नहीं कर सकते। रूस और अमेरिका में आज संघर्ष क्यों है? केवल इसलिये कि वे समान जाति के हैं। आज विश्व में

विप्लव का प्रमुख कारण जातियों की पारस्परिक लड़ाई ही है। **हम हाथी के साथ-साथ चल सकते हैं, साथी के साथ नहीं।**

एक बार दुर्योधन को गंधर्वों ने बन्दी बना लिया। धृतराष्ट्र ने निवेदन किया धर्मराज से। धर्मराज ने कह दिया भीम से। भइया जाओ दुर्योधन को छुड़ा लाओ। दुर्योधन का नाम सुनकर भीमराज क्रोध से भर उठे बोले- उस पापी की मुक्ति की बात करते हो, जिसके कारण हमें वनवास की यातनायें सहनी पड़ीं। उस अन्यायी, नारकी को छुड़ाने की बात करते हो, जिसने भरी सभा में द्रौपदी को निर्वसन करने का दुस्साहस किया था। धर्मराज, अगर आप किसी और की मुक्ति की बात करते, तो अनुचित न होता किन्तु दुर्योधन को मुक्त कराने मैं नहीं जाऊँगा। धर्मराज के हृदय का करुणा भाव आँखों से बहते देखकर, अर्जुन ने उनके वात्सल्य भाव को समझा और गाण्डीव धनुष द्वारा गंधर्वों से युद्ध किया तथा दुर्योधन को छुड़ा लाये। यह है वात्सल्य की भावना। तब धर्मराज ने समझाया- हम परस्पर सौ कौरव और पाँच पाण्डव हैं, लड़-भिड़ सकते हैं किन्तु बाहर वालों के लिये हम सदा एक सौ पाँच भाई ही हैं। हमारे भीतर एकता की ऐसी भावना होनी चाहिए।

भगवान महावीर की पूजा करने वालों में मतभेद हो जाये, विचारों में भिन्नता आ जाये किन्तु मन-भेद नहीं होना चाहिए। पानी की धारा जब प्रवाहित होती है तो निर्बाध ही चली जाती है किन्तु किसी घनीभूत पत्थर के मार्ग में आ जाने पर वह धारा दो भागों में विभक्त हो जायेगी। वात्सल्य-विहीन व्यक्ति भी पत्थर की तरह होते हैं। वे समाज को दो धाराओं में विभक्त कर देते हैं।

जाति-विरोध वास्तव में बहुत बुरी चीज है। **हम महावीर भगवान् को तो मानें, उनकी पूजा करें, भक्ति करें और अपने साधर्मी भाइयों से वैमनस्य रखें, तो समझो हमारी पूजा व्यर्थ है।** समवसरण में भी हमारी यही दृष्टि रही, स्वर्गों में भी यही रही। साधर्मी के वैभव को हम देख नहीं पाते, ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है। विधर्मी चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो हमें कोई चिन्ता नहीं होती। किन्तु सजातीय बंधु की जरा सी उन्नति भी हमारी ईर्ष्या का कारण बन जाती है। उसे हम सहन नहीं कर पाते। यहीं से दुखों की जड़ प्रारम्भ होती है। ये वैमनस्य ही कारण हैं हमारी व्यथाओं का।

भाई! समझो तो सही। विचार भेद तो केवलज्ञान की प्राप्ति से पूर्व छद्मस्थ अवस्था में रहेगा ही किन्तु मन-भेद तो नहीं रखना चाहिए। केवलज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त विचारों की भिन्नता भी समाप्त हो जाती है। **लय में लय का मिलना भी एक नय सिद्धान्त है। सभी जीवों**

को एकसूत्र में बाँधने के लिये जैनधर्म में संग्रहनय का उल्लेख किया है। सभी जीव शुद्धनय की अपेक्षा से शुद्ध हैं। हमें भी ऐसे ही एक सूत्र में बंधना चाहिए, तभी श्रेयस्कर है।

ध्यान रखो, यदि हमारे अन्दर वैमनस्य की रेखा है तो वह उभरकर ऊपर में करुणा की लहरें पैदा करेगी। जैसे किसी तालाब में एक पत्थर फेंका जाये तो तरंगें एक तट से दूसरे तट तक फैल जाती है, उसी प्रकार यह वैमनस्य भी फैलता ही जाता है। धर्मराज के वात्सल्य को देखकर, सुनकर भीम बड़े लज्जित होकर नतमस्तक हो गये थे। हमें भी इससे शिक्षा लेनी चाहिए।

आज हम वात्सल्यहीन होते जा रहे हैं। जो हमारी उन्नति में बाधक बन रहा है। **साधर्मियों से हमारी लड़ाई और विधर्मियों से प्रेम हमारे पतन का कारण है।** आज मनुष्य की चाल और श्वान की चाल एक जैसी हो गई है। एक लड़के ने एक कुत्ता पाल लिया। वह बालक उस कुत्ते से बड़ा प्यार करता क्योंकि कुत्ता की चाल आप जानते ही हैं, बहुत स्वामीभक्त होता है। वह बालक एक दिन माँ से बोला- माँ दुनियाँ में शेरसिंह, हाथीसिंह, अश्वसेन आदि नाम चलते हैं, किन्तु श्वानसेन किसी का नाम नहीं। ऐसा क्यों?'' तब माँ बोली- बेटा! तू अभी जानता नहीं। अगर अभी सामने से कोई दूसरा कुत्ता आ जाये तो देखना तुम्हारा ये कुत्ता तुम्हारी गोद से उतरकर उससे लड़ने पहुँच जायेगा, यह जाति-द्रोही है, यही इसका सबसे बड़ा अवगुण है। इसलिये कोई माता-पिता अपने बेटे का नाम श्वानसिंह नहीं रखते। इसी तरह **हमारी रक्षा साधर्मी के द्वारा ही होगी। विधर्मी कभी हमारी रक्षा के लिये नहीं आयेगा।**

एक बार 'आक' का दूध गाय और भैंस के दूध से बोला- भइया मुझे भी अपने साथ मिला लो। मेरा भी विस्तार हो जायेगा। ''ना भइया, मैं तुम्हें थोड़ा सा अपने में मिला लूँ तो मेरा स्वभाव भी बदल जायेगा, मैं फट जाऊँगा और कोई मुझे भी नहीं पियेगा। तब कैसे मैं पालन कर पाऊँगा भूखे प्राणियों का-गौ का दुग्ध बोला। तब आक का दूध कहता है- भइया, पानी को मिला लेते हो, जो कि विजातीय है। पानी विजातीय होकर भी अलग स्वभाव का है, मिलनसार है पानी का तो यह हाल है- जैसा मिले संग, वैसा उसका रंग। विजातीय होकर भी अपने इसी स्वभाव के कारण सभी के साथ मिल सकता है किन्तु हम सजातीय होकर भी ऐसे वात्सल्य का स्वभाव जागृत नहीं कर पाते। भाई, एक डोरी में बँध जाओ और फिर देखो कैसा अलौकिक आनन्द आयेगा।

भगवान महावीर ने इस वात्सल्य भाव को अपने जीवन में उतारा था। प्रकाश का स्वभाव भी देखो, बीसों बल्बों का प्रकाश भी एक साथ मिल जाता है। प्रकाश में कभी लड़ाई नहीं होती, हमारी छाया भले ही प्रकाश में भेद उत्पन्न कर दे। **जैसे प्रकाश में प्रकाश मिल जाता है वैसे ही**

हमारी आँखों से निकली हुई चैतन्य धारा भी दूसरों की ओर से आने वाली चेतन धारा से मिल जानी चाहिए। जड़ के संपर्क में रहकर हम भी जड़ होते चले जा रहे हैं। जड़ का अर्थ अचेतन भी है और मूर्ख भी है। यह मूर्ख संज्ञा मनुष्यों की ही है। दुनियाँ के पदार्थ अपना स्वभाव नहीं छोड़ते किन्तु हम मनुष्य अपना स्वभाव भूल कर उसे छोड़ बैठे हैं। इसीलिए दुखी भी हैं।

सन्त लोग एक-एक पंक्ति में सुख का मार्ग प्रदर्शित कर रहे हैं। उनकी एक-एक बात सारभूत है। किन्तु हम उसे छोड़कर निस्सार की ओर दौड़ रहे हैं। हमने उनकी पुकार सुनी ही नहीं। गुरुओं के हृदय में तो करुणा की धारा प्रवाहित होती रहती है, उससे हमें लाभ लेना चाहिए और जाति-द्रोह, वैमनस्य, श्वानचाल छोड़कर मैत्री और वात्सल्य-भाव को अपनाना चाहिए।

❑ ❑ ❑

जीव-अजीव तत्त्व

सात तत्त्वों में जीव तत्त्व को प्रथम स्थान मिला है। प्रथम स्थान क्यों मिला, इसकी व्याख्या करते हुए आचार्यों ने लिखा है कि प्रत्येक तत्त्व का भोक्ता जीव ही है। भोक्ता का अर्थ यहाँ संवेदन करना है। मुक्ति जब भी मिलेगी वह जीव तत्त्व को ही मिलेगी क्योंकि वही मुक्ति का संवेदन कर सकता है। अजीव तत्त्व को मुक्ति मिलने, ना मिलने का प्रश्न ही नहीं है क्योंकि वह संवेदन-रहित है।

हम जीव होते हुए भी मुक्त नहीं है, यह बात विचारणीय है। आचार्य अमृतचंद्रजी 'पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय' ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलाचरण करते हुए कहते हैं कि वह परम ज्योति जयवंत रहे जिस ज्योति में संसार के समस्त पदार्थ अपनी भूत, भावी एवं वर्तमान समस्त पर्यायों सहित स्पष्ट झलक रहे हैं। यहाँ गुणों की आराधना की गयी है। वास्तव में, जब हम गुणों की आराधना करते हैं तो गुणी की आराधना अपने आप हो जाती है। आराधना जीवत्व गुण के ऊपर अवलंबित है।

हम सभी जीव हैं फिर भी हमारी आराधना नहीं हो रही है बल्कि आराधना के स्थान पर विराधना हो रही है। कारण स्पष्ट है कि हमारे पास जीवत्व होते हुए भी जिस जीवत्व की आवश्यकता है उसका अभाव है। जिस गुण के द्वारा आराधना होती है वह गुण हमारे पास नहीं है। आप पूछ सकते हैं कि गुणों का अभाव हो जायेगा तो द्रव्य का ही अभाव हो जायेगा महाराज! तो भइया, गुणों का अभाव तो नहीं होगा, यह तो सभी जानते हैं। लेकिन गुणों का विलोम हो जाना भी एक प्रकार से अभाव हो जाना है। जीव के गुणों की विशेषता है कि वे अभाव को तो प्राप्त नहीं होते किन्तु विलोम हो जाते हैं।

हमारे पास जीवत्व गुण है लेकिन ध्यान रखिये यह जीवत्व विलोम स्थिति में है, उसका परिणमन विलोम रूप में हो रहा है। आचार्य कहते हैं '**स्वभावात् अन्यथा भवनं विभावः**' अर्थात् स्वभाव से विपरीत परिणमन होने का अर्थ ही है विभाव। रात और दिन का जिस प्रकार विरोधाभास है उसी प्रकार स्वभाव और विभाव के साथ भी हो रहा है। रात है तो दिन नहीं और दिन है तो रात नहीं। उसी प्रकार स्वभाव रूप परिणमन है तो विभाव नहीं और विभाव रूप परिणमन है तो स्वभाव नहीं।

वर्तमान में हमारे स्वभाव का अभाव और विभाव रूप परिणमन होने के कारण विराधना हो रही है। अतः अपने को उस जीवत्व को प्राप्त करना है जिस जीवत्व के साथ स्वाभाविक जीवन है। वह जीवत्व किसे प्राप्त हो सकता है? वह जीवत्व कैसे प्राप्त हो सकता है? क्या हमें प्राप्त हो सकता है? तो आचार्य कहते हैं कि अवश्य प्राप्त हो सकता है। जिन कारणों से विभाव रूप

परिणमन हुआ है, हमने किया है यदि उसके विपरीत कारण मिल जाएँ तो जीव स्वभाव रूप परिणमन भी कर सकता है।

यह ध्यान रक्खो कि विभाव रूप परिणमन किसी अन्य शक्ति ने या अन्य व्यक्ति ने जबरदस्ती कराया हो, ऐसा नहीं है। जीव स्वयं ही अपने परिणामों के द्वारा विभाव रूप परिणमित होता है और इसके लिए बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि निमित्त अवश्य बनते हैं। आशय यह हुआ कि वर्तमान में हमारा जीव तत्त्व बिगड़ा हुआ जीव तत्त्व है।

आप यह कह सकते हैं कि कुछ समझ में नहीं आता महाराज! कुछ लोग तो कहते हैं कि जीव तो जैसा-का-तैसा बना रहता है और उसमें जो परिणमन होता है वह ऊपर-ऊपर हो जाता है। इसलिए जीव तो शुद्ध है क्योंकि द्रव्य है और उसकी पर्याय जो है वह बिगड़ी हुई है। भइया, ध्यान रखो कि जीव तत्त्व ज्यों का त्यों बना रहे शुद्ध और उसकी पर्याय अशुद्ध हो, ऐसा हो नहीं सकता। यदि ऐसा हो जाए तो वे पर्यायें उस विशुद्ध तत्त्व से बिल्कुल पृथक् हो जायेंगी जो कि संभव ही नहीं है '**गुणपर्ययवद् द्रव्यं**' ऐसा कहा गया है अर्थात् गुण और पर्याय वाला द्रव्य है। यदि पर्याय अशुद्ध है तो द्रव्य भी अनिवार्य रूप से अशुद्ध है।

लेकिन यह भी ध्यान रखना कि वर्तमान में जो पर्याय अशुद्ध है वह पर्याय तो शुद्ध नहीं बन पायेगी किन्तु वर्तमान में जो अशुद्ध द्रव्य है वह द्रव्य शुद्ध बन सकता है। उसके पास शुद्धत्व की शक्ति है। इसी अपेक्षा से आचार्यों ने कहा है कि विभाव रूप परिणमन करते हुए भी जीव द्रव्य कथंचित् शुद्ध है। आप कह सकते हैं कि द्रव्य शुद्ध ही है और पर्याय अशुद्ध है, ऐसा मान लेने में अपने को क्या हानि? तो भइया पहली बात कि द्रव्य का परिणमन जब भी होता है वह समूचे द्रव्य का होता है। कुछ प्रदेश शुद्ध रहे और कुछ प्रदेश अशुद्ध रहे आवें, ऐसा नहीं है। अशुद्ध परिणमन का प्रभाव पूरे द्रव्य के ऊपर पड़ता है।

आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने प्रवचनसार में स्पष्ट लिखा है कि "**परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तं**" अर्थात् द्रव्य जिस समय जिस भाव से परिणमन करता है उस समय उसी रूप होता है। दूसरी बात, यदि वर्तमान में हमारा द्रव्य भीतर से शुद्ध ही है तो समझो मुक्त ही है और मुक्त है तो मुक्ति का अनुभव, केवलज्ञान का अनुभव भी होना चाहिए लेकिन अभी तो अपने पास एक अक्षर का भी ज्ञान नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि सारा का सारा द्रव्य ही बिगड़ा हुआ है, '**स्वभावात् अन्यथा भवनं विभावः**' स्वभाव से विलोम स्थिति हो चुकी है। यह मैं पहले बता चुका हूँ।

जिस समय स्वभाव पर्याय की अभिव्यक्ति होगी उस समय विभाव पर्याय की वहाँ पर अभिव्यक्ति नहीं रहेगी, तब जिज्ञासा होती है कि जीव को शुद्ध जीवत्व की प्राप्ति कैसे हो?

आचार्यों ने इसके लिए मोक्षमार्ग के अन्तर्गत तत्त्वों का उल्लेख किया। इन तत्त्वों को जो व्यक्ति अपने जीवन में सम्यक् प्रकार से शान्ति के साथ जान लेता है और अपने भीतर होने वाली वैभाविक प्रक्रिया के बारे में निकटता से अध्ययन करता है वह व्यक्ति स्वभाव को प्राप्त करने का जिज्ञासु कहलाता है।

एक याचक व्यक्ति एक सेठ के पास गया। वह सेठ उस व्यक्ति के पिता का दोस्त था। उसकी दयनीय स्थिति देखकर सेठ को उस पर करुणा हो आती है। वह कहता है कि बेटे! तुम्हारे पिताजी की मेरे साथ घनिष्ठ मित्रता थी। हम दोनों दोस्त थे। किन्तु अलग-अलग व्यवसाय के कारण क्षेत्रान्तरित हो गये। मैं तुम्हें पहचान गया हूँ। तुम्हारे पिताजी मरने से पहले मुझे बता गये थे कि मेरा लड़का जब बड़ा हो जाए तो घर में जो धन पैसा दबा रक्खा है उसे बता देना। अब तुम बड़े हो गये हो, तुम्हें धन की आवश्यकता का भान हो रहा है उसे पाने की जिज्ञासा भी तुम्हारे भीतर उत्पन्न हो गयी है अतः मैं बता देता हूँ। अब तुम्हें याचना करने की, दीन-हीन होने की आवश्यकता नहीं है, जाओ और अपनी संपत्ति निकाल लो।

उस व्यक्ति को अपनी संपत्ति का जैसे ही ज्ञान हो गया उसने याचना करना बंद कर दिया और घर पहुँचकर उसे प्राप्त भी कर लिया। इसी तरह हम इस समय वर्तमान में भले ही विभाव रूप परिणमन कर रहे हैं परन्तु उसका अर्थ यह नहीं है कि अनन्तकाल तक हम ऐसे ही याचक बने रहें। हम भी सेठ साहूकार बन सकते हैं अर्थात् अपनी आत्म-सम्पदा को अपने स्वभाव को प्राप्त कर सकते हैं।

आत्मा की शक्ति अनन्त है किन्तु उस शक्ति का उद्घाटन आवश्यक है। उस अनंत शक्ति का उद्घाटन हम तभी कर सकेंगे जब कि वर्तमान में मेरी यह विभाव रूप स्थिति हो गयी है- ऐसा विश्वास कर लेंगे। **अपने आप को जो व्यक्ति बंधा हुआ अनुभव नहीं करेगा वह मुक्ति की जिज्ञासा कैसे करेगा? मुक्ति के ऊपर विश्वास उसी को हो सकता है, जो बहुत जकड़न का अनुभव करता है। 'बंध सापेक्षैव मुक्तिः'** बंध की अपेक्षा ही मुक्ति है। बंध का अभाव ही मोक्ष है।

एक द्रव्य में प्रत्येक गुण की जो पर्यायें हैं वे पर्यायें गुणों के साथ क्षणिक तादात्म्य सम्बन्ध रखती है और जो सम्बन्ध द्रव्य के साथ गुण का है वही सम्बन्ध पर्याय का भी द्रव्य के साथ है। प्रदेश भेद नहीं है। संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा कथंचित् भेद संभव है। इसलिए वर्तमान में इस जीव का समूचा विलोम परिणमन हो चुका है। मात्र एकान्त रूप से पर्याय ही अशुद्ध है द्रव्य तो एक शुद्ध पिण्ड रूप सिद्ध परमेष्ठी के समान है, ऐसा यदि हम मान लेंगे तो आगम से बाधा आ जायेगी।

यदि कोई व्यक्ति कहता है कि जीव जो बिल्कुल शुद्ध है, मात्र उसकी पर्याय और वह भी जो क्षणिक है, वह अशुद्ध है, द्रव्य जो त्रैकालिक शुद्ध पिण्ड है तब कोई दूसरा व्यक्ति आकर यदि सामने लगे पेड़ को साष्टांग नमस्कार करता है और **"हे! शुद्धात्मने नमः"** -ऐसा कहता है तो फिर ऑब्जेक्शन नहीं होना चाहिए। पर आप ऑब्जेक्शन किये बिना नहीं रहेंगे। आप कहेंगे कि यह तो बिल्कुल गृहीत मिथ्यात्व है। क्योंकि वह सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की वन्दना नहीं कर रहा है। जो सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की वंदना करता है सम्यग्दृष्टि होता है। इस तरह अनेक बाधाएँ उपस्थित हो जायेंगी। एकेन्द्रिय को तो आगम के अनुसार मिथ्यादृष्टि माना है और मिथ्यादृष्टि को सम्यग्दृष्टि नमस्कार नहीं कर सकता।

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि जी कह रहे हैं कि वह ज्योति जयवन्त रहे, वह ज्योति पूजनीय है जो शुद्ध है। ज्योति पर्याय है। ज्योति शुद्ध है, पर्याय शुद्ध है तो पर्याय के साथ द्रव्य भी वहाँ पर शुद्ध है, इसमें कोई संदेह नहीं है। लेकिन पर्याय अशुद्ध हो और द्रव्य शुद्ध रहा आवे यह भी संभव नहीं है। इस बात को गौण नहीं करना चाहिए। गहराई से समझना चाहिए।

दूसरी बात यह कहता हूँ कि वन्द्य-वन्दक भाव जितने भी चलते हैं वे शुद्ध द्रव्य के साथ नहीं चलते लेकिन अशुद्धत्व से शुद्धत्व को प्राप्त करने के लिए जो चल पड़े हैं उनको देखकर उनके प्रति यह नमस्कार, वंदना-पूजा-अर्चा और स्तवनादि हुआ करते हैं। सिद्ध परमेष्ठी शुद्ध जीवत्व को प्राप्त कर चुके हैं इसलिए अमूर्त हैं लेकिन अमूर्त की भी पूजा हम मूर्ति के माध्यम से करते हैं। अमूर्त की पहचान मूर्त के माध्यम से होती है।

अर्हन्त परमेष्ठी मूर्त हैं और अभी पूरी तरह शुद्ध जीव नहीं हैं। हम उनकी आराधना करेंगे या नहीं। एकाध व्यक्ति नहीं करे तो नहीं भी करे लेकिन पंच परमेष्ठी में जो आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु हैं वे कुन्दकुन्द जैसे आचार्य भी अरहंत परमेष्ठी को मुख्यता देते हैं और उनको नमस्कार करते हैं, उनकी वन्दना करते हैं, और परोक्ष में यहीं पर बैठे-बैठे विदेह क्षेत्र में स्थित सीमंधर स्वामी आदि को भी नमस्कार करते हैं और परोक्ष में उन्हें आशीर्वाद भी प्राप्त हो जाता है। इसका आशय यह हुआ कि वन्द्य-वन्दक भाव शुद्ध द्रव्य के साथ न होकर शुद्ध की ओर चलने वालों के प्रति होता है।

अरहंत परमेष्ठी क्यों अशुद्ध हैं अभी? इसलिए कि अभी वे कृतकृत्य नहीं हुए हैं। अभी चार कर्म शेष हैं। जो शुद्ध होता है वह कृतकृत्य होता है। जो कृतकृत्य होता है वह आराधक नहीं होता है, वह अपने आपमें स्वयं आराध्य होता है। सिद्ध परमेष्ठी आराध्य हैं, आराधक नहीं। अर्हन्त परमेष्ठी अभी आराधक भी है और आराध्य भी है। इतना अवश्य है कि वे हमारे जैसे आराधक नहीं

है। उनका वह जीवत्व का परिणमन अब शुद्धत्व के निकट पहुँच चुका है। अभी वे वास्तविक जीवत्व की प्राप्ति नहीं कर पाये हैं।

कुन्दकुन्द आचार्य महाराज ने एक स्थान पर जीव का स्वरूप बताया है और एक स्थान पर जीव का लक्षण बताया है। स्वरूप और लक्षण में बहुत अन्तर है।

अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाणअलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिठ्ठसंठाणं॥

यह जीव का स्वरूप है। **''उपयोगो लक्षणं''** यह जीव का लक्षण है। इस प्रकार जीव का लक्षण और जीव के स्वरूप में बहुत अन्तर है। जीव का स्वरूप तो अमूर्त है लेकिन जीव का लक्षण अमूर्त नहीं हो सकता। जीव का लक्षण यदि अमूर्त हो जाएगा तो अमूर्त तो अन्य द्रव्य भी हैं, धर्मास्तिकाय अमूर्त है, अधर्मास्तिकाय भी है, आकाश और काल भी है। अरस, अरूप, अगंध आदि यह जीव का लक्षण नहीं है, यह तो जीव का स्वरूप है।

आचार्य कहते हैं स्वभाव को प्राप्त करना है वह प्राप्तव्य है। लक्षण तो प्राप्त ही है। जिस स्वभाव को प्राप्त करना है, जिसका भान हमें कराया गया है वह स्वभाव मात्र सिद्धालय में प्राप्त होगा। वह अभी अर्हन्त परमेष्ठी को भी प्राप्त नहीं है। अर्हन्त परमेष्ठी के पास उनको प्राप्त करने की क्षमता है, शक्ति है, लेकिन उस शक्ति के उद्‌घाटन के लिए प्रयास परम आवश्यक है। जिसे वे कर रहे हैं दिन रात।

अर्हन्त परमेष्ठी को स्नातक कहा गया है और स्नातक का अर्थ है स्नात् अर्थात् स्नान किया हुआ। यहाँ पर स्नान से तात्पर्य है कि जो आठ कर्म लगे थे, उन आठ कर्मों में से चार कर्मों का मल धो दिया गया, अतः स्नातक बन गये हैं। लौकिक शिक्षण में पहले स्नातक (बेचलर) होता है, फिर स्नातकोत्तर होता है उसके उपरान्त अध्यापक (लेक्चरार) कहलाता है। स्नातक और स्नातकोत्तर दोनों ही विद्यार्थी हैं। इसी प्रकार तेरहवें गुणस्थान में अर्हन्त भगवान स्नातक हैं। चौदहवें गुणस्थान में स्नातकोत्तर होंगे, उसके उपरान्त लेक्चरार अर्थात् सिद्धत्व को प्राप्त करेंगे। अभी वे विद्यार्थी हैं। **'विद्या एव प्रयोजनम् यस्य स विद्यार्थी'** अथवा **'विद्याम् अर्थयते इच्छति इति विद्यार्थी'** अर्थात् जो विद्या को चाहता है वह विद्यार्थी है। अर्थात् कुछ पाना चाहता है अभी पाना शेष है।

अर्हन्त भगवान को अभी कुछ और प्राप्त करना है और वह है शुद्ध जीवत्व की प्राप्ति। **अभी हमारी इन्द्रियों की पकड़ में आ रहे हैं अर्हन्त परमेष्ठी। वे चाहते हैं कि सभी की पकड़ से बाहर निकल जाएँ। इसके लिए वे अभी योग-निरोध करेंगे।** अंतिम दो शुक्ल ध्यान के माध्यम से शेष कर्मों का क्षय करेंगे।

अर्हन्त परमेष्ठी अभी दर्पण के समान उज्ज्वल हैं। अभी दर्पण में भी और उज्ज्वलता लानी है। वह उज्ज्वलता कैसी है? आप रोजाना दर्पण देखते हो लेकिन ध्यान रखना एक दिन भी दर्पण नहीं देखा। दर्पण में देखने की आँख अलग है। **हमें दर्पण नहीं दिखता, दर्पण में अपना मुख दिखता है। अभी अर्हन्त परमेष्ठी दर्पण के समान शुद्ध हैं, काँच के समान नहीं।** दर्पण और काँच में अन्तर है। दर्पण उसे कहते हैं जिसमें एक काँच के पृष्ठ भाग पर कुछ लालिमा लगाई जाती है जिसके माध्यम से प्रतिबिंब बनने लगता है। वह लालिमा हट जाये तो सब पारदर्शक, ट्रासपेरेंट हो जाता है उसका नाम काँच है।

ऐसा समझें कि सिद्ध परमेष्ठी काँच के समान ट्रासपेरेंट हो चुके हैं और अर्हन्त परमेष्ठी जो हैं अभी चार कर्मों की ललाई लिए हुए हैं। चार कर्म निकल चुके हैं इसलिए दर्पण के समान उज्ज्वल हो गये हैं लेकिन अब लालिमा भी चली जायेगी बिल्कुल स्वभावमय काँच की तरह सिद्ध परमेष्ठी हो जायेंगे। बुंदेलखंड में कार्य के लिए 'काज' शब्द प्रयोग में लाते हैं। जैसे मुक्ति के काज। अर्हन्त भगवान् के लिए आनंद प्राप्त करना ही एक मात्र कार्य है। वह कार्य सम्पन्न हो जाता है, काज हो गया अर्थात् कृतकृत्य हो गये। अर्हन्त परमेष्ठी को अभी कृतकृत्य होना है।

इस तरह **आचार्य महाराज ने लक्षण के अंतर्गत चेतना या उपयोग को रक्खा है और स्वरूप के अन्तर्गत जितनी भी शक्तियाँ हैं वे सब आ जाती हैं। यहाँ अरस, अरूप, अगंध आदि ये सारे के सारे लक्षण नहीं हैं जीव के, क्योंकि ये संसारी जीव में हमें देखने को नहीं मिलते।** देखना संभव भी नहीं है, जीव के लक्षण के माध्यम से ही जीव को पकड़ लेते हैं, स्वरूप के माध्यम से पकड़ में नहीं आयेगा जीव। अर्हन्त परमेष्ठी की हम पूजा करते हैं, वे हमारे लिए पूज्य हैं लेकिन अभी वे असिद्धत्व का अनुभव कर रहे हैं, आगे कृतकृत्य होकर अवश्यरूपेण आराध्य बनेंगे-सिद्धत्व को अर्थात् सिद्ध पर्याय को प्राप्त करेंगे। सभी को इसी प्रकार सिद्धत्व की प्राप्ति के लिए प्रयास करना पड़ेगा। अपनी वैभाविक दशा को पहचानकर स्वभाव की ओर अग्रसर होना होगा।

'**सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः**' यह कहकर आचार्य उमास्वामी महाराज के तत्त्वार्थ सूत्र/मोक्षशास्त्र का प्रारम्भ किया है और अंत में जाकर कह दिया कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान, चारित्र भी आत्मा के स्वभाव नहीं है किन्तु स्वभाव प्राप्ति में कारण हैं। इसलिए इनका अभाव अन्त में अनिवार्य है। जहाँ उन्होंने '**औपशमिकादि भव्यत्वानाम् च**'-यह कहा है, वहीं उन्होंने सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र रूप परिणत जो भव्यत्व भाव है उस भव्यत्व रूप पारिणामिक भाव का भी अभाव दिखाया है। सिद्धालय में मात्र जीवत्व भाव रह जाता है। वह जीवत्व ही हमारे लिए प्राप्तव्य है। उस प्राप्तव्य के लिए कारणभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

द्रव्य जहाँ शुद्ध है वहाँ सारी-की-सारी द्रव्य की पर्यायें भी शुद्ध हैं, गुण भी शुद्ध है। जहाँ एक भी अशुद्ध है वहाँ सारा का सारा अशुद्ध है। कारण कार्य का विचार करें तो पर्याय किसी न किसी का कार्य होना चाहिए और इस पर्याय रूप कार्य का उपादान भी परमावश्यक है। वह उपादान कौन है? और वह शुद्ध है या अशुद्ध? इसका विचार किया जाए तो मालूम पड़ेगा कि पर्याय जिस द्रव्य में से निकली है यह द्रव्य भी अशुद्ध है। आचार्यों ने जहाँ कहीं भी कहा कि द्रव्य शुद्ध है वहाँ शुद्ध रूप परिणमन करने की शक्ति है, इस अपेक्षा से कहा है।

एक बार जब उस स्वाभाविक शक्ति का उद्घाटन हो जाएगा तो पुनः वैभाविक पर्याय शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं होगी। **''पाषाणेषु यथा हेम, दुग्धमध्ये यथाघृतम्, तिलमध्ये यथा तैलः, देह-मध्ये तथा शिवः।** अर्थात् जिस प्रकार पाषाण में स्वर्ण है, तिल में तेल है और दूध में घी है उसी प्रकार इस देह में आत्मा है। हम दूध में से यूँ ही घी निकालना चाहें तो वह हाथ नहीं आयेगा। घी उसमें है फिर भी नहीं आता। तो उसमें घी है भी और नहीं भी है, दूध में से ही घी निकलता है इसलिए उसमें घी है भी लेकिन दिखायी नहीं देता, सुगंध नहीं आती इसलिए घी नहीं भी है। **वैद्य लोग जब किसी को औषधि देते हैं तो कभी घी के साथ अनुपान बनाते हैं और कभी दूध के साथ बनाते हैं। दूध पर्याय भिन्न है और घी पर्याय भिन्न है, तथापि घी दूध के बिना नहीं है और दूध घी के बिना नहीं है। ऐसे ही देह के साथ में आत्मा है।**

दूध अभी घी नहीं है उसमें घी बनने की शक्ति है। यदि उसमें से घी निकालना चाहो तो उसके साथ जो सम्बन्ध हुआ, जो विभाव रूप परिणमन हुआ है उसे हटाना होगा। हटाने की बात तो क्षणभर में कही जा सकती है लेकिन दूध से घी निकालने के लिए चौबीस घंटे तो चाहिए ही। जो व्यक्ति घी को प्राप्त करना चाहता है वह व्यक्ति पहले दूध को तपाता है, तपाने के उपरान्त उसे जमाता है, फिर मथानी डालकर मंथन करता है। बार-बार झाँककर देख लेता है कि नवनीत आया या नहीं, नवनीत आते ही मंथन बंद कर देता है। इस तरह अभी दूध में से एक ऐसा तत्त्व निकला जो तैर रहा है। पर डूबा नहीं है। छाछ के भीतर ही भीतर तैर रहा है, पर थोड़ा सा ऊपर भी दिखायी पड़ जाता है।

पहले तो ऐसा कोई पदार्थ दूध में नहीं दिखता था, यह कहाँ से आ गया? तो यह मंथन का परिणाम है, उस परिश्रम का परिणाम है। नवनीत का गोला जिस तरह तैर रहा है उसी प्रकार अर्हन्त परमेष्ठी भी तैर रहे हैं। अब डूबेंगे नहीं भवसागर में, लेकिन अभी लोक के अग्रभाग में भी नहीं पहुँचे हैं। सिद्ध परमेष्ठी बिल्कुल लोक के अग्रभाग पर हैं, वे सिद्ध हैं और शुद्ध हैं। अर्हन्त परमेष्ठी नवनीत की भांति न पूर्णतः शुद्ध हैं, न अशुद्ध ही हैं। ऐसी दशा में उनको क्या कहा जाये? अभी अलिंग ग्रहण स्वभाव प्रकट नहीं हुआ। अभी सिद्धत्व रूप जो पर्याय है वह प्रकट नहीं हुई, अभी जो केवल जीवत्व है, वह नहीं है। भव्यत्व का भी अभाव अभी आवश्यक है।

जिस प्रकार नवनीत में जल तत्त्व है जो उसे छाछ में डुबाये हुए है इसी प्रकार अर्हन्त परमेष्ठी के पास भी कुछ वैभाविक परिणतियाँ शेष हैं जो उन्हें लोक के अग्रभाग में जाने से रोके हुए हैं। उन्हें भी हटाने का प्रयास वे कर रहे हैं। इस सबका आशय यह हुआ कि घी उस दूध में होते हुए भी व्यक्त रूप में नहीं मिलता, अव्यक्त रूप से दूध में रहता है। उसी को आचार्यों ने अपने शब्दों में 'शक्ति और व्यक्ति' ये दो शब्द दिये हैं। आत्मा के पास सिद्ध बनने की शक्ति है, उसे व्यक्त करेंगे तो वह व्यक्त हो सकती है। स्वयं के परिश्रम के बिना दुनियाँ की कोई भी ऐसी शक्ति नहीं है जो उस सिद्धत्व की शक्ति को व्यक्त करा दे।

दही में से नवनीत निकालने के लिए जिस प्रकार मथानी आवश्यक साधन हो जाता है उसी प्रकार यह दिगम्बरत्व और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप साधन सारे के सारे परम आवश्यक हैं। जिनके माध्यम से मार्ग मिलेगा और मंजिल भी अवश्य मिलेगी।

जीव तत्त्व शुद्ध रूप में संसार दशा में प्राप्त नहीं हो सकता। शुद्ध जीव तत्त्व चाहिए तो वह सिद्धों में है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इसकी प्राप्ति के कारण हैं। ये सुख के कारण हैं। मुक्ति के कारण हैं। स्वयं सुख रूप नहीं हैं इसलिए इन्हें मार्ग कहा गया है। **मार्ग में कभी सुख नहीं मिलता, सच्चा सुख तो मंजिल में ही है, मोक्ष में है।** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सुख के कारण हैं, इनके अभाव होने पर ही सिद्धत्व रूप कार्य होता है। ये सुख के कारण हैं और सिद्धत्व सुखरूप अवस्था है।

बृहद् द्रव्य संग्रह की वचनिका में लिखा है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की परिणति रूप जो आत्मा की उपयोग की परिणति है वह भी स्वभाव नहीं है। क्योंकि **शुद्धोपयोग यदि आत्मा का स्वभाव है तो सिद्धावस्था में भी रहना चाहिए। किन्तु शुद्धोपयोग तो ध्यानावस्था का नाम है। ध्यान तो ध्येय को प्राप्त कराने वाली वस्तु है, वह ध्येय नहीं है।** सिद्धावस्था में तो मात्र चैतन्य स्वभाव रह जाता है। शुद्ध चेतना या ज्ञान-चेतना रह जाती है। चैतन्य मात्र खलु चिद् चिदेव।

इस प्रकार बहुत कुछ जीव तत्त्व के बारे में कहा गया है। जीव तत्त्व के बारे में इतना अवश्य समझना चाहिए कि वर्तमान संसारी दशा में जीव अशुद्ध है, द्रव्य की अपेक्षा भी अशुद्ध है और पर्याय भी अशुद्ध है। इतना अवश्य है कि जीव में शुद्धत्व की शक्ति विद्यमान है। पर्याय जब शुद्ध होगी तब शुद्ध जीव तत्त्व की प्राप्ति नियम से होगी। और वह शुद्ध तत्त्व की अनुभूति फिर अनन्त काल तक रहेगी। उसमें कोई क्रिया संभव नहीं है, वह एक सहज प्रक्रिया होगी। इसे समझकर हमें सिद्ध पर्याय को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। रत्नत्रय को अंगीकार करके मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होना चाहिए। यही जीव तत्त्व को समझने की सार्थकता है।

जीव तत्त्व से विपरीत अजीव तत्त्व है। वह ज्ञान दर्शन से शून्य है। आगम में उसके पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल-ये पाँच भेद कहे गये हैं। इनमें धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार के द्वारा जीव में कोई विकृति नहीं आती परन्तु कर्म रूप परिणत पुद्‌गल द्रव्य की उदयावस्था का निमित्त पाकर जीव में रागादि विकार प्रकट होते हैं।

यद्यपि इन रागादि विकारों का भी उपादान कारण आत्मा है तथापि मोहनीय कर्म की उदयावस्था के साथ अन्वय व्यतिरेक होने से वह इनका निमित्त कारण होता है। रागादि विकारी भावों का निमित्त पाकर कार्मण वर्गणा रूप पुद्‌गल में कर्मरूप परिणति होती है। इसी के फलस्वरूप जीव की संसार वृद्धि होती रहती है। **कर्म से शरीर रचना होती है, शरीर में इन्द्रियों का निर्माण होता है। इन्द्रियों से स्पर्शादि विषयों का ग्रहण होता है। इससे नवीन कर्मबन्ध होता है। इस तरह कर्म, नोकर्म और भावकर्म रूप अजीव का, जीव के साथ अनादि काल से सम्बन्ध चला आ रहा है।** जब तक इसका लेशमात्र भी सम्बन्ध रहेगा तब तक मुक्तावस्था की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए इस अजीव तत्त्व को समझकर इसे पृथक् करने का सम्यक् प्रयत्न करना चाहिए।

❑ ❑ ❑

आस्रव तत्त्व

सात तत्त्वों में विद्यमान जीव-अजीव के उपरान्त अब आता है आस्रव। 'स्रव' धातु बहने के अर्थ में है स्रवति अर्थात् बहना, सरकना, स्थान से स्थानान्तर होना और इस 'स्रव' धातु के आरंभ में 'आ' उपसर्ग लगा दिया जाए तो आस्रव शब्द की उत्पत्ति हो जाती है। जैसे गच्छति का अर्थ होता है जाना और आगच्छति का अर्थ है आना। नयति का अर्थ है ले जाना और आनयति अर्थात् ले आना। इस प्रकार इस 'आ' उपसर्ग के अनुरूप धातु का अर्थ विपरीत भी हो जाता है जैसे दान और आदान। देना बहुत कम पसन्द करते हैं आप लोग, आदान यानि लेने के लिए जल्दी तैयार हो जाते हैं। यहाँ आस्रव का अर्थ है सब ओर से आना।

आस्रव के दो भेद आचार्य करते हैं-एक भावास्रव और दूसरा द्रव्यास्रव। **द्रव्यास्रव का अर्थ है बाहरी चीजों का आना और भावास्रव का अर्थ है अन्दर ही अन्दर आना।** यह बहुत रहस्य की बात है कि आत्मा है ही और फिर आत्मा में क्या आना है? आचार्य उमास्वामी ने मोक्षशास्त्र के छठे अध्याय के प्रारंभ में ही सूत्र लिखा है-

कायवाङ्मनः कर्मयोगः॥ १॥ स आस्रवः॥ २ ॥ शुभ पुण्यस्याशुभः पापस्य॥ ३ ॥

उन्होंने बड़ा विचार किया होगा, बहुत चिन्तन किया होगा कि यह आस्रव क्यों होता है तभी ऐसे सूत्र लिखे गये होंगे।

सामान्यतया यही धारणा होती है कि कर्म के उदय से आस्रव होता है किन्तु गहरे चिन्तन के उपरान्त यह फलित हुआ कि आस्रव मात्र कर्म की देन नहीं है, यह आस्रव आत्मा की ही अनन्य शक्ति 'योग' की देन है। कर्मों के ऊपर ही सब लादने से हम कर्मों की क्षमता को ठीक-ठीक समझ नहीं सकेंगे। कर्म जबरदस्ती आत्मा में शुभाशुभ भाव पैदा कर सके, यह संभव नहीं है। यदि कर सकते हैं तो आत्मा की स्वतंत्र सत्ता ही लुट जायेगी, तब पराई सत्ता अर्थात् कर्मों का कोई कभी अभाव नहीं कर पायेगा और कर्मों का आस्रव निरन्तर होता रहेगा। यह सामान्य कर्मों की बात कह रहा हूँ, विशेष कर्मों की बात नहीं। तो आस्रव योग की देन है और मन-वचन-काय की चेष्टा का नाम योग है।

आप ध्यान से सुनेंगे तो आपको बहुत कुछ चिन्तन का विषय मिल जायेगा और आत्मा की उपादान शक्ति की जाग्रति आप इस दौरान करना चाहें तो कर सकते हैं। 'योग'-यह कर्म की देन नहीं है। कर्म की वजह से नहीं हो रहा है योग। 'योग' आत्मा की ही एक वैभाविक परिणति का नाम है। यद्यपि इस प्रकार का उल्लेख ग्रन्थों में ढूँढ़ने के लिए जायें तो बहुत मुश्किल से मिलेगा। जो चिंतन-मंथन करेंगे उन्हें अवश्य मिलेगा। **खूब मंथन करो, आत्मा की शक्ति के बारे में खूब चिन्तन करो।** अद्वितीय आत्म-शक्ति है वह, चाहे वैभाविक हो या स्वाभाविक हो।

अपने यहाँ आठ कर्म हैं मूल रूप से। ज्ञानावरण का स्वभाव या प्रकृति ज्ञान को ढकना है। दर्शनावरण कर्म की प्रकृति दर्शन को ढकना है। वेदनीय की प्रकृति आकुलता पैदा करना है और मोहनीय की प्रकृति गहल भाव/मूर्छा पैदा करना है। इसके उपरान्त नाम कर्म का काम अनेक प्रकार के रूप पैदा करना, आकार-प्रकार देना है और गोत्र कर्म का काम ऊँच और नीच बना देना है। आयु कर्म का काम एक शरीर या भव विशेष में रोके रखना है। और अन्तराय कर्म वीर्य अर्थात् शक्ति को ढकने वाला है। यह सब उन कर्मों का स्वभाव हो गया। अब योग को किस कर्म की देन माना जाये। आठ कर्मों के जो उत्तर भेद हैं उनमें भी 'योग' को देने वाला कर्म नहीं है।

ऐसी स्थिति में विचारणीय है कि योग क्या चीज है जो कर्मों को खींचने वाला है। **''आसमन्तात् आदत्तो इति आस्रव:'' ऐसी कौन सी शक्ति है जो चारों ओर से आत्मा के प्रदेशों के साथ कर्म वर्गणाओं को लाकर रख देती है। तो वह शक्ति कोई और नहीं बल्कि 'योग' है** वह योग किसी कर्म की देन नहीं है। वह न तो क्षायिक भाव में आता है न क्षायोपशमिक भाव में आता है। और न ही औदयिक भाव में आता है किन्तु योग को आचार्यों ने पारिणामिक भाव में रखा है।

आपके मन में जिज्ञासा होगी कि अब तक हमने पारिणामिक भाव तो तीन ही सुने थे, यह चौथा कहाँ से आ गया। क्या आपका कोई अलग ग्रन्थ है महाराज! तो भाई मेरा कोई अलग ग्रन्थ

नहीं है। किन्तु निर्ग्रन्थ आचार्यों का उपासक मैं निर्ग्रन्थ अवश्य हूँ। निर्ग्रन्थों की उपासना से इस चीज की उपलब्धि संभव है। आप धवला जी ग्रन्थ देखें तो मालूम पड़ जायेगा कि योग पारिणामिक भाव में स्वीकृत है। **यह आत्मा का ही एक मनचलापन या वैभाविक स्थिति है। जो कर्मों को खींचता है, फिर चाहे कर्म शुभ हों या अशुभ हों।**

अशुभयोग जब तक रहता है तब तक अशुभ प्रकृतियों का आस्रव होता है और शुभ योग होने पर शुभ प्रकृतियों का आस्रव होता है। लेकिन योग जब तक रहेगा तब तक आस्रव करायेगा ही। योग कर्म की देन नहीं है, यह अद्‌भुत बात सामने आयी। इससे आत्मा की स्वतंत्र सत्ता का भान होता है कि जब आत्मा ही आस्रव कराता है जो आत्मा उस आस्रव को रोक भी सकता है। अब यदि कोई व्यक्ति आस्रव को रोकना चाहे और यह कहकर बैठ जाये कि कर्मों का उदय है क्या करूँ? तो उसे अभी करणानुयोग का ज्ञान नहीं है यही कहना होगा।

धवलाकार **वीरसेन स्वामी** ने कहा है कि यह योग पारिणामिक भाव है पर ध्यान रखना, आत्मा का पारिणामिक भाव होते हुए भी आत्मा के साथ इसका त्रैकालिक सम्बन्ध नहीं है। कई पारिणामिक भाव ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध आत्मा के साथ त्रैकालिक नहीं होता। जैसे अग्नि है और अग्नि में धुआँ है। धुआँ अलग किसी चीज से निकलता हो ऐसी बात नहीं है। धुआँ अग्नि से निकलता है और वह अग्नि अशुद्ध अग्नि कहलाती है। यदि अग्नि एक बार शुद्ध बन जावे तो फिर धुआँ नहीं निकलता। निर्धूम अग्नि का प्रकरण न्याय ग्रन्थों में पाया जाता है। न्याय ग्रन्थों में ऐसी व्याप्ति मानी गयी है कि "**यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्नि अस्ति एव**" जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ-वहाँ नियम से अग्नि है। लेकिन जहाँ-जहाँ अग्नि है वहाँ धुआँ हो यह नियम नहीं है, क्योंकि निर्धूम अग्नि धुआँ रहित होती है।

जिस प्रकार निर्धूम अग्नि स्वाभाविक अग्नि है और सधूम अग्नि वैभाविक अग्नि है इसी प्रकार आत्मा के अंदर कुछ ऐसे परिणाम हैं जो वैभाविक हैं और कर्म की अपेक्षा भी नहीं रखते और कुछ ऐसे भी हैं जो स्वाभाविक हैं, वे भी कर्म की अपेक्षा नहीं रखते। योग आत्मा की वैभाविक परिणति है, जिसके माध्यम से आत्मा के एक-एक प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म-रेणु आकर चिपक रहे हैं।

अब इसके उपरान्त हम आगे बढ़ते हैं, चिन्तन करते हैं कि जब योग है तो इससे मात्र कर्म आने चाहिए, शुभ और अशुभ का भेद नहीं होना चाहिए। आचार्य उमास्वामी ने तो शुभ और अशुभ दोनों का व्याख्यान किया है, ऐसा क्यों? तो आचार्य कहते हैं कि अशुभ का आस्रव कषाय के साथ होता है, जिसे साम्परायिक आस्रव कहते हैं। "**साम्परायः कषायः तेन साकम् आस्रवति यत्**

कर्म तत् साम्परायिक कर्म इति कथ्यते''- जो योग कषाय के साथ सम्बन्ध को प्राप्त हो चुका है अर्थात् कषाय के साथ जो योग है उसके माध्यम से अशुभ का आस्रव होता है। कषाय से रहित योग के साथ मात्र शुभ का आस्रव होता है। साता वेदनीय का एक मात्र आस्रव होता है। इसका अर्थ हो गया कि कषाय के साथ जब तक योग रहेगा तब तक वह अशुभ कर्मों को अवश्य लायेगा, आप उसे रोक नहीं सकते।

यहाँ आप लोगों की दृष्टि मात्र कर्म की ओर न ले जाकर परिणामों की ओर इसलिए ले जा रहा हूँ क्योंकि कर्मों के बारे में बहुत कुछ व्याख्यान हो चुके हैं। सम्यग्दर्शन फिर भी प्राप्त नहीं हो पा रहा है। बड़े-बड़े विद्वान् आकर पूछते हैं कि महाराज! सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त किया जाए? अब उनके लिए यह तो कहना मुश्किल हो गया कि समयसारजी पढ़ो। क्योंकि समयसार तो सभी ने रट रक्खा है। समयसार पढ़ते हुए भी सम्यग्दर्शन के लिए कह रहे हैं तो इसके लिए कोई रास्ता तो मुझे बताना ही होगा। हम तो निर्ग्रन्थ परिषद से सम्बन्ध रखते हैं और आप सग्रन्थ परिषद के सदस्य हैं, इसलिए आपके सामने बोलते-बोलते सकुचा रहा हूँ। सग्रन्थ के साथ निर्ग्रन्थ की क्या वार्ता! कैसी वार्ता! तो आगम को सामने रखकर सारी बात कह रहा हूँ।

कषाय के साथ जो योग है उसी का आचार्यों ने एक दूसरा नाम रखा है-लेश्या। कषाय से अनुरंजित जो योग की प्रवृत्ति है, वह है लेश्या। वह लेश्या अर्थात् योग की प्रवृत्ति जब तक कषाय के साथ है तब तक वह अशुभ कर्मों का आस्रव कराने में कारण बन जाती है। कोई भी कर्म किसी भी आस्रव के लिए कारण नहीं है किन्तु कषाय जो कि आत्मा की ही परिणति है जो कि उपयोग की उथल-पुथल है वही आस्रव का कारण है। उपयोग की व्यग्रता-कषाय और योग की व्यग्रता-लेश्या।

आस्रव संसार का मार्ग कहलाता है क्योंकि जब तक आस्रव होगा तब तक कर्म रहेंगे और कर्म रहेंगे तो उनका फल मिलेगा, यह परतंत्रता है। इसी परतंत्रता से शरीर मिलता है, शरीर मिलेगा तो इन्द्रियाँ मिलेंगी, इन्द्रियाँ मिलेंगी तो विषयों का ग्रहण होगा जिससे कषाय जाग्रत होगी। इसी प्रकार यह शृंखला चलती है। आशय यह हुआ कि कषाय के साथ जो योग की प्रवृत्ति है वही अशुभ कर्मों के आस्रव के लिए कारण है।

आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के आठवें अध्याय में आस्रव-द्वारों के बारे में जो बंध के कारण हैं, उनका उल्लेख किया है - ''**मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः।**'' यहाँ योग को अन्त में लिया है और सर्वप्रथम रखा है मिथ्यात्व। मिथ्यात्व को बंध का कारण माना है पर यह समझने की बात है।

मिथ्यात्व न कषाय में आता है, न योग में आता है। जबकि योग और कषाय के माध्यम से आस्रव-मार्ग और बंध-मार्ग चलता है। अपने को कषाय और योगों को संभालने की आवश्यकता है। आस्रव को यदि रोकना चाहते हो, आस्रव से यदि बचना चाहते हो, तो मिथ्यात्व की ओर मत देखो, वह अपने आप चला जायेगा। वह कुछ नहीं कर रहा है, अकिंचित्कर है आस्रव और बंध के मार्ग में, ध्यान रखना। कुछ भी काम नहीं कर रहा, यह सुनकर आप चौंक न जायें इसलिए मुझे कहना पड़ा कि आस्रव और बंध के मार्ग में कुछ भी नहीं कर रहा है।

हमें आस्रव और बंध को हटाना है मिथ्यात्व अपने आप हट जायेगा। हाथ जोड़कर चला जायेगा। उसको भेजने का ढंग अलग है। उसे सुनो, जानो और पहचानो। उसको हटाना है तो पहले उसको जानो कि वह करता क्या है? आस्रव और बंध के मार्ग में कुछ भी नहीं करता। यदि आस्रव और बंध के मार्ग में मिथ्यात्व प्रकृति को अकिंचित्कर कह दिया जाये तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। यह चिन्तन करने पर मालूम पड़ेगा। श्रद्धान बनाओगे तो ही आगे बढ़ पाओगे। एक-एक चीज मौलिक है। सुनें, श्रवण करें और यदि आगम के विरुद्ध लगे तो बतायें, बड़ी खुशी की बात होगी, मैं जानने के लिए तैयार हूँ पर एक चिन्तन आपके सामने रख रहा हूँ।

मिथ्यात्व कुछ नहीं करता यह मैं नहीं कह रहा हूँ परन्तु आस्रव और बंध के क्षेत्र में कुछ नहीं करता, यह कह रहा हूँ। यह शब्द देख लो आप, यदि भूल भी जावेंगे तो यह टेपरिकार्डर पास में है ही आपका। यह प्रतिनिधित्व करेगा, यह शब्दों को पकड़ रहा है।

मिथ्यात्व को बंध का हेतु माना है और मिथ्यात्व प्रकृति के माध्यम से सोलह प्रकृतियों का आस्रव होता है। सोलह प्रकृतियों का आस्रव मिथ्यात्व के साथ ही होगा ऐसा आगम का उल्लेख है। तो मिथ्यात्व के साथ ही होगा, इसलिए मिथ्यात्व ने ही किया, सोलह प्रकृतियों का आस्रव ऐसा आप कह सकते हैं। लेकिन ध्यान रखो आस्रव का माध्यम योग है। योग मिथ्यात्व से अलग चीज है। मिथ्यात्व के साथ ही योग रहता है, यह नियम भी नहीं है क्योंकि यदि मिथ्यात्व के साथ योग रहेगा तो चतुर्थ आदि गुणस्थानों में जहाँ मिथ्यात्व नहीं है वहाँ योग का अभाव मानना पड़ेगा, जबकि योग तो तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक बना रहता है। इसलिये योग के साथ मिथ्यात्व की अन्वय व्याप्ति नहीं है। अत: मिथ्यात्व के आस्रव के लिए भी मिथ्यात्व का उदय मात्र कारण नहीं है। मिथ्यात्व का उदय भी मिथ्यात्व का आस्रव नहीं करा सकता। आस्रव कराने वाली शक्ति तो अलग है जो आत्मा की वैभाविक परिणति है, उपयोग का एक विपरीत परिणमन है। वह कषाय है।

मिथ्यात्व सम्बन्धी जो सोलह प्रकृतियों का आस्रव होता है उनका आस्रव कराने वाला कौन है? तो यही कहा जायेगा कि जो अनन्तानुबन्धी कषाय के साथ योग का परिणमन हो रहा है वह

मिथ्यात्व सम्बन्धी सोलह प्रकृतियों का आस्रव करा रहा है। इसके साथ-साथ, अनन्तानुबन्धी की जो पच्चीस प्रकृतियाँ हैं उनका भी वह आस्रव करायेगा। अनन्तानुबन्धी का जिस समय अभाव होगा और यदि मिथ्यात्व का उदय भी रहा आता है तो वहाँ पर न अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी पच्चीस प्रकृतियों का आस्रव होता है और न ही मिथ्यात्व सम्बन्धी सोलह प्रकृतियों का ही आस्रव होता है क्योंकि कषाय से अनुरंजित योग प्रवृत्ति ही आस्रव का कारण है, जिसका अभाव है।

मिथ्यात्व की गिनती न ही योग की कोटि में आई है और न ही कषाय की कोटि में मिथ्यात्व को रखा गया है। मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय सम्बन्धी है और कषाय चारित्र-मोहनीय सम्बन्धी है। यही अन्तर है। और योग को पारिणामिक भाव माना गया है। इस तरह मिथ्यात्व की गिनती योग में भी नहीं है। बंधुओ! मिथ्यात्व से डरो मत, डरने से वह भागेगा नहीं। तरीका यही है कि आपत्तिकाल लगा दो। आपत्तिकाल चौथा काल है इसका सम्बन्ध न भूत से है, न भविष्य से और न ही वर्तमान से है। यह काल अद्‌भुत काल है चतुर्थ काल की तरह। जैसे चतुर्थकाल कर्मों को हटाने के लिए, मुक्ति प्राप्त कराने के लिए कारण बनता है ऐसा ही यह काल है। मिथ्यात्व के लिए आपत्तिकाल यही है अनन्तानुबन्धी कषाय के साथ रहने वाली जो लेश्या है, उसे हटा देना। लेश्या में बदलाहट तीव्रता और मंदता के रूप में होती है। **जिस समय हम कषाय को मंद बना लेते हैं उस समय लेश्या शुभ होती है और शुभ लेश्या होते ही अशुभास्रव को धक्का लगना प्रारंभ हो जाता है। शुभ लेश्या आत्मा की ही एक अनन्य परिणति है।** आत्मा के पुरुषार्थ का एक फल है। उसे शुभ और अशुभ रूप हम अपने पुरुषार्थ के द्वारा कर सकते हैं। चूँकि सोलह प्रकृतियों का आस्रव जो प्रथम गुणस्थान तक ही होता है वह अनन्तानुबन्धी के साथ होता है किन्तु वहाँ मिथ्यात्व का उदय भी रहना आवश्यक है, रहता ही है इसलिए सूत्र में मिथ्यात्व को पहले रक्खा है। साथ ही अनन्तानुबन्धी को भी जोड़ दिया है। आप सूत्र को पढ़ें और चिन्तन करें तो अपने आप ही ध्वनि निकलेगी। वहाँ मिथ्यात्व के उपरान्त दूसरा अविरति का नम्बर है।

अविरति का अर्थ है असंयम। असंयम तीन तरह का होता है- ऐसा राजवार्तिक में आया है। ''**असंयमस्य त्रिधा, अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानोदयत्वात्।**'' अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान के उदय में जो असंयम होता है वह असंयम अलग-अलग प्रकार का है। अनंतानुबंधी जन्य असंयम अलग है और अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानजन्य असंयम अलग है।

तो मिथ्यात्व प्रकृति के जाने के साथ मिथ्यात्व तो जायेगा ही, साथ ही साथ अनन्तानुबन्धी उससे पहले जायेगी। इसलिए मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी ये आस्रव के द्वार चले गये दोनों मिलकर के। इसके उपरान्त अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान जन्य अविरति जब दोनों चले जायेंगे तो अविरति समाप्त हो जायेगी। इसके उपरान्त प्रमाद को स्थान मिला है, वह संज्वलन कषाय के

तीव्रोदय से सम्बन्ध रखता है। इसके बाद कषाय का स्थान है जो मात्र संज्वलन की मंदता की अपेक्षा है और अंत में योग को स्थान दिया जो आत्मा का अशुद्ध पारिणामिक भाव है। उस योग का अभाव, जब तक 'योग' (ध्यान) धारण नहीं करेंगे तब तक नहीं होगा। इस तरह यह बंध के हेतु गुणस्थान क्रम से रखे गये।

मिथ्यात्व सहित जो सोलह प्रकृतियाँ का आस्रव और अनन्तानुबन्धी जन्य पच्चीस प्रकृतियों का आस्रव होता है, ऐसा इकतालीस प्रकृतियों का आस्रव यह कषाय की देन है। कषाय के साथ जो योग है उसकी भी देन है। इस कषाय को हटायेंगे तो मिथ्यात्व सम्बन्धी सोलह और अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी पच्चीस प्रकृतियाँ सारी की सारी चली जायेंगी। इसलिए सम्यग्दर्शन प्राप्त करते समय की भूमिका में यह जीव जब करणलब्धि के सम्मुख हो जाता है और **करणलब्धि में भी जिस समय अनिवृत्तिकरण का काल आता है, उस समय मिथ्यात्व सम्बन्धी सोलह प्रकृतियों के बंध का निषेध किया है। इससे ध्वनि निकलती है कि मिथ्यात्व का उदय सोलह प्रकृति का आस्रव कराने में समर्थ नहीं है।** अतः आस्रव और बंध के क्षेत्र में वह अकिंचित्कर है, यह सिद्ध हो जाता है।

मिथ्यात्व क्या काम करता है, यह पूछो तो ध्यान रखो, उसका भी बड़ा अद्‌भुत कार्य है। मिथ्यात्व जब तक उदय में रहेगा तब तक उस जीव का ज्ञान भी अज्ञान ही कहलायेगा। वह जीव जब अनिवृत्तिकरण के बाद अन्तरकरण कर लेता है और दर्शन मोहनीय के तीन टुकड़े करके मिथ्यात्व का उपशम या क्षयोपशम करके औपशमिक या क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है या जब क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करते समय मिथ्यात्व का क्षय करता है, उस प्रसंग में भी अनन्तानुबन्धी का क्षय या उपशम पहले बताया है। सम्यग्दर्शन के साथ अनन्तानुबन्धी का उदय नियम रूप से नहीं रहता लेकिन दर्शनमोहनीय की प्रकृति का उदय रह सकता है। दर्शनमोहनीय की सम्यक्त्व-प्रकृति के उदय में भी सम्यग्दर्शन रह सकता है लेकिन चारित्रमोहनीय की अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी एक कषाय का भी उदय हो तो ध्यान रखना सम्यग्दर्शन वहाँ नहीं रहेगा।

सम्यग्दर्शन के खिलाफ जितनी अनन्तानुबन्धी कषाय है उतनी दर्शनमोहनीय भी नहीं। ऐसा सिद्ध हो जाता है। इसलिए **आस्रव और बंध के क्षेत्र में जो मिथ्यात्व को हौआ (भय) बना रखा है और जिससे डरा रहे हैं वह हौआ नहीं है, वह आस्रव और बंध के क्षेत्र में अकिंचित्कर है। जो कुछ भी आस्रव के कारण हैं, वह है-"आतम के अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाये।"**

यदि मिथ्यात्व को हटाना चाहते हैं आप लोग और विषय-कषायों में आपकी प्रवृत्ति होती जायेगी तो कभी भी मिथ्यात्व को आप हटा नहीं सकेंगे। मिथ्यात्व को बुलाने वाला बड़ा बाबा

अनन्तानुबन्धी कषाय है। **एक दृष्टि से कहना चाहिए, मिथ्यात्व पुत्र रूप में है और अनन्तानुबन्धी कषाय पिता की तरह है या कहो पिता का भी पिता है।** क्योंकि मिथ्यात्व का आस्रव कराना, उसे निमंत्रण देना, उसे जगह देना, यह जो भी कार्य है सभी अनन्तानुबन्धी कषाय के सद्भाव में होते हैं। जब तक अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय रहेगा तब तक मिथ्यात्व Invited (आमंत्रित) रहेगा। मिथ्यात्व का द्वार अनन्तानुबन्धी है।

''**अनन्तं मिथ्यात्वं यदनुबंधनाति स अनन्तानुबन्धी**'' मिथ्यात्वरूपी अनन्त को बाँधने वाला यदि कोई है तो वह है अनन्तानुबन्धी। **जो व्यक्ति मिथ्यात्व को कषाय की कोटि में रखकर मिथ्यात्व को हटाने का चिन्तन करता है वह मानो आवागमन के लिए सामने का दरवाजा तो बंद कर रहा है किन्तु पीछे का दरवाजा खुला रख रहा है। अनन्तानुबन्धी अनुरंजित योग, यह मिथ्यात्व के लिए कारण है।** इसलिए अनन्तानुबन्धी का उदय समाप्त होते ही तत्त्व-चिन्तन की धारा और मिथ्यात्व के ऊपर घन पटकने अर्थात् उसे हटाने की शक्ति आत्मा में जागृत होती है। जिस समय दर्शनमोहनीय के तीन खण्ड करते हैं, उस समय खण्ड करने की जो शक्ति उद्भूत होती है वह अनन्तानुबन्धी के उदय के अभाव में होती है। अनन्तानुबन्धी का उदय जब तक चलता है तब तक शक्ति होते हुए भी जीव, मिथ्यात्व को चूर-चूर नहीं कर पाता। जैसे ही अनन्तानुबन्धी समाप्त होता है, मिथ्यात्व कह देता है कि तो मैं भी जा रहा हूँ। मिथ्यात्व इतना कमजोर है। मिथ्यात्व के उदय में भी तत्त्व चिन्तन की धारा चलती रहती है। इकतालीस प्रकृतियों का आस्रव रुक जाता है, यह बात संवर तत्त्व का प्रसंग आने पर बता दूँगा।

यह सब आत्म-पुरुषार्थ की बात है, उपयोग को केन्द्रीभूत करने की बात है। योग को शुभ के ढांचे में ढालने की प्रक्रिया है। यह पुरुषार्थ आत्मायत्त है, कर्मायत्त नहीं है। इसीलिए धवला में कह दिया कि अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल हम अपने पुरुषार्थ के बल पर कर सकते हैं। कथंचित् अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन काल को देखकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने की योग्यता बतायी गई है आचार्य वीरसेन स्वामी द्वारा।

इससे सिद्ध होता है कि आत्मा स्वतंत्र है, पर भूला है, भटका है, उसे सुलझाने और सही मार्ग पर लाने की आवश्यकता है। आत्म-पुरुषार्थ के द्वारा इकतालीस प्रकृतियों का जो आश्रयदाता है, अनन्तानुबन्धी वह ज्यों ही चला जाता है त्यों ही सम्यग्दर्शन आ जाता है। क्योंकि ''**बाधक कारणाभावन्, साधक कारण-सदभावात्**''- ऐसा न्याय है कि बाधक कारण के अभाव हो जाने पर या साधक कारण के सद्भाव में साध्य की सिद्धि होती है। इसलिए सम्यग्दर्शन, अनन्तानुबन्धी कषाय के जाते ही आयेगा, अवश्य आयेगा। पुनः कहना चाहूँगा कि अनन्तानुबन्धी सर्वप्रथम जाती है। **कषाय में अगर कोई बड़ा बाबा है तो वह है अनन्तानुबन्धी। मिथ्यात्व, आस्रव और बंध**

के क्षेत्र से अकिंचित्कर है, इसे नोट कर लेना।

जब इस तरह आस्रव-तत्त्व का वास्तविक ज्ञान होता है तब हम आस्रव से बच भी सकते हैं। कहा गया है कि "**बिन जाने तै दोष गुनन को कैसे तजिये गहिये।**" गुण का ज्ञान और दोष का ज्ञान जब तक नहीं होता, तब तक तो किसी भी प्रकार से हम दोषों से बच नहीं सकते। मोक्षमार्ग में हमारे लिए गुण जो है, वह संवर है और दोष जो है वह है, आस्रव।

मिथ्यात्व के उपरान्त जो आस्रव का कारण है वह है अविरति। वह अविरति अप्रत्याख्यान सम्बन्धी और प्रत्याख्यान सम्बन्धी शेष है। इसको मिटाने का भी वही उपाय है, पुरुषार्थ है, जो आत्मा को आत्मा की ओर केन्द्रित करके विषय-कषायों से बचाने रूप है। इसके उपरान्त आता है प्रमाद यानि संज्वलन कषाय का तीव्रोदय। आत्मा जब अपने आप के प्रति अनुत्सुक हो जाता है तो प्रमाद कहलाता है। अब आती है कषाय। इसका आशय संज्वलन की मंदता से है। कषाय तीव्र तब कहलाती है जब एक दृष्टि से हम लोग कषाय के उदय में अपनी जाग्रति खो देते हैं।

'**कषायोदयात् तीव्र परिणामः चारित्रमोहस्य**'- इसमें व्याख्यायित किया गया है कि तीव्र परिणाम ही कषाय नहीं, कषाय का तो उदय है, तीव्र परिणाम हम कर लेते हैं क्योंकि यदि चारित्र-मोह आत्मा में कषाय के परिणाम पैदा करता रहे तो आत्मा के लिए, पुरुषार्थ करने हेतु जगह ही नहीं है। तो आत्मा इतना परतंत्र नहीं है, वह स्वतंत्र है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की अपेक्षा यह कथन है। प्रमाद के उपरान्त कषाय आती है तो वह संज्वलन के मंदोदय सम्बन्धी है उसको भी पुरुषार्थ से हटा देते हैं, समाप्त कर सकते हैं। अब आती है योग की बात, उसे समझें।

पुण्य और पाप की बात बार-बार हम करते हैं तो ध्यान रखना यहाँ तक पहुँचने पर पाप का आस्रव तो रुक जाता है क्योंकि '**शुभ पुण्यस्याशुभः पापस्य।**' यह पाप का आस्रव रुका क्यों? अपने आप रुक गया क्या? नहीं। जो योग अशुभ हो रहा था उसको शुभ बनाया हमने, तो किसके माध्यम से बनाया। अपने आप तो हुआ नहीं। **संयम के माध्यम से पाप के आस्रव को रोका जाता है। संयम बिना पाप को रोका ही नहीं जा सकता इसलिए संयम आस्रव कराने वाला है, ऐसा एकान्त नहीं है। बाह्य संयम के साथ यदि आत्मा की परिणति संयममयी नहीं है तो उस समय वह शुभ का आस्रव कराता है लेकिन संयम के माध्यम से केवल शुभ का आस्रव होता है, ऐसा भी नहीं है, निर्जरा भी होती है।**

कषाय के चले जाने के बाद जो योग शेष रहा उसमें ईर्यापथ आस्रव या केवल पुण्य का आस्रव होता है। कोई नहीं भी चाहो तो भी होता है। जबरदस्ती जैसे कोई लॉटरी का रुपया लाकर सामने रख दें तो हम क्या ऐसा कहेंगे कि नहीं चाहिए। तब कहा जाय कि आपके बिना तो कोई

इसका पात्र ही नहीं है, आपको लेना ही होगा। ऐसा नहीं है कि रखना चाहो तो रख लो अन्यथा नहीं। यह ऐसा पुण्य का आस्रव है कि रखना ही पड़ेगा। केवल योग मात्र रहने पर तो पुण्य का आस्रव होगा, अवश्य होगा। उसको कोई रोक नहीं सकेगा। अब जब तक योग रहेगा तेरहवें गुणस्थान के अंतिम समय तक तो वह पुण्य का आस्रव करायेगा।

यह योग किसी कर्म की देन नहीं है। यह पहले ही कहा जा चुका है। क्योंकि चारों घातिया कर्म निकल गये फिर भी सयोग-केवली है, योग ज्यों का त्यों बना हुआ है और शुभ का आस्रव निरन्तर हो रहा है। अब योग से होने वाले आस्रव को रोकना है। केवली भगवान जानते हैं कि जब तक आस्रव द्वार रुकता नहीं तब तक मुझे मुक्ति नहीं, तो उन्हें भी संवर करना होगा। कर्म का संवर नहीं करते वहाँ। वह तो योग का निरोध कर देते हैं। उस योग का निरोध कर देते हैं जो आत्मा का अशुद्ध पारिणामिक भाव है। उसी से कर्म का आस्रव होता है। **कषाय के साथ यदि योग है तो अशुभ का आस्रव होता है और कषाय रहित योग रहता है तो केवल शुभ कर्म का आस्रव होगा। इसलिए यदि आप पुण्य से बचना चाहते हो तो संयम से मत बचो बल्कि योग से बचो।** योग से बचने का अर्थात् योग निरोध करने का उपाय है तृतीय शुक्ल ध्यान। तृतीय शुक्ल ध्यान के बिना योग-निरोध को प्राप्त नहीं होता और जब तक उसका निग्रह नहीं होगा तब तक शुभ का आस्रव होगा। इसलिए **आचार्यों ने कहा है कि पुण्य से मत डरो किन्तु उसके फल में समता भाव रखो। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि पुनाति आत्मानं इति पुण्यम्।**

आत्मा को पवित्र कराने वाली सामग्री या रसायन यदि विश्व में कोई है तो वह आत्मा के पास जो शुभ योग है वह है और वही पुण्य है। उस पुण्य के माध्यम से ही केवलज्ञान की प्राप्ति होती है लेकिन केवल पुण्य ही होना चाहिए यह भी ध्यान रखना। केवलज्ञान जिस प्रकार है उसी तरह केवल पुण्य, जिस समय आत्मा को प्राप्त होगा उस समय अन्तर्मुहूर्त के उपरान्त आप केवलज्ञानी बन जाओगे।

यथाख्यात चारित्र जिस समय जीवन में आ जाता है त्यों ही पुण्य का ही मात्र आस्रव होता है और **पुण्य मात्र का आस्रव हो तो अन्तर्मुहूर्त के लिए पर्याप्त है आत्मा को केवलज्ञान प्राप्त कराने में।** यह प्रसंग दसवें गुणस्थान तक नहीं आ सकता केवल पुण्य का आस्रव दसवें गुणस्थान तक नहीं होता दसवें गुणस्थान के बाद होता है अब इसके उपरान्त मात्र पुण्य जो है वही उस आत्मा को पाप से बचा सकता है किन्तु पुण्य को हटाने वाला कौन? पुण्य के फल को हटाने वाला तो संयम है। संयम पुण्य को नहीं हटा सकता।

आचार्यों ने पंचेन्द्रिय के विषय को विष्टा कहा है पुण्य को नहीं कहा। यदि पुण्य को विष्टा कह दें तो केवली भगवान् भी उससे लिप्त हो जायेंगे और यह तो आगम का अवर्णवाद है, अवज्ञा

है। हाँ, पुण्य की जो इच्छा करता है वह इच्छा है विष्टा। पुण्य विष्टा नहीं है। सबसे ज्यादा पुण्य का आस्रव होता है तो यथाख्यात चारित्र के उपरान्त, जो केवली भगवान् हैं उनको होता है किन्तु निरीह वृत्ति होने के कारण वे उसमें रचते पचते नहीं हैं, रमते नहीं हैं। दुनिया का कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो इतना पुण्य प्राप्त कर ले। तृतीय शुक्लध्यान का प्रयोग करके तब वे केवली भगवान शुभ का आस्रव रोक देते हैं। आत्मा से जिस समय योग का निग्रह होता है तो पुण्य का आस्रव भी बंद हो जाता है। और ज्यों ही आस्रव होना रुक जाता है, चौदहवें गुणस्थान में छलांग लगाते हैं, वहाँ भी रुकते नहीं हैं सिद्धत्व प्राप्त कर लेते हैं। योग-निरोध के उपरान्त संसार की स्थिति मात्र अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पंच लघु स्वर अक्षरों के उच्चारण प्रमाण काल शेष रह जाती है और वह मुक्ति के भाजन हो जाते हैं।

चौदहवें गुणस्थान में चार अघातिया कर्म शेष हैं और उनमें साता वेदनीय भी है, असाता वेदनीय भी है, ऐसा आचार्य कहते हैं। इससे यह फलित हुआ कि वे चारों कर्म उदय को प्राप्त होते हुए भी काम नहीं कर रहे क्योंकि काम करने वाला जो योग था वह चला गया। अब इन चारों कर्मों की निर्जरा के लिए चौथा शुक्लध्यान वे अपना लेते हैं। इस तरह योग जो है वह अन्त में जाता है और केवल पुण्य का ही आस्रव कराता है।

इससे यह फलित होता है कि **पहले पाप के आस्रव से बचना चाहिए क्योंकि पहले साम्परायिक आस्रव ही रुकेगा, उसके पश्चात् ईर्यापथ आस्रव जो मात्र पुण्य का आस्रव है वह रुकेगा। तो पहले का काम पहले करना चाहिए, बाद का काम बाद में। सौंफ इत्यादि आप पहले खा लो, बाद में रोटी खाओ तो आपको पागल ही कहेंगे लोग।** इसलिए भइया! पहले पाप से तो निवृत्त हो और पाप से निवृत्त होने के लिए, पाप के आस्रव को रोकने वाला है संयम, उसे अंगीकार करो। तदुपरान्त पुण्य के आस्रव को रोकने वाला, योग का निग्रह करने वाला तीसरा और चौथा शुक्लध्यान आयेगा। यही संक्षेप में समझना चाहिए।

आस्रव-द्वार पाँच हैं किन्तु पाँच में भी मिथ्यात्व के साथ अनन्तानुबन्धी को रख रक्खा है। अविरति, अनन्तानुबन्धी के अभाव में भी रहती है इसलिए अविरति से अनन्तानुबन्धी का सम्बन्ध यहाँ विवक्षित नहीं है यद्यपि अनन्तानुबन्धी के साथ ही अविरति रह सकती है, रहती भी है। पर मिथ्यात्व के साथ अनन्तानुबन्धी पहले जाती है फिर बाद में मिथ्यात्व जाता है इसलिए जो पहले जाता है उसे पहले भेजना चाहिए और बाद में जाने वाले की फिकर करने की आवश्यकता नहीं है। विषयों में जो बार-बार झंपापात लेता है, अनन्तानुबन्धी का स्थूल प्रतीक है। स्थूल है सूक्ष्म नहीं। **'बह्वारम्भ परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः'** यह नरकायु का आस्रव भी अनन्तानुबन्धी के माध्यम से ही बन सकता है। क्योंकि नरक गति का बंध अनन्तानुबन्धी के साथ ही होता है। इतना ही नहीं,

‘**परात्मनिंदा प्रशंसे सदसद्गुणोच्छाद्नोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य**’ नीच गोत्र का बंध भी अनन्तानुबन्धी के साथ होता है। यहाँ मेरा आशय यह है कि जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के लिए आया है उसे यह जानना भी आवश्यक है कि पर की निंदा और अपनी आत्म प्रशंसा अर्थात् पर के गुणों को ढकना और अपनी आत्मा में नहीं होते हुए गुणों को भी प्रकट करना इत्यादि, जो कार्य हैं ये नीच गोत्र का कारण हैं।

नीच गोत्र का आस्रव कहाँ तक होता है? तो जिसने सिद्धान्त ग्रन्थ देखे हैं गोम्मटसार आदि, उन ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है कि नीच गोत्र का द्वितीय गुणस्थान तक ही आस्रव होता है। इसका अर्थ है अनन्तानुबन्धी के माध्यम से ही इसका आस्रव होता है। आजकल यह प्रायः यत्र तत्र देखने सुनने को मिल रहा है। आज उपदेश का प्रयोग भी इतना ही कर लेते हैं कि दूसरे को सुनाकर और उसके माध्यम से किसी दूसरे को नीचा दिखाने का उपक्रम रच लेते हैं।

शास्त्र का प्रयोग/उपयोग अपने लिए है, मात्र दूसरे को समझाने के लिए नहीं है। दूसरा यदि अपने साथ समझ जाता है तो बात अलग है किन्तु उसे बुला-बुलाकर आप उपदेश दोगे तो आगम में कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा कि यह जिनवाणी का एक दृष्टि से अनादर होगा। क्योंकि वह रुचिपूर्वक सुनेगा नहीं अथवा सुनेगा भी तो उसका वह कुप्रयोग कर लेगा और तब सुनाने वाला भी दोष का पात्र बन जायेगा।

बंधुओ! पर की निन्दा करना सम्यग्दर्शन की भूमिका में बन नहीं सकता क्योंकि नीच गोत्र का बंध जो होता है वह अनन्तानुबन्धी के भावों के माध्यम से होता है जो मिथ्यात्व को बाँधने वाली कषाय है। इसलिए यदि मिथ्यात्व को हटाना चाहते हो तो मंद से मंदतर और मंदतर से मंदतम इस कषाय को बना दो। जब विषय कषायों से बच जाओगे तब चिन्तन की धारा प्रवाहित होगी और तत्त्व चिन्तन की धारा से हम सम्यग्दर्शन रूपी सरोवर में अवगाहित हो सकते हैं। अपने आप को समर्पित कर सकते हैं। शुद्ध बन सकते हैं, बुद्ध बन सकते हैं। लेकिन इस भूमिका के बिना कुछ भी नहीं बन सकते। जहाँ हैं वहीं पर रह जायेंगे, बातों-बातों तक, चर्चा तक ही बात रह जायेगी।

यह सारी की सारी घटनाएँ अन्तर्घटनाएँ हैं, ये बाहरी चीजें नहीं हैं। मोक्षमार्ग एक अमूर्त मार्ग है। जिसके ऊपर कोई चिह्न या पद, या कोई निशान, कोई बोर्ड नहीं है। कोई किसी प्रकार के माइलस्टोन नहीं लगे हैं। यह तो एकमात्र श्रद्धा का विषय है और उसी श्रद्धा से अपने आप को कुछ बना सकते हैं। आप उस श्रद्धा को जागृत कर सकते हैं। **भाई! विषय-कषायों से आँख मींचो और उन आँखों का प्रयोग अपने आत्म-तत्त्व को जानने के लिए करो तो अपने लिए बहुत जल्दी सही रास्ता प्रशस्त हो सकता है, अन्तर्मुहूर्त में सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया जा सकता है और अन्तर्मुहूर्त में ही मुक्ति के भाजक भी हम बन सकते हैं।** इस प्रकार आत्मा की एक प्रतिभा

है, गरिमा है, महिमा है। उसे पहचानने की आवश्यकता है। क्यों व्यर्थ अनन्त संसार में भटकने का आप उपक्रम कर रहे हो। आप जब भी देखेंगे इस संसार में अनन्त संसार में मिथ्यादृष्टियों की संख्या अधिक रहेगी, सम्यग्दृष्टियों की संख्या सीमित ही रहेगी। इसलिए अपने आप के सम्यग्दर्शन को सुरक्षित रखना चाहते हो तो मिथ्यादर्शन के इस बाजार में से बचना चाहिए।

जल्दी-जल्दी घर की तरफ से मन को मोड़कर अर्थात् आस्रव से मुँह मोड़कर अपने आप की ओर आना ही मोक्षमार्ग है वही श्रेयस्कर है। बाह्य जितना भी है वह सब भवपद्धति है। संसार का मार्ग है। संसार का मार्ग मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र है। उनके माध्यम से निरन्तर आस्रव ही होता है। अतः संसार मार्ग को छोड़कर संवर मार्ग पर आना चाहिए। जो आस्रव को नहीं जानेगा, आस्रव के कारणों को नहीं जानेगा, कौन से भावों से आस्रव होता है इसको नहीं जानेगा, वह रोकने का उपक्रम भी नहीं कर पायेगा और निंदा का पात्र बना रहेगा। थक जायेगा उस उपक्रम से किन्तु कोई सिद्धि मिलने वाली नहीं है।

आस्रव और बंध के क्षेत्र में मिथ्यात्व अकिंचित्कर है और मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी के बाद जाने वाला है इसलिए **मिथ्यात्व का आस्रव कराने वाली अनन्तानुबन्धी कषाय है और उस अनन्तानुबन्धी कषाय को निकालने का उपक्रम यही है कि हमारी जो अशुभ लेश्या है उसको शुभ बना लें, शुभतम बना लें।** शुभतम जब लेश्या बनेगी तो अनन्तानुबन्धी को धक्का लगेगा। अनन्तानुबन्धी चली जायेगी तो उसके माध्यम से होने वाले सारे के सारे आस्रव रुक जायेंगे। मिथ्यात्व भी अपने आप हाथ जोड़कर चला जायेगा।

मिथ्यात्व को हटाने का यह सही रास्ता है। आगमानुकूल है। अन्य जो भी मार्ग है आप स्वयं देखेंगे वे आगम से विपरीत होंगे। मिथ्यात्व को हटाने के लिए यदि अनन्तानुबन्धी कषाय को हटाये बिना सर्वप्रथम उसे ही (मिथ्यात्व को) हटाने का आग्रह करेंगे तो भी हटा नहीं सकेंगे। अतः कषायों को मंद करना, उसे हटाना, यही सही मार्ग है, आगम के अनुकूल मार्ग है।

❑ ❑ ❑

बंध तत्त्व

संसारी प्राणी की दशा अनादिकाल से दयनीय हुई है। यद्यपि यह संसारी प्राणी सुख का इच्छुक है और दुख से डरता भी है किन्तु सुख को प्राप्त नहीं कर पा रहा है और दुख का विछोह भी नहीं कर पा रहा है। इसमें एक कारण है। चूँकि सुख अनादिकाल से प्राप्त नहीं है, अतः अनादिकाल से दुख का अनुभव करने का स्वभाव सा बन गया है, वास्तव में यह विभाव है, लेकिन एकदम स्वभाव के समान हो गया है इसलिए निरन्तर दुख के ही कर्म आते जा रहे हैं।

आचार्य कहते हैं कि यह प्राणी प्रत्येक समय उसी दुख की सामग्री को ही अपनाता जा रहा है और सतत् दुख का अनुभव कर रहा है। जिस प्रकार आप लोग दुकानदारी में बैलेन्स को मजबूत रखकर दुकानदारी करते हैं उसी प्रकार यह संसारी प्राणी वर्तमान में दुख की सामग्री इकट्ठा करने में लगे हुए हैं। यूँ कहना चाहिए प्रत्येक संसारी प्राणी एक उद्योगपति है और जैसे उद्योगपति कभी भी अपने को फेल नहीं होने देता, बैलेन्स मजबूत बनाये रखता है इसी प्रकार कर्मबन्ध के क्षेत्र में वह अपने कार्य को करने में सजग है और सुचारू रूप से कार्य को संभाल रहा है और सुख की प्राप्ति और बंध की व्युच्छिति चाहते हुए भी, स्वतंत्र होते हुए भी बंधन का कार्य करता जा रहा है। उसी बंध-तत्त्व के बारे में आज आपको कुछ सुनाना है, बताना है।

बंध से डरना, यह भव्य का कार्य है। भव्य कहते हैं होनहार को। जैसे आपके परिवार में कई बच्चे होते हैं लेकिन होनहार एकाध को ही आप कहते हैं। इसी तरह मोक्षमार्ग को अपनाने वाले होनहार कुछ प्राणी अलग होते हैं जो बंध से डरते हैं। बंध से डरना इतना ही पर्याप्त नहीं है, बंध के कारणों से डरना यह भी परम आवश्यक है मुक्ति की प्राप्ति के लिए। दस-पंद्रह वर्ष पूर्व की बात है, एक पेड़ के नीचे बैठा था मैं, और देख रहा था उस आक के फूल को जो बहुत हल्का होता है और देखने में बहुत सुहावना होता है। रंग भी सफेद होता है उनका। एक बार यदि कोई बच्चा देख ले उसे, तो वह भी उस फूल के समान उड़कर उसको पकड़ने का प्रयास करता है।

मैं देख रहा था, वह फूल बिना हवा के झोंके के भी उड़ता रहता है और ज्यादा हवा आ जाये तो संभाल नहीं पाता अपने आपको और नीचे आकर कोई गीली चीज मिल गयी कि बस वहीं चिपक जाता है। इसको कहते हैं संयोग। ज्यों ही वह चिपक गया, उसका स्वभाव जो उड़ने का था वह समाप्त-प्रायः हो गया। थोड़े ही समय में कब वह पंखुड़ियाँ टूट गयीं-कुछ पता नहीं। अब उसका अस्तित्व भी समझ पाना मुश्किल हो गया।

एक बार आर्द्रता के साथ संयोग का यह परिणाम निकलता है तो बार-बार यह जीव रागद्वेष रूपी आर्द्रता का संयोग करता ही रहे तो क्या परिणाम होगा? आप ही सोचो क्या आप उर्ध्वगमन कर सकोगे, जो कि आत्मा का स्वभाव है। जिस प्रकार वह आक का फूल आर्द्रता के संयोग में आ गया और अपने उड़ने के स्वभाव को खो बैठा, उसी प्रकार यह आत्मा प्रत्येक समय, रागद्वेष की संगत में अपने उर्ध्वगमन स्वभाव को भूल गया है और संयोग की सामग्री हर समय खरीदता ही जा रहा है। आगे के लिए बीजारोपण करता जा रहा है।

जिस प्रकार कृषक फसल काटता है और सर्वप्रथम उसको खाने से पहले बीज की व्यवस्था कर लेता है उसी प्रकार आप भी एक कुशल कृषक के समान, कर्मों का फल

भोगते भी जा रहे हैं और आगे बोने के लिए बीज (नये कर्म) की व्यवस्था भी कर रहे हैं। प्रत्येक समय नये कर्मों के साथ संयोग हो रहा है और संयोग का अर्थ है - बंध। "**समीचीन रूपेण योगः इति संयोगः**" या ऐसा कहो कि "समीचीन रूपेण आस्रवणाय इति संयोगः।" जहाँ संयोग होगा वहाँ आस्रव तो हो ही रहा है। और आस्रव का अर्थ है - योग। संयोग के उपरान्त यदि वहाँ आर्द्रता है, चिकनाहट है, रागद्वेष हैं तो बंध हो जाता है।

"**अन्योन्य प्रदेशानुप्रवेशात्मको बंधः। कयोः। कर्मात्मनोः।**" कर्म प्रदेशों का आत्म-प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाह हो जाना ही बंध है। कर्म और आत्मा का ऐसा संयोग होने के उपरांत गठबंधन हो जाता है और वे एक दूसरे को स्थान दे देते हैं। दोनों के बीच बंधन हो जाता है, एकमेकता हो जाती है, यही बंध है।

दो के बिना बंध नहीं होता, यह ध्यान रखना। एक हाथ से ताली जिस प्रकार नहीं बज सकती उसी प्रकार बंध तत्त्व भी एक के बीच में नहीं हो सकता। सांसारिक जो विषय सामग्री है वह और उसका जो भोक्ता है आत्मा, ये दोनों संयोग होते ही बंध जाते हैं। अब यह देखता है कि यह कैसा बंध हो जात है? कैसा सम्बन्ध हो जाता है?

एक उदाहरण के माध्यम से समझ लें आप। स्कूल में एक बच्चा और बच्ची पढ़ते हैं, बाल्यावस्था की बात है, निर्विकार भाव से पढ़ रहे हैं और भाई-बहन के समान रह रहे हैं। फिर जब पढ़ते-पढ़ते बड़े हो जाते हैं तो अपने-अपने बच्चों के ऊपर माँ पिता का ध्यान जाता है और विचार उत्पन्न होते हैं कि अब वे बड़े हो गये, इनकी शादी कर देनी चाहिए। अब देख लो- वह लड़की की माँ कह देती है अपने पति से। उसके साथ ही साथ लड़के की माँ है, वह कहती है, लड़का बड़ा हो गया, बहू नहीं लाओगे क्या?

दोनों बच्चे अभी तो बचपन में खेलते थे, कूदते थे, साथ-साथ उठते-बैठते थे तो माँ-पिता ने सोचा प्रेम-भाव भी परस्पर है। दोनों श्रेष्ठ भी हैं इन्हीं का सम्बन्ध जोड़ दिया जाये तो बहुत अच्छा है और दोनों का सम्बन्ध/विवाह लग्न हो जाता है। लग्न का अर्थ एक दूसरे से मिल जाना, संलग्न हो जाना। 'समीचीन रूपेण लग्नः संलग्न' दोनों समीचीन रूप से एक विचार में एक आचार में बंध गये। बंध गये का अर्थ कोई रस्सी आदि से बाँध दिया है ऐसा नहीं है। सम्बन्ध हो गया, पाणिग्रहण हो गया, लेकिन दूरी दिखती है। दूरी होते हुए भी सम्बन्ध हो गया।

पहले जो साथ-साथ खेलते कूदते थे, पढ़ते थे अब घूँघट आ गया उस बच्ची के। यह घूँघट ही उस सम्बन्ध का प्रतीक हो गया। दोनों अलग-अलग हैं। प्रत्येक कार्य अलग-अलग करते हुए भी जुड़ गये हैं और जीवन में परिवर्तन आ गया है। यह वैवाहिक सम्बन्ध भी अपने आप में एक

थ्योरी (सिद्धान्त) रखता है। जीव के आचार-विचार एकमेक हो जाते हैं अगर आचार एक नहीं रहेगा, विचार एक से नहीं रहेंगे तो विघटन आ जायेगा, वह सम्बन्ध विघटित हो जायेगा।

इससे यह फलित हुआ कि सम्बन्ध दो के बिना नहीं चलता और दोनों में एकमेकता भी होनी चाहिए। 'अन्योन्यप्रदेशानुप्रवेश' का अर्थ भी यह है कि एक दूसरे में घुल मिल जाना। जैसे नट और बोल्ट है कि एक को खींचो तो दूसरा भी साथ में खिंचकर चला आता है। यह है बंध की प्रक्रिया। जिस व्यक्ति का विवाह सम्बन्ध संस्कार के साथ हुआ होता है वह जीवत्व के प्रति वास्तविक वात्सल्य का प्रतीक है। जिनको संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने की अभी सामर्थ्य नहीं है वे कुछ दिन गृहस्थ आश्रम में रहकर देख लें लेकिन उसके उपरान्त उसको भी पार करके निकल जायें तभी सार्थकता होगी। उन सांसारिक वैवाहिक बंधनों के समान ही धार्मिक क्षेत्र में बंध-तत्त्व है।

''**इसका कोई न कर्त्ता हर्ता अमिट अनादि है, जीव अरु पुद्‌गल नाचै यामें कर्म उपाधि है।**'' इस संसार को बनाने वाला या नष्ट करने वाला कोई नहीं है। यह तो अनादिकाल से है और अनन्त काल तक रहेगा। जीव अपने परिणामों से पुद्‌गल कर्म के संयोग से इस लोक में भ्रमण करता रहता है। यह कर्मबन्ध ऐसा है कि अब एक निश्चित काल के लिए न तो पुद्‌गल पृथक् हो सकता है और न ही आत्मा पृथक् हो सकती है। दोनों के बीच एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध हो जाता है कि दोनों छूट नहीं सकते किसी अलौकिक रसायन के बिना।

आप पूछ सकते हैं कि महाराज! यदि आत्मा मूर्त कर्म के साथ सम्बन्ध करता है तो क्या वह भी मूर्त है। क्योंकि अमूर्त के साथ मूर्त का सम्बन्ध तो हो नहीं सकता। हाँ भइया, वर्तमान में संसारी जीव की आत्मा मूर्त है लेकिन वह पुद्‌गल के समान मूर्त नहीं है स्पर्श, रस, गंध और रूप वाला वह तो चैतन्य है। जड़ तत्त्व की संगत में आने से मूर्त बन गया है। मूर्त हुए बिना मूर्त के साथ सम्बन्ध होगा ही नहीं। लौकिक दृष्टि से भी जैनाचार्यों ने कहा है कि देवों के साथ मनुष्यों का व्यावहारिक काम सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि देव वैक्रियिक शरीर वाले हैं और मनुष्य का शरीर औदारिक है।

इस मूर्त का मूर्त से सम्बन्ध समझाने के लिए कुछ लोग आकर कह देते हैं कि आत्मा तो अलग ही रह जाता है और कर्म, कर्म के साथ बंध जाता है किन्तु ऐसा नहीं है। विचार करें कि ''**कर्मः कर्मणोः अन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बंधः**'' अथवा ''**आत्माननोः अन्योन्यप्रदेशानु-प्रवेशात्मको बंधः।**'' ऐसा तो जैनाचार्यों ने लिखा नहीं है। इसलिए यह प्रश्न तो ज्यों का त्यों बना रहता है कि अमूर्त के साथ मूर्त का सम्बन्ध कैसे होता है? इसी का समाधान देते हुए आचार्यों ने कहा है कि संसारी जीव के प्रति ऐसा एकान्त नहीं कि वह अमूर्त ही है।

"**मूर्तोपि स्यात् संसारापेक्षा**" अर्थात् संसारी जीव कथंचित् मूर्त होता है। संसार में इसका स्वभाव बिगड़ गया है। इसलिए यह मूर्त कर्म के साथ अनादिकाल से मूर्तपने का अनुभव कर रहा है किन्तु वह चैतन्यमूर्ति है। यदि अपनी आत्मा को वर्तमान में कथंचित् मूर्त मानेंगे तभी अमूर्त बनने का प्रयास भी होगा, अन्यथा नहीं होगा। साथ ही साथ वर्तमान में आत्मा मूर्त है लेकिन इसमें अमूर्तपना आ सकता है, इस प्रकार का जब विश्वास करेंगे आप, तभी बंध के यथार्थ श्रद्धानी कहलायेंगे, अन्यथा नहीं।

आत्मा में जो मूर्तपना आया है वह पुनः वापिस अमूर्त में ढल सकता है क्योंकि वह संयोगजन्य है, स्वभावजन्य नहीं। इस प्रकार एक अलग ही क्वालिटी का मूर्तपना इस जीव में आया है। इसे उदाहरण के माध्यम से समझा जा सकता है। आप लोगों को यह विदित होगा कि बाजार में कई प्रकार की भस्में आती हैं, लोह भस्म है, स्वर्ण भस्म है, मोती भस्म है। ऐसी ही एक पारद भस्म (पारे की भस्म) आती है। पारे को जलाया जाता है बहुत घंटों तक। तब वह पारा भस्म के रूप में परिवर्तित हो जाता है और औषधि इत्यादि के रूप में काम आता है। यदि पारा खा लोगे तो वह नुकसान कर जायेगा, शरीर में नहीं टिकेगा, शरीर सारा का सारा विकृत हो जायेगा। पारे को सामान्यतया कोई पकड़ भी नहीं सकता क्योंकि वह शुद्ध तत्त्व है। विशुद्ध-तत्त्व हाथ से पकड़ में नहीं आता जैसे सिद्ध परमेष्ठी को आप पकड़ नहीं सकते। अर्हन्त परमेष्ठी संसार दशा में स्थित होने से अभी पकड़ में आते हैं क्योंकि मूर्त हैं।

इसका अर्थ यह हो गया कि वह पारा अपनी शुद्ध दशा में मूर्त होकर भी अभी पकड़ में नहीं आ रहा है किन्तु घंटों जलते रहने के बाद वह जब भस्म के रूप परिणत हो जाता है तो पकड़ में आने लगता है और वैद्य लोग उसे औषधि के रूप में प्रयोग में लाते हैं। लेकिन एक बात और ध्यान में रखना कि इस पारे की भस्म की यह विशेषता है कि इसे खा लेने के उपरान्त यदि खटाई का प्रयोग हो गया पुनः वह अपनी सहज दशा में आ जायेगा और शरीर को विकृत कर देगा।

ठीक इसी प्रकार यह आत्मा रागद्वेष रूपी अग्नि के माध्यम से यद्यपि पारे की भस्म के समान हो गया है, पकड़ में आने लगा है तथापि यदि चाहे तो वह अपनी शुद्ध अवस्था में भी पहुँच सकता है। वर्तमान में यदि हम आत्मा को मूर्त नहीं मानेंगे तो बंध-तत्त्व की अवस्था नहीं हो सकेगी और "**बंधापेक्षः मोक्षः**"- बंध की अपेक्षा से मुक्ति है तो मोक्ष-तत्त्व भी सिद्ध नहीं हो पायेगा और मोक्ष तत्त्व के अभाव में संसार भी नहीं रहेगा, अन्य द्रव्य भी नहीं रहेंगे जो कि संभव नहीं है। अतः वर्तमान में अपने आत्मा को मूर्त मानना होगा और उसे अमूर्त बनाने के लिए निःशंक होकर मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होना होगा।

कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि "**अबद्धः अस्पृष्टः आत्मा**", यह आत्मा अबद्ध है, अस्पृष्ट है लेकिन संसार दशा में विवक्षा भेद से कथंचित् बद्ध भी है और स्पृष्ट भी है। जो जीव भावना भाता है वह उस भावना के माध्यम से अबद्ध/शुद्ध बन सकता है यदि हम बद्ध ही नहीं है- ऐसा एकान्त से मान लेंगे तो फिर भावनाओं की क्या आवश्यकता है? इसीलिए आचार्यों ने कहा कि अबद्ध बनने के लिए, "मैं अबद्ध हूँ"- ऐसी भावना यदि जीव भायेगा तो वह अबद्ध बनने की ओर अग्रसर होगा, अन्यथा नहीं।

एक सूत्र आता है मोक्षशास्त्र में "**विग्रहगतौ कर्मयोगः**" एक गति से जीव दूसरी गति तक शरीर रचना के लिए जाता है तो विग्रह गति होती है और उस समय मात्र कर्म की ही सत्ता चलती है। वहाँ मात्र कार्मण काययोग रहता है। अब यदि कोई ऐसा मानें कि कर्म तो मात्र कर्म से बंधे हैं, आत्मा तो अलग ही रहता है तो इस स्थिति में कर्म, कर्म को ही खींचते चले जाना चाहिए और आत्मा को वहीं पर रह जाना चाहिए, लेकिन ऐसा नहीं होता। उस आत्मा को भी कर्म के साथ नरक आदि गतियों में जाना पड़ता है और अधिकतम् तीन समय तक अनाहारक भी रहना पड़ता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि कर्म के साथ आत्मा का गठबंधन हुआ है, एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध हुआ है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

अब उस आत्मा को अमूर्त कैसे बनाया जाये, वह प्रश्न उठेगा ही। तो कोई बात नहीं, हमारे पास आ जाओ इधर। वीतरागता के पास आ जाओ। वीतरागता रूपी खटाई का संयोग प्राप्त होते ही यह आत्मरूपी पारद भस्म अपने आप ही सहज दशा में आ जायेगी। कर्म वर्गणाएँ पृथक् हो जायेंगी।

चार प्रकार के बंध होते हैं अर्थात् जो आगत कर्म है इनमें चार प्रकार के भेद पड़ते हैं। आत्मा के योग के माध्यम से प्रकृति और प्रदेश बंध होता है तथा कषाय के माध्यम से स्थिति और अनुभाग बंध होता है। कितने कर्म आ रहे हैं कार्मण वर्गणाओं के रूप में परिणत होकर, इसको कहते हैं प्रदेश बंध और कौन-सा कर्म क्या काम करेगा अर्थात् उसका नेचर (स्वभाव) ही प्रकृति बंध है। इसके उपरान्त कषाय के द्वारा काल मर्यादा और फलदान शक्ति को लेकर क्रमशः स्थिति और अनुभाग बंध होते हैं।

सर्वप्रथम आती है अनन्तानुबन्धी कषाय। जैसे किसी मेहमान को निमंत्रण दे दें आप, और जब वह आ जाये तो कह देते हैं कि यहीं रहो भइया, तुम्हें यहाँ से कोई निकालने वाला नहीं है। आराम से रहो और खाओ पिओ बस। इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी कषाय जब तीव्र होती है तो मिथ्यात्व को सत्तर कोड़ा कोड़ी सागर तक के लिए आत्मा के साथ एक प्रकार का ऐशो आराम सा मिल जाता है। इतनी अधिक स्थिति वाला कर्म-बंध होता है इस कषाय के द्वारा। वह सत्तर कोड़ा

कोड़ी सागर तक के लिए मिथ्यात्व को निमंत्रण देने वाला, अनन्तानुबन्धी कषाय वाला मुख्य रूप से मनुष्य गति का जीव है। **अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ ये अत्यधिक मनुष्य ही कर सकता है। और वह भी भोगभूमि का मनुष्य नहीं बल्कि कर्मभूमि का मनुष्य।**

इस तरह जो स्थिति और अनुभाग बंध है, इनके द्वारा कर्म एक निश्चित समय के लिए बंध जाते हैं और उसके उपरान्त अपना फल देते हैं। जो भी बंध हो रहा है वह जीव की एक ऐसी गलती है जिसके माध्यम से कर्म आकर चिपक जाते हैं। यदि कर्म बांधना नहीं है बल्कि मुक्त होना है तो उसके लिए एक ही रास्ता है, एक ही साधन है कि हम वीतरागता रूपी खटाई का प्रयोग करें, अनुपान करें और आत्मा जो मूर्त बना है उसे अमूर्त बना लें।

प्रसंगवश वह विषय यहाँ पर ले रहा हूँ कि **अनन्तानुबन्धी से बचने के लिए क्या करें? इससे बचने के उत्तम उपाय यही है कि आप जिस किसी भी क्षेत्र में कार्य करते हैं वहाँ अपनी नीति और न्याय को न भूलें।** भले ही वह वैश्य हो, क्षत्रिय हो, ब्राह्मण हो या नौकर चाकर, सेठ-साहूकार जो भी हों, अपनी-अपनी नीति न्याय को न भूलें। आचार्यों ने जो चारित्र का पथ प्रशस्त किया है उस पर श्रद्धा सहित चलते रहने का तात्पर्य यही है कि हम कम से कम पापों से, कषायों से अपने को बचा सकें। जो मोक्षमार्ग पर आना चाहते हैं, कर्म बंध से बचना चाहते हैं उनके लिए न्याय-नीति पूर्वक स्वयं को संभालने की बड़ी आवश्यकता है। सदाचार पालन करने की बड़ी आवश्यकता है।

कर्म सिद्धान्त पर जिसका विश्वास है वह व्यक्ति येन केन प्रकारेण कोई भी कार्य नहीं करेगा। वह कार्य करने से पूर्व विचार अवश्य करेगा। मेरे इस कार्य को करने से अन्य किसी को कोई आघात तो नहीं पहुँच रहा है- ऐसा पूर्वापर वह अवश्य सोचेगा। कुल परम्परा से जो चारित्र आया है उसको हम पालन करते रहते हैं और इसे कहते हैं चारित्र-आर्य। लेकिन हम इस तरह चारित्र-आर्य होकर भी, भगवान महावीर के सच्चे उपासक होकर भी क्या इतने नियामक नहीं बन सकते हैं कि अपना प्रत्येक कार्य नीति और न्याय के आधार पर ही करेंगे। मात्र प्रवचन सुन करके, तीर्थयात्रा करके या दान पूजा इत्यादि करके क्या आप महावीर भगवान् को खुश करना चाहते हैं? इतने मात्र से आप कुछ नहीं कर सकेंगे भइया।

''एक व्यक्ति ने आकर कहा कि महाराज! मैंने त्याग कर दिया है आलू, तो मैंने भी कहा भइया! बिल्कुल आप हो दयालु, फिर भी चोरी करना है चालू, बकरी के सामने बन बैठे हो भालू।'' हमारे आचार्यों की त्याग के प्रति बहुत सूक्ष्म दृष्टि रही है। किस प्रकार का त्याग करना और कैसे करना, यह जानना अनिवार्य है। आलू का त्याग करने मात्र से कुछ नहीं होने वाला।

सर्वप्रथम जो भी व्यक्ति महावीर भगवान् के बताये हुए मार्ग पर आरूढ़ होना चाहते हैं, उन्हें सबसे पहले जीवों की रक्षा करनी चाहिए।

प्रत्येक व्यक्ति आत्मा के उत्थान की ओर अग्रसर हो सकता है इसलिए सर्वप्रथम तो प्रत्येक प्राणी के प्रति दया भाव होना चाहिए। संकल्पी हिंसा का त्याग पहले आवश्यक है और उसमें भी मनुष्य की हिंसा से बचना- ऐसा कहा गया है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य के पास यह क्षमता है कि वह मुनि बन सकता है और **इस मुनि अवस्था में, उस पवित्र आत्मा के माध्यम से, उसके दर्शन मात्र से असंख्यात जीवों के अनन्तकालीन पाप कट सकते हैं। इतनी क्षमता है उस मुनिमुद्रा में, वीतराग मुद्रा में।** वह मुनिमुद्रा बाह्य में ही नहीं, अन्तरंग में बैठे अमूर्त आत्म तत्त्व के बारे में भी बिना बोले ही अपनी वीतरागता के माध्यम से तिर्यंचों तक को उपदेश देती है।

इसलिये आज यह संकल्प कर लेना चाहिए कि अपने जीवन में मात्र अपनी विषय-वासनाओं की पूर्ति के लिए किसी संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य का घात नहीं करेंगे, उस पर अपने बल का प्रयोग नहीं करेंगे। अभयदान की ऐसी क्षमता सभी के पास होनी चाहिए। जो अपने क्षणिक सुखों की तिलांजलि देकर अन्याय छोड़ने और दूसरे के जीवन को बचाने के लिए तैयार है वही सच्चा महावीर भगवान् का उपासक है।

वही दान, सच्चा दान कहलाता है जो नीति-न्याय से कमाने के उपरान्त कुछ बच जाने पर दिया जाता है। ऐसा नहीं है कि दूसरे का गला दबाकर, उससे हड़पकर दान कर देना। गत वर्ष की बात है कुण्डलपुर जी में लोग बोलियाँ बोल रहे थे। एक ने पचास रुपये कहा तो दूसरे ने पचपन रुपये कह दिया। पचास रुपये बोलने वाला अब कह देता है कि पचपन रुपये वाले को बोली है, वही देगा। यह क्या है? भगवान् के सामने बैठकर ऐसा कह देते हैं आप और अपने को दानी घोषित करना चाहते हैं।

यह मात्र लोभ कषाय के वशीभूत होकर चोरी, जारी, अनाचार, अत्याचार करके कमाये हुए पैसे को यहीं मंदिर में आकर मान-कषाय को पुष्ट करने के लिए दान दे देना, यह दान नहीं है। अन्याय करने के उपरान्त यह नहीं सोचना चाहिए कि भगवान् कहाँ देख रहे हैं। भगवान् को सर्वव्यापी और विश्व लोचन कहा है। वह केवलज्ञान ऐसा है जो सभी को एक साथ देख लेता है। इसलिए जो व्यापारी हैं वे संकल्प करें कि उनकी दुकान पर जो भी व्यक्ति आता है उसे नीति-न्याय पूर्वक हम सामग्री देंगे, वस्तु देंगे। इसी प्रकार जो और दूसरे कार्य करते हैं वे भी अपना कार्य न्यायपूर्वक करें।

''मरहम पट्टी बाँधकर, कर व्रण का उपचार, यदि ऐसा न कर सके, डंडा तो मत मार।'' कम से कम किसी के घावों के ऊपर मरहम पट्टी नहीं लगाना चाहते या लगाने की शक्ति

नहीं है तो उसे डंडा तो मत मारो। कम से कम आँख खोलकर तो चलो, किसी के ऊपर पैर रखकर उसका घात तो मत करो, वह भी तो हमारे समान जीव ही है। **जो व्यक्ति प्रत्येक जीव-तत्त्व के प्रति वात्सल्य नहीं रखता, वह भगवान् के प्रति वात्सल्य रखता होगा- यह संभव ही नहीं है।** जो जीव हैं उनके ऊपर वही वात्सल्य, वही प्रेम, वही अनुकम्पा होनी चाहिए जो भगवान् के प्रति आपकी होती है, यही जीव-तत्त्व का सच्चा श्रद्धान है।

एक आस्तिक्य गुण कहा गया है जो सम्यग्दृष्टि के पास होता है। आस्तिक्य गुण का अर्थ यह नहीं है कि मात्र अपने अस्तित्व को ही स्वीकार करना। दुनिया में जितने पदार्थ हैं उसको यथावत उसी रूप में स्वीकार करना यह आस्तिक्य गुण है। जो दूसरों के भी जीवत्व को देखता है उसे ही आचार्यों ने आस्तिक्य कहा है अन्यथा वह नास्तिक है। जो दूसरे में जीवत्व देखेगा वह कभी भी विषयों का लोलुपी बनकर उनके घात का भाव नहीं लायेगा। गृहस्थाश्रम में कम से कम यदि किसी को कुछ दे नहीं सकते तो उससे हड़पने का भाव भी नहीं लाना चाहिए।

भाई! राम बनो, रावण मत बनो। राम के पास भी पत्नी थी और रावण के पास तो राम से भी ज्यादा थीं क्योंकि वह प्रतिनारायण था। लेकिन भूमिगोचरी राम की पत्नी सीता पर उसने दृष्टिपात किया और उसका हरण भी किया। इतना ही नहीं, राम-लक्ष्मण दोनों को मारने का संकल्प भी किया, क्योंकि जब तक राम रहेंगे, सीता रावण की नहीं हो सकेगी। सीता यथापि राम के लिए भोग्या थीं और रावण की दृष्टि में भी भोग्या थीं लेकिन रावण की दूषित दृष्टि में सीता मात्र भोग्या थीं और कुछ नहीं, जीवत्व की ओर रावण का ध्यान नहीं था। जीवत्व की ओर ध्यान तो राम ने दिया। राम के लिए सीता मात्र पत्नी या भोग्य नहीं थी वरन् अपने मार्ग पर चलते हुए राम ने उन्हें सहगामी भी माना। इसलिए उनकी सुरक्षा का उत्तरदायित्व भी राम ने अपने ऊपर माना।

राम ने स्पष्ट कह दिया कि मैं रावण से सीता को वापिस लाऊँगा, भले ही लड़ना पड़े। यह संकल्पी हिंसा नहीं थी, मात्र विरोधी हिंसा थी। उन्होंने कहा कि मैं रावण का विरोध करूँगा अन्यथा जैसे सीता चली गयीं, वैसे ही राज्य की अन्य रानियाँ चली जायेंगी, सभी के प्राण संकट में पड़ जायेंगे। वे सीता को वापिस लाये और अग्नि-परीक्षा भी हुई। उसके उपरान्त सीता जी ने कह दिया कि मैं अब आर्यिका माता बनूँगी और यह श्रीराम की विशेषता थी कि जिस समय सीता दीक्षा ले लेती हैं, आर्यिका बन जाती हैं उसी समय राम कहते हैं कि वंदामी माताजी! धन्य है आपका जीवन। मैं भी शीघ्र ही आ रहा हूँ आपके पथ पर।

राम ने सीता जी को दीक्षा लेते ही वंदामी किया और मातेश्वरी कहा। यह है सम्यग्दृष्टि राम की दृष्टि और मिथ्यादृष्टि रावण की दृष्टि देखो कि मरते वक्त तक वह यही कहता रहा कि राम मैं

तुम्हें मारूँगा और सीता को लूँगा। यही कारण है कि राम की पूजा होती है, रावण की नहीं। अतः न्याय -नीति के अनुसार अपना व्यवहार रखना चाहिए। आज कौन-सा ऐसा व्यक्ति है जो सरकारी क्षेत्र में नौकरी करता हो और सरकार को यह विश्वास दिलाता है कि मैं कभी रिश्वत नहीं लूँगा। कोई भी सरकार रहे, वह कभी भी आपको भूखा नहीं मारना चाहती। आपकी संतान नाबालिग रह जाये तो भी आपके मरने के बाद उसका प्रबंध कर देती है। हमें भी सरकार के प्रति अपना कर्त्तव्य निभाना चाहिए और नियम के विरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिए।

कई लोग आकर कहते हैं कि हम नौकरी करते हैं। बहुत बंधकर के रहना पड़ता है, छुट्टी नहीं मिलती, धर्म ध्यान नहीं कर पाते और अक्सर देखने में यही आता है कि जब कोई सांसारिक वैवाहिक कार्य आ जाता है तो डॉक्टर से मेडिकल सर्टीफिकेट लेकर लगा देते हैं और छुट्टी ले लेते हैं। यह तो दुगना अन्याय है। एक डॉक्टर जिसने एम.बी.बी.एस.किया और वह निरोगी व्यक्ति को रोगी कहकर सर्टीफिकेट देता है और उसके माध्यम से रिश्वत खाता है, साथ ही वह व्यक्ति भी जो सरकार को धोखा देकर अन्याय करता है तब संयोगवश ऐसे व्यक्ति को रोग न होते हुए भी रोग आ जाते हैं। यह साइकोलॉजीकल इफेक्ट होता है और उसका सारा का सारा पैसा दवा इत्यादि में ही समाप्त हो जाता है। मन में भय बना रहता है कि कहीं झूठ मालूम न पड़ जाये और नौकरी न चली जाये।

भइया! सत्य को बेचना नहीं चाहिए थोड़े से पैसों के लिए। सत्य तो सत्य है, आत्मा का एक गुण है और आत्मा के संस्कार जन्म-जन्मान्तरों तक चले जाते हैं। सत्य को छोड़कर मात्र इन्द्रिय सुखों के लिए असत्य का आश्रय नहीं लेना चाहिए। अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि धर्म का पालन करना चाहिए जिनके माध्यम से आत्म-बल जागृत होता है।

यह कषायों को समाप्त करने की बात है। यह सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए भूमिका की बात है। क्योंकि अनन्तानुबन्धी कषाय के घात होने पर ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति संभव है, अन्यथा नहीं। सम्यग्दर्शन को मात्र चर्चा का विषय नहीं मानना चाहिए, कुछ अर्चा भी करनी चाहिए और अर्चा वही है कि हम दर्शन-आर्य बन जायें और सच्चे देवगुरु-शास्त्र के प्रति सच्चा श्रद्धान रखें और आगे बढ़कर उस अनन्तानुबन्धी कषाय को अपने मार्ग से हटा दें मिथ्यात्व को भगा दें, तभी सार्थकता होगी इस जीवन की।

अंत में आपसे इतना ही कहना चाहूँगा कि आत्मा वर्तमान संसारी दशा में अमूर्त नहीं है, वीतरागता के माध्यम से यह अमूर्त बन सकती है। कर्म का सम्बन्ध आत्मा से अनादिकालीन है और मात्र कर्म, कर्म से नहीं बंधा है बल्कि कर्म और आत्मा का एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध हुआ है। उसका विघटन या तो सविपाक निर्जरा के माध्यम से हो सकता है अथवा अविपाक निर्जरा के

माध्यम से, किन्तु सविपाक निर्जरा के द्वारा जो विघटन होगा उसमें आगे के लिए संतति अर्थात् नये कर्म की प्राप्ति होगी, जैसे भोगभूमि का जोड़ा। भोगभूमि के जोड़े ऐसे हैं कि जीवन के अन्तिम समय तक भोग भोगते रहते हैं किन्तु संतान नहीं होती लेकिन जब आयु समाप्त होने लगती है तो संतान छोड़कर ही जाते हैं। ऐसे ही सविपाक निर्जरा से एक कर्मबन्ध तो समाप्त हो जाता है परन्तु आगे के लिए नया कर्मबन्ध भी होता रहता हैं। इसलिए कर्मबन्ध की परम्परा को समाप्त करने के लिए अविपाक निर्जरा का आलंबन लेना चाहिए। '**तपसा निर्जरा च**'- तप के द्वारा संवर भी होता है और तप के द्वारा अविपाक निर्जरा भी होती है। श्रावक को अपनी भूमिका के अनुसार न्यायनीति पूर्वक चलना चाहिए। सम्यग्दर्शन की भूमिका भी वही है कि हम कषायों को कम करें और सत्य का अनुसरण करने का प्रयास करें। बंध-तत्त्व को समझने और मुक्त होने का यही उपाय है।

❑ ❑ ❑

संवर तत्त्व

आस्रव और बंध का परिचय अनादिकाल से मोह के फलस्वरूप अनन्तों बार प्राप्त हो चुका है। संसार के निर्माता आस्रव और बंध हैं। मोक्ष के निर्माता संवर और निर्जरा हैं। आज इसी संवर तत्त्व को समझना है। संवर का अर्थ बहुत सीधा सादा है। जैसे कोई एक संकीर्ण रास्ता है और बहुत भारी भीड़ घुस रही हो तो वहाँ क्या किया जाता है? आप परिचित हैं-आहार के समय चौके के द्वार पर आकर जैसे खड़े हो जाते दो स्वयंसेवक और सारी की सारी भीड़ को भीतर आने से रोक देते हैं। कभी-कभी बाहर की भीड़ घुस रही है और अंदर वाले उसका निषेध कर रहे हैं, ऐसा भी होता है। यही संवर है। '**आस्रव निरोधः संवरः**' आने के मार्ग को रोकना यह संवर कहलाता है।

इसके लिए शक्ति आवश्यक है। बिना शक्ति के काम नहीं हो सकता। नदी का प्रवाह बहता जाता है दोनों तटों के माध्यम से किन्तु उस प्रवाह को जिस स्थान पर रोका जाता है वहाँ बड़े-बड़े वैज्ञानिक, इंजीनियर अपना माथा लगा देते हैं अर्थात् दिन रात चिन्तन करते हैं कि यदि यहाँ बाँध, बाँध दिया जाये तो पानी टिकेगा, रुकेगा या नहीं। पानी के वेग को बह बाँध झेल सकेगा या नहीं। बहुत विचार विमर्श होते हैं, अनेक प्रकार की स्कीम बनती है उसके उपरान्त बाँध का निर्माण होता है, पानी को रोका जाता है।

इस तरह पानी का संनिरोध किये जाने से बड़ी जिम्मेदारी हो जाती है। पानी बहता रहता है तो वहाँ कोई-बोर्ड लिखा हुआ नहीं रहता कि 'डेंजर' (खतरा), लेकिन जहाँ बाँध बंध जाता है वहाँ अवश्य लिखा रहता है कि खतरा है, सावधानी बरतें। पानी ज्यादा हो जाये तो उसे निकाल देते हैं क्योंकि बाढ़ आने पर उतनी जनहानि नहीं होती जितनी की बाँध टूट जाये तब होती है।

इसी तरह मोक्षमार्ग में भी है। अनादिकालीन रागद्वेष और मोह के माध्यम से जो कर्मों का आस्रव रूपी प्रवाह अविरल रूप से आ रहा है और जिसको हम अपने पुरुषार्थ के बल पर उपयोग रूपी बाँध के द्वारा बांध देते हैं तो वह कर्मों के आने का द्वार रुक जाता है, संवर हो जाता है। इसमें बड़ी शक्ति लगती है। ध्यान रखो, यहाँ न मन काम करता है, न वचन और न ही काय-बल काम करता है, यहाँ तो उपयोग काम करता है जो आत्मा का अनन्य गुण है। कहना चाहिए कि आत्म-शक्ति ही उस कर्म-प्रवाह को रोक सकती है।

कर्म-प्रवाह का एक बल अपने आप में है और अनादिकाल से उसी का बल ज्यादा बना हुआ है इसलिए कमजोर उपयोग वाला बाँध यहाँ उसी प्रकार ढह जाता है जिस प्रकार सीमेंट की जगह मिट्टी आदि का उपयोग करके जो बाँध, बाँध दिया जाता है और जो एक ही बार तेज बारिश में बह जाता है। यह तो मात्र पानी की बाढ़ होती है, कर्मों की बाढ़ भी ऐसी ही आती है।

आचार्य उमास्वामी ने कर्मों के आने के द्वार बताये हैं एक सौ आठ, अर्थात् एक सौ आठ प्रकार से ही वह आस्रव होता है। मन से, वचन से, काय से, कृत से, कारित से, अनुमोदना से, फिर समरम्भ, समारम्भ और आरम्भ से। इसके उपरान्त क्रोध, मान, माया, लोभ इन सबको परस्पर गुणित किया जाए तो संख्या एक सौ आठ आती है। इसीलिए माला (जाप) में भी एक सौ आठ मणियाँ शायद रखी गयी हैं और तीन मणियाँ सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की हैं, जो इस आस्रव के निरोध की प्रतीक हैं।

आत्म-प्रदेशों पर आने वाले कर्म प्रवाह को रोकने का जो उपक्रम है वह आत्मा को अवनति से उन्नति की ओर ले जाता है। संसार-मार्ग से मोक्षमार्ग की ओर ले जाता है और यह पतित से पावन बनने का उपक्रम संवर तत्त्व द्वारा चलता है। इसी कारण निर्जरा तत्त्व से संवर तत्त्व अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। निर्जरा, संवर के बाद ही ठीक है। यह क्रम अच्छा है क्योंकि संवर हुए बिना जो निर्जरा है उस निर्जरा से कोई काम नहीं निकलता। संवर का अर्थ है एक प्रकार से लड़ना। दुनियाँ के साथ आप लोग अनेक प्रकार के शस्त्र-अस्त्र का प्रयोग लड़ने के लिए करते हैं लेकिन जो कर्म आत्मा में निरन्तर आ रहे हैं उन्हें रोकने के लिए उनसे लड़ने के उपक्रम करना आवश्यक है। इसके लिए हमारे आचार्य उमास्वामी महाराज ने मोक्षशास्त्र ग्रन्थ के नौवें अध्याय के प्रारम्भ में ही कह दिया है 'आस्रव निरोधः संवरः' निरोध करना 'रुध' धातु से बना है जिसका अर्थ रुकना है। ऐसे कौन से परिणाम हैं जिनके माध्यम से कर्मों के आने के द्वार को बंद किया जा सकता है, रोका जा सकता है। इसके लिए भी आचार्य महाराज ने आगे अलग सूत्र में बात कही है कि "**स गुप्ति समिति धर्मानुप्रेक्षा परीषहजय चारित्रैः।**"

जो व्यक्ति मोक्षमार्ग पर चलता है, चलना चाहता है उसके लिए सर्वप्रथम संवर तत्त्व अपेक्षित है और संवर तत्त्व को निष्पन्न करने के लिए जो भी समर्थ हैं वे हैं- गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र। ये माला है। इन्हीं मणियों के माध्यम से संवर होगा। सर्वप्रथम आती है गुप्ति। **''संसार कारणात् आत्मनः गोपनं गुप्तिः।'' संसार के कारणों से आत्मा की जो सुरक्षा कर देती है उसका नाम है गुप्ति।** गुप् गोपने संरक्षणे वा। गुप् धातु जो है वह संरक्षण के अर्थ में आती है। गुप्ति एक ऐसा संबल है जो संरक्षण करता है। जब गुप्ति के माध्यम से कर्मों का आना रुक जाता है तभी आगे काम ठीक-ठीक बनता है। कर्मों का आना बना रहे और हम अपने गुणों का विकास करना चाहें तो वह संभव नहीं है।

गुप्ति, संवर का सबसे उत्तम साधन है। गुप्ति की प्राप्ति समिति के माध्यम से होती है इसलिए उसके साथ समिति को रखा। और समिति को समीचीन बनाना चाहो तो दशलक्षण धर्म के बिना नहीं बन सकती, तो उसके बाद धर्म को रखा। और दशलक्षण धर्म को यदि हम सही-सही पालन करना चाहें, उत्तमता प्राप्त करना चाहें तो बारह भावनाओं का चिन्तन करेंगे तभी उत्तमता आयेगी। बारह भावनाओं का चिन्तन कहाँ करें? एयरकंडीशंड मकान में बैठकर, या जहाँ पंखा चल रहा हो, कूलर चल रहा हो, हीटर लगे हों, रेडियो भी चल रहा हो, वहाँ हो सकता है क्या? ऐसा नहीं है, बारह भावनाओं का चिन्तन करना चाहो तो उसके योग्य बाईस परीषह अपनाने होंगे।

बिना बाईस परीषह सहे बारह भावनाओं का चिन्तन उसी प्रकार है जैसे कोई तकिया लगा कर के बैठा है और ऊपर छत्र लटक रहा है और वह कह रहा है कि राजा राणा छत्रपति-और छत्र हिल जाये तो चौंककर देखने लगता है कि कौन चोर आ गया छत्र चुराने के लिए। यह तो एक प्रकार से बारह भावनाओं का अविनय हो गया। एक नाटक जैसा हो गया। एक पाठ हो गया। ऐसा तो तोता भी रट लेता है। **बारह भावनाएँ जो संवर की कारण मानी गयी हैं उनको कैसे पढ़ना चाहिए, कैसे चिन्तन करना चाहिए? तो यह बाईस परीषह सहन करते हुए करना चाहिए और बाईस परीषह, बिना चारित्र के सहन करना संवर की कोटि में नहीं आयेगा।**

चारित्र के बिना आप बाईस क्या, बाईस सौ परीषह भी सह लेंगे लेकिन वे परीषह नहीं कहलायेंगे। चारित्र धारण करने के उपरान्त ही परीषह, परीषह कहलाते हैं। सही-सही रूप में तो चारित्र के माध्यम से ही इन्हें प्राप्त किया जा सकता है। कहा भी है **''एतेषाम् गुप्तयादीनां संवर क्रियायाः साधकतमत्वात् करण निर्देशः''**- संवर के लिए इसके अलावा और कोई साधकतम कारण नहीं है संसार में। कोई कह सकता है कि सभी का नाम तो आ गया यहाँ, परन्तु सम्यग्दर्शन का नाम ही नहीं आया। तो भइया गुप्ति समिति आदि जो संवर के लिए साधकतम हैं ये सभी सम्यग्दर्शन के उपरान्त ही संभव है।

कहीं-कहीं ऐसा भी सुनने में आता है कि संयम तो आस्रव बंध का कारण है, तो ऐसा नहीं है। एक गुप्ति को छोड़कर सूत्र में बताये गये संवर के सभी कारण प्रवृत्ति कारक हैं। दशलक्षण धर्म भी प्रवृत्ति रूप है, उसे भी आस्रव की कोटि में रख देंगे तो जीवन सारा अधर्म में निकल जायेगा। इनके साथ आस्रव होते हुए भी प्रधानतया ये सभी संवर के ही कारण हैं। इसलिए ऐसा नहीं समझना चाहिए कि महाव्रत से, चारित्र से एक मात्र बंध ही होता है। आस्रव तो जब तक योग रहेगा, तब तक चलता रहेगा।

तप है, चारित्र है, यद्यपि इनके साथ आस्रव भी होता रहता है लेकिन ये मुख्य रूप से आस्रव के कारण नहीं हैं बल्कि संवर के कारण हैं। एक कारण अनेक कार्य कर सकता है। **'तपसा निर्जरा च'- एक तप के माध्यम से मात्र निर्जरा नहीं होती, संवर भी होता है। 'च' शब्द का अर्थ यहाँ संवर लिया है।** उदाहरण भी दिया है कि **''यथा अग्निरेकोपि विक्लेदन भस्माघ्ंगरादि प्रयोजन उपलभ्यते''** जिस प्रकार अग्नि एक होने पर भी अनेक प्रकार के कार्य करने में सक्षम है उसी प्रकार यह भी है कि वह अग्नि, धान्य को यदि आप पकाना चाहें तो पका देगी, ईंधन को जला भी देगी और साथ ही साथ प्रकाश भी प्रदान करती है, यदि सर्दी लग रही हो तो उष्णता के द्वारा सर्दी भी दूर कर देती है जिसको सेंकना कहते हैं। इस प्रकार अनेक कार्य हो सकते हैं।

इसी प्रकार तप भी, संयम भी, चारित्र भी ऐसे ही हैं कि एक साथ सब कुछ कर सकते हैं। अभ्युदय का लाभ भी मिलता है और मोक्ष का लाभ अर्थात् संवर और निर्जरा का लाभ भी मिलता हैं। अतः जो मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होना चाहते हैं उन्हें उत्साह के साथ और रुचिपूर्वक इन्हें अपनाना चाहिए। आप लोगों के सामने हार लाकर रख दिया जाये और भले ही वह फूलों का हार क्यों न हो, आप झट से गले में डालने को तैयार हो जाते हैं। तो मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि उमास्वामी महाराज ने इस चारित्र रूपी हार को बनाकर रख रखा है। इस हार को पहनने के लिए कौन-कौन तैयार है।

मैं तो इस हार को पहने ही हूँ पर सोच रहा हूँ कि आपका भी जीवन सज जाये इस हार के माध्यम से। आप तो मात्र अभी शरीर के शृंगार में लगे हैं। संवर तत्त्व आत्मा का श्रृंगार करने के लिए हमें पाठ सिखाता है। शरीर का शृंगार तो आस्रव और बंध का उपक्रम है बंधुओ! उसमें क्यों रच पच रहे हो? आप स्वयं सोचो, विचार करो, जड़ तत्त्व के माध्यम से जड़ की शोभा में जड़ बनकर लगे हुए हैं। जड़ के अलग-अलग अर्थ हैं। जड़ तत्त्व के माध्यम से अर्थात् जितने भी ये आभरण-आभूषण वगैरह हैं, सभी जड़ हैं, पुद्गल हैं। इनके माध्यम से जड़ की शोभा अर्थात् शरीर की शोभा कर रहे हैं और जड़ की शोभा में लगने वाला जड़ है अर्थात् अज्ञानी है। इसी अज्ञान दशा में तो अनन्तकाल खोया है।

आप कर्म के उदय की ओर मत देखो। कर्म का उदय है, मैं क्या करूँ? कैसे संयम पालन करूँ? कैसे गुप्ति और समिति पालन करूँ? तो बंधुओ! यह तो एकमात्र हमारे उपयोग की कमी है, पुरुषार्थ की कमी है। सम्यग्दृष्टि की आत्मा अनन्त शक्तिमान है। भले ही शारीरिक शक्ति नहीं तो भी भावों के माध्यम से बहुत कुछ संभव है। कर्म के उदय से ही सब कुछ हो रहा है, ऐसा एकान्त नहीं है। इसमें हमारी कमजोरी भी है। हम अपने संवर रूपी पुरुषार्थ में लग जायें तो कर्म उदय में आकर भी यूँ ही चले जायेंगे।

जिस समय आत्म द्रव्य (पुरुष) आत्म द्रव्य की ओर दृष्टिपात करता है। उस समय उदयागत कर्म किसी भी प्रकार से अपना प्रभाव नहीं डाल सकता। मंद कषाय के माध्यम से यही तो लाभ होता है कि जिस समय वह अपने में लीन हो जाता है तो कषाय इतनी कमजोर हो जाती है कि अपना प्रभाव नहीं डाल सकती है। अनुभाग बंध और स्थिति बंध इसी कषाय पर आधारित होते हैं।

एक मिथ्यादृष्टि अभव्य भी अपनी विशुद्धि के बल पर आस्रव कार्य को कमजोर कर सकता है। वह सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर की उत्कृष्ट स्थिति को अन्तः कोड़ा-कोड़ी सागर कर सकता है। चार लब्धियाँ जब प्राप्त होती हैं तो प्रायोग्य लब्धि के माध्यम से वह मिथ्यादृष्टि अभव्य भी अपने सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर स्थिति का जो दर्शनमोहनीय कर्म था, उसे अपनी विशुद्धि के बल पर अपने पुरुषार्थ से अंतः कोड़ा-कोड़ी सागर कर देता है। यदि एक अभव्य जिनवाणी के श्रवण से और अपनी आत्म विशुद्धि के माध्यम से कषाय को इतना कमजोर बनाकर यह कार्य कर सकता है तो मैं सोचता हूँ कि जो भव्य है और निकट भव्य हैं, आप जैसे आसन्न भव्य हैं वे तो ऐसे सहज ही फूँक करके उड़ा सकते हैं उन कर्मों को। लेकिन कमजोरी कहाँ पर हो रही है, यह समझ में नहीं आ रहा है।

एक बार दृष्टिपात करो, अपनी आत्मा की ओर, उस अनन्त शक्ति की ओर। और अन्तर्मुहूर्त के अंदर सारे के सारे कर्म अंतः कोड़ा-कोड़ी सागर स्थिति वाले हो जायेंगे। दर्शन मोहनीय और अनन्तानुबन्धी यूँ ही चले जायेंगे। कहना चाहिए कि उस आत्मपुरुषार्थ के बल पर जो अनन्तकालीन समुद्र है पाप का, वह एक सेकेंड के अंदर आज भी सुखा सकते हैं और शेष रह सकता है एक चुल्लू भर पानी। इतना पुरुषार्थ एकमात्र सम्यग्दर्शन के माध्यम से हो जाता है।

कहाँ अटके हो? कहाँ फँसे हो? कुछ समझ में नहीं आ रहा है। आत्मिक बल के साथ कूद पड़ना चाहिए कर्मों का नाश करने के लिए। जब एक बार जंगल गये हम, तो गाय और गाय के बछड़े वहाँ चर रहे हैं यह तो देखा साथ में यह भी देखा कि गाय तो कूदती नहीं है लेकिन बछड़े

का हिसाब किताब कुछ अलग ही है। इतनी तेजी से दौड़ता है वह बछड़ा और करीब दस बार दौड़-दौड़कर पुनः वापिस आ जाता है उस माँ के पास। फिर बाद में ऐसा चुपचाप बैठ जाता है जैसे पसीना आ गया हो, फिर थोड़ी देर में और शक्ति आ जाती है तो पुनः कूदने लग जाता है। इसी प्रकार आत्मा की बात सुनते ही ऐसी चेतना दौड़नी चाहिए कि बस! रुके नहीं! यह एकमात्र आत्म शक्ति की स्मृति या चिन्तन का फल है। कर्मों के उदय के ऊपर ही आधारित होकर नहीं बैठना चाहिए।

संवर और निर्जरा ये दोनों तत्त्व आत्मपुरुषार्थ के लिए हैं। जो भी कर्म उदय में आ रहे हैं उनका प्रभाव उपयोग के ऊपर नहीं पड़े, इस प्रकार का आत्म पुरुषार्थ करना ही तो संवर है। अगर इन्हीं का अभाव हो गया तो फिर आप क्या करेंगे। एक बार की बात है कि एक राजा ने सेनापति को कहा कि चले जाओ। कूद पड़ो रणांगण में और जो शत्रु आया है, भगाओ उसको। और विजयी बनकर आओ। वह सेनापति कहता है कि एक घंटे बाद जाऊँगा। तब राजा ने कहा कि अरे! एक घंटे के बाद तो वह स्वयं ही चला जायेगा, पर तब जीत उसकी होगी। तेरा काम तो इसलिए है कि जब रणांगण में प्रतिपक्षी आकर कूद जाये उस समय अपनी शक्ति दिखाना चाहिए।

इसी तरह जब मोहनीय कर्म उदय में आये तभी तो आत्म-पुरुषार्थ आवश्यक है। संवर का अर्थ यही है कि दूसरे को भगाकर वहाँ अपना विजयी झंडा लगा देना, उन कर्मों पर विजय प्राप्त कर लेना। एक विशेष बात और कहता हूँ कि आज के जो कोई भी त्यागी हैं, तपस्वी हैं, मोक्षमार्गी हैं और सम्यग्दृष्टि हैं उन्हें कर्मों के अलावा लड़ना पड़ता है वर्तमान पंचमकाल से। इसे कलिकाल भी कहा जाता है। कलि का अर्थ संस्कृत में झगड़ा है। काल के साथ भी जूझना पड़ता है। **ध्यान रखना, जिस प्रकार दीपक, रातभर अंधकार से जूझता रहता है इसी प्रकार पंचमकाल के अंतिम समय तक सम्यग्दृष्टि से लेकर भावलिंगी सप्तम गुणस्थानवर्ती मुनि महाराज भी संवर तत्त्व के माध्यम से लड़ते रहेंगे।** श्रावक, श्राविका, मुनि, आर्यिका यह चतुर्विध संघ पंचमकाल के अंत तक रहेगा।

वर्तमान में कम से कम तीन चार सौ मुनि आर्यिका आदि तो होने ही चाहिए, जो संवर तत्त्व को अपनाये हुए हैं। **जो आत्मा के परिणाम हैं, आत्मा की परिधियाँ हैं और कर्मों को रोकने वाली एक चैतन्य धारा हैं उसको कहते हैं संवर।** वह गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्र द्वारा उद्भूत होती है आत्मा में। उसको प्राप्त कैसे करें, यह विचार करना चाहिए और जल्दी-जल्दी इस पथ पर आना चाहिए ताकि श्रमण परम्परा अक्षुण्ण बनी रहे।

विचार करें कि आत्मा के पास जब बंधने की शक्ति है तो उस बंधन को हटाने, तोड़ने की भी शक्ति है। किसी व्यक्ति को आपने निमंत्रण दिया है तो उसे बाहर भी निकाला जा सकता है।

मैंने निमंत्रण दे ही दिया है और अब आ ही गया है तो वापिस जाओ, ऐसा कैसे कहूँ, यदि ऐसा सोचेंगे तो छुटकारा मिलने वाला नहीं है।

एक व्यक्ति बहुत ही सदाचारी था, दयालु था। उसे देखकर एक दूसरा व्यक्ति उसके यहाँ चला जाता है और कहता है कि बहुत परेशान हूँ, बहुत प्यास लगी है और भूखा भी हूँ। थोड़ी प्यास बुझ जाये तो अच्छा रहे। वह दयालु व्यक्ति उसे घर ले आता है और कहता है-ठंडा पानी पी लो भइया, चिंता क्यों करते हो। और वह व्यक्ति पानी पी लेता है और कहता है कि थोड़ी भूख शान्त हो जाये तो अच्छा रहे। वह दयालु व्यक्ति उसके सामने थोड़े काजू, किशमिश रख देता है और कहता है रसोई अभी तैयार हो रही है तब तक यह खाओ, बाद में भोजन कर लेना और वह व्यक्ति खा लेता है। इसके उपरान्त पलंग बिछी है तो लेट जाता है और नींद लग जाती है। सुबह हो जाती है और वह व्यक्ति जाने का नाम नहीं लेता। तब दयालु व्यक्ति इशारा कर देता है कि भइया जी, मैं अब अपने काम से बाहर जा रहा हूँ, आप भी...। इतने पर भी जब वह नहीं जाता तो बाद में स्पष्ट कह देता है कि आप जाते हैं या नहीं। इतना सुनते ही वह चला जाता है।

आशय यही है कि कर्मों को आपने बुलाया है यह गल्ती हो गयी है आपसे, लेकिन अब जब इतना ज्ञान हो गया है जिसको बुलाकर हमने गल्ती खाई है उसको निकाल भी सकते हैं तो निकालने का पुरुषार्थ करना चाहिए। आने वाले कर्मों को रोकने की शक्ति है संवर में। **संयम-तप-त्याग आदि अपनाते ही यह संवर की शक्ति जाग्रत हो जाती है और आने वाले कर्म रुक जाते हैं।** मात्र कर्म का उदय मानकर हाथ पर हाथ रखे मत बैठो। **कर्म का उदय, बंध के लिए कारण नहीं है। कर्म का उदय आस्रव के लिए कारण नहीं है किन्तु कर्म के उदय के साथ हमारा सो जाना ही आस्रव और बंध के लिए कारण हो।**

मैंने किया विगत में कुछ पुण्य-पाप, जो आ रहा उदय में स्वयमेव आप।
होगा न बंध, तबलों, जबलौं न राग, चिन्ता नहीं उदय से बन वीतराग॥

उदय को देखते बैठे रह जायेंगे तो निस्तार नहीं होने वाला। गल्ती तो यह कर ली है कि विगत जीवन में हमने रागद्वेष और मोह के वशीभूत होकर कर्मों का आस्रव किया है। कर्मों को बाँधा भी है, उनका उदय तो आयेगा ही इसमें कोई संदेह नहीं है। वह उदय में आयेगा और द्रव्य क्षेत्र, काल, भव और भाव को लेकर फल भी देगा। परन्तु ध्यान रखो कि आगे के लिए भी वह अपनी संतति (नये कर्म) छोड़कर चला जाए, वह नियम नहीं है। नये कर्मों के लिए चाहिए रागद्वेष और योग की प्रणाली। मानलो आस्रव होगा क्योंकि योग है, तो भी कोई बात नहीं, यदि कषाय नहीं है तो वह कर्म चिपकेंगे नहीं, यूँ ही चले जायेंगे। जैसे वर्षा हो रही है और आप अपने मकान को सुरक्षित रखना चाहते हो तो कहीं कोई ट्रेजरी में या लॉकर में ले जाकर तो उसको रखोगे नहीं, वर्षा में भी वह रहेगा, उसकी सुरक्षा तो यही है कि वर्षा का पानी उसमें टिके नहीं।

वर्षा होती रहे परन्तु एक बूँद पड़ी, निकल गयी तब मकान को कुछ नहीं किया। इसी प्रकार योग की प्रणाली के माध्यम से कर्म आ रहे हो तो कोई बात नहीं, हम जितना-जितना कषाय को कमजोर बनाते जायेंगे, क्षीण करते जायेंगे उतना-उतना संसार कम होता चला जायेगा। कर्मों की स्थिति और अनुभाग घटता जायेगा।

''यूँ आया और यूँ ही चला गया जैसे वर्षा प्रवाह बस बहता चला गया।'' अतः जो कर्म बाँधे हैं वह उदय में आयेंगे लेकिन नवीन कर्म जो बंधेगे वे कर्मायत्त नहीं हैं, वे आत्मायत्त हैं अर्थात् आत्मा के ऊपर आधारित हैं। यदि आत्मा जाग्रत है तो किसी भी प्रकार के कर्मोदय से अपने को धक्का नहीं लगेगा।

यहाँ साम्परायिक आस्रव और बंध को रोकने की बात है इसलिए पाप का बंध तब तक नहीं होगा जब तक राग नहीं होगा द्वेष नहीं होगा और रागद्वेष हमारे उपयोग की कमजोरी है। हमारा उपयोग जितना चंचल होता चला जाता है, उतना ही ज्ञेयभूत पदार्थों को भी हम हेय या उपादेय के रूप में इष्ट या अनिष्ट मानकर रागद्वेष करते चले जाते हैं। इसलिए यदि हम आत्मपुरुषार्थ के माध्यम से संयम के साथ, संवर के साथ उस उपयोग को जोड़ दें तो वह बंध के लिए कारण नहीं बनेगा। आचार्यों ने इसीलिए कहा है कि संयम के माध्यम से संवर होता है, मात्र आस्रव नहीं। आस्रव यदि होता भी है तो शुभास्रव होता है जो अशुभास्रव के समान बाधक नहीं है। **अशुभ को मिटा देने पर आपको अपने आप मालूम पड़ जायेगा कि शुभ एक औषधि का काम कर रहा है जो स्वास्थ्यवर्धक है।**

यदि महाव्रत रूप चारित्र को आस्रव का कारण मान लेंगे तो चौदहवें गुणस्थान में भी आस्रव मानना पड़ेगा, वहाँ महाव्रत का त्याग तो किया नहीं है, अयोग केवली होकर वे ध्यान में बैठे हैं और ध्यान महाव्रत के बिना नहीं होता। इसका अर्थ है कि आस्रव, महाव्रत के माध्यम से नहीं होता, आस्रव का प्रमुख कारण योग है और कषाय भाव है। महाव्रत तो संवर का कारण है, संवर को करने वाला यदि कोई साधकतम कारण है तो वह है गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्र- यह बात उमास्वामी ने स्वयं लिखकर समाधान दे दिया है।

संवर के सभी साधकतम कारण बिना महाव्रत के नहीं पलते। **बारह भावनाओं का चिन्तन भी महाव्रत धारण करने के उपरान्त ही कार्यकारी होता है क्योंकि वास्तविक बारह भावनाओं के चिंतन से संवर और निर्जरा दोनों होती हैं।** आत्मा की विशुद्धि जितनी-जितनी बढ़ेगी उतना-उतना संवर तत्त्व भी बढ़ता-बढ़ता चला जायेगा और उसके माध्यम से एक दिन यह संसारी प्राणी कर्मों की सारी की सारी निर्जरा करके मुक्ति भी पा सकता है।

कर्मोदय से भयभीत न हों बल्कि हम थोड़ा मन को, अपने उपयोग को, कर्म से, कर्म के फल से और सारे आसपास के वातावरण से मोड़ लें और आज तक जिसको नहीं देखा, जिसको नहीं जाना उस ओर अपने उपयोग को लगा लें तो कर्मोदय का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ेगा। जब हम बाहर झांकते हैं उसी समय बाहर की बाधाएँ सताती हैं, और यह झांकना भी स्वाश्रित है, जब झांकने की इच्छा होती है तब झांकते हैं, कर्म के उदय में नहीं झांकते। यदि कर्म के उदय में झांकते हैं तो फिर झांकते ही रहें।

जब फाल्गुन मास आता है उस समय रंग खेलने का समय आता है-होली। होली का अर्थ यही है कि उस समय सारे लोग इकट्ठे होकर रंग खेला करते हैं और आनंद का लाभ लेते हैं। कोई-कोई लोग रंग से बचने के लिए बाहर नहीं निकलते पर मन में यह विकल्प जरूर पैदा हो जाता है कि बाहर क्या हो रहा है यह तो देख लूँ और जैसे ही बाहर झरोखे से झांकते हैं उसी समय रंग लग जाता है। इसमें कर्म का उदय नहीं है यह तो मनचलापन है कि बाहर क्या हो रहा है, देख तो लूँ। थोड़े से बाहर गये और सारे के सारे भीग करके आ जाते हैं रंग में।

इसी प्रकार उदय जो है बाहर है और संवर तत्त्व को प्राप्त करने वाली आत्मा अंदर ही अंदर चली जाती है वहाँ तक उस रंग का प्रभाव नहीं पड़ता। बाहर आये कि प्रभाव पड़ा। तो संवर एक कला है। यह आत्मा आस्रव और बंध के उपरान्त जब वह कर्म उदय में आता है तो उदय को सहन नहीं कर पाता और उदय से डरकर संवर तत्त्व को भूल जाता है जिसके फलस्वरूप नया बंध होने लगता है। नये बंध को रोकने का उपाय यही है कि उदय के प्रभाव से बचा जाये।

सपेरे होते हैं न, सपेरे, सांप को पकड़ने वाले। वे सांप को क्या ऐसे ही पकड़ लेते हैं जाकर फूलमाला जैसे। नहीं, यूँ ही नहीं पकड़ते। पकड़ने से पहले सांप को बुलाते हैं। जहाँ कहीं भी वह होता है वहाँ से उनकी ओर आ जाता है। तब वे बीन बजाते हैं। बीन की आवाज सुनकर वह सांप उनके सामने आकर बैठ जाता है। जो बांसुरी बजाता है उसको नहीं काटता। उस बीन के साथ-साथ स्वर-से-स्वर समाहित करके वह झूमने लगता है और काटना भूल जाता है। इतनी लीनता आ जाती है संगीत से कि अपने काटने के स्वभाव को भूल जाता है और उसी समय सपेरा उसको पकड़ लेता है और विषदंश निकाल देता है।

मैं सोचता हूँ ऐसे ही जब कर्म का उदय आये तो वीतरागता रूपी बीन बजाना प्रारंभ कर दें। उदय तब कुछ नहीं कर पायेगा, वह आकर भी अपना प्रभाव नहीं डाल पायेगा। वीतरागता में इतनी शक्ति है। राग-द्वेष के माध्यम से आत्मा दुखी हो जाता है और वीतरागता के माध्यम से सुखी हो

सकता है। अब आप स्वयं ही सोचें कि आपको सुख चाहिए या दुख। आप झट कह देंगे कि बांटना चाहो तो सुख ही चाहिए मुझे। भइया सुख को बांटा नहीं जा सकता, उसे प्राप्त करने की प्यास जगायी जा सकती है।

जैसे आप लोग जब कोई चीज बना लेते हैं खाने की-खीर, हलुआ आदि तो बांटते नहीं है बल्कि जल्दी-जल्दी खाना चाहते हैं। अगर कोई आकर कह देता है कि यह क्या, हमें भी थोड़ा सा दो। तब आप कह देते हैं कि वाह भइया! पसीना-पसीना हो रहा हूँ सुबह से, तब बना है। तुम बिना परिश्रम के पाना चाहते हो। थोड़ा परिश्रम करो तब मिलेगा। यह खाने की चीज की बात हुई जो कथंचित् बांटी भी जा सकती है लेकिन संवर तत्त्व जिसे प्राप्त होता है स्वयं के परिश्रम से होता है और उसे बांटा नहीं जा सकता। हाँ इतना अवश्य है कि यदि मुझे संवर तत्त्व का आनंद लेते देखकर आपको रस आ जाये तो आप पूछ सकते हैं कि इसको कैसे पाया, तो प्राप्त करने का उपाय बता सकता हूँ, लेकिन दूँगा नहीं क्योंकि दिया नहीं जा सकता।

संवर तत्त्व की मिठास को आज तक आपने नहीं पाया। सोचता हूँ कि इतनी मिठास को छोड़कर आप कहाँ नीम जैसे कड़वे भौतिक पदार्थों में रस ले रहे हैं। संसारी प्राणी की दशा ऊँट के समान है। ऊँट उस दिन बहुत आनंद मनाता है जब कोई नीम का वृक्ष मिल जाता है। पंचेन्द्रिय के विषयों में रस लेना या रस मानना, यही एकमात्र संसार का कारण है। आत्मा के रस को पहचानना चाहिए और उसे प्राप्त करने के लिए संवर-तत्त्व को अपनाना चाहिए।

जब कोई आशीर्वाद दे देता है तो शक्ति आ जाती है। इसी प्रकार संवर भी एक प्रकार से आशीर्वाद का प्रतीक है। जिसके माध्यम से शक्ति आ जाती है और सारे बाधक तत्त्व रुक जाते हैं। एक अमोघ शस्त्र है आस्रव और बंध को रोकने के लिए यह संवर-तत्त्व। हम इस संवर तत्त्व रूपी कवच को पहनकर मोक्षमार्गी बन सकते हैं और मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। यह संवर अनन्य कारण है मोक्ष का और इस संवर के लिए गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्र आवश्यक हैं। यह सभी संवर के लिए साधकतम कारण हैं। इन सभी की प्राप्ति त्याग के द्वारा ही होगी। **बिना त्याग के यह चारित्र रूपी हार को पहनना सम्भव नहीं है। इस चारित्र रूपी हार को पहनकर ही मनुष्य अलंकृत हो सकता है। सफलीभूत हो सकता है। इसके बिना जीवन पतित रहेगा, कलंकित रहेगा।** हमें अपने जीवन को कलंकित नहीं करना बल्कि इन चारित्र रूपी आभूषणों से अलंकृत करना है। यही हमारा कर्त्तव्य है। इसी में जीवन की सार्थकता है।

❑ ❑ ❑

निर्जरा तत्त्व

अभी तक जो कर्मों का आगमन हो रहा था उसका संवर करने के उपरान्त एक रास्ता प्रशस्त हो गया। अब अपना कार्य एक ही रहा कि अपने निज घर में, आत्मा में हमारी अज्ञान दशा के कारण हमारी असावधानी के कारण जो कर्मों का आगमन हो चुका है उनको एक-एक करके बाहर निकालना है। '**एक देश कर्म संक्षय लक्षणा निर्जरा**'- कर्मों का एकदेश अलग होना निर्जरा है।

दस दिन से भी यदि किसी व्यक्ति को निद्रा लेने का अवकाश न मिला हो और वह नींद लेना चाहता हो और आपके घर आकर कहे कि मुझे कोई एक कोना दे दीजिये ताकि मैं पर्याप्त नींद ले सकूं, और आप भी उसे कहें कि कोई बात नहीं, आइये, यहाँ पलंग भी है, यह गद्दा भी है, तकिया भी है, सब कुछ है और जब वह सोने लगे तो उस समय आप यह कह दें कि हम पाँच छह दिन से इस कमरे में नहीं गये हैं। और तो कुछ नहीं है एक बड़ा सा सर्प अंदर गया है इसलिए हम लोगों ने उसी दिन से इस कमरे में सोना ही छोड़ दिया।

अब बताइये, दस दिन से परेशान वह व्यक्ति क्या वहीं नींद लेगा? नींद लेने की इच्छा होते हुए भी वह कहता है कि मैं कैसे नींद लूँ, यहाँ नींद लग ही नहीं सकती। जब मालूम पड़ गया कि यहाँ सर्प है तो अब उसे यहाँ से निकाले बिना नहीं सोऊँगा। और वह व्यक्ति सभी प्रयास करके सर्प को निकालकर ही बाद में शयन करता है।

यह तो सामान्य सी घटना हुई। मैं यह सोचता हूँ कि आप लोग कैसे नींद ले रहे हैं? एक नहीं, दो नहीं, पूरे आठ कर्मों के रूप में एक समय में अनन्तानन्त पुद्गल कार्मण वर्गणाओं के समूह कर्म के रूप में परिणत होकर सर्प की भांति आत्मा के प्रदेशों पर अपनी सत्ता जमाये हुए हैं और आप निश्चिंत होकर सो रहे हैं। इतना ही नहीं, उसके साथ-साथ और शत्रुओं को निमंत्रण देने वाले आत्मगत वैभाविक परिणति रूप शत्रु जो अनादि काल से रह रहे हैं उनके लिए भी आपके द्वारा आश्रय स्थान मिल रहा है। आपकी निद्रा बड़ी विचित्र है।

यदि उस व्यक्ति को नहीं बताया जाता कि यहाँ सर्प है और वह निर्विघ्न रूप से वहाँ सो जाता और निद्रा लग जाती तो भी कोई बात नहीं, उसे ज्ञात नहीं था ऐसा कह सकते हैं। जो संसारी जीव अज्ञानी हैं उन्हें मालूम नहीं है कि आत्मा के शत्रु कौन हैं, मित्र कौन हैं और वे शत्रु के सामने भी सो रहे हैं तो कोई बात नहीं है। लेकिन आप लोगों को तो यह विदित हो गया है कि **आठ कर्म और उन कर्मों में भी जो रागद्वेष हैं, वे अपने शत्रु हैं फिर भी उन आत्मा का अहित करने वाले शत्रुओं को अपनी गोद में सुलाकर आप सो रहे हैं** तो आपका ज्ञान कुछ समझ में नहीं आ रहा है।

"**जान बूझकर अंध बने हैं आँखन बाँधी पाटी**"- यही बात है। यदि अंधा गिरता है कुंए में तो कोई बात नहीं, किन्तु जानते हुए भी जो जानबूझकर अंधा बन रहा है, वास्तव में अंधा तो वही है। जो अंधा है वह तो मात्र बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा अंधा है किन्तु जो व्यक्ति रागद्वेष रूपी मदिरा पीते हुए जा रहे हैं उनके पास आँखें होकर भी अंधे बने हैं। आँखें होते हुए भी जिस समय आँखों पर पट्टी बाँध लेते हैं तो प्रायः करके बच्चे ही यह खेल खेलते हैं। उसको क्या कहते है- आँखमिचौनी। हाँ वही है यह खेल। मैं सोचता हूँ यहाँ सब यही खेल रहे हैं-आँखमिचौनी। यहाँ कोई आँख वाला दीखता ही नहीं।

अंधकार में एक व्यक्ति उधर से आ रहा था जो अंधा था और इधर से जा रहा था एक आँख वाला। दोनों आपस में टकरा गये। आँख वाले के मुख से सर्वप्रथम आवाज आयी कि क्या अंधे हो तुम। जहाँ कहीं इस तरह की घटना होती है तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी गल्ती नहीं स्वीकारता। जो अंधा व्यक्ति था उसने कहा कि हाँ भइया, आप ठीक कह रहे हैं, मैं अंधा हूँ, मेरे नेत्र ज्योति नहीं है। गल्ती तो हो गयी, माफ कर देना। दूसरे दिन वह व्यक्ति उस अंधे से फिर मिल गया लेकिन आज उसने देखा कि अंधे के हाथ में लालटेन थी। उसने पूछ लिया कि अरे! तुमने तो कल कहा था कि तुम्हारे आँख नहीं है, तुम अंधे हो, फिर हाथ में यह लालटेन क्यों ले रखी है? लगता है दिमाग ठीक नहीं है। वह अंधा मुस्कराया और उसने कहा कि यह लालटेन इसलिए ले रखे हूँ कि चूँकि मेरे पास आँख तो नहीं है और मुझे आवश्यकता भी नहीं है लेकिन आप जैसे आँख वाले लोग टकरा न जायें, उनको देखने में आ जाए कि मैं अंधा हूँ। पर इसके उपरान्त भी यदि आप टकराते हैं तो क्या कहा जाये। ऐसा ज्ञान तो मात्र भार रूप है।

जहाँ कोरा ज्ञान होता है उस ज्ञान के माध्यम से जो कार्य करना चाहिए वह यदि नहीं होता तो ऐसे में 'ले दीपक कुएँ पड़े' वाली कहावत चरितार्थ होती है। जिन जीवों को ज्ञात नहीं है कि आत्मा का अहित किस में है, उनकी तो कोई बात नहीं। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय को तो मालूम नहीं है कि हित-अहित क्या है, इसलिए वे भटक रहे हैं, ठीक है। किन्तु जिन्हें मालूम पड़ गया है, यह विदित हो गया है कि आत्मा का अहित किस में है उनकी बात ही निराली है।

"**क्रोध, मान, माया, लोभ, रागद्वेष परिणाम। ये ही तेरे शत्रु हैं समझो आतमराम।**" हमारा अहित करने वाले हमारे शत्रु अंदर छिपे हैं, उन्हें हम निकाल दें। पड़ोसी की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है। बाहर कोई शत्रु है ही नहीं, बाह्य शत्रु और मित्र-ये मात्र नैमित्तिक हैं। इनमें हमें हर्ष विवाद कराने की सामर्थ्य नहीं हैं। देखो! दीवार पर अगर एक गेंद आपने फेंक दी तो दीवार ने

प्रत्युत्तर में आपको वह गेंद वापिस लौटा दी। वास्तव में दीवार ने नहीं फेंकी किन्तु दीवार के निमित्त से गेंद का परिणमन ऐसा होता है कि जितनी तेजी से आप फेंकोगे उतनी ही तेजी से वह टकराकर वापिस आयेगी।

जो आपने फेंका उसी का प्रतिफल है यह। न तो दीवार के पास ऐसी कोई शक्ति है, न ही गेंद के पास है। अपने आप वह गेंद जाकर नहीं टकराती, गेंद में उस प्रकार की क्रिया हम पैदा कर देते हैं। ठीक उसी प्रकार ये रागद्वेष हमारी ही प्रतिक्रियाएँ हैं, इनको हम ही करते हैं और हम ही बार-बार परेशान होते चले जाते हैं। शत्रु और मित्र हमारे अंदर हैं। किसको हटाना है और किसका पोषण करना है यह समझ में आ जाये, यही ज्ञान का फल है।

''**ज्ञानस्य फलं उपेक्षा अज्ञान-हानिर्वा**'' उपेक्षा का अर्थ है चारित्र अर्थात् रागद्वेष की निवृत्ति और अज्ञान की हानि का अर्थ है जो आज तक अज्ञान हमने पाला है वह सारा नष्ट हो जाये, यही क्रम अच्छा है। चारित्र पहले होता है, स्वाभाविक ज्ञान केवलज्ञान उसके बाद होता है। केवलज्ञान स्वाभाविक ज्ञान है। इसकी प्राप्ति के लिए चारित्र नितान्त आवश्यक है। ऐसा कोई रास्ता नहीं है ऐसी कोई पगडंडी नहीं है जिस पर चलकर बिना चारित्र के हम केवलज्ञान-सूर्य को प्राप्त कर लें। इसलिए जो कोई भी शास्त्र-स्वाध्याय का परिणाम निकलेगा उसमें प्रथम परिणाम तो यही है कि तत्काल उस व्यक्ति को चारित्र की ओर मुड़ना होगा। **अपेक्षा अर्थात् रागद्वेष और रागद्वेष का एक विलोम भाव है उपेक्षा अर्थात् राग द्वेष का अभाव और वास्तविक निर्जरा इसी को कहते हैं।**

आप लोग निर्जरा कर नहीं रहे हैं, आप लोगों की निर्जरा हो रही है। यहाँ मैं करने की बात कह रहा हूँ। होने की बात तो ऐसी है कि वैसे ही समय आने पर कर्मों की निर्जरा होती है लेकिन आस्त्रव व बंध की धारा भी बहती रहती है इसलिए ऐसी निर्जरा से कभी भी कर्म-शत्रुओं का अभाव नहीं हो सकता। समय पर होने वाली सविपाक निर्जरा जो संसारी प्राणियों के प्रत्येक समय हो रही है, वह अरहट चक्र की भाँति हो रही है। अरहट चक्र, घटी यंत्र को बोलते हैं जिसे आप लोग रहट भी बोलते हैं। इसमें कई कलश या मटकियाँ बँधी होती हैं और मटकियाँ एक के ऊपर एक इस तरह बँधी होती हैं कि आधी मटकियाँ खाली होती जाती हैं और आधी मटकियाँ भरी हुई ऊपर उठती जाती हैं। यह क्रम चलता रहता है।

एक माला मटकियों की रहती है और मालूम नहीं पड़ता कि कब खाली होती है और कब ये भरती हैं। भरती भी हैं और खाली भी होती हैं तथापि पानी आना रुकता नहीं है। सविपाक निर्जरा आपके द्वारा इसी तरह हो रही है। उदयागत कर्म निर्जीर्ण हो रहे हैं पर सत्ता में नये कर्म भी आते जा रहे हैं। बैलेन्स ज्यों का त्यों बना है। यह निर्जरा कार्यकारिणी नहीं है। एक निर्जरा ऐसी भी है जो आत्म-पुरुषार्थ से होती है वह निर्जरा '**तपसा निर्जरा च**' वाली निर्जरा है।

अपने आप कर्म निर्जरा होने से मुक्ति नहीं मिलती। जब कभी भी विगत में जिन्होंने मुक्ति पायी है या आगे मुक्ति पायेंगे या अभी जो मुक्ति पाने वाली आत्माएँ हैं, सभी ने अपने आत्म-पुरुषार्थ के बल पर मुक्ति पायी है, पायेंगे और पा रहे हैं, विदेह क्षेत्र से। **जब पुरुषार्थ के बल पर बंध किया है तो मुक्ति भी पुरुषार्थ से ही होगी।** यदि अपने आप बंध हो गया हो तो अपने आप मुक्ति भी मिल सकती है और यह भी ध्यान रखो यदि अपने आप बंध हो रहा है तो मुक्ति संभव ही नहीं है क्योंकि बंध होता ही चला जायेगा निरन्तर।

इसलिए अपने आप यह कार्य नहीं होता, आत्मा इसका कर्त्ता है और वही भोक्ता भी है। इसलिए आचार्यों की दृष्टि में आत्मा ही अपने आप का विधाता है, ब्रह्मा है, विश्व का विधाता नहीं, वह अपने कर्मों का है। कर्म को संस्कृत में विधि भी कहते हैं। विधि कोई लिखता थोड़े ही है, हम जो कर्म करते हैं वे ही विधि के रूप में हमारे साथ चिपक जाते हैं और इस विधि का विधाता आत्मा है, हम स्वयं हैं। आत्मा ब्रह्मा भी है, वह संरक्षक है इसलिए विष्णु भी है और आत्मा चाहे तो उन कर्मों का संहार भी कर सकता है इसलिए महेश भी है। एक ही आत्मा ब्रह्मा, विष्णु, महेश, तीनों रूप है।

आत्म-पुरुषार्थ के द्वारा की जाने वाली निर्जरा ही वास्तविक निर्जरा है जो मोक्षमार्ग में कारणभूत है। इसे पाये बिना मोक्ष संभव नहीं है। आप तो कृपण बने हुए हैं कि कमाते तो जा रहे हैं रखते भी जा रहे हैं, पर इसे खर्च नहीं करना चाहते। छोड़ना नहीं चाहते, और कदाचित् छोड़ते भी हैं तो पहले नया ग्रहण कर लेते हैं। ऐसे काम नहीं चलेगा, तप करना होगा। निर्जरा की व्याख्या करते हुए आचार्यों ने बतलाया है कि निर्जरा कहाँ से प्रारम्भ होती है। उन्होंने लिखा है कि जो भगवान् का सच्चा उपासक होता है उसी से वह प्रारम्भ होती है। अर्थात् गृहस्थ आश्रम में भी वह निर्जरा होती है।

अविपाक निर्जरा तप के माध्यम से, संयम के माध्यम से हुआ करती है। अविरत सम्यग्दृष्टि गृहस्थ भी अनन्तानुबन्धी जन्य असंयम को समाप्त कर देता है तो उसका मार्ग भी प्रशस्त होने लग जाता है। साथ ही दर्शन-मोहनीय जो कि भुलावे में डालने वाला है उसे मिटाने के उपरान्त एक शक्ति आ जाती है। चारित्र-मोहनीय को भी धक्का लग जाता है। चारित्र-मोहनीय की शक्ति कम पड़ने लगती है। इसलिए निर्जरा तत्त्व वहीं से प्रारंभ हो जाता है। चूँकि यह निर्जरा तत्त्व पूर्ण बंध को रोक नहीं सकता इसलिए उसे मुख्य रूप से निर्जरा में नहीं गिनते किन्तु गिनती में प्रथम तो वह आ जाता है।

यहाँ बात चल रही है उस निर्जरा की जो मुख्य है। जो तप के माध्यम से हुआ करती है। निर्जरा का अर्थ है अंदर के सारे के सारे विकारों को निकाल कर बाहर फेंक देना। जब तक अंदर के विकारों को निकाल कर हम बाहर नहीं फेकेंगे तब तक अंदर के आनंद का जो स्रोत है वह स्रोत

नहीं फूटेगा और जब तक वह आनंद नहीं आयेगा तब तक हमारा संवेदन दु:संवेदन ही रहेगा, दुख का संवेदन रहेगा।

निर्जरा करने वाला व्यक्ति बहुत होशियार होना चाहिए। पहले दरवाजा बंद कर लें अर्थात् कर्मों के आगमन का द्वार बंद कर लें फिर अंदर-अंदर टटोलें और एक-एक करके सारे कर्मों को निकाल दें। अंदर से कर्मों को निकालने के लिए जरा सी ज्ञान-ज्योति की आवश्यकता है क्योंकि जहाँ घना अंधकार छाया हुआ होता है वहाँ थोड़ा सा भी प्रकाश पर्याप्त हो जाता है। आँख मीचकर बाहर के सारे पदार्थों को संवर के माध्यम से हटा दिया जाए, फिर अंदर ज्ञान-ज्योति को प्रकाशित कर दें तो उपादेय कौन और हेय कौन है, सब मालूम पड़ जाता है, तभी निर्जरा संभव होती है। जब तक हमारी दृष्टि बाहर लगी रहेगी तब तक निर्जरा की ओर नहीं जायेगी। इसीलिए आचार्यों ने पहले संवर को महत्त्व दिया कि विकार आने का द्वार ही बंद कर दो। आने वाले सभी मार्गों का संवर।

अजमेर की बात है। एक विद्वान् जो दार्शनिक था वह आया और कहा कि महाराज! आपकी चर्या सारी की सारी बहुत अच्छी लगी, श्लाघनीय है। आपकी साधना भी बहुत अच्छी है लेकिन एक बात है कि समाज के बीच आप रहते हैं और बुरा नहीं माने तो कह दूँ। हमने कहा भैया! बुरा क्या मानूँगा, जब आप कहने के लिए आये हैं तो बुरा मानने की बात ही नहीं है, मैं बहुत अच्छा मानूँगा और यदि मेरी कमी है तो मंजूर भी करूँगा। उन्होंने पुनः कहा कि बुरा नहीं मानें तो मैं यह कहना चाहता हूँ कि आपको कम से कम लंगोटी तो रखना चाहिए। समाज के बीच आप रहते हैं, उठते-बैठते, आहार-विहार-निहार सब करते हैं और आप तो निर्विकार हैं। लेकिन हम लोग रागी हैं, इसलिए लंगोटी रख लें तो बहुत अच्छा।

यह चर्चा उस समय की है जब भगवान् महावीर का निर्वाण महोत्सव मनाया जाने वाला था। कई चित्रों के साथ भगवान् महावीर स्वामी का एक चित्र भी रखा था। उस किताब को जब मैंने देखा तो पाया कि हमारे भगवान् महावीर तो इसमें नहीं है। लोगों ने कहा कि इसमें हैं, देखिये अंतिम नम्बर उन्हीं का है। मैंने कहा कि ये तो आप लोगों जैसे दीख रहे हैं। लोग कहने लगे-नहीं ये तो बिल्कुल दिगम्बर हैं। मैंने कहा मुख तो सभी का दिगम्बर है पर इतने से कोई दिगम्बर नहीं होता। आपने वस्त्र भले ही नहीं रखे पर वस्त्र आवरण भी कई प्रकार के हैं। भगवान् के सामने चित्र में वह जो लकड़ी लाई गयी है। वृक्ष दिखाया गया है वह भी वस्त्र का काम कर रही है। इसे हटायेंगे तभी हमारे महावीर भगवान् से साक्षात्कार होगा।

उस समय यह बात चली थी कि एक लंगोटी तो आप पहन ही लो। हमने कहा, भइया! ऐसा है कि महावीर भगवान् का बाना हमने धारण कर रक्खा है और इसके माध्यम से महावीर भगवान

कम से कम ढाई हजार वर्ष पहले कैसे थे, यह भी ज्ञात होना चाहिए। तो वे कहने लगे महाराज! आप तो निर्विकार हैं और सभी की दृष्टि से कहा है। मैंने कहा अच्छा। आप दूसरों की रक्षा के लिए काम कर रहे हैं, तो ऐसा करें कि लंगोटी में तो ज्यादा कपड़ा लगेगा, और महावीर भगवान् का यह सिद्धान्त है कि जितना कम परिग्रह हो उतना अच्छा है। आप एक छोटी सी पट्टी रख लो और जिस समय कोई दिगंबर साधु सामने आ जाये तो धीरे से आँख पर ढक लें। जो विकारी बनता है उसे स्वयं अपनी आँख पर पट्टी लेनी चाहिए।

महावीर भगवान् निर्जरा तत्त्व को अपनाने वाले थे। संवर को अपनाने वाले थे। उन्होंने कहा कि जिस मार्ग से कर्म आ रहे हैं उसे ही बंद कर दिया जाए, बाहरी द्रव्य अपने आप ही बंद हो जायेंगे। अगर अपना दरवाजा बंद कर लो तो सबका आना रुक जाता है। आत्मा के छह दरवाजे हैं, पाँच इन्द्रिय सम्बन्धी झरोखे हैं और छठा दरवाजा है मन। आत्मा का उपयोग इन छहों के माध्यम से बाहरी हेय तत्त्व को उपादेय की दृष्टि से अपनाता है। बाह्य तत्त्व आते नहीं हैं, स्थान से स्थानान्तर नहीं होते किन्तु प्रमेयत्व गुण के माध्यम से आत्मा पर अपना प्रभाव डालते हैं। **यदि इंद्रिय और मन का द्वार बंद है तो बाहर का Reflection (प्रतिबिंब) अंदर नहीं आयेगा। इसी को कहते हैं संवर तत्त्व। इससे आत्मा के अंदर की शक्ति अंदर रह जाती है और निर्जरा के लिए बल मिल जाता है।**

अविरत सम्यग्दृष्टि के होने वाली निर्जरा एकान्त रूप से अविपाकी निर्जरा नहीं है क्योंकि वह बंध तत्त्व के साथ चल रही है। उस निर्जरा को गज स्नानवत् कहा है। जैसे स्नान के समय हाथी करता है कि स्नान तो कर लेता है किन्तु इधर स्नान किया और उधर ढेर सारी धूल अपने सिर पर उड़ेल ली। भइया! निर्जरा होना अलग बात है और निर्जरा करना बात अलग है। अविरत सम्यग्दृष्टि के निर्जरा हो रही है, लेकिन तप के द्वारा जो निर्जरा की जाती है वह तो संयमी के ही होती है। कई लोगों का ऐसा सोचना है कि जो सम्यग्दृष्टि बन ही गया है तो अब इसके उपरान्त पूजन करना, प्रक्षाल करना, दान आदि देना इससे और ज्यादा निर्जरा तो होने वाली नहीं। शंका बहुत उपयुक्त है लेकिन आप एक ही दृष्टि से देख रहे हैं। पहले मैंने एक बार कहा था कि आप जैनी बन के काम करो। अकेले जैन मत लिखा करो। अंग्रेजी में JAIN शब्द में एक ही आई है अर्थात् आप एक ही दृष्टि से देख रहे हैं। जैनी लिख दो तो दो आई हो जायेंगी JAINI तब ठीक रहेगा, दो आँख हो जायेंगी। दोनों नयों से देखना ही समीचीन दृष्टि है।

श्रावक के लिए षट् आवश्यक कहे गये हैं। उनमें देव-पूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन सभी को प्रतिदिन करना आवश्यक है। हम तो सोचते हैं-दिने-दिने के स्थान पर पदे-पदे या क्षणे क्षणे होना चाहिए। ये छहों कार्य प्रतिपल एक के बाद एक करते रहना चाहिए। इसमें

प्रमाद नहीं करना चाहिए। आवश्यक जिस समय में जो है वह ही करना। 'अवश्यमेव भवः आवश्यकः' ऐसा कहा गया है। **हमारे आचार्यों ने जब ग्रन्थ लिखे तो वे यह जानते थे कि जो श्रावक हैं, गृहस्थ हैं, उनके लिए भी कोई आवश्यक बनाने होंगे ताकि विषय-कषाय से बचा जा सके। जो मन में आया वही लिख दिया हो, तो ऐसा नहीं है, पूर्वापर विचार करके, तर्क की कसौटी पर तौलकर और अनुभव से उन्होंने लिखा है।**

पूजा के समय सम्यग्दृष्टि को बंध तो होता है क्योंकि जब वह पूजा करता है तो आरंभ तो होगा ही इसमें कोई संदेह नहीं है, लेकिन आचार्यों ने कहा है कि बंध ही अकेला होता हो ऐसा नहीं है। उन्होंने कहा है कि **ये आवश्यक गृहस्थ के लिए तप के समान कार्य करते हैं।** जिस समय अविरत सम्यग्दृष्टि गृहस्थ पंचेन्द्रिय के विषयों में लीन हो जाता है अर्थात् विषय सामग्री का सेवन करता है उस समय उसके अनन्तानुबन्धी संबंधी और मिथ्यात्व सम्बन्धी कर्म प्रकृतियों का आस्रव बंध तो नहीं होता लेकिन अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान आदि के द्वारा होने वाला बंध तो अवश्य होता है और उस समय कर्म प्रकृतियों में उच्च स्थिति अनुभाग के साथ बंध होता है। उस समय उसके निर्जरा नहीं हुई किन्तु बंध ही हुआ।

लेकिन पूजा के समय अविरत सम्यग्दृष्टि गृहस्थ अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया] लोभ की हीन स्थिति के साथ बंध करेगा और अनुभाग भी मंद होगा। उस समय पाप प्रकृतियों के अनुभाग और स्थिति में कमी आयेगी, उनमें द्विस्थानीय बंध ही हुआ करता है। **जिस समय वह पूजन करेगा उसी समय में वह अप्रत्याख्यान को समाप्त भी कर सकता है क्योंकि उस समय भूमिका इस प्रकार की होती है उसके देशव्रत लेने की भावना जागृत हो सकती है। महाव्रत धारण करने की भावना हो सकती है। क्योंकि वीतराग मुद्रा सामने है, उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता, और अंदर का सम्यग्दर्शन बोलता है कि कमजोरी कहाँ पर है?** क्यों वस्त्रों में अटक रहे हो? इस प्रकार का विचार आते ही संभव है वह जीवन में वीतराग मुद्रा को धारण कर ले। इसलिए भगवान के सामने जाकर उनसे भेंट तो कर लेना चाहिए ताकि उनके अनुरूप बनने के विचार जागृत हो सकें, विषय कषायों के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो सके। जो कि निर्जरा का कारण है।

पूजन करते समय अप्रत्याख्यान की निर्जरा तो होती ही है साथ ही जिस समय वह सम्यग्दृष्टि भगवान् के सामने पूजन करने लग जाता है और प्रभु पतित पावन बोलने लग जाता है तो उस समय अनन्तानुबन्धी की उदीरणा होकर अकाल में ही वह खिर जाती है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ की जो चौकड़ी मिथ्यात्व के साथ सम्बन्ध रखने वाली है, वह सारी की सारी अप्रत्याख्यान के रूप में आकर फल देकर चली जाती है किन्तु सम्यक्त्व बाधित नहीं होता। जिसके अनन्तानुबन्धी सत्ता में है उसे सत्ता में से तो निकालना होगा क्योंकि उदय में आ जायेगी तो

सम्यग्दर्शन का घात हो जायेगा। **यह पूजन इत्यादि षट् आवश्यक सारे के सारे अंदर के कर्मों को निकालने के उपक्रम हैं।**

इसलिए सम्यग्दृष्टि भगवान् के सामने जाकर अगर एक घंटे कम से कम पूजन करता है तो उतने समय के लिए अनन्तानुबन्धी की निर्जरा होती है। जिस व्यक्ति को निर्जरा तत्त्व के प्रति बहुमान है वह व्यक्ति सम्यग्दृष्टि होकर घर में नहीं बैठेगा और पूजन की बेला को नहीं टालेगा और यदि टालता है तो वह सम्यग्दर्शन का पोषक नहीं है, यही कहना चाहिए। सम्यग्दृष्टि श्रावक अष्ट मंगल द्रव्य लेकर पूजा करने जाता है और मुनियों द्वारा होने वाली पूजन में द्रव्य नहीं रहती, भावों से ही पूजन होती है।

यदि आप श्रावक चाहें कि द्रव्य न लगे, भाव पूजन हो जाये और निर्जरा भी हो जाये तो संभव नहीं है। आप यदि द्रव्य नहीं लगाना चाहते तो इसका अर्थ है कि आपको द्रव्य के प्रति मोह है और मोह है तो बंध होगा, निर्जरा नहीं होगी। भगवान् के सामने पूजन करने का अर्थ यही है कि विषय सामग्री का विमोचन यानि निर्जरा तत्त्व का आह्वान। विषय सामग्री चढ़ाई जाती है, भगवान् को दी नहीं जाती। हमारे भगवान् लेते नहीं हैं पर आपके पास जितना है उसे छुड़वा देते हैं। तीर्थस्थल पर आप बैठे हैं तो यहाँ अपने आप छोड़ने के भाव जागृत हो जाते हैं। घर में रहकर यह भाव जागृत नहीं होते।

घर में जब खाना खाते हैं तो कहते हैं, पाटा बिछा दो, पंखा चला दो, बिजली का नहीं तो हाथ से ही सही, थाली रक्खो, अच्छी चमकती हुई, गिलास रखो, लौटा रखो पानी भर कर सारी सुख-सुविधाएँ चाहिए लेकिन यहाँ क्षेत्र पर आप लोग खाना खाते हैं तो यहाँ कोई पाटा नहीं है, थाली नहीं है, यूँ ही एक तरफ बैठे-बैठे कैसे भी करके खा लेते हैं पाँच मिनट में। यही तो त्याग है। तीर्थ पर भगवान् के सामने सभी व्यक्ति प्रायः व्रती बन जाते हैं, त्याग की सीख ले लेते हैं। यहाँ तो प्रत्येक समय त्याग तपस्या की बात है, निर्जरा की बात है। यहाँ निरन्तर चाहें तो मोक्षमार्ग चल रहा है। संसारी और गृहस्थ चौबीस घंटे राग-द्वेष और विषय-कषाय में, धर्म ध्यान को छोड़कर लगे हुए हैं। **इन षट्-आवश्यकों के माध्यम से वीतराग प्रतिमा के सामने पूजन का सौभाग्य मिल जाता है और ऐसी निर्जरा होती है, अविपाक निर्जरा, जो तप के माध्यम से होती है।** इसलिए पूजन-धर्म आवश्यक है।

जो साधक हैं उन्हें पूजन अपने अनुकूल करना चाहिए। आपको/श्रावक को अष्ट मंगल द्रव्य से पूजन का विधान है और हम लोगों को/मुनिजनों को अष्ट मंगल द्रव्य के अभाव में भावों की निर्मलता में कोई कमी नहीं रखना चाहिए। मुनि लोग जब भी भगवान् की पूजा करते हैं तो उस

समय आप से भी असंख्यात गुणी कर्म की निर्जरा कर लेते हैं। केवल आत्म-तत्त्व के माध्यम से ही निर्जरा होती है, ऐसा एकान्त नहीं है। सामान्य रूप से होने वाली निर्जरा तो मिथ्यात्व के उदय में भी होती है। मिथ्यात्व का उदय बाद में समाप्त होता है। अनन्तानुबन्धी पहले समाप्त हो जाती है। निर्जरा तो वहाँ भी होती है लेकिन यहाँ इस प्रकार की निर्जरा की बात हम नहीं कर रहे हैं। सजग होकर ज्ञान के साथ जो निर्जरा की जाती है, और पूजन आदि षट् आवश्यकों के माध्यम से वह जितनी-जितनी बढ़ती है उतने-उतने अंशों में वह निराकुल बनता चला जाता है। **यही षट्-आवश्यक श्रावक के लिए निराकुलता में कारण बनते हैं।** सम्यग्दृष्टि इनके माध्यम से विशेष निर्जरा करता है और आगे बढ़ता जाता है।

गृहस्थ होकर भी जितना अधिक आपका धार्मिक क्षेत्र में धन खर्च होगा, उतना ही आपकी सत्ता में जो अनन्तानुबन्धी है वह संक्रमित होकर बिना फल दिये ही चली जायेगी। यदि आप सजग हो करके देवगुरु शास्त्र की पूजन, उनकी उपासना, आराधना, उनका चिंतन करते हैं तो उस समय कर्म खिरते चले जाते हैं। मिथ्यात्व भी जो सत्ता में है वह उदयावली में आकर सम्यक्त्व प्रकृति के रूप में फल देकर चला जाता है। इस प्रकार मिथ्यात्व प्रकृति की निर्जरा हो जाती है और आपके सम्यक्त्व प्रकृति के उदय में सम्यग्दर्शन ज्यों का त्यों बना रहता है।

जिस प्रकार आप लोग आठ घंटे की ड्यूटी दे देते हैं उस समय आपको जो वेतन बंधा हुआ है, वह मिल जाता है विश्वस्त होकर काम करो और थोड़ा प्रमाद भी हो जाये तो भी वेतन पूरा मिलता है ऐसे ही सम्यग्दृष्टि भगवान् के सामने जाकर सो भी जायें तो भी वेतन मिलता रहता है। यदि ओवर ड्यूटी कर ले तो फिर कहना ही क्या? एक व्यक्ति पसीना-पसीना हो रहा था। मैंने पूछा कि भइया! ऐसा इतना काम क्यों करते हो, समय पर किया करो। उसने कहा-क्या करें महाराज! घर की बात, बेटी के दहेज के लिए धन तो चाहिए-इसलिए अभी दो-तीन साल के अंदर ओवर ड्यूटी करके कमा रहा हूँ। अब सोचो, संसार के कार्यों में इस प्रकार कमा सकते हैं तो तप के माध्यम से, षट् आवश्यकों के माध्यम से मोक्षमार्ग में निर्जरा को भी बढ़ा सकते हैं।

समय से पहले अकाल में ही इस प्रकार आवश्यकों के माध्यम से निर्जरा हो सकती है और नये बंध से बचा जा सकता है अतः पूजन आदि करना परम आवश्यक है। पूजन के माध्यम से मात्र बंध ही होता हो ऐसा नहीं है क्योंकि बंध की प्रक्रिया न तो पूजन के समय पूर्णतः रुकी है और न ही विषय भोगों के समय रुकी है बल्कि **जिस समय पूजन करते हैं उस समय पाप की निर्जरा हो जाती है, उसका बंध रुक जाता है और शुभ-बंध प्रारंभ हो जाता है। पूजन को केवल बंध का कारण कहना-इस तत्त्व को नहीं समझना है। साथ ही साथ यह पाप का समर्थन करना है क्योंकि वह व्यक्ति पाप से मुक्त होकर मुनि तो बना नहीं है।**

अष्ट द्रव्य से पूजन करना आस्रव का कारण है, ऐसा उपदेश उन व्यक्तियों के सामने सुनाने योग्य है जो मुनि बनने के लिए तैयार हैं। यदि गृहस्थ होकर द्रव्य पूजन नहीं करना चाहते तो गृहस्थ से ऊपर उठ जाओ, फिर भाव पूजन करो, फिर मंदिर जाने की भी आवश्यकता नहीं है। लेकिन मंदिर जाने की आवश्यकता नहीं है तो घर जाने की भी आवश्यकता नहीं है, यह भी बात है, ध्यान रखो। आप चाहें कि मंदिर जाना छूट जाये, घर में बैठे रहें और निर्जरा भी हो जाये तो संभव नहीं है। निर्जरा नहीं मिलेगी, वहाँ तो जरा ही मिलेगी, बुढ़ापा मिलेगा। अतः सभी विवक्षाओं को देखने, सोचने विचारने की बड़ी आवश्यकता है।

नन्हें-नन्हें बच्चों के सामने यदि पूजा को बंध का कारण बता देंगे तो कभी उनको और न आपको समझ में आयेगा कि वास्तव में आस्रव और बंध क्या है और निर्जरा तत्त्व क्या है, मोक्ष क्या और जीव तत्त्व क्या है? वह श्रेष्ठ डॉक्टर है जो रोगी को दवाई देता है, निदान ठीक-ठीक करता है, साथ ही अनुपान का भी ध्यान रखता है। एक माह का बच्चा है और बीमार हो जाता है तो डॉक्टर औषधि देगा पर उसे ध्यान रखना होगा कि कौन-सी देना, कितनी मात्रा में देना और किस अनुपान के साथ देना है। यदि पहलवान की तरह मात्रा और अनुपान लेंगे तो प्राण संकट में पड़ जायेंगे।

इसी प्रकार जो अभी पूजन ही नहीं कर रहा है, धर्म-ध्यान की ओर जिसकी दृष्टि नहीं है उसे, पूजन बंध का कारण है, यह बता दिया जाए तो वह मोक्षमार्ग पर कभी आरूढ़ नहीं हो पायेगा। मोक्षमार्ग से विचलित होकर उन्मार्ग पर बढ़ जायेगा। निचली बात यदि छुड़ाना है तो धीरे-धीरे उस व्यक्ति को ऊपर की बात उपादेय के रूप में बता दो। यदि द्रव्य पूजन से बचना चाहो तो सभी प्रकार के आरम्भ परिग्रह से ऊपर उठ जाओ, निरारम्भ बन जाओ, निष्परिग्रही हो जाओ, ग्यारह प्रतिमाएँ ले लो।

संसार के तो अनेक पाप कार्य करना और भगवान् की पूजन को बंध का कारण बताना अथवा भोग को निर्जरा का कारण बताना, यह सब जैन सिद्धान्त का अपलाप है। विवक्षा समझनी चाहिए। यह तो मोक्षमार्ग को अप्रशस्त करना है। जो ऊपर उठने वाले हैं उन्हें नीचे गिराना है। सम्यग्दृष्टि का भोग निर्जरा का कारण है लेकिन ध्यान रखना, भोग कभी निर्जरा का कारण नहीं बन सकता।

यदि भोग निर्जरा का कारण है तो योग (ध्यान) बंध का कारण होगा। सोचना चाहिए ऐसा कहने वालों को। कौन से शब्दों का अर्थ, कहाँ क्या लिखा है, किस व्यक्ति के लिए लिखा गया है। कुछ भी याद नहीं। आगम का जरा भी भय नहीं। कोई विवेक नहीं और धर्मोपदेश चल रहा है। यह ठीक नहीं है भइया।

सम्यग्दृष्टि का भोग भी निर्जरा का कारण है- ऐसा कथन आया है, सभी जानते हैं, किन्तु किस व्यक्ति के लिए आया है यह भी देखना चाहिए। जो व्यक्ति बिल्कुल निर्विकार वीतराग सम्यग्दृष्टि बन चुका है और दृष्टि जिसकी तत्त्व तक पहुँच गयी है, इसके सामने वह भोग सामग्री, भोग सामग्री न होकर जड़ पदार्थ मात्र रह गयी है। उस व्यक्ति के लिए कहा है कि तू कहीं भी चला, जाये, तेरे लिए संसार निर्जरा का कारण बन जायेगा।

भगवान् की मूर्ति, वीतराग प्रभु की मूर्ति निर्जरा के लिए कारण है, संवर के लिए कारण है, लेकिन सिनेमाघर में जाकर कोई चित्र देखे तो क्या वहाँ निर्जरा होगी? संभव नहीं है आपको। आप स्वयं को भूल जायेंगे। समाधि के स्थान पर समाप्ति हो जायेगी। व्यसनों में पड़कर भगवान् को भूल जाना, साथ ही अपने आप को भूल जाना अलग है और निर्विकल्प ध्यान में लीन होकर अपने को भूल जाना अलग है, दोनों में बड़ा अन्तर है। एक संसार मार्ग है और एक मुक्ति का मार्ग है। महाव्रती होकर यदि निर्विकार दृष्टि से वीतराग सम्यग्दृष्टि भोग सामग्री को देखता है तो भी उसको निर्जरा ही होगी।

पात्र को देखकर ही कथन करना चाहिए। भोग निर्जरा का कारण सामान्य व्यक्तियों के लिए नहीं है। अभी वह दृष्टि प्राप्त नहीं है जो हर पदार्थ को ज्ञेय बनाये। अभी जब तक दृष्टि इष्ट-अनिष्ट की कल्पना से युक्त है, हेय उपादेय को नहीं पहचानती तब तक वह स्खलित हुए बिना नहीं रहेगी। इसलिए ग्रन्थ का अध्ययन, मनन-चिन्तन तो ठीक ही है लेकिन उसके रहस्य तक पहुँचे बिना कुछ भी कह देना ठीक नहीं है।

प्रत्येक पदार्थ की कीमत अपने-अपने स्थान पर अपने-अपने क्षेत्र में हुआ करती है। जौहरी की दुकान पर आप चले जायेंगे तो वह आपको बिठा लेगा, आपका मान-सम्मान भी करेगा लेकिन आपको अपने हीरे-जवाहरात जल्दी-जल्दी उतावलेपन में नहीं दिखायेगा, न ही देगा। वह ग्राहक को परखता है, फिर ग्राहक के सामने जवाहरात की जो कीमत है, उसे बताता है। बहुत कीमती है ऐसा कहकर बड़ी सावधानी से एक-एक ट्रेजरी खोलता है तब कहीं जाकर एक छोटी सी संदूक और उस संदूक में भी एक छोटी सी डिबिया और उस डिबिया में भी मखमल और मखमल में भी एक पुड़िया। इस प्रकार वह हीरा तो बहुत अंदर है और उसे भी ऐसे ही हाथ में लेकर नहीं दिखाता, दूर से ही दिखा देता है।

इसी प्रकार ग्रन्थराज समयसार में इस निर्जरा तत्त्व की कीमत है। **ग्रन्थराज समयसार आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने सभी के हाथ में नहीं दिया। वे ही हाथ लगा सकते हैं जो मुनि हैं या मुनि बनना चाहते हैं।** वे ही इसकी सही कीमत कर सकते हैं, वे ही इसका चिन्तन, मनन और पाचन कर सकते हैं। यह कोई सामान्य ग्रन्थ थोड़े ही है। जीवन समर्पित किया जाता है उस समय

यह निर्जरा तत्त्व प्राप्त होता है। विषय भोगों को ठुकरा दिया जाता है तब यह हीरा गले में शोभा पाता है, ऐसे थोड़े ही है भइया! बड़ी कीमती चीज है, इस कीमती चीज को आप किसी के हाथ में यूँ ही दे दो तो उसका मूल्यांकन वह नहीं कर पायेगा। जो भूखा है, प्यासा है वह कहेगा यह कोई चमकीली चीज है, इसको ले लो और मुझे तो मुट्ठी भर चना दे दो और आज यही हो रहा है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि तुम्हारी दृष्टि में यदि अभी भोग आ रहे हैं तो तुमने पहचाना नहीं है निर्जरा तत्त्व को। एकमात्र अपने आत्मा में रम जा तू वही निर्जरा तत्त्व है। तेरी ज्ञानधारा यदि ज्ञेय तत्त्व में अटकती है तो निर्जरा तत्त्व टूट जाएगा, वह हार बिखर जायेगा। इस निर्जरा तत्त्व के उपरान्त और कोई पुरुषार्थ शेष नहीं रह जाता है। मोक्ष तत्त्व तो निर्जरा का फल है। मोक्ष तो मंजिल है, वह मार्ग नहीं है। मार्ग यदि कोई है तो वह संवर और निर्जरा हैं। मार्ग में यदि स्खलन होता है तो मोक्ष रूपी मंजिल नहीं मिलेगी। हमें मोह से बचकर मोक्ष के प्रति प्रयत्नशील होना चाहिए। निर्जरा तत्त्व को अपनाना चाहिए।

❑ ❑ ❑

मोक्ष तत्त्व

कल चतुर्दशी थी और प्रतिक्रमण का दिन था। वह प्रतिक्रमण आवश्यक उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि सामायिक आवश्यक है। प्रत्येक आवश्यक में कुछ अलग विषय रखे गये हैं। प्रतिक्रमण आवश्यक में बात बहुत गहरी है। संसारी प्राणी अनादिकाल से आक्रमण करने की आदत को लिए हुए जीवन जी रहा है। परंतु मोक्षपथ का पथिक आक्रमण को हेय समझकर प्रतिक्रमण को, जीवन जीने का एक सफल उपाय मानता है।

आक्रमण का अर्थ है बाहर की ओर यात्रा और प्रतिक्रमण का अर्थ है अंदर की ओर यात्रा, अपने आप की उपलब्धि। इस तरह आक्रमण संसार है तो प्रतिक्रमण मुक्ति है। 'कृत दोष-निराकरणं प्रतिक्रमणं' किये हुए दोषों का मन-वचन काय से, कृत-कारित-अनुमोदना से विमोचन करना, यह प्रतिक्रमण का शब्दार्थ है। इस ओर चलता है वही पथिक, जो मुक्ति की वास्तविक इच्छा रखता है। **अपने आत्मा की उपलब्धि ही मुक्ति है** और प्रतिक्रमण का अर्थ भी है, अपने आप में मुक्ति। दोषों से मुक्ति। संसारी प्राणी दोष करता है किन्तु दोषी नहीं है यह सिद्ध करने के लिए निरन्तर आक्रमण करता जाता है दूसरों के ऊपर। एक असत्य को सत्य सिद्ध करने के लिए हजार असत्यों का आलंबन ले लेता है यही उसे मुक्ति में बाधक बन जाता है।

मुक्ति का अर्थ तो यह है कि दोषों से अपनी आत्मा को मुक्त बनाना। मुञ्च विमोचने त्यागे वा। 'मुञ्च' धातु से बना है यह मोक्ष शब्द। मुञ्च धातु विमोचन के अर्थ में आयी है। कोई ग्रन्थ

लिखे, उस ग्रन्थ का आप विमोचन कर लेते हैं या किसी से करवा लेते हैं परंतु अपने दोषों का विमोचन करने का कोई प्रयास नहीं करता। विमोचन वही करता है जो मुक्ति चाहता है और यह 'मुञ्च' शब्द छोड़ने के अर्थ में आया है, छूटने के अर्थ में नहीं, छूटता है तो धर्म छूट जाता है और छोड़ा जाता है पाप। अनादिकाल से धर्म छूटा है, अब छोड़ना होगा पाप।

प्रत्येक संसारी प्राणी अपने दोषों को मंजूर नहीं करता और न ही उन दोषों का निवारण करने का प्रयास करता है। किन्तु मोक्षमार्ग का पथिक वही है इस संसार में जो अपने दोषों को छोड़ने के लिए और स्वयं अपने हाथों दंड लेने के लिए हर क्षण तैयार है। संसार में मुनि ही ऐसा है जो अपने आप प्रतिक्रमण करता है। मन से, वचन से और काय से जो कोई भी ज्ञात-अज्ञात में प्रमाद के वशीभूत होकर दोष हो गये हों या दोष-युक्त भावना हो गयी हो तो उसके लिए दंड के रूप में स्वीकार करता है वह मुनि। ऐसा कहें कि कल पनिशमेंट डे था, दंड लेने का दिन था, प्रतिक्रमण का दिवस था।

संसारी प्राणी प्रायः दूसरे को दंड देना चाहता है पर अपने आप दंडित नहीं होना चाहता। मुनिराज संसारी प्राणी होते हुए भी दूसरे को दंड देना नहीं चाहते बल्कि खुद प्रत्येक प्राणी के प्रति चाहे वह सुनें या ना सुनें, अपनी पुकार पहुँचा देते हैं। 'एक इन्द्रिय जीव से लेकर पंचेन्द्रिय तक जितने भी जीव हैं उनके प्रति क्षमा धारण करता हूँ, मेरे द्वारा मन से, वचन से, काय से, कृत से कारित से और अनुमोदना से किसी भी प्रकार से, दूसरे के प्रति दुष्परिणाम हो गये हों तो मैं उसके लिए क्षमा चाहता हूँ और क्षमा करता हूँ। ये भाव प्रतिक्रमण के भाव हैं।

आज हम सब आक्रामक बने हैं और आक्रामक जो भी है वह क्रोधी होता है, मानी होता है, मायावी होता है, लोभी होता है, रागी और द्वेषी भी होता है। लेकिन जो प्रतिक्रमण करता है वह इससे विलोम होता है। वह रागी-द्वेषी नहीं होता, वह तो वीतरागी होता है। वह मान के ऊपर भी मान करता है। मान का भी अपमान करने वाला अर्थात् मान को अपने से निकाल देने वाला यदि कोई है तो वह वीतरागी मुनि है। लोभ को भी प्रलोभन देने वाला यदि कोई है तो वह मुनि है। क्रोध को भी गुस्सा दिलाने वाला यदि है तो वह मुनि है। अर्थात् यदि क्रोध उदय में आ जाये तो भी मुनि खुद शान्त बना रहता है और क्रोध शान्त हो जाता है। क्रोध हार मान लेता है।

वास्तविक क्रोधी तो मुनि हैं जो क्रोध के ऊपर भी क्रोध करते हैं, वास्तविक मानी भी मुनि हैं जो मान का अपमान कर लेते हैं और उसे दूर भगा देते हैं। वास्तविक मायावी वही है जो माया को अपना प्रभाव नहीं दिखाने देता। लोभ को प्रलोभन में डालकर उन पर विजय पा लेते हैं। इस प्रकार वह प्रतिक्रमण करने वाला यदि देखा जाये तो बड़ा काम करता है। प्रतिक्रमण चुपचाप होता है लेकिन कषायों को शान्त करने की भावना अहर्निश चलती रहती है। अब मुक्ति के बारे में कहने

की आवश्यकता ही क्या है? आप में से कौन-कौन प्रतिक्रमण के लिए तैयार होते हैं? आत्मा को निर्दोष बनाने की इच्छा किसकी है? जितना-जितना आत्मा को निर्दोष बना लेंगे उतनी-उतनी ही तो है मुक्ति।

माँ परोस रही थी एक थाली में विभिन्न-विभिन्न व्यंजन रखे और लाड़ला लड़का बैठा-बैठा खा रहा था। खाते-खाते जब वह बीच में रुक जाता है तो माँ पूछती है कि बेटा! क्या बात हो गयी? घी और चाहिए क्या? एक बात पूछना चाहता हूँ माँ! वह लड़का कहता है। आप रसोई बनाना छोड़ दें। मेरे अनुमान से आपकी नेत्र ज्योति कुछ कमजोर हो गयी है। बात असल में यह है कि खाते-खाते अचानक कुछ कट्ट से टूटने की आवाज आ गयी है, लगता है कंकर है भोजन में। सारा का सारा जब बाहर निकालता है भोजन, वह लड़का, तो कंकर कहीं नहीं दिखता। माँ समझ जाती है कि बात क्या है! वह कह देती है कि बेटा यह कंकर नहीं है यह मूंग ही ऐसी है। उसका नाम है ठर्रा मूंग। इसकी पहचान वैसे नहीं होती। खाते समय ही होती है। यह दिखता मूंग के समान हरा-हरा है लेकिन यह सीझता (पकता) नहीं है। इसे कितना भी पकाओ यह कभी नहीं पकता, इसी प्रकार ऐसे भी जीव होते हैं जो खुद कभी नहीं सीझते अर्थात् मुक्ति को प्राप्त नहीं हो पाते और कभी-कभी दूसरे की मुक्ति में बाधक हो जाते हैं। बंधुओ! हमारा जीवन मुक्ति मंजिल की ओर बढ़े ऐसा प्रयास करना चाहिए। साथ ही हमारा जीवन दूसरे के लिए, जो मुक्ति पाने के लिए आगे बढ़ रहे हैं, उनके लिए साधक तो कम से कम बनें ही, बाधक नहीं।

यह संसार अनादि अनंत है। इसमें भटकते-भटकते हम आ रहे हैं। **तात्कालिक पर्याय के प्रति हमारी जो आसक्ति है उसे छोड़ना होगा और त्रैकालिक जो है उस पर्याय को धारण करने वाला द्रव्य अर्थात् मैं स्वयं आत्मा कौन हूँ, इसके बारे में चिंतन करना चाहिए।** हमारे आचार्यों ने पर्याय को क्षणिक कहा है और उस पर्याय की क्षणभंगुरता और निस्सारता के बारे में उल्लेख किया है। यद्यपि सिद्ध-पर्याय, शुद्ध-पर्याय हेय नहीं है किन्तु संसारी प्राणी को मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ाने के लिए पर्याय की हेयता बताना अति आवश्यक है। इसके बिना उसकी दृष्टि पर्याय से हटकर त्रैकालिक जो द्रव्य है उस ओर नहीं जा पाती और जब तक दृष्टि अजर-अमर द्रव्य की ओर नहीं जायेगी, तब तक ध्यान रखिएगा, संसार में रचना-पचना छूटेगा नहीं।

एक बार महाराज जी, (आचार्य गुरुवर ज्ञानसागरजी महाराज) के सामने चर्चा की थी कि महाराज! जिसने यहाँ मुनि दीक्षा धारण की और वर्षों तक तप किया और सम्यग्दर्शन के साथ स्वर्ग में सम्यग्दृष्टि देव बन गये तो पुनः वापिस आकर यहाँ संबोधन वगैरह क्यों नहीं देते? तो महाराज जी बोले सुनो-संसारी प्राणी की स्थिति ऐसी है कि क्षेत्र का प्रभाव उसके ऊपर ऐसा पड़ जाता है कि अतीत के अच्छे कार्य को वह भूल जाता है और जिस पर्याय में पहुँचता है वहीं रच-पच जाता

है। वहीं के भोगों में व्यस्त हो जाता है। अन्य गतियों की यही स्थिति है किन्तु मनुष्य गति एक ऐसी गति है जिसमें व्यस्तता से बचा जा सकता है। विवेक जागृत किया जा सकता है।

विवेक छोटे से बच्चे में भी जागृत हो सकता है। तभी तो उस बच्चे ने अपनी माँ से पूछ लिया था कि यह मूंग ऐसा क्यों है? क्या कुछ ऐसे ही मूँग बोये जाते हैं, जो ठर्रा होते हैं? तब माँ कहती है कि नहीं बेटे बोये तो अच्छे ही जाते हैं। एक बीज के माध्यम से एक बाल आ जाती है जिसमें कई मूंग होते हैं जिनमें एकाध ठर्रा मूंग भी हो सकता है। अनेक मूंग के साथ एक मूंग ऐसा भी हो जाता है जो सीझता नहीं है, उस पर द्रव्य, क्षेत्र, काल का प्रभाव नहीं पड़ता उसका स्वभाव ही ऐसा है। कैसा विचित्र स्वभाव पड़ गया है उसका जो न आज तक सीझा है और न आगे कभी सीझेगा। हम सब उसमें से तो नहीं हैं यह विश्वास है, क्योंकि हमारा हृदय इतना कठोर नहीं है। हम सीझ सकते हैं। अपना विवेक जागृत कर सकते हैं।

एक बात और भी है कि ठर्रा नहीं होकर भी कुछ ऐसे मूंग हैं जो अग्नि का संयोग नहीं पाते, जल का संयोग नहीं पाते इसलिए ठर्रा मूंग के समान ही रह जाते हैं। वह भी नहीं सीझ पाते, उनको दूरानुदूर भव्य की उपमा दी गयी है जो ठर्रा मूंग है वे तो अभव्य के समान हैं। जो मूंग बोरी में रखे हैं और वैसे ही अनंत काल तक रखे रहेंगे वो भी नहीं सीझेंगे, वे दूरानुदूर भव्य हैं। इसका अर्थ यह है कि घर में रहते-रहते मुक्ति नहीं मिलेगी। आप चाहो कि घर भी न छूटे और वह मुक्ति भी मिल जाये, हम सीझ जायें तो यह 'भूतो न भविष्यति' वाली बात है। योग्यता होने के बाद भी उस योग्यता का परिस्फुटन अग्नि आदि के संयोग के बिना होने वाला नहीं है। योग्यता है लेकिन व्यक्त नहीं होगी। संयोग मिलाना होगा, पुरुषार्थ करना होगा।

अभव्य से दूरानुदूर-भव्य ज्यादा निकट है और दूरानुदूर भव्य से आसन्न-भव्य ज्यादा निकट है उस मुक्ति के लेकिन भव्य होकर भी यदि अभी तक हमारा अपना नम्बर नहीं आया, इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ है कि आसन्न-भव्य तो हम अपने आप को कह नहीं सकेंगे। भव्य होकर भी हमने संयोग नहीं मिलाया अभी तक। दूरानुदूर भव्य के लिए योग नहीं मिलेगा सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का ऐसा नहीं है, वह मिलायेगा ही नहीं। अर्थात् तदनुरूप उसकी वृत्ति जल्दी नहीं होगी। देखो, परिणामों की विचित्रता कैसी है कि सीझने की योग्यता होते हुए भी नहीं सीझता। इसलिए **जिस समय आत्म-तत्त्व के प्रति रुचि जागृत हो, 'शुभस्य शीघ्रं' उसी समय उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना प्रारम्भ कर देना चाहिए।**

पूज्यपाद स्वामी ने भव्य के बारे में कहा है '**स्वहितम् उपलिप्सु**' अपने हित की इच्छा रखने वाला '**प्रत्यासन्ननिष्ठ कश्चिद् भव्यः**'- कोई निकट भव्य था। जिस प्रकार भूखा व्यक्ति 'अन्न'

ऐसा सुनते ही मुख खोल लेता है उसी प्रकार निकट भव्य की स्थिति होती है। मैं अपने अनुभव की बात बताता हूँ उसी से आप कम्पेयर कर लेना, बाद में। जब हाई स्कूल जाते थे हम, चार मील पैदल चलना पड़ता था और कीचड़ का रास्ता था। तो स्कूल से छूटने के उपरान्त आते-आते तक तो बस बिल्कुल समझो पेट में कबड्डी का खेल प्रारम्भ हो जाता था। तेज भूख लगती थी। वहाँ से आते ही खाना परोस दो, ऐसा कह देते थे। और मालूम पड़ता था कि अभी रसोई तो बनी नहीं है, बन रही है। तो कोई बात नहीं, जो रोटी रखी हैं वही लाओ। बिना साग-सब्जी के भी चल जायेगा। कभी-कभी तो साग आ नहीं पाती थी और जो रोटी पूड़ी आदि परोसी जाती थी उसे थोड़ा-थोड़ा खाते-खाते पूरी खत्म कर देते थे। बाद में अकेली साग खा लेते थे।

तीव्र भूख का प्रतीक है यह। खीर सामने आ जाये और गरम भी क्यों न हो तो भी बच्चे लोग किनारे-किनारे से धीरे-धीरे फूँक-फूँक कर खाना प्रारम्भ कर देते हैं। इसी प्रकार जिस व्यक्ति को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया है वह चारित्र लेने के लिए तत्पर रहेगा। अंदर से छटा-पटी लगी रहती है कि कब चारित्र लूँ। भगवान् की वीतराग छवि को देखकर उसके माध्यम से मुक्ति की ओर बढ़ने का प्रयास करता है। उदाहरण के रूप में कोई मुनि महाराज मिल जायें तो कह देता है कि अब बताने की भी जरूरत नहीं है, हम देख-देखकर कर लेंगे। यही है भव्य जीव का लक्षण। **अवाक् विसर्गं वपुषा निरूपयन्तं मोक्षमार्गम्।'बिना बोले ही वीतरागी मुद्रा से मोक्षमार्ग का निरूपण होता रहता है।**

आप लोग कहते हैं कि महाराज उपदेश दो। अलग से क्या उपदेश दें भइया। दिन-रात उपदेश चल रहा है। क्योंकि मुनि मुद्रा धारण कर लेने के उपरान्त कोई भी ऐसा समय नहीं है जिस समय वीतरागता का दर्शन न होता हो, दया का उपदेश सुनने में न आता हो। बाह्य क्रियाओं के माध्यम से भी उपदेश मिलता है। उपदेश सुनने वाला और समझने वाला होना चाहिए। सम्यग्दृष्टि इस बारे में अवश्य सोचता है। वह प्रत्येक क्रिया में वीतरागता देखता है, मुनि महाराज खड़े होकर एक बार दिन में आहार लेते हैं। खड़े होकर खाओ तो पेट भर आसानी से खाया नहीं जा सकता है। खड़े होकर खाने में अप्रमत्त रहना होता है। थोड़ा भी यदि आसन हिल गया तो अन्तराय माना गया है।

दूसरी बात यह है कि आप सोचते होंगे कि हम तो एक ही हाथ से खाते हैं और मुनिराज तो दोनों हाथों से खाते हैं तो ज्यादा खाते होंगे। ऐसा नहीं है। थाली में खाने से तो एक हाथ की स्वतंत्रता रहती है लेकिन दोनों हाथों में लेकर खाने में सावधानी बढ़ जाती है। जरा भी प्रमाद हुआ और यदि हाथ छूट जाये तो अन्तराय माना गया है। ये सारे के सारे विधि-विधान, नियम, संयम वीतरागता के द्योतक हैं। यही निमित्त बन जाते हैं निर्जरा के लिए। इस प्रकार चौबीस घंटे, बैठते समय, उठते समय, बोलते समय, आहार-विहार-निहार के समय या शयन करते समय भी आप चाहें तो मुनियों के माध्यम से वीतरागता की शिक्षा ले सकते हैं। लेने वाला होना चाहिए।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के उपरान्त तो चारित्र धारण करने की भूख तीव्र से तीव्रतम् हो जाती है। कठिन से कठिन चारित्र पालन करने की क्षमता आ जाती है। सम्यग्दृष्टि सोचता है कि मुझे जल्दी-जल्दी मुक्ति मिलना चाहिए, इसलिए चारित्र को जल्दी-जल्दी अंगीकार कर लो। **यदि चारित्र लेने की रुचि नहीं हो रही है तो इसका अर्थ यही निकलता है कि या तो ठर्रा मूंग है या अभी दूरानुदूर भव्य है।** आसन्न-भव्य की गिनती में तो नहीं आ रहा है। भाई, चारित्र लेने में जल्दी करना चाहिए, पीछे नहीं रहना चाहिए '**शुभस्य शीघ्रं।**'

मुक्ति का मार्ग है छोड़ने के भाव। जो त्याग करेगा उसे प्राप्त होगी निराकुल दशा। यही कहलाता है वास्तविक मोक्ष, निराकुलता जितनी-जितनी जीवन में आये, आकुलता जितनी-जितनी घटती जाये उतना-उतना मोक्ष आज भी संभव है।

आपको खाना खाते समय सोचना चाहिए कि पाँच रोटी खाने से आपकी भूख मिटती है तो क्या पाँच रोटी साबुत एक ही साथ मशीन जैसे डाल लेते हैं पेट में? नहीं, एक एक ग्रास करके खाते हैं। एक ग्रास के माध्यम से कुछ भूख मिटती है, दूसरे के माध्यम से कुछ और भूख मिटती है, ऐसा करते-करते पाँच रोटी के अन्त में अन्तिम ग्रास से तृप्ति हो जाती है। कह देते हैं आप कि अब नहीं चाहिए। इसी प्रकार निरन्तर निर्जरा के माध्यम से एक देश मुक्ति मिलती जाती है। पूर्णतः मुक्त होने का यही उपाय है।

एकदेश आकुलता का अभाव होना, यह प्रतीक है कि सर्वदेश का भी अभाव हो सकता है। रागद्वेष आदि आकुलता के परिणामों को जितना-जितना हम कम करेंगे उतनी-उतनी निर्जरा भी बढ़ेगी और जितने-जितने भाग में निर्जरा बढ़ेगी उतनी-उतनी निराकुल दशा का लाभ होगा। आकुलता को छोड़ने का नाम ही मुक्ति है। आकुलता के जो कार्य हैं आकुलता के जो साधन हैं द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव, इन सबको छोड़कर जहाँ निराकुल भाव जागृत हो वह अनुभव ही निर्जरा और मुक्ति है। आपने तो शायद समझ रक्खा है कि कहीं कोई कोठी या भवन बना हुआ है वहाँ जाना है, ऐसा नहीं है, कोई भवन नहीं है भइया। मोक्ष तो यहीं है आत्मा में है।

मोक्ष आत्मा से पृथक् तत्त्व नहीं है। आत्मा का ही एक उज्ज्वल भाव है। वह फल के रूप में है। सभी का उद्देश्य यही है कि अपने को मोक्ष प्राप्त करना ''जिस समय मोक्ष होने वाला है उस समय हो जायेगा। मुक्ति मिल जायेगी। प्रयास करने की आवश्यकता नहीं है। प्रयास करने से कैसे मिलेगी, प्रयास करना फालतू है''-ऐसा कुछ लोग कह देते हैं। ठीक है भइया, यदि नियत ही आपका जीवन बन जाये तो मैं उस जीवन को सौ-सौ बार नमन करूं। आप प्रत्येक क्षेत्र में नियत अपनाओ, जो पर्याय आने वाली है वह उसी समय आयेगी, अपने को क्या करना' होता स्वयं जगत् परिणाम'- अभी तो जीवन में 'मैं करता जग का सब काम'- सारा काम तो कर रहे हैं आप।

मुक्ति मिल जायेगी। यदि सारी की सारी पर्यायें नियत हैं तो फिर इधर-उधर भाग क्यों रहे हैं आप। आज आधी सभा जुड़ी है, कल पूरी ठसाठस भरी थी और अगले दिन सब खाली। सब यहाँ-वहाँ चले जायेंगे, यहाँ तो पार्श्वनाथ भगवान् रह जायेंगे जो मुक्त हैं। यदि सब नियत है तो फिर जाना कहाँ? प्रत्येक समय में प्रत्येक पर्याय होती है और वह पर्याय नियत है। यदि यह श्रद्धान हो जाये तो मुक्ति दूर नहीं परन्तु आपका जहाँ मन आया वहाँ नियतिवाद को अपना लिया और जहाँ इच्छा हुई, नहीं अपनाया। यह ठीक नहीं है।

मान लो, बारह बजे रोजाना खाना खाते हैं आप, तो बारह बजे बिल्कुल नियत है आपका खाना। बारह बजे बैठ जाओ और अपनी पत्नी और रसोइये को भी कह दो कि बारह बजे तो खाने का नियत समय है, क्यों पसीना-पसीना हो रहे हो, बैठ जाओ आराम से कुर्सी के ऊपर, तुम्हें भी एक थाली आ जायेगी और मुझे भी आ जायेगी। आयेगी, समय से आयेगी। इसमें क्या जल्दी करना। दृढ़ श्रद्धान के साथ बैठ जाओ आप। लेकिन ऐसा कहाँ करते हैं आप। कह देते हैं कि देर हो जायेगी, जल्दी-जल्दी रसोई बनाओ, बारह बजे खाना है और अभी तक रसोई नहीं बनायी, दस मिनट रह गये, जल्दी करो जल्दी करो, देर हो जायेगी। ऐसा आप समय से पहले ही रसोइये को कहते हैं कि नहीं। समय से पहले ही उतावली करने लगते हैं। क्रोध आने लगता है। ध्यान रखो नियतिवादी को क्रोध नहीं आता। किसी की गल्ती भी नजर नहीं आती। उसके सामने प्रत्येक पर्याय नियत है।

देखो, जानो, बिगड़ो मत- यह सूत्र अपनाता है वह। देखता रहेगा, जानता रहेगा लेकिन- बिगड़ेगा नहीं और आप लोग बिगड़े बिना नहीं रहते। आप देखते भी हैं, जानते भी हैं और बिगड़ जाते हैं इसलिए नियतिवाद को छोड़ देते हैं। भगवान् ने जो देखा वह नियत देखा, जो भी पर्याय निकली यह सब भगवान् ने देखा था, उसी के अनुसार होगा। तब फिर क्रोध, मान, माया लोभ के लिए कोई स्थान नहीं है। यदि आप क्रोध करते हैं तो अर्थ यह हुआ कि सारी की सारी व्यवस्था पर पानी फेर दिया। नियतिवाद को नकार दिया।

एक बुढ़िया थी। बहुत संतोषी थी। खाती-पाती और सो जाती। पैसा बहुत था उसके पास। चोरों को मालूम हुआ तो उन्होंने बुढ़िया के घर चोरी की बात सोच ली। चार पाँच चोर गये, देखा बुढ़िया तो सोई हुई थी। उन्होंने सोचा ठीक है, पहले बुढ़िया के घर भोजन कर लें फिर बाद में देखेंगे। उन्होंने भोजन कर लिया, सब कुछ लेकर चलने लगे उसी समय कुछ गिर गया और आवाज होते ही बुढ़िया ने जोर से कहा कि हे भगवान् बचाओ। आवाज सुनकर आसपास जो भी लोग थे, आ गये।

अब चोर क्या करें। बाहर तो भाग नहीं सकते इसलिए इधर-उधर छिप गये। पड़ोसी आकर के पूछते हैं बुढ़िया से कि माँजी क्या बात हो गयी। आपके यहाँ कुछ हो गया क्या? तब बुढ़िया ने जवाब दिया कि मैं क्या जानूँ सब ऊपर वाला (भगवान्) जाने। लोग समझे कोई ऊपर होना चाहिए। सबने ऊपर देखा तो वहाँ चोर बैठा था। उसने सोचा मैं क्यों फँसूं। उसने कहा कि दरवाजे के पीछे छिपा है। दरवाजे के पीछे वाला कहता है वह बोरी के पीछे छिपा है जो, वह जाने। बोरी के पीछे वाला रसोई की तरफ इशारा कर देता है, इस प्रकार सभी चोर पकड़ में आ गये। जब दंड देने वाली बात आती है तब बुढ़िया कह देती है कि हम क्या, वही ऊपर वाला जाने। दंड देने का अधिकार भी हमें नहीं है। जो है सो है, वह भगवान् जाने। यदि ऐसा समता परिणाम आ जाये तो आप को भी कर्म रूपी चोरों से छुटकारा मिल सकता है।

नियतिवाद का अर्थ यही है कि अपने आप में बैठ जाना, समता के साथ। कुछ भी हो परिवर्तन परन्तु उसमें किसी भी प्रकार का हर्ष-विषाद नहीं करना। प्रत्येक कार्य के पीछे यह संसारी प्राणी अहं बुद्धि या दीनता का अनुभव करता है। कार्य तो होते रहते हैं लेकिन यह उसमें कर्तृत्व भी रखता है। हमारे भगवान् कर्तृत्व को एक द्रव्य में सिद्ध करके भी बाह्य कारण के बिना उसमें किसी भी कार्य रूप परिणत होने की क्षमता नहीं बताते। कार्य रूप जो द्रव्य परिणत होता है इसमें बाहर का भी कोई हाथ है ऐसा जानकर कोई भी व्यक्ति अभिमान नहीं कर सकेगा। यह नहीं कह सकेगा कि मैंने ही किया। दूसरी बात बाह्य कारण ही सब कुछ करता हो, ऐसा भी नहीं है। कार्य रूप ढलने की योग्यता उपादान में है इसलिए दीनता भी नहीं अपनाना चाहिए।

इस प्रकार दीनता और अहं भाव दोनों हट जाते हैं और कार्य निष्पन्न हो जाता है। 'मैं कर्त्ता हूँ' यह भाव निकल जाये। समय पर सब होता है, 'मैं' करने वाला कौन- यह भाव आ जाये तो समता आ जायेगी। और सब दूसरे के आश्रित हैं, मैं नहीं कर सकूँगा ऐसा भाव भी समाप्त हो जायेगा।

आम पकने वाला है। आम में पकने की शक्ति है। मिठास रूप परिणमन करने की शक्ति है, रस रूपी गुण उसमें है। अब देखो आम कब लगते हैं। जब आम लगते हैं और छोटे-छोटे रहते हैं तब संख्या में बहुत होते हैं। यदि उस समय आप उन्हें तोड़ लो तो क्या होगा। रस नहीं मिलेगा क्योंकि वे अभी पके नहीं हैं। दो महीने बाद पकेंगे। अब यदि कोई सोचे कि ठीक है अभी तोड़ लो, दो महीने बाद तो पकना ही है, पक जायेंगे। भइया! पकेंगे नहीं बेकार हो जायेंगे। यह क्यों हुआ? आम के पास पकने की क्षमता तो है और दो महीने चाहिए पकने के लिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्हें अभी तोड़कर दो महीने बाद पका लो। वे तो वहीं डंठल के ऊपर टहनी के ऊपर लगे रहें तभी पकेंगे। बाह्य निमित्त भी आवश्यक है। दो महीने तक उगते रहें, हवा पानी खाते रहें, सूर्य प्रकाश लेते रहें तभी पकेंगे।

इतना अवश्य है कि सभी आमों का नम्बर एक साथ नहीं आयेगा इसलिए यदि आप चाहें तो दो महीने से पंद्रह दिन पहले तोड़कर एक साथ पाल में रख दें, पाँच दिन तक, जो बिल्कुल एक साथ पककर आ जायेंगे। दो महीने तक ही डाल पर लगे रहें यह भी नियम नहीं रहा और दो महीने पहले तोड़कर रख लें तो पकेंगे, यह भी नियम नहीं रहा। योग्यता और बाह्य निमित्त दोनों को लेकर ही कार्य होगा।

मुक्ति के लिए आचार्यों ने बताया है कि हम ऐसे पकने वाले नहीं हैं। जिस प्रकार आम डाली के ऊपर पक जाते हैं। इस प्रकार संसार में लटकते-लटकते हमें मुक्ति नहीं मिलेगी। ''पाल विषे माली'' ऐसा बारह भावनाओं के चिंतन करते समय निर्जरा भावना में कहा है। जो आसन्न भव्य है वह अपने आत्म पुरुषार्थ के माध्यम से तप के द्वारा आत्मा को तपाकर अविपाक निर्जरा कर लेता है और शीघ्र मुक्ति पा जाता है, यही मोक्ष तत्त्व का वास्तविक स्वरूप है।

एक बात और कहता हूँ अपनी। काम कुछ करना न पड़े और लाभ प्राप्त हो जाये इसलिए हमने एक दूसरे को कह दिया कि तुम आम तोड़ो और तोड़ने के उपरान्त कच्चे ही आधे तुम्हारे और आधे हमारे हैं। हिस्सा कर लिया। अब उन्हें पकाने का ठिकाना भी अलग-अलग कर लिया किन्तु उतावलापन बहुत था। शाम को पकाने पाल में डाले और सुबह उठकर उनको दबा-दबाकर देखा कि पक गये। दो दिन में ही सारे आम मुलायम तो हो गये पर हरापन नहीं गया और मीठापन भी नहीं आया। पकने का अर्थ होता है कि मीठापन और मुलायमपन आना चाहिए।

कुछ नहीं मिला सारा काम बिगड़ गया। ध्यान रहे एकाग्रता न होने से कुछ नहीं मिल पाता। एकाग्र होकर साधना करनी चाहिए। निराकुल होकर साधना करनी चाहिए। यहाँ तक कि आप मोक्ष के प्रति भी इच्छा मत करना। इच्छा का अर्थ है संसार और इच्छा का अभाव है मुक्ति। मुक्ति कोई ऐसी चीज नहीं है जिसे पाने कहीं जाना है, वह मुक्ति तो निराकुल भावों का उद्‌घाटन करना है अपने अंदर।

आज तक राग का बोलबाला रहा है। वास्तव में देखा जाये तो संसारी प्राणी के दुख का कारण है राग। '**संसार सकल त्रस्त है आकुल विकल है और इसका कारण एक ही है कि/ हृदय से नहीं हटाया विषय राग को, हमने हृदय में नहीं बिठाया, वीतराग को, जो है शरण तारण-तरण।**' अतः अपने को वीतरागता को अपने हृदय में स्थान देना चाहिए और राग को हटाना चाहिए। राग के हटने पर ही वीतरागता आयेगी। जहाँ राग रहेगा वहाँ वीतराग अवस्था नहीं है, राग में धीरे-धीरे कमी लायें। राग में कमी आते-आते एक अवस्था में राग समाप्त हो जायेगा और पूर्ण वीतराग-भाव प्रकट होंगे। वह प्राणी स्वभावनिष्ठ बनेगा और सारा संसार नतमस्तक हो जायेगा।

सुख को चाहते हुए भी हम राग को नहीं छोड़ पाते इसलिए दुख को नहीं चाहते हुए भी दुख पाते हैं। **राग है दुख का कारण। सुख का कारण है वीतराग।** दोनों ही कहीं बाहर से नहीं आते। राग बाहर की अपेक्षा अवश्य रखता है किन्तु आत्मा में ही होता है और वीतराग भाव 'पर' की अपेक्षा नहीं किन्तु आत्मा की अपेक्षा रखता है। बाह्य की अपेक्षा का अर्थ है संसार और आत्मा की अपेक्षा का अर्थ है मुक्ति। यदि अपेक्षा मात्र आत्मा की रही आये और संसार से उपेक्षा हो जावे तो यह प्राणी मुक्त हो सकता है, अन्यथा नहीं।

मुक्ति पाने का उपक्रम यही है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र-को अपनाकर निर्ग्रन्थता अपनायें। सब ग्रंथियां खोल दें। एकाकी होने का प्रयास करें। कोई व्यक्ति देश से देशान्तर जाता है तो सीमा पर उसकी जांच की जाती है कि कहीं कोई आपत्तिजनक चीज तो लेकर के नहीं जा रहा। इसी प्रकार मुक्ति का मार्ग भी ऐसा ही है कि आप कुछ छिपाकर ले नहीं जा सकते। बाह्य और अंतरंग सभी प्रकार के संग को छोड़कर जब तक आप अकेले नहीं होओगे तब तक मुक्ति का पथ नहीं खुलेगा।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये वीतरागता के प्रतीक हैं। इन तीनों के साथ कोई बाह्य आडम्बर नहीं रह सकेगा, सांसारिक परिग्रह नहीं रहेगा। एक मात्र शरीर शेष रह जाता है और उसे भी परिग्रह तब माना जाता है जब शरीर के प्रति मोह हो। शरीर को मात्र मोक्षमार्ग में साधक मानकर जो व्यक्ति चलता है वह व्यक्ति निस्पृह है और वही मुक्ति का भाजक बन सकता है। एक द्रव्य-मुक्ति होती है और दूसरी भाव मुक्ति। द्रव्य-मुक्ति, भाव-मुक्तिपूर्वक ही होती है। अर्थात् भाव-मुक्ति हुए बिना द्रव्य-मुक्ति नहीं होती। द्रव्य-मुक्ति का अर्थ है नोकर्म अर्थात् शरीर और आठ कर्मों का छूटना। और भाव-मुक्ति का अर्थ है मोह-भाव का हट जाना। दो व्यक्ति हैं और दोनों के पास एक-एक तोला सोना है। मान लो, उसमें एक बेचने वाला है, दूसरा बेचने वाला नहीं है। तो जो बेचने वाला नहीं है वह भावों की तरफ 'सोने के' भाव की तरफ नहीं दौड़ेगा किन्तु जो बेचने वाला है वह भावों की ओर भाग रहा है, उसे सोने का अभाव है नींद नहीं आती ठीक से। तो सोने के लिए अर्थात् नींद लेने के लिए सोने के भाव की तरफ मत देखो, सोना तब भी ज्यों का त्यों रहेगा।

मोहभाव का हट जाना ही मुक्ति है। जो भी दृश्य देखने में आ रहे हैं उन सभी के प्रति मोह हटना चाहिए। जिन-जिन वस्तुओं के प्रति आपका मोह है वही तो संसार है, और जिन-जिन पदार्थों के प्रति मोह नहीं है उन-उन पदार्थों की अपेक्षा आप मुक्त हैं। पड़ोसी के पास जो धन-पैसा है उससे आपका कोई सरोकार नहीं है लेकिन आपने अपने पास जो रख रक्खा है उसमें आपने अपना स्वामित्व माना है, उस अपेक्षा से आप बंधे हैं मुक्त नहीं हैं। मोह का अभाव हो जाये तो आज भी मुक्ति है, उसका अनुभव आप कर सकते हैं।

आज भी रत्नत्रय के आराधक, रत्नत्रय के माध्यम से अपनी आत्मा को शुद्ध बनाने वाले साधक, ऐसे मुनि महाराज हैं। जो आत्म-ध्यान के बल पर स्वर्ग चले जाते हैं और वहाँ इन्द्र या लौकान्तिक देव होते हैं और फिर मनुष्य होकर मुनि बनकर मोक्ष को प्राप्त करते हैं। मुक्ति आज भी है और ऐसी मुक्ति कि जैसे कोई यहाँ से देहली जा रहा है, एकदम एक्सप्रेस से लेकिन वह एक्सप्रेस गाड़ी बीच में रुक कर के जाती है, पटरी नहीं बदलती, उसी पटरी पर चलती है लेकिन कुछ विश्राम लेती है डायरेक्ट (सीधे) नहीं जाती। आज डायरेक्ट मुक्ति तो नहीं है बीच में इन्द्र रूप या लौकान्तिक रूप स्टेशन पर रुकना पड़ता है। यह रुकना, रुकना नहीं कहलाता क्योंकि वह उस मोक्ष पथ से च्युत नहीं हुआ अर्थात् सम्यग्दर्शन छूटता नहीं है, इसलिए रत्नत्रय की जो भावना यहाँ भायी है वह रुकने के उपरान्त भी बनी रहती है। भावना रहती है कि कब रत्नत्रय मिले। इस प्रकार एक-एक समय बीतता है और श्रुत की आराधना करते हुए इन्द्र या लौकान्तिक आदि देव अपना समय व्यतीत करते हैं।

बंधुओ! मुक्ति का मार्ग है तो मुक्ति अवश्य है। आज भी हम चाहें तो रागद्वेष का अभाव कर सकते हैं। सांसारिक पदार्थों की अपेक्षा जो किसी से रागद्वेष नहीं है वही तो मुक्ति की भूमिका है। यह जीवन आज बन सकता है। सिद्ध परमेष्ठी के समान आप भी बन सकते हैं। अभी आपकी रुचियाँ अलग हो सकती हैं। धारणा अलग हो सकती है, विश्वास अलग हो सकता है किन्तु यदि व्यक्ति चूक जाता है तो अन्त में पश्चात्ताप ही हाथ लगता है। यह स्वर्ण जैसा अवसर है। यह जीवन बार-बार नहीं मिलता इसकी सुरक्षा, इसका विकास, इसकी उन्नति को ध्यान में रखकर इसका मूल्यांकन करना चाहिए।

जो व्यक्ति इसको मूल्यवान समझता है वह साधना-पथ पर कितने ही उपसर्ग और कितने ही परीषहों को सहर्ष अपनाता है। महावीर भगवान् ने जो रास्ता बताया, बताया ही नहीं बल्कि उसी रास्ते से गये हैं वह रास्ता उपसर्ग और परीषहों में से होकर गुजरता है। मुनिराज इसी रास्ते पर चलते हैं। यह रास्ता वातानुकूल हो सारी की सारी सुविधाएँ हों ऐसा नहीं है। मोक्षमार्ग तो यही है जो परीषह-जय और उपसर्गों से प्राप्त होता है।

उत्साह के साथ, खुशी के साथ अपना तन-मन-धन सब कुछ लगाकर मुक्ति का मार्ग अपनाना चाहिए। इस बार निश्चय करें कि हे भगवान् अपने को किस प्रकार मुक्ति मिले। मुक्ति तो अविपाक निर्जरा का फल है और अविपाक निर्जरा तप के माध्यम से होती है तो हम तप करें। भगवान से प्रार्थना करें और निरन्तर भावना करें कि हमारे मोहजन्य भाव पलट जायें और मोक्षजन्य भाव जो हैं, जो निर्विकार भाव हैं, वे जागृत हों।

❑ ❑ ❑

अनेकान्त

पूज्य गुरुदेव (स्व. आचार्य ज्ञानसागर जी) के सान्निध्य में मेरा 'दर्शन' (फिलॉसफी) का अध्ययन चल रहा था। उस समय के विचार या भाव आज भी मेरे मानस में पूर्ववत् तरंगायित हैं। मैंने पूछा- महाराज जी! आपने कहा था कि मुझे न्याय-दर्शन का विषय कठिनाई से हस्तगत होगा, इसका क्या कारण है? वे बोले- देखो! प्रथमानुयोग- पौराणिक कथाओं और त्रेसठ शलाकापुरुषों का वर्णन करने वाला है वह सहज ग्राह्य है। करणानुयोग-भूगोल का ज्ञान कराता है, दूरवर्ती होने के कारण उस पर भी विश्वास किया जा सकता है। चरणानुयोग में आचरण की प्रधानता है, अहिंसा को धर्म माना है। किसी को पीड़ा दो- यह किसी भी धर्म में नहीं कहा गया इसलिए यह भी सर्वमान्य है। किन्तु द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत आगम और अध्यात्म ये दो प्ररूपणायें चलती है। प्रत्येक आत्मार्थी, अध्यात्म को चाहता है अत: जहाँ पर इसका कथन मिलता है वहाँ तो साम्य हो जाता है परन्तु 'आगम' में साम्य नहीं हो पाता।

'ध्यान' के विषय में भी सब एकमत हैं। ध्यान करना चाहिए- मुक्ति के लिए यह अनिवार्य है किन्तु ध्यान किसका करना? उसके लिए ज्ञान कहाँ से कैसे प्राप्त करें? यह सब 'आगम' का विषय है। आगम के भी दो भेद हैं कर्म सिद्धान्त और दर्शन। कर्म सिद्धान्त को सारी दुनिया स्वीकार करती है अपने-अपने ढंग से, दृष्टियाँ अलग-अलग हैं लेकिन कर्म को सबने स्वीकृत किया है। अब रहा दर्शन। दर्शन के क्षेत्र में तत्त्व चिन्तक अपने-अपने ज्ञान के अनुरूप विचार प्रस्तुत करते हैं। ऐसी स्थिति में छद्मस्थ (अल्पज्ञ) होने के कारण वैचारिक संघर्ष संभव है।

इतना सब सुनने के उपरान्त मैंने सहज ही पूछ लिया कि महाराज जी! इस सबसे आपका क्या आशय है? वे बोले- 'देखो! षड्दर्शन के अन्तर्गत वास्तव में जैन-दर्शन कोई अलग दर्शन नहीं है। वह इन छह दर्शनों का सम्मिलित करने वाला दर्शन है। जो छह दर्शनों को लेकर अलग-अलग भाग रहे हैं उन सभी को एकत्र करके समझने और समझाने वाला यह जैन दर्शन है।' मैंने कहा- तब तो इसके लिए सभी के साथ मिलन की और समता-भाव की बड़ी आवश्यकता पड़ेगी। महाराज जी हँसने लगे और बोले कि इसीलिए तो मुनि बनाया है। मुनि बनने के उपरान्त समता होनी चाहिए, तभी अनेकान्त का हार्द विश्व के सामने रख सकोगे। यदि समता नहीं रखोगे तो सम्यग्दर्शन को भी नहीं समझ सकोगे।

बंधुओ! जैन दर्शन को समझने के लिए पूज्य गुरुदेव द्वारा निर्दिष्ट यह सूत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जैन-दर्शन किसी की वकालत नहीं करता अपितु जो वकालत करने के लिए विविध तर्कों से लैस (सुसज्जित) होकर संघर्ष की मुद्रा में आता है उसे साम्यभाव से सुनकर सही-सही जजमेंट (न्याय) लेता है, निष्पक्ष होकर निर्णय करता है।

आज हम लोगों के सामने ३६३ मतों की कोई समस्या नहीं उठ सकती, उन्हें समझा और समझाया जा सकता है, बशर्ते कि हम सबकी बात सुनें और समझें। किसी की बात को काटना नहीं है क्योंकि जिसका अस्तित्व है उसका विनाश संभव नहीं है। विनाश की प्रवृत्ति संघर्ष को जन्म देती है।

हमें जानना चाहिए कि **अनेकान्त का हृदय है समता। सामने वाला जो कहता है उसे सहर्ष स्वीकार करो क्योंकि दुनिया में ऐसा कोई भी मत नहीं है जो भगवान् की देशना (उपदेश) से सर्वथा असम्बद्ध हो।** हम दूसरे की बात समतापूर्वक सुनें और समझें। कभी-कभी ऐसा होता है कि बुद्धि का विकास होते हुए भी समता के अभाव में दूसरे के विचारों का ठीक-ठीक अर्थ नहीं समझ पाने से जो लाभ मिलना चाहिए वह नहीं मिल पाता।

विविध प्रकार के ३६३ मतों का उद्‌गम कहाँ से हुआ। जरा विचार करें, तो ज्ञात होगा कि इनका उद्‌गम तीर्थंकर की अनुभय-भाषा में खिरने वाली वाणी का सही-सही अर्थ नहीं समझ पाने से हुआ। केवलज्ञान होने के उपरान्त तीर्थंकर की दिव्यध्वनि खिरती है। यह दिव्यध्वनि अनक्षरी होती है। इनमें वचन अनुभय रूप होते हैं। सभी प्राणी जिसे सुनकर अपनी-अपनी योग्यता के अनुरूप अर्थ लगा लेते हैं। जिसका होनहार अच्छा होता है, जो पुरुषार्थ करता है वह दिव्यध्वनि के माध्यम से सन्मार्ग पर अग्रसर हो जाता है और जिसे अभी संसार ही रुचता है वह वस्तु-स्थिति को नहीं समझता हुआ विभिन्न मतों में उलझ जाता है।

विविध ३६३ मतों के माध्यम से आने वाली किसी भी समस्या को जैनदर्शन का अनुयायी सहज ही झेल जाता है। कोई समस्या ही नहीं है स्याद्वादी के सामने। निष्पक्ष होकर निर्णय लेने वाले जज को कभी परेशानी नहीं होती। वकील लोग भले ही इधर की उधर या उधर की इधर बात करते रहें लेकिन जज के मुख पर कोई क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं होती। वह दोनों पक्षों को सुनता है, समझता है। दोनों पक्ष एकांगी होते हैं इसीलिए झगड़ा होता है यह बात जज जानता है। वह एक तरफा दलीलें सुनकर न्याय नहीं करता। एकांगी होकर न्याय हो भी नहीं सकता। न्याय तो अनेकान्त से ही संभव है। स्याद्‌वादी ही सही निर्णय लेने में सक्षम है।

यदि कोई व्यक्ति भगवान् से कहता है कि आप अज्ञानी है। तो वे समता भाव से कह देंगे कि हाँ, यह भी ठीक है। आप लोग तो सुनते ही लड़ने को तैयार हो जायेंगे कि हमारे भगवान् अज्ञानी नहीं हो सकते। आपके भीतर जिज्ञासा बलवती होगी। आप सोच में पड़ गये होंगे कि क्या ऐसा भी संभव है। तो भइया! कथंचित् यह संभव है। केवलज्ञानी भी कथंचित् अज्ञानी साबित हो जायेंगे। यदि आप इन्द्रिय-ज्ञान की अपेक्षा देखें तो इन्द्रिय-ज्ञान केवली भगवान् को नहीं होता, इस अपेक्षा से वे अज्ञानी हो गये। आपके पास पाँच में से चार ज्ञान हो सकते हैं मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान

और मन:पर्यय ज्ञान। लेकिन भगवान् के पास तो एक ही ज्ञान है। ऐसी स्थिति में वे अज्ञानी हो गये (श्रोताओं में हँसी)। यही है सापेक्ष दृष्टि। इसी को कहते हैं अनेकान्त दर्शन।

एक नैयायिक मत है जो '**ज्ञानादिविशेष-गुणाभावः मुक्तिः**'- ज्ञानादि विशेषगुणों के अभाव को मुक्ति मानता है। भगवान् कहते हैं कि हाँ, कथंचित् आपकी बात भी ठीक है। 'ठीक है'- ऐसा कहने से उसका स्वागत हो जाता है। मित्रता बन जाती है, वह आकर समीप बैठ जाता है। **सम्यग्दर्शन कोई मोम का थोड़े ही है कि पिघल जाये।** आप सोचते हैं कि ऐसा करने से कहीं मेरा सम्यग्दर्शन न टूट जाये। सम्यग्दर्शन में सर्वाधिक दृढ़ता होती है। वज्र टूट सकता है लेकिन सम्यग्दर्शन ऐसा खण्डित नहीं होता। अतः पहले सामने वाले की बात स्वीकार करो फिर अनेकान्त के माध्यम से समझाओ कि देखो! चार ज्ञान का तो अभाव, केवलज्ञान होने पर हम भी मानते हैं। केवलज्ञान विशेष नहीं सामान्य है, शक्ति की अपेक्षा वह तो हमेशा बना रहता है। केवल अर्थात् Nothing else, only knowledge कुछ भी नहीं मात्र ज्ञान।

ज्ञानादि विशेष गुणों का अभाव हो जाता है, तो विशेष को जैन-दर्शन में पर्याय माना है और पर्याय का अभाव तो होता ही है। गुण का अभाव कभी नहीं होता। गुण त्रैकालिक होता है यह बात भी माननी चाहिए। इस प्रकार मित्रता के माहौल में सारी बात हो तो धीरे-धीरे अनेकान्त के माध्यम से आँख खुल सकती है। संसार में जो विचार वैषम्य है उसका कारण है दृष्टि की संकीर्णता। आचार्य कहते हैं कि विचार-वैषम्य को यदि मिटाना चाहते हो तो दृष्टि को व्यापक बनाना होगा। सभी के विचार सुनकर अनेकान्त के आलोक में पदार्थ का निर्णय करना ही समझदारी है।

अनेकान्त की प्ररूपणा के लिए सहायक है नयवाद। भगवान् ने केवलज्ञान के माध्यम से जो भी जाना उसकी प्ररूपणा की नयवाद के माध्यम से। यद्यपि केवली भगवान् 'अपगत श्रुत' माने जाते हैं फिर भी उनको द्रव्यश्रुत का आलंबन लेना पड़ता है। वे वचन योग के माध्यम से उसे लेकर द्वादशांग वाणी के स्रोत बन जाते हैं इसलिए मूलकर्त्ता वही हैं। उन्होंने सारी बात जानकर यही कहा है कि किसी की बात काटो मत, सबकी सुनो, समझो और जहाँ भी थोड़ी गल्ती हो रही है उसे सुधारने का प्रयास करो। तभी वस्तु के बारे में ठीक-ठीक ज्ञान होगा।

नय, एक-एक धर्म के विश्लेषक हैं और धर्म एक ही वस्तु में अनन्त माने गये हैं। 'अनेकान्तात्मक वस्तु' या 'अनन्तधर्मात्मकं वस्तु'। वस्तु अनेक धर्मों को लिए हुए है। **अनेकेः अन्ताः धर्माः यस्मिन् विद्यन्ते इति अनेकान्तः**- अर्थात् अनेक धर्म जिसमें समाविष्ट हैं ऐसी अनेकान्तात्मक वस्तु है। उसे जानने के लिए छद्मस्थ का ज्ञान सक्षम नहीं है। इसलिए उस ज्ञान से प्रत्येक धर्म का आंशिक ज्ञान तो हो सकता है किन्तु सम्पूर्ण ज्ञान नहीं होता। अतः वस्तु नित्य है, अनित्य है,ध्रुव है, अध्रुव है इस प्रकार एक-एक धर्म की प्ररूपणा करते हैं। भगवान् ने केवलज्ञान के द्वारा जो कुछ

देखा-जाना वह सब प्ररूपित नहीं है, वह तो अनन्त है। श्रुत को अनन्त नहीं माना, अनन्त का कारण अवश्य माना है। जितने शब्द-भेद हैं, जितने विकल्प हैं, उतने ही श्रुत हैं। श्रुत अनन्त नहीं, असंख्यात हैं। **यदि हम विकल्पों में ही उलझे रहे तो केवलज्ञान प्राप्त नहीं होगा। इसलिए वाद-विवाद से परे निर्विवाद होने के लिए, केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए अनेकान्त का अवलंबन लिया गया है।**

वास्तव में अनेकान्त कोई वाद नहीं है। अनेकान्तात्मक वस्तु है और उसका प्ररूपण करने वाला वाद है स्याद्वाद। वस्तु में जो अनेक धर्म हैं उनका प्ररूपण करने वाला जो श्रुत है वह एक अंश को पकड़ने वाला, एक धर्म को पकड़ने वाला है। यही स्याद्वाद है। स्याद्वाद का अर्थ ही कथंचित्वाद या नयवाद है। यह बहुत गूढ़ है, इसे चक्र की उपमा दी गयी है। नयचक्र कहा गया है। मैं इस ओर आपका ध्यान ले जाना चाहता हूँ। जब कौरवों और पाण्डवों के बीच युद्ध हो रहा था, द्रोणाचार्य कौरवों की ओर हो गए। चक्रव्यूह की रचना की गयी। पांडवों की ओर से अर्जुन का पुत्र अभिमन्यु जिसे 'वीर' की उपाधि दी गयी थी, कौरवों द्वारा निर्मित चक्रव्यूह में विजय-प्राप्ति की अभिलाषा से प्रवेश कर गया। वह प्रवेश तो कर गया क्योंकि प्रविष्ट होने का ज्ञान तो उसे था पर निकलने का नहीं था। ठीक ऐसा ही आज हो रहा है। अनेकान्त का, स्याद्वाद का सहारा ले तो लेते हैं लेकिन ठीक-ठीक समझ नहीं पाने से उसी में उलझकर रह जाते हैं।

अनेकान्त का सहारा लेकर स्याद्वाद के माध्यम से प्ररूपणा करने वाला व्यक्ति बहुत ही धीरे-धीरे गम्भीर होता है, समीचीन दृष्टि वाला होता है। वह निर्भीक होता है लेकिन ध्यान रखना, निर्दयी कदापि नहीं होता। निर्दयी होना और निर्भीक होना- एक बात नहीं है। कभी-कभी हम कोई बात जोर से कहते हैं। तो आपको लगता होगा कि महाराज! बहुत जोर से बोलते हैं इसलिए कषाय तो होती होगी। तो भइया! आचार्य वीरसेन स्वामी कहते हैं कि कषाय के साथ संक्लेश परिणामों का अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है। **''ण कासायउड्ढी असादबंधकारणं तक्काले सादस्स वि बंधुवलंभा''** अर्थात् कषाय की वृद्धि असाता वेदनीय के बंध का कारण नहीं है, वहाँ सातावेदनीय कर्म का भी बंध होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि आप लोग कषाय करना प्रारम्भ कर दें, नहीं, ऐसा मत करना। यहाँ आशय इतना ही है कि सही बात जोर से भी कही जाये, एक बार ही नहीं बार-बार कही जाये, तो इसमें सत्य का समर्थन है, उसे बल मिलता है। जैसे आप लोग मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि दो तीन बार तक कहते हैं और जोर-जोर से कहते हैं। ऐसा कहते हुए भी होश नहीं खोते। वहाँ जोश अवश्य होता है पर रोष नहीं होता।

''वादार्थो विचराम्यहं नरपते! शार्दूल विक्रीडितम्'' - आचार्य समन्तभद्र स्वामी की बात बड़े मार्के की है। वे कहते हैं कि मैं सिंह के समान सत्य को कहने के लिए विचरण करता हूँ। यह

निर्भीकता की बात है। यहाँ संक्लेश नहीं है। सिंह के स्वभाव के बारे में भी आपको जानकारी होनी चाहिए। सिंह मनुष्य की तुलना में अधिक दयावान है। कर्म सिद्धान्त कहता है कि सिंह यदि कषाय भी करे तो उसके फलस्वरूप पंचम नरक तक जा सकता है परन्तु मनुष्य की कषाय इतनी तीव्र होती है कि सप्तम नरक का भी उद्घाटन कर सकता है।

अनेकान्त के रहस्य को पहचानना चाहिए। दूसरे का विरोध करने की आदत ठीक नहीं है। कोई कुछ कहे उसे सर्वप्रथम स्वीकार करना चाहिए। कहना चाहिए कि हाँ भाई, आपका कहना भी कथंचित् ठीक है। 'भी' का अर्थ अनेकान्त और 'ही' का अर्थ है एकान्त। 'भी' में कथंचित् स्वागत है और 'ही' में आग्रह है, दूसरे को नकारना है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये चार गुण सम्यग्दर्शन के लक्षण हैं। प्रत्येक द्रव्य के पास जो अस्तित्व है उसे नकारा नहीं जाना चाहिए। जो उसे नकार देता है तो सोचिये उसके पास सम्यग्दर्शन रह कैसे सकता है। द्रव्य पर श्रद्धान रखने वाला मात्र अपने आत्मा पर ही श्रद्धान नहीं रखता, इसलिए आत्मद्रव्य की भाँति जो अन्य द्रव्य हैं उन पर भी श्रद्धान आवश्यक है। वस्तु को प्रत्येक पहलू से देखना, समझना और निराग्रही होकर स्वीकार करना, यही अनेकान्त के रहस्य को समझना है।

स्याद्वाद को समझने के लिए नयों की व्यवस्था की गयी है। नयों के बिना हम ठीक-ठीक समझ नहीं सकते। 'नय' शब्द 'नी' धातु से बना है जिसका अर्थ है जो ले जाता है वह नय है। **'नयति इति नयः।'** कहाँ ले जाता है? तो कहना होगा कि अनेकान्तात्मक वस्तु की ओर ले जाता है। इतना ही नहीं, यह भी समझना होगा कि एक ही नय इसके लिए सक्षम नहीं है। नय का एक अर्थ ऐसा भी है कि **'नय एव नयनं' नय ही नयन अर्थात् आँख है।** आँख सभी के पास है। लेकिन कितनी हैं। सभी कह देंगे कि दो हैं। तो ऐसे ही नय भी कम से कम दो हैं। दोनों आँखों से देखकर ही सही निर्णय लिया जा सकता है। जब दोनों आँखें आपस में लड़ती हैं तब आत्मा को दुख हो जाता है।

समझने के लिए यदि दाहिनी आँख दायीं ओर पड़ी वस्तु देख रही है और बायीं आँख बायीं ओर पड़ी वस्तु देख रही है और आप दोनों आँखों के बीच नाक पर एक दीवार खींचकर पार्टीशन बना ले फिर देखें तो ज्ञात होगा कि उस समय दूसरी बायीं आँख किसी अन्य वस्तु को अपना विषय नहीं बनाती बल्कि सहयोगी बनती है। यदि आप जबरदस्ती दोनों आँखों से दो अलग चीजों को विषय बनाना चाहेंगे तो माथे में दर्द होने लग जाएगा। देख लेना, आप इसे स्वयं करके।

एक बात और कि आँखों के द्वारा वस्तु को देखना है तो एक आँख को गौण करना होता है। बंद करना होता है। अभी तीन-चार दिन पूर्व ही पण्डित जी की आँख की जांच चल रही थी आँगन में, तो डाक्टर (आई-स्पेशलिस्ट) ने कहा था- पण्डित जी! एक आँख हाथ से बंद कर लीजिये।

पण्डित जी ने एक आँख पर हाथ रख लिया थोड़ी देर बाद उसने कहा-अब इसे खोल लीजिए और दूसरी आँख बन्द कर लीजिए। यह सब क्या है? सोचिये, पण्डित जी को दोनों आँखों से देखना चाहिए, अच्छा देखने में आयेगा। लेकिन ऐसा नहीं है। डाक्टर का निर्णय ही सही है। एक आँख दूसरे की सहयोगी बनती है और मुख्य गौण रूप से काम करती है। जब दूरबीन आदि से दूरवर्ती वस्तु को या सूक्ष्मदर्शी के द्वारा सूक्ष्म वस्तु को आप देखते हैं तो भी एक आँख बंद कर ली जाती है। वह गौण हो जाती है। यही बात नय के विषय में है।

नय जो है उसके माध्यम से समग्र वस्तु का ग्रहण नहीं हो पाता इसलिए मुख्य रूप से दो नयों की व्यवस्था है और वे हैं व्यवहार नय और निश्चय नय। दोनों नय उपयोगी हैं। अमृतचंद्र आचार्य ने 'समयसार कलश' में लिखा है कि देखो! जो व्यवहार नय को नहीं मानोगे तो आत्मा का कल्याण नहीं हो सकेगा। **एक प्रकार से कहा जाए तो व्यवहार नय का अर्थ है विश्व-कल्याण और निश्चय नय का अर्थ है आत्म-कल्याण। लेकिन ध्यान रखना मात्र निश्चय नय से आत्म-कल्याण तो कर ही नहीं सकते, विश्व-कल्याण भी नहीं कर सकते।** जिसको आत्मा का कल्याण करना है उसे चाहिए कि दुनिया के सारे गोरखधंधे छोड़कर मुनिव्रत धारण कर लें। समता-भाव पूर्वक दोनों नयों को आलम्बन लेना होगा।

भगवान ने निश्चय नय से अपनी आत्मा को अपनी आत्मा में रहकर बिना किसी सहारे के जाना है। निश्चय नय से वह आत्मज्ञ है। साथ ही व्यवहार नय से वे सर्वज्ञ भी है। इसलिए उन्होंने दोनों नयों का कथन करके व्यवहार नय को 'पर' के लिए रखा और निश्चय नय को 'स्व' के लिए। अतः स्व-पर के भेदविज्ञान के माध्यम से ही 'प्रमाण' की ओर बढ़ा जाता है।

एक नदी के तट पर मैं एक बार गया था। बहुत सुहावना दृश्य था। नदी बह रही है निर्बाध गति से, लहरें नहीं हैं, नदी शान्त है। जब नदी की ओर देखना बंद करके तट की ओर दृष्टिपात किया तो विचार आया ओहो! नदी कोई अलग चीज और तट कोई अलग चीज है। मूल के बीच अर्थात् तटों के बीच बहने वाली नदी है। एक ओर का कूल (तट) दूसरे ओर के कूल (तट) के लिए तो प्रतिकूल ही है। एक की दिशा दक्षिण है तो दूसरे की उत्तर की ओर है। एक पूर्व की ओर है तो दूसरे की पश्चिम की ओर। दोनों पृथक् -पृथक् हैं। कभी मिलेंगे भी नहीं, मिल भी नहीं सकते। जैसे रेखागणित में बताया कि समानान्तर रेखाएँ कभी मिलती नहीं हैं, ऐसा ही यहाँ है।

नदी के दोनों तट एक-दूसरे के प्रतिकूल हैं। परन्तु बंधुओं! एक कूल दूसरे के लिए प्रतिकूल होकर भी नदी के लिए तो अनुकूल ही है। इसी तरह व्यवहार नय, निश्चय नय के लिए और निश्चय नय-व्यवहार नय के लिये अनुकूल न होकर भी 'प्रमाण' के लिए अनुकूल हैं और प्रमाण ---प्रमाण तो नदी है।

जिनेन्द्र भगवान् की दिव्य ध्वनि हम लोगों के लिए प्रमाण है, नदी के समान निर्मल है। जो लोग निश्चय नय या व्यवहार नय को लेकर लड़ रहे हैं वे नदी को ही समाप्त कर रहे हैं। अभी साढ़े अठारह हजार वर्ष शेष हैं अभी पानी बहुत पीना है। अभी ऐसे लोग भी आयेंगे जो दोनों तटों को सुदृढ़ बनायेंगे, इतना मजबूत बनायेंगे कि नदी अबाध रूप से, अनाहत गति से बहती चली जाए। महावीर भगवान् की दिव्यध्वनि एक निरन्तर प्रवाहमान निर्झर के समान है। आप उस शीतल वाणी रूपी जल को पी कर तृप्त होएँ। तट कुछ भी नहीं है परन्तु तट के बिना सुस्वादु पानी भी प्राप्त नहीं होगा। एक भी तट विच्छिन्न हो जाता है तो नदी का पानी छिन्न-भिन्न होकर समाप्त हो जाता है। इसलिए दोनों तटों को रखिये और उस प्रमाण रूपी नदी में अवगाहन कीजिये जिसमें आत्मानुभूति सम्भाव्य है।

नयों को ठीक-ठीक नहीं समझने के कारण यह संसारी प्राणी विभिन्न मत-मतान्तरों में उलझ जाता है। मात्र तट की ही सेवा करने वाला कभी पानी नहीं पी सकेगा। हम तो कहते हैं कि कोई अनादिकालीन प्यासा व्यक्ति होगा तो वह सीधा डुबकी लगाये बिना नहीं रहेगा। डुबकी तट में नहीं लगायी जाती, हाँ इतना अवश्य है कि तट के माध्यम से डुबकी लगायी जायेगी। जो इस ओर से आयेगा वह इस तट की प्रशंसा करेगा, उधर से आने वाला उस तट की प्रशंसा करेगा लेकिन तट पर ठहरेगा नहीं, डुबकी लगायेगा तभी गहराई मिलेगी, जहाँ बस आनन्द ही आनन्द है। मैं डुबकी लगा रहा हूँ तो मुझे आनन्द हो रहा है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि इधर-उधर तट की ओर मत देखो, शीघ्र ही अपनी प्यास बुझा लो।

अमृतचंद्र आचार्य ने एक स्थान पर पुण्य-पाप अधिकार में यह उल्लेख किया है कि नय दो हैं मुख्य रूप से -निश्चय और व्यवहार। जो व्यक्ति एकमात्र व्यवहार नय के माध्यम से क्रियाकाण्ड में फँस जाते हैं वे आत्मानुभूति से वंचित रह जाते हैं और जो निश्चय नय का महत्त्व क्या है यह नहीं समझते और मात्र निश्चय, निश्चय रटते चले जाते हैं वे भी डूब जाते हैं। उन्होंने कहा है - '**ज्ञाननयैषिणः**' अर्थात् जो ज्ञान को भी एकान्त रूप से मानकर चले जाते हैं वे भी डूब जाते हैं। दोनों नयों को जानकर भी जो असंयमी रह जाते हैं वे भी डूब जाते हैं। जो संयमी हैं, अप्रमत्त है वे ही तैर पाते हैं।

''**ज्ञान बिना रट निश्चय-निश्चय, निश्चय-वादी भी डूबे। क्रियाकलापी भी ये डूबे, डूबे संयम से ऊबे। प्रमत्त बनकर कर्म न करते अकम्प निश्चल शैल रहे। आत्मध्यान में लीन, किन्तु मुनि तीन लोक पर तैर रहे।**'' यहाँ पर आचार्य द्वारा प्रयुक्त 'प्रमत्त' शब्द समझने योग्य है। प्रमाद के ही फलस्वरूप यह जीव संसार में भटकता रहा है। प्रमाद एक ऐसा प्रत्यय है जो बाहर

भटकता है। आत्मा के लिए आत्मा की ओर जाने में एक प्रकार का व्यवधान उपस्थित कर देता है। प्रमाद अर्थात् '**कुशलेषु अनादरः प्रमादः।' भीतर जो आत्म-तत्त्व के प्रति तनिक-सा भी आलस्य आ जाता है उसका नाम प्रमाद है।** जिसमें हमारा हित निहित है उसके प्रति किसी भी प्रकार की आलस्य-प्रवृत्ति ही प्रमाद है। अनादिकाल का यह प्रमाद, हम लोगों का हटा नहीं है।

स्व जीविते कामसुखे च तृष्णया, दिवा श्रमार्ता निशि शेरते प्रजाः।

त्वमार्य नक्तंदिवमप्रमत्तवान्, नजागरे वात्म विशुद्धवर्त्मनि॥

हे भगवन्! आपने बड़ा अद्‌भुत काम किया। क्या किया? देखो दिन रात यह संसारी प्राणी कहाँ फँसा हुआ है? कहाँ अटका हुआ है? इन्द्रियों के सुख की तृष्णा से पीड़ित होकर दिन में तो नाना प्रकार से परिश्रम करके थक जाता है और रात्रि होने पर बिस्तर पर ऐसा गिर जाता है जैसा कि मुहावरे में कहा है कि घोड़े बेचकर सोता है। उसे होश भी नहीं रहता किन्तु रात भर सोकर जब पेट पुनः खाली हो जाता है तो फिर उठता है और वही क्रम शुरू हो जाता है ऐसा करते-करते अनन्तकाल व्यतीत हो गया। लेकिन हे भगवन्! आप आत्मा को शुद्ध करने वाले मोक्षमार्ग में जागते ही रहे दिन रात। यही अप्रमत्त दशा आपकी श्रेयस्कर है।

मैं यही कहना चाहूँगा कि वस्तु अनेकान्तात्मक है। अनेकान्त कोई 'वाद' नहीं है। वस्तु का समीचीन कथन करने वाला स्याद्‌वाद अवश्य है, जो सब वादों को खुश कर देता है। जो कोई भी एकान्त को पकड़े हुए है उसे स्याद्‌वाद के माध्यम से जो कुछ देने योग्य है, दे देना चाहिए। जैसे एक व्यक्ति विजय पाने युद्ध क्षेत्र में जा रहा है और मात्र तलवार लेकर खड़ा है तो आप क्या कहेंगे उसे, 'कि तू गलत है, रणांगण में जाने की तुझे कोई बुद्धि नहीं है, विवेक नहीं है, तुझे विजय प्राप्त नहीं हो सकती।' नहीं, ऐसा कहना ठीक नहीं है। उससे कहना होगा कि भइया! आपने तलवार तो ले ली, यह बहुत अच्छा किया, दूसरे पर प्रहार किया जा सकता है लेकिन आत्म-रक्षा तो नहीं की जा सकती। अतः एक ढाल भी ले लेना चाहिए।

निश्चय नय ढाल की तरह है, आत्मा की सुरक्षा करता है और व्यवहार नय तलवार के समान है जो 'पर' के ऊपर वार करने के काम आता है। इस आत्म-सुरक्षा के लिए 'निश्चय' रखो और दूसरे के लिए- उसे समझाने के लिए 'व्यवहार' को अपनाओ। तलवार और ढाल के बीच एक समन्वय है, दोनों का जोड़ा (युग्म) है। दोनों से सज्जित सैनिक ही अपने बाहुबल से विजय प्राप्त कर सकता है। करता भी है। जिसके पास निश्चय रूपी ढाल है वह आत्मा के स्वभाव की ओर ध्यान रखेगा उसकी सुरक्षा करेगा और विषय कषायों को जिनको तोड़ना है, जिनको छोड़ना है उन्हें तलवार रूपी व्यवहार के माध्यम से हटाता चलेगा। व्यवहार नय को छोड़ो मत, उसे निश्चय के

साथ रखो। व्यवहार सापेक्ष निश्चय और निश्चय सापेक्ष व्यवहार ही मोक्ष मार्ग में कार्यकारी है। मात्र व्यवहार नय से तीन काल में भी केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होगा, नहीं होगा, नहीं होगा। साथ ही व्यवहार के माध्यम से समता धारण किये बिना, निश्चय नय का विषय वीतराग-विज्ञान भी नहीं मिलेगा, नहीं मिलेगा, नहीं मिलेगा।

अब इसके आगे और क्या कहूँ, भइया! आपका समय पूरा हो गया। हम तो यही कहना चाहते हैं कि अपने विवेक को जागृत रखो। यदि षट्दर्शनों का अध्ययन करोगे तो आपको स्वतः ज्ञात हो जाएगा कि अनेकान्तात्मक वस्तु क्या है? जब 'अष्टसहस्री' और 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' इन ग्रन्थों को मैं पढ़ रहा था, महाराज जी; पूज्य आचार्य ज्ञानसागरजी के पास तो वे शंकित हुए कि मैं इसमें सफल हो पाऊँगा या नहीं किन्तु यह मात्र आशंका ही सिद्ध हुई। मैं समझ गया इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस व्यक्ति के समता आ जाएगी, वह सारे के सारे विरोधी प्रश्नों को पचा जायेगा और उनके सही-सही उत्तर देने में सक्षम हो जायेगा। समता के बिना ममता के साथ यदि प्रमत्त दशा में जीवन-यापन करोगे तो विजय-श्री का वरण नहीं कर सकोगे।

वह भी एक समय था जब भगवान् महावीर के जमाने में अनेकान्त की प्रशंसा होती थी लेकिन आज अनेकान्त को मानने वाले स्याद्वाद के अभाव में परस्पर विवाद कर रहे हैं। अन्य जैनेतर भाई कहते हैं कि भइया! आपके पास तो स्याद्वाद रूपी एक ऐसा अचूक नुस्खा है कि आप हमारी, अपनी और सभी की समस्या को निपटा सकते हैं लेकिन आज आप स्वयं ही आपस में क्यों झगड़ रहे हैं? उन्हें भी विस्मय होता है। इसलिए बंधुओ! समता धारण करो। यदि कोई व्यक्ति एकान्त पकड़ लेता है तो भी आपका यदि वीतराग समता भाव है तो अवश्य उस पर प्रभाव पड़ सकता है। धीरे-धीरे उसे सत्य समझ में आने लगेगा। स्याद्वाद का अर्थ- 'मेरा भी सही'- ऐसा है। 'ही' से 'भी' की ओर बढ़ना- यह स्याद्वाद का लक्ष्य है।

६ के आगे ३ हों तो ६३ बनता है और ३ के आगे ६ हो तो होंगे। ३६/३६ की स्थिति में तो अनेकान्तात्मक वस्तु मिट जाती है, स्याद्वाद समाप्त हो जाता है। जब ६३हों तो मिलन की स्थिति होती है संवाद होता है। स्याद्वादी पीठ नहीं दिखाता किसी को। पीठ दिखाने का अर्थ है उपेक्षा करना, घृणा करना। एक दूसरे की ओर मुख किये हुए ६ और ३ अर्थात् ६३, यह ६३ शलाका पुरुषों के प्रतीक है। आज त्रेसठ शलाका पुरुष वर्तमान में यहाँ नहीं हैं तो भी उनके द्वारा उपदेशित अनेकान्त दर्शन, सभी दर्शनों और मत-मतान्तरों के बीच समाधान करने वाला है। एकान्त को लिए हुए जो ज्ञान है वह अहितकारी सिद्ध होता है। अनेकान्तात्मक ज्ञान हमारे लिए हितकारी है। अनेकान्त को मानने वाले जैन लोग हैं। एक व्यक्ति ने सुझाया था कि 'जैन' शब्द की अपेक्षा जैनी

शब्द ठीक है। अंग्रेजी में JAIN शब्द में एक आई (I) है। आई(Eye) का एक अर्थ आँख भी है। 'JAINI' शब्द में दो आई यानि दो आँखें हैं। यह अनेकान्त की प्रतीक है। दो आँखें दो नय के समान हैं। दोनों नयों के माध्यम से हम प्रमाण (ज्ञान)को समीचीन रूप से आत्मसात कर सकते हैं। इसी में हमारा आत्मकल्याण भी निहित है।

मेरा आपसे यही कहना है कि **सब वादों में जितने भी वाद हैं, विवाद हैं उनके बीच संवाद बनायें। स्याद्वाद के माध्यम से वस्तु-स्थिति को समझें और सत्य को प्राप्त करें।** सुख की उपलब्धि का यही मार्ग है।

आनंद का स्रोत : आत्मानुशासन

आज हम एक पवित्र आत्मा की स्मृति के उपलक्ष्य में एकत्रित हुए हैं। भिन्न-भिन्न लोगों ने इस महान् आत्मा का मूल्यांकन भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से किया है। लेकिन सभी अतीत में झांक रहे हैं। महावीर भगवान् अतीत की स्मृति मात्र से हमारे हृदय में नहीं आयेंगे। वास्तव में देखा जाये तो महावीर भगवान् एक चैतन्य पिंड हैं, वे कहीं गये नहीं हैं वे, प्रतिक्षण विद्यमान हैं किन्तु सामान्य आँखें उन्हें देख नहीं पातीं।

देश के उत्थान के लिए, सामाजिक विकास के लिए और जितनी भी समस्याएँ हैं उन सभी के समाधान के लिए आज अनुशासन को परम आवश्यक माना जा रहा है। लेकिन भगवान् महावीर ने अनुशासन की अपेक्षा आत्मानुशासन को श्रेष्ठ माना है। **अनुशासन चलाने के भाव में मैं बड़ा और दूसरा छोटा इस प्रकार का कषाय भाव विद्यमान है लेकिन आत्मानुशासन में अपनी ही कषायों पर नियंत्रण की आवश्यकता है।** आत्मानुशासन में छोटे- बड़े की कल्पना नहीं है। सभी के प्रति समता भाव है।

अनादिकाल से इस जीव ने कर्तृत्व-बुद्धि के माध्यम से विश्व के ऊपर अनुशासन चलाने का दम्भ किया है, उसी के परिणाम-स्वरूप यह जीव चारों गतियों में भटक रहा है। चारों गतियों में सुख नहीं है, शान्ति नहीं है, आनंद नहीं है, फिर भी यह इन्हीं गतियों में सुख-शान्ति और आनंद की गवेषणा कर रहा है। वह भूल गया है कि दिव्य घोषणा है संतों की, कि सुख-शान्ति का मूल स्रोत आत्मा है। वहीं इसे खोजा और पाया जा सकता है। यदि दुख का, अशान्ति और आकुलता का कोई केन्द्र बिन्दु है तो वह भी स्वयं की विकृत दशा को प्राप्त आत्मा ही है। विकृत-आत्मा स्वयं अपने ऊपर अनुशासन चलाना नहीं चाहता, इसी कारण विश्व में सब ओर अशान्ति फैली हुई है।

भगवान् महावीर की छवि का दर्शन करने के लिए भौतिक आँखें काम नहीं कर सकेंगी, उनकी दिव्य ध्वनि सुनने, समझने के लिये ये कर्ण पर्याप्त नहीं हैं। ज्ञानचक्षु के माध्यम से ही हम महावीर भगवान् की दिव्य छवि का दर्शन कर सकते हैं। उनकी वाणी को समझ सकते हैं। भगवान् महावीर का शासन रागमय शासन नहीं रहा, वह वीतरागमय शासन है। वीतरागता बाहर से नहीं आती, उसे तो अपने अन्दर जागृत किया जा सकता है, यह वीतरागता ही आत्म-धर्म है। यदि हम अपने ऊपर शासन करना सीख जायें, आत्मानुशासित हो जाएँ तो यही वीतराग आत्म-धर्म, विश्व धर्म बन सकता है।

भगवान पार्श्वनाथ के समय ब्रह्मचर्य की अपेक्षा अपरिग्रह को मुख्य रखा गया था। सारी भोग-सामग्री परिग्रह में आ जाती है। इसलिए अपरिग्रह पर अधिक जोर दिया गया। वह अपरिग्रह

आज भी प्रासंगिक है। भगवान् महावीर ने उसे अपने जीवन के विकास में बाधक माना है। आत्मा के दुख का मूल स्रोत माना है। किन्तु आप लोग परिग्रह के प्रति बहुत आस्था रखते हैं। परिग्रह छोड़ने को कोई तैयार नहीं है। उसे कोई बुरा नहीं मानता। जब व्यक्ति बुराई को अच्छाई के रूप में और अच्छाई को बुराई के रूप में स्वीकार कर लेता है तब उस व्यक्ति का सुधार, उस व्यक्ति का विकास असम्भव हो जाता है। आज दिशाबोध परमावश्यक है। परिग्रह के प्रति आसक्ति कम किये बिना वस्तुस्थिति ठीक प्रतिबिम्बित नहीं हो सकती।

'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' की घोषणा सैद्धान्तिक भले ही हो किन्तु प्रत्येक कार्य के लिए यह तीनों बातें प्रकारान्तर से अन्य शब्दों के माध्यम से हमारे जीवन में सहायक सिद्ध होती है। आप देखते हैं कि कोई भी, सहज ही किसी को कह देता है या **माँ अपने बेटे को कह देती है कि बेटा, देखभाल कर चलना। 'देख' यह दर्शन का प्रतीक है, 'भाल'- विवेक का प्रतीक है अर्थात् सम्यग्ज्ञान का प्रतीक है और 'चलना' यह सम्यक् चारित्र का प्रतीक है।** इस तरह यह तीनों बातें सहज ही प्रत्येक कार्य के लिए आवश्यक है।

आप संसार के विकास के लिए चलते हैं तो उसी ओर देखते हैं, उसी को जानते हैं। महावीर भगवान् आत्म-विकास की बात करते हैं। उसी ओर देखते, उसी को जानते हैं और उसी की प्राप्ति के लिए चलते हैं। इसलिए महावीर भगवान् का दर्शन ज्ञेय पदार्थों को महत्त्व नहीं देता अपितु ज्ञान को महत्त्व देता है। ज्ञेय पदार्थों से प्रभावित होने वाला वर्तमान भौतिकवाद भले ही अध्यात्म की चर्चा कर ले किन्तु अध्यात्म को प्राप्त नहीं कर सकता। ज्ञेय तत्त्व का मूल्यांकन आप कर रहे हैं और सारा संसार ज्ञेय बन सकता है किन्तु मूल्यांकन करने वाला किस जगह बैठा है उसे भी देखने की बहुत आवश्यकता है। अध्यात्म का प्रारंभ उसी से होगा।

आपकी घड़ी की कीमत है, आपकी खरीदी हुई प्रत्येक वस्तु की कीमत है किन्तु कीमत करने वाले की कीमत क्या है? अभी यह जानना शेष है। जिसने इसको जान लिया उसने महावीर भगवान् को जान लिया। अपनी आत्मा को जान लेना ही सारे विश्व को जान लेना है। भगवान् महावीर के दिव्य ज्ञान में सारा विश्व प्रतिबिंबित है। उन्होंने अपनी आत्मा को जान लिया है। अपने शुद्ध आत्म-तत्त्व को प्राप्त कर लिया है। अपने आप को जान लेना ही हमारी भारतीय संस्कृति की विशेषता है। यही अध्यात्म की उपलब्धि है। जहाँ आत्मा जीवित है वहीं ज्ञेय-पदार्थों का मूल्यांकन भी संभव है।

शुद्ध आत्मतत्त्व का निरीक्षण करने वाला व्यक्ति महान् और पवित्र होता है। उसके कदम बहुत ही धीमे-धीमे उठते हैं किन्तु ठोस उठते हैं, उनमें बल होता है, उनमें गांभीर्य होता है, उसके साथ विवेक जुड़ा हुआ रहता है। विषय-कषाय उससे बहुत पीछे छूट जाते हैं।

जो व्यक्ति वर्तमान में ज्ञानानुभूति में लीन है वह व्यक्ति आगे बहुत कुछ कर सकता है। किन्तु आज, व्यक्ति अतीत की स्मृति में उसी की सुरक्षा में लगा है या फिर भविष्य के बारे में चिंतित है कि आगे क्या होगा? इस प्रकार वह स्वयं वर्तमान पुरुषार्थ को खोता जा रहा है। वह भूल रहा है कि वर्तमान में से ही भूत और भविष्य निकलने वाले हैं। अनागत भी इसी में से आयेगा और अतीत भी इसी में ढलकर निकल चुका है। जो कुछ कार्य होता है वह वर्तमान में होता है और विवेकशील व्यक्ति ही उसका संपादन कर सकता है। **भविष्य की ओर दृष्टि रखने वाला आकांक्षा और आशा में जीता है। अतीत में जीना भी बासी खाना है। वर्तमान में जीना ही वास्तविक जीना है।**

अतीत भूत के रूप में व्यक्ति को भयभीत करता है और भविष्य की आशा, 'तृष्णा' बनकर नागिन की तरह खड़ी रहती है जिससे व्यक्ति निश्चिंत नहीं हो पाता। जो वर्तमान में जीता है वह निश्चिंत होता है, वह निडर और निर्भीक होता है। साधारण सी बात है कि जिस व्यक्ति के वर्तमान में अच्छे कदम नहीं उठ रहे उसका भविष्य अंधकारमय होगा ही। कोई चोरी करता रहे और पूछे कि मेरा भविष्य क्या है? तो भैया वर्तमान में चोरी करने वालों का भविष्य क्या जेल में व्यतीत नहीं होगा, यह एक छोटा सा बच्चा भी जानता है। **यदि हम उज्ज्वल भविष्य चाहते हैं तो वर्तमान में रागद्वेष रूपी अपराध को छोड़ने का संकल्प लेना होगा।**

अतीत में अपराध हो गया कोई बात नहीं। स्वीकार कर लिया। दंड भी ले लिया। अब आगे प्रायश्चित करके भविष्य के लिए अपराध नहीं करने का जो संकल्प ले लेता है वह ईमानदार कहलाता है। वह अपराध अतीत का है, वर्तमान का नहीं। वर्तमान यदि अपराध-मुक्त है तो भविष्य भी उज्ज्वल हो सकता है। यह वर्तमान पुरुषार्थ का परिणाम है। भगवान् महावीर यह कहते हैं कि डरो मत! तुम्हारा अतीत पापमय रहा है किन्तु यदि वर्तमान सच्चाई लिए हुए है तो भविष्य अवश्य उज्ज्वल रहेगा। भविष्य में जो व्यक्ति आनन्दपूर्वक, शान्तिपूर्वक जीना चाहता है उसे वर्तमान के प्रति सजग रहना होगा।

पाप केवल दूसरों की अपेक्षा से ही नहीं होता। आप अपनी आत्मा को बाहरी अपराध से सांसारिक भय के कारण भले ही दूर रख सकते हैं किन्तु भावों से होने वाला पाप, हिंसा, झूठ, चोरी आदि हटाये बिना आप पाप से मुक्त नहीं हो सकते। भगवान् महावीर का जोर भावों की निर्मलता पर है, जो स्वाश्रित है। **आत्मा में जो भाव होगा वही तो बाहर कार्य करेगा। अंदर जो गंदगी फैलेगी वह अपने आप बाहर आयेगी।** बाहर फैलने वाली अपवित्रता के स्रोत की ओर देखना आवश्यक है। यही आत्मानुशासन है जो विश्व में शांति और आनंद फैला सकता है।

जो व्यक्ति कषाय के वशीभूत होकर स्वयं शासित हुए बिना विश्व के ऊपर शासन करना चाहता है, वह कभी सफलता नहीं पा सकता। आज प्रत्येक प्राणी राग, द्वेष, विषय-कषाय और मोह-मत्सर को संवरित करने के लिए संसार की अनावश्यक वस्तुओं का सहारा ले रहा है। यथार्थतः देखा जाये तो इन सभी को जीतने के लिए आवश्यक पदार्थ एक मात्र अपनी आत्मा को छोड़कर और दूसरा है ही नहीं। आत्म-तत्त्व का आलंबन ही एकमात्र आवश्यक पदार्थ है। क्योंकि आत्मा ही परमात्मा के रूप में ढलने की योग्यता रखता है।

इस रहस्य को समझना होगा कि विश्व को संचालित करने वाला कोई एक शासन कर्त्ता नहीं है और न ही हम उस शासक के नौकर-चाकर हैं। भगवान् महावीर कहते हैं कि प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति विद्यमान है। परमात्मा की उपासना करके अनंत आत्माएँ स्वयं परमात्मा बन चुकी हैं और आगे भी बनती रहेंगी। **हमारे अंदर जो शक्ति राग द्वेष और मोह रूपी विकारी भावों के कारण तिरोहित हो चुकी है उस शक्ति को उद्घाटित करने के लिए और आत्मानुशासित होने के लिए समता भाव की अत्यन्त आवश्यकता है।**

वर्तमान में समता का अनुसरण न करते हुए हम उसका विलोम परिणमन कर रहे हैं। समता का विलोम है तामस। जिस व्यक्ति का जीवन वर्तमान में तामसिक तथा राजसिक है, सात्विक नहीं है, वह व्यक्ति भले ही बुद्धिमान हो, वेदपाठी हो तो भी तामसिक प्रवृत्ति के कारण कुपथ की ओर ही बढ़ता रहेगा। यदि हम अपनी आत्मा को जो राग, द्वेष, मोह, मद, मत्सर से कलंकित हो चुकी है, विकृत हो चुकी है उसका संशोधन करने के लिए महावीर भगवान् की जयन्ती मनाते हैं तो यह उपलब्धि होगी। केवल लंबी-चौड़ी भीड़ के समक्ष भाषण आदि के माध्यम से प्रभावना होने वाली नहीं है। प्रभावना उसके द्वारा होती है जो अपने मन के ऊपर नियन्त्रण करता है और सम्यग्ज्ञान रूपी रथ पर आरूढ़ होकर मोक्षपथ पर यात्रा करता है। आज इस पथ पर आरूढ़ होने की तैयारी होनी चाहिए।

चेहरे पर चेहरे हैं
बहुत-बहुत गहरे हैं
खेद की बात तो यही है,
वीतरागता के क्षेत्र में
अंधे और बहरे हैं

आज मात्र वीतरागता के नारे लगाने की आवश्यकता नहीं है। जो परिग्रह का विमोचन करके वीतराग पथ पर आरूढ़ हो चुका है या होने के लिए उत्सुक है वही भगवान् महावीर का

सच्चा उपासक है। मेरी दृष्टि में राग का अभाव दो प्रकार से पाया जाता है, अराग अर्थात् जिसमें रागभाव संभव ही नहीं है ऐसा जड़ पदार्थ और दूसरा वीतराग अर्थात् जिसने राग को जीत लिया है जो रागद्वेष से ऊपर उठ गया है। सांसारिक पदार्थों के प्रति मूर्छा रूप परिग्रह को छोड़कर जो अपने आत्म स्वरूप में लीन हो गया है। पहले राग था अब उस राग को जिसने समाप्त कर दिया है जो समता भाव में आरूढ़ हो गया है, वही वीतराग है।

राग की उपासना करना अर्थात् राग की ओर बढ़ना एक प्रकार से महावीर भगवान् के विपरीत जाना है। यदि महावीर भगवान् की ओर, वीतरागता की ओर बढ़ना हो तो धीरे-धीरे राग कम करना होगा। जितनी मात्रा में राग आप छोड़ते हैं, जितनी मात्रा में स्वरूप पर दृष्टिपात आप करते हैं, समझिये उतनी मात्रा में आप आज भी महावीर भगवान के समीप हैं, उनके उपासक हैं। जिस व्यक्ति ने वीतराग पथ का आलंबन लिया है उस व्यक्ति ने ही वास्तव में भगवान् महावीर के पास जाने का प्रयास किया है। वही व्यक्ति आत्म-कल्याण के साथ-साथ विश्व कल्याण कर सकता है।

आप आज ही यह संकल्प कर लें कि हम अनावश्यक पदार्थों को, जो जीवन में किसी प्रकार से सहयोगी नहीं है, त्याग कर देंगे। जो आवश्यक हैं उनको भी कम करते जायेंगे। आवश्यक भी आवश्यकता से अधिक नहीं रखेंगे। भगवान् महावीर का हमारे लिए यही दिव्य संदेश है कि जितना बने, उतना अवश्य करना चाहिए। यथाशक्ति त्याग की बात है। जितनी अपनी शक्ति है, जितनी ऊर्जा और बल है उतना तो कम से कम वीतरागता की ओर कदम बढ़ाइये। सर्वाधिक श्रेष्ठ यह मनुष्य पर्याय है। जब इसके माध्यम से आप संसार की ओर बढ़ने का इतना प्रयास कर रहे हैं तो यदि चाहें तो अध्यात्म की ओर बढ़ सकते हैं। शक्ति नहीं है, ऐसा कहना ठीक नहीं है।

संसार सकल त्रस्त है,
पीड़ित व्याकुल विकल
इसमें है एक कारण
हृदय से नहीं हटाया विषय राग को
हृदय में नहीं बिठाया वीतराग को
जो शरण,
तारण-तरण

दूसरे पर अनुशासन करने के लिए तो बहुत परिश्रम उठाना पड़ता है पर आत्मा पर शासन करने के लिए किसी परिश्रम की आवश्यकता नहीं है। एक मात्र संकल्प की आवश्यकता है।

संकल्प के माध्यम से मैं समझता हूँ आज का यह हमारा जीवन जो कि पतन की ओर है वह उत्थान की ओर, पावन बनने की ओर जा सकता है। स्वयं को सोचना चाहिए कि अपनी दिव्य शक्ति का हम कितना दुरुपयोग कर रहे हैं।

आत्मानुशासन से मात्र अपनी आत्मा का ही उत्थान नहीं होता अपितु बाहर जो भी चैतन्य है, उन सभी का उत्थान भी होता है। आज भगवान् का जन्म नहीं हुआ था, बल्कि राजकुमार वर्धमान का जन्म हुआ था। जब उन्होंने वीतरागता धारण कर ली, वीतराग-पथ पर आरूढ़ हुए और आत्मा को स्वयं जीता, तब महावीर भगवान् बने। आज मात्र भौतिक शरीर का जन्म हुआ था। आत्मा तो अजन्मा है। वह तो जन्म-मरण से परे है। आत्मा निरन्तर परिणमनशील शाश्वत द्रव्य है। भगवान् महावीर जो पूर्णता में ढल चुके हैं उन पवित्र दिव्य आत्मा को मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ।

यही प्रार्थना वीर से, अनुनय से कर जोर।
हरी भरी दिखती रहे, धरती चारों ओर॥

❑ ❑ ❑

निजात्म-रमण ही अहिंसा है

महावीर भगवान के निर्वाण के उपरान्त भरत क्षेत्र में तीर्थंकरों का अभाव हुआ। वह इस भरत क्षेत्र के प्राणियों का एक प्रकार से अभाग्य ही कहना चाहिए। भगवान् के साक्षात् दर्शन और उनकी दिव्यध्वनि को सुनने का सौभाग्य जब प्राप्त होता है तो संसार की असारता के बारे में सहज ही ज्ञान और विश्वास हो जाता है। आज जो आचार्य-परम्परा अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है और जो महान् पूर्वाचार्य हमारे लिए प्रेरणादायक हैं उनके माध्यम से यदि हम चाहें तो जिस और भगवान् जा चुके हैं, पहुँच चुके हैं, उस ओर जाने का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं।

आचार्यों ने, जो संसार से ऊपर उठने की इच्छा रखते हैं उन्हें दिग्दर्शन कराया है, दिशाबोध दिया है, उसका लाभ लेना हमारे ऊपर निर्भर है। उन्होंने जीवन पर चिन्तन, मनन और मन्थन करके नवनीत के रूप में हमें जो ज्ञान दिया है उसमें अवगाहन करना और आत्म तत्त्व को पहचानना, विषय-कषाय से युक्त संसारी प्राणी के लिए टेढ़ी खीर है। आसान नहीं है। पर फिर भी कुछ बातें आपके सामने रख रहा हूँ।

आचार्यों के साहित्य में अध्यात्म की ऐसी धारा बही है कि कोई भी ग्रन्थ उठायें, कोई भी प्रसंग ले लें, हर गाथा, हर पद पर्याप्त है। उसमें वही रस, वही संवेदन और वही अनुभूति आज भी प्राप्त हो सकती है जो उन आचार्यों को प्राप्त हुई थी। पर उसे प्राप्त करने वाले विरले ही जीव हैं।

उसे प्राप्त तो किया जा सकता है पर सभी प्राप्त कर लेंगे, यह नहीं कहा जा सकता। मात्र अहिंसा का सूत्र ले लें। महावीर भगवान् ने अहिंसा की उपासना की, उनके पूर्व तेईस तीर्थंकरों ने भी और उनके पूर्व भी इस अहिंसा की उपासना की जाती रही। अहिंसा के अभाव में आत्मोपलब्धि संभव नहीं है।

विश्व का प्रत्येक व्यक्ति शान्ति चाहता है। जीवन जीना चाहता है। सुख की इच्छा रखता है और दुख से भयभीत है। दुख निवृत्ति के उपाय में अहर्निश प्रयत्नवान है लेकिन वास्तविक सुख क्या है इसकी जानकारी नहीं होने से तात्कालिक सुख, भौतिक सुख को पाने में लगा हुआ है। इसी में अनंतकाल खो चुका है। महावीर भगवान् ने जो अहिंसा का उपदेश दिया है वह अनंत सुख की इच्छा रखने वाले हम सभी के लिए दिया है। उस अहिंसा का दर्शन करना उसके, स्वरूप को समझना भी आज के व्यस्त जीवन में आसान नहीं है। यहाँ हजारों व्यक्ति विद्यमान हैं और सभी धर्म श्रवण कर रहे हैं। वास्तव में श्रवण तो वही है, जो जीवन को परिवर्तित कर दे।

प्रवचन सुनने के साथ-साथ आप के मन में ख्याल बना रहता है कि प्रवचन समाप्त हो और चलें। यह जो आकुलता है, यह जो अशान्ति है, यह अशांति ही आपको अहिंसा से दूर रखती है। **आकुलता होना ही हिंसा है।** दूसरों को पीड़ा देना भी हिंसा है लेकिन यह अधूरी परिभाषा है। इस हिंसा के त्याग से जो अहिंसा आती है वह भी अधूरी है। **वास्तव में जब तक आत्मा से रागद्वेष परिणाम समाप्त नहीं होते तब तक अहिंसा प्रकट नहीं होती।**

अहिंसा की परिभाषा के रूप में महावीर भगवान् ने संदेश दिया है कि **'जियो और जीने दो।'** 'जियो' पहले रखा और 'जीने दो' बाद में रखा है। जो ठीक से जियेगा वही जीने देगा। जीना प्रथम है तो किस तरह जीना है यह भी सोचना होगा। वास्तविक जीना तो रागद्वेष से मुक्त होकर जीना है। यही अहिंसा की सर्वोत्तम उपलब्धि है। सुना है विदेशों में भारत की तुलना में हत्याएँ कम होती हैं लेकिन आत्म-हत्याएँ अधिक हुआ करती हैं। जो अधिक खतरनाक चीज है। स्वयं अपना जीना ही जिसे पसंद नहीं है, जो स्वयं के जीने को पसंद नहीं करता, जो स्वयं के जीवन के लिए सुरक्षा नहीं देता वह सबसे अधिक खतरनाक साबित होता है। उससे क्रूर और निर्दयी और कोई नहीं है। वह दुनिया में शान्ति देखना पसंद नहीं करेगा।

शान्ति के अनुभव के साथ जो जीवन है उसका महत्त्व नहीं जानना ही हिंसा का पोषण है। आकुल, व्याकुल हो जाना ही हिंसा है। रात-दिन बेचैनी का अनुभव करना, यही हिंसा है। तब ऐसी स्थिति में जो भी मन, वचन काय की चेष्टाएँ होंगी उनका प्रभाव दूसरे पर भी पड़ेगा और फलस्वरूप द्रव्य-हिंसा बाह्य में घटित होगी। द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा, ये दो प्रकार की हिंसा

हैं। द्रव्य हिंसा में दूसरे की हिंसा हो भी सकती है, नहीं भी हो सकती है **किन्तु भाव-हिंसा के माध्यम से अपनी आत्मा का विनाश अवश्य होता है और उसका प्रभाव भी पूरे विश्व पर पड़ता है।** स्वयं को पीड़ा में डालने वाला यह न सोचे कि उसने मात्र अपना घात किया है, उसने आसपास सारे विश्व को भी दूषित किया है। प्रत्येक धर्म में अहिंसा की उपासना पर जोर दिया गया है। किन्तु महावीर भगवान् का संदेश अहिंसा को लेकर बहुत गहरा है। वे कहते हैं कि प्राण दूसरे के ही नहीं अपने भी हैं। हिंसा के द्वारा दूसरे के प्राणों का घात हो ही, ऐसा नहीं है पर अपने प्राणों का विघटन अवश्य होता है। दूसरे के प्राणों का विघटन बाद में होगा, पर हिंसा के भाव मात्र से अपने प्राणों का विघटन पहले होगा। अपने प्राणों का विघटन होना ही वस्तुतः हिंसा है। जो हिंसा का ऐसा सत्य-स्वरूप जानेगा वही अहिंसा को प्राप्त कर सकेगा।

''बिन जाने तैं दोष गुणन को कैसे तजिये गहिये''- गुण और दोष का सही-सही निर्णय जब तक हम नहीं कर पायेंगे तब तक गुणों का ग्रहण और दोषों का निवारण नहीं हो सकेगा। आज तक हम लोगों ने अहिंसा को चाहा तो है लेकिन वास्तव में आत्मा की सुरक्षा नहीं की है। आत्मा की सुरक्षा तब हो सकती है जब भावहिंसा से हमारा जीवन बिल्कुल निवृत्त हो जाये। भाव-हिंसा के हटते ही जो अहिंसा हमारे भीतर आयेगी उसकी महक, उसकी खुशबू-बाहर भीतर सब और बिखरने लगेगी।

जो व्यक्ति राग करता है या द्वेष करता है और अपनी आत्मा में आकुलता उत्पन्न कर लेता है वह व्यक्ति संसार के बंधन में बंध जाता है और निरंतर दुख पाता है। इतना ही नहीं, जो व्यक्ति स्वयं बंधन को प्राप्त करेगा और बंधन में पड़कर दुखी होगा, उसका प्रतिबिंब दूसरे पर पड़े बिना नहीं रहेगा, वह वातावरण को भी दुखमय बनायेगा। एक मछली कुएँ में मर जाये तो उस सारे जल को गंदा बना देती है। जल को जीवन माना है तो एक प्रकार से जीने के लिए जो तत्त्व था जीवन था वही विकृत हो गया।

एक व्यक्ति रोता है तो वह दूसरे को भी रुलाता है। एक व्यक्ति हँसता है तो दूसरा भी हँसने लगता है। फूल को देखकर बच्चा बहुत देर तक रो नहीं सकता। फूल हाथ में आते ही वह रोता-रोता भी खिल जायेगा, हँसने लगेगा और सभी को हँसा देगा। हँसाये ही यह नियम नहीं है किन्तु प्रभावित असर करेगा। आप कह सकते हैं कि कोई अकेला रो रहा हो तो किसी दूसरे को क्या दिक्कत हो सकती है? किन्तु **'आचार्य उमास्वामी' कहते हैं कि शोक करना, आलस्य करना, दीनता अभिव्यक्त करना, सामने वाले व्यक्ति पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहते।**

आप बैठकर शांति से दत्तचित्त होकर भोजन कर रहे हैं। किसी प्रकार का विकारी भाव

आपके मन में नहीं है। ऐसे समय में यदि आपके सामने कोई बहुत भूखा व्यक्ति रोटी मांगने गिड़गिड़ाता हुआ आ जाता है तो आप में परिवर्तन आये बिना नहीं रहेगा। उसका रोना आपके ऊपर प्रभाव डालता है। आप भी दुखी हो जाते हैं और यह असातावेदनीय कर्म के बंध के लिए कारण बन सकता है। इसलिए ऐसा मत समझिये कि हम राग कर रहे हैं, द्वेष कर रहे हैं तो अपने आप में तड़प रहे हैं, दूसरे के लिए क्या कर रहे हैं? हमारे भावों का दूसरे पर भी प्रभाव पड़ता है। हिंसा का संपादन कर्त्ता हमारा रागद्वेष परिणाम है। शारीरिक गुणों का घात करना द्रव्यहिंसा है और आध्यात्मिक गुणों का घात करना, उसमें व्यवधान डालना भावहिंसा है। भावहिंसा, 'स्व' 'पर' दोनों की हो सकती है।

गृहस्थाश्रम की बात है। माँ ने कहा अंगीठी के ऊपर दूध है भगौनी में। उसे नीचे उतार कर दो बर्तनों में निकाल लेना। एक बर्तन में दही जमाना है और एक मैं दूध ही रखना है। जो छोटा बर्तन है उसे आधा रखना उसमें दही जमाने के लिए सामग्री पड़ी है और दूसरे बर्तन में जितना दूध शेष रहे, रख देना। दोनों को पृथक् -पृथक् रखना। सारा काम तो कर लिया पर दोनों बर्तन पृथक् नहीं रखे। परिणाम यह निकला कि प्रातःकाल दोनों में दही जम गया। एक में दही जमाने का साधन नहीं था फिर भी जम गया, वह दूसरे के संपर्क में जम गया।

जब जड़ पदार्थ दूध में संगति से परिवर्तन आ गया तो क्या चेतन द्रव्य में परिवर्तन नहीं होगा? परिवर्तन होगा और एक-दूसरे पर प्रभाव भी पड़ेगा। परिवर्तन प्रत्येक समय प्रत्येक द्रव्य में हो रहा है और उसका असर आसपास पड़ रहा है। हम इस रहस्य को समझ नहीं पाते, इसलिए आचार्यों ने कहा कि प्रमादी मत बनो, असावधान मत होओ। **बुद्ध कहते हैं कि प्राणियों पर करुणा करो, यीशु कहते हैं कि प्राणियों की रक्षा करो और नानक आदि सभी कहते हैं कि दूसरे की रक्षा करो किन्तु महावीर कहते हैं कि स्वयं बचो।** दूसरा अपने आप बच जायेगा। दूसरे को बचाने जाओगे तो वह बचे ही यह अनिवार्य नहीं है लेकिन स्वयं रागद्वेष से बचोगे तो हिंसा संभव ही नहीं है। **'लिव एण्ड लेट लिव'**- पहले तुम खुद जियो जो खुद जीना चाहेगा वह दूसरे के लिए जीने में बाधा डाल ही नहीं सकता।

हमारे जीवन से दूसरे के लिए तभी तक खतरा है जब तक हम प्रमादी हैं, असावधान हैं। 'अप्रमत्तो भव' प्रमाद मत करो। एक क्षण भी प्रमाद मत करो, अप्रमत्त दशा में लीन रहो। आत्मा में विचरण करना ही अप्रमत्त दशा का प्रतीक है। वहाँ राग नहीं, द्वेष नहीं इसलिए वहाँ पर हिंसा भी नहीं है। बंधन में वही बँधेगा जो राग द्वेष करेगा और अपनी आत्मा से बाहर दूर रहेगा। फिर चाहे वह किसी भी गति का प्राणी क्यों न हो। वह देव भी हो सकता है। वह तिर्यञ्च हो सकता है। वह नारकी हो सकता है। वह मनुष्य भी हो सकता है। मनुष्य में भी गृहस्थ हो सकता है या

गृह-त्यागी भी हो सकता है। वह सन्त या ऋषि भी हो सकता है। जिस समय जीव रागद्वेष से युक्त होता है उस समय उससे हिंसा हुए बिना नहीं रहती।

देर-सबेर जब भी बढ़ें चौबीस घंटे अप्रमत्त अवस्था की ओर बढ़ें अप्रमत्त रहना प्रारंभ करे तभी कल्याण है। अहिंसा वहीं पल सकती है जहाँ प्रमाद के लिए कोई स्थान नहीं है। प्रमाद यानि आपे में न रहना। सबसे खतरनाक चीज है आपे में न रहना। **Out of Control यानि अपने ऊपर नियंत्रण नहीं होना ही प्रमाद है।** वैज्ञानिक विकास विदेशों में बहुत हो रहा है। किन्तु व्यक्ति आपे में नहीं है इसलिए आत्म-हत्या की ओर जा रहा है। अपने आत्म-हित के प्रति लापरवाही भी प्रमाद है।

चिंता-सरोवर जहाँ वह डूब जाता, सद्ध्यान से स्खलित जो ऋषि कष्ट पाता।
तालाब से निकल बाहर मीन आता, होता दुखी, तड़पता मर शीघ्र जाता॥

यह स्वभाव से बाहर आना ही अभिशाप का कारण बनता है। तालाब से मछली बाहर आ जाती है तो तड़पती है, दुखी होती है और मरण को प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार योगी भी क्यों न हो, भोगों की तो बात ही क्या, जिस समय वह सीमा अपनी उल्लंघन कर देता है अर्थात् आत्म-स्वभाव को छोड़कर प्रमाद में आ जाता है तो उसे भी कर्मबन्ध का दुख उठाना पड़ता है। **बाहर आना ही हिंसा है और अंदर रहना ही अहिंसा है।** अहिंसा की इतनी अमूल्य परिभाषा हमें अन्यत्र नहीं मिलती और जहाँ आकर सारे दर्शन रुक जाते हैं वहाँ से महावीर भगवान् की अहिंसा की विजय पताका फहराना प्रारंभ हो जाती है। आत्म-विजय ही वास्तविक विजय है।

आज भी अहिंसा का अप्रत्यक्ष रूप से प्रयोग होता है न्यायालय में। वहाँ पर भी भाव-हिंसा का ध्यान रखा जाता है। भावहिंसा के आधार पर ही न्याय करते हैं। एक व्यक्ति ने निशाना लगाकर गोली चलायी, निशाना मात्र सीखने के लिए लगाया था। निशाना चूक गया और गोली जाकर लग गयी एक व्यक्ति को और उसकी मृत्यु हो गयी। गोली मारने वाले व्यक्ति को पुलिस ने पकड़ लिया। उससे पूछा गया कि तुमने गोली चलायी? उसने कहा चलायी है किन्तु मेरा अभिप्राय मारने का नहीं था। मैं निशाना सीख रहा था, निशाना चूक गया और गोली लग गयी। चूंकि उसका अभिप्राय खराब नहीं था इसलिए उसे छोड़ दिया गया।

दूसरा-एक व्यक्ति निशाना लगाकर किसी की हत्या करना चाहता था। वह गोली मारता है, गोली लगती नहीं और वह व्यक्ति बच जाता है और गोली मारने वाले को पुलिस पकड़ लेती है। पुलिस पूछती है कि तुमने गोली मारी, तो वह जवाब देता कि मारी तो है पर उसे गोली लगी कहाँ? पुलिस उसे जेल में बंद कर देती हैं। ऐसा क्यों? जीव हिंसा नहीं हुई इसके उपरान्त भी उसे जेल

भेज दिया और जिससे जीव हिंसा हो गयी थी, उसे छोड़ दिया। यह इसलिए कि वहाँ पर भावहिंसा को देखा जा रहा है। न्याय में सत्य और असत्य का विश्लेषण भावों के ऊपर आधारित है।

हमारी दृष्टि भी भावों की तरफ होनी चाहिए। अपने आप के शरीरादि को ही आत्मा मान लेने से कि मैं शरीर हूँ, और शरीर ही मैं हूँ, हिंसा प्रारम्भ हो जाती है। यह अज्ञान और शरीर के प्रति राग ही हिंसा का कारण बनता है। हम स्वयं जीना सीखें। स्वयं तब जिया जाता है जब सारी बाह्य प्रवृत्ति मिट जाती है। अप्रमत्त दशा आ जाती है। इस प्रकार जो स्वयं जीता है वह दूसरे को भी जीने में सहायक होता है। जिसके द्वारा मन-वचन-काय की चेष्टा नहीं हो रही है वह दूसरे के लिए किसी प्रकार की बाधा नहीं देता।

जो विस्फोट ऊपर से होता है वह उतना खतरनाक नहीं होता जितना गहराई में होने वाला विस्फोट होता है। आत्मा की गहराई में जो राग-प्रणाली या द्वेष-प्रणाली उद्‌भूत हो जाती है वह अंदर से लेकर बाहर तक प्रभाव डालती है। उसका फैलाव सारे जगत में हो जाता है। जैन-दर्शन में एक उदाहरण भाव-हिंसा को लेकर आता है। समुद्र में जहाँ हजारों मछलियाँ रहती हैं उनमें सबसे बड़ी रोहू (राघव) मछली होती है जो मुँह खोल कर सो जाती है तो उसके मुँह में अनेक छोटी-मछलियाँ आती-जाती रहती हैं। जब कभी उसे भोजन की इच्छा होती है तो वह मुख बंद कर लेती है और भीतर अनेक मछलियाँ उसका भोजन बन जाती हैं।

इस दृश्य को देखकर एक छोटी मछली जिसे तन्दुल मत्स्य बोलते हैं जो आकार में तन्दुल अर्थात चावल जितनी छोटी है वह सोचती है कि यह रोहू मच्छ कितना पागल है। इसे इतना भी नहीं दिखता कि मुख में इतनी मछलियाँ आ-जा रही हैं तो मुख बंद कर लेना चाहिए। यदि इसके स्थान पर मैं होता तो लगातार मुख खोलता और बंद कर लेता, सभी को खा लेता। देखिये स्थिति इतनी गम्भीर है। छोटे से मत्स्य की हिंसा की वृत्ति कितनी है, चरम सीमा तक, वह अनन्त जीवों को खाने की लिप्सा रखता है। एक भी नहीं खा पाता क्योंकि उतनी शक्ति नहीं है लेकिन भावों के माध्यम से खा रहा है निरंतर।

बाहर से खाना, भले ही नहीं दिखता लेकिन अभिप्राय कर लिया, संकल्प कर लिया, तो मन विकृत हो गया। वही हिंसा है। रोहू मच्छ जितनी आवश्यकता है उतना ही खाता है, शेष से कोई मतलब नहीं, कोई लिप्सा नहीं लेकिन तंदुल मच्छ एक भी मछली को नहीं खा पाता पर लिप्सा पूरी है। इसलिए वह सीधा नरक चला जाता है। सीधा सप्तम नरक। यह है भाव-हिंसा का प्रभाव।

आप भी इसे समझें कि मात्र अपने जीवन को द्रव्यहिंसा से ही निवृत्त करना पर्याप्त नहीं है। यदि आप अपने में नहीं हैं अर्थात आपके मन, वचन और आपकी चेष्टाएँ अपने में नहीं है तो आपके

द्वारा दूसरे को धक्का लगे बिना नहीं रह सकता। एक व्यक्ति कोई गलती करता है तो वह एकांत रूप से अपने आप ही नहीं करता उसमें दूसरे का भी हाथ रहता है। भावों का प्रभाव पड़ता है। दूसरे के मन को देखकर ईर्ष्या अथवा स्पर्धा करने में भी हिंसा का भाव उद्‌भूत होता है। जो राग द्वेष करता है वह स्वयं दुखी होता है और दूसरे को भी दुख का कारण बनता है। लेकिन जो वीतरागी है वह स्वयं सुखी रहता है और दूसरे को सुखी बनाने में कारण सिद्ध होता है।

आपका जीवन हिंसा से दूर हो और अहिंसामय बन जाये इसके लिए मेरा यही कहना है कि भाव-हिंसा से बचना चाहिए। मेरा कहना तभी सार्थक होगा जब आप स्वयं अहिंसा की ओर बढ़ने के लिए उत्साहित हों, रुचि लें। किसी भी क्षेत्र में उन्नति तभी संभव है जब उसमें अभिरुचि जागृत हो। आपके जीवन पर आपका अधिकार है पर अधिकार होते हुए भी कुछ प्रेरणा बाहर से ली जा सकती है। बाहर से तो सभी अहिंसा की प्राप्ति के लिए आतुर दिखते हैं किन्तु अंदर से भी स्वीकृति होना चाहिए। एक व्यक्ति जो अपने जीवन को सच्चाई पर आरूढ़ कर लेता है तो वह तो सुखी बन ही जाता है, साथ ही दूसरे के लिए भी सुखी बनने में सहायक बन जाता है। आप चाहें तो वह आसानी से कर सकते हैं।

अहिंसा मात्र प्रचार की वस्तु नहीं है और लेन-देन की चीज भी नहीं है, वह तो अनुभव की वस्तु है। कस्तूरी का प्रचार प्रसार करने की आवश्यकता नहीं होती, जो व्यक्ति चाहता है वह उसे सहज ही पहचान लेता है। महावीर भगवान् ने अहिंसा की सत्यता को स्वयं जाना और अपने भीतर उसे प्रकट किया तभी वे भगवान् बने। उन्होंने प्राणी मात्र को कभी छोटा नहीं समझा, उन्होंने सभी को पूर्ण देखा है, जाना है और पूर्ण समझा है। संदेश दिया है कि प्रत्येक आत्मा में भगवान् है किन्तु एकमात्र हिंसा के प्रतिफल स्वरूप स्वयं भगवान् के समान होकर भी हम भगवत्ता का अनुभव नहीं कर पा रहे हैं। जब तक रागद्वेष रूप हिंसा का भाव विद्यमान रहेगा तब तक सच्चे सुख की प्राप्ति संभव नहीं है। अपने भावों में अहिंसा के माध्यम से दूसरे का कल्याण हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता किन्तु आत्मा का कल्याण अवश्य होता है। परोक्ष रूप से जो अहिंसक है वह दूसरे को पीड़ा नहीं पहुँचाता, यही दूसरे के कल्याण में उसका योगदान है। आचार्यों की वाणी है कि-

आदहिदं कादव्वं, जदि सक्कइ परहिद व कादव्वं।
आदहिद परहिदादो, आदहिदं सुट्ठु कादव्वं॥

आत्म-हित सर्वप्रथम करना चाहिए। जितना बन सके उतना परहित भी करना चाहिए। लेकिन दोनों में अच्छा आत्म-हित ही है। जो आत्महित में लगा है उसके द्वारा कभी दूसरे का अहित हो नहीं सकता।

इस प्रकार 'स्व' और 'पर' का कल्याण अहिंसा पर ही आधारित है। अध्यात्म का रहस्य इतना ही है कि अपने को जानो, अपने को पहचानो, अपनी सुरक्षा करो, अपने में ही सब कुछ समाया है। पहले विश्व को भूलो और अपने को जानो, जब आत्मा को जान जाओगे तो विश्व स्वयं सामने प्रकट हो जाएगा। अहिंसा-धर्म के माध्यम से स्व-पर का कल्याण तभी संभव है जब हम इसे आचरण में लायें। अहिंसा के पथ पर चलना ही अहिंसा-धर्म का सच्चा प्रचार-प्रसार है। आज इसी की आवश्यकता है।

❑ ❑ ❑

आत्मलीनता ही ध्यान

भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् अंतिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु स्वामी हुए हैं और उनके शिष्य आचार्य कुन्दकुन्द हुए हैं, जिन्होंने संक्षेप में जीवन के उद्धार की सामग्री हम लोगों को दी है। हम लोगों का जीवन इतना छोटा सा है कि हम अपने विचारों के अनुरूप सारे कार्य नहीं कर सकते। जीवन छोटा होने के साथ ही साथ क्षणभंगुर भी है। यह बुलबुले के समान है। जब तक है, समझो है, इसके फूटने में देर नहीं लगती। ऐसी स्थिति में हम आत्मा का कल्याण करना चाहें तो कोई सीधा रास्ता ढूँढ़ना परमावश्यक है। इसी बात को लेकर संसार के विश्लेषण के बारे में तो आचार्य कुन्दकुन्द का विशेष साहित्य नहीं मिलता किन्तु जो कुछ मिला है वह अत्यन्त संक्षिप्त है जिससे शीघ्रातिशीघ्र अपने प्रयोजन को प्राप्त किया जा सकता है।

समझाना बहुत समय लेता है पर प्रयोजनभूत तत्त्व को समझने में ज्यादा समय नहीं लगता। संसार में क्या-क्या है? इसके बारे में यदि हम अध्ययन प्रारंभ करें तो यह छोटा सा जीवन यूँ ही समाप्त हो जायेगा। अथाह संसार समुद्र का पार नहीं है। उसमें से प्रयोजनभूत तत्त्व को अपना लें, उसी के माध्यम से सब काम हो जायेगा। प्रयोजनभूत तो आत्मतत्त्व है। अत्यन्त संघर्षमय इस जीवन में जहाँ अनादिकालीन संस्कार हमें झकझोर देते हैं और अपने आत्मतत्त्व से च्युत कराने में सहायक बन जाते हैं, इस स्थिति में भी अपने को मजबूती के साथ-साथ पथ पर आरूढ़ होने के लिए आचार्यों ने मार्ग खोला है।

जो संसार से ऊपर उठना चाहता है उसके लिए संवेग और निर्वेग-ये दो भाव अपेक्षित हैं। वैसे उपदेश चार प्रकार का होता है। पहला संवेग को प्राप्त कराने वाला, दूसरा निर्वेग को प्राप्त कराने वाला, तीसरा और चौथा आक्षेपणी और विक्षेपणी के रूप में पात्रों की योग्यता को देखकर दिया जाता है। सर्वप्रथम मोक्षमार्ग पर आरूढ़ कराने के लिए संवेग और निर्वेग का ही उपदेश देना चाहिए, ऐसा आचार्यों का हमारे लिए उपदेश है।

ठीक भी है, डॉक्टर के पास कोई स्वस्थ व्यक्ति चिकित्सा के लिए नहीं जाता। रोगी ही जाता है, तो डॉक्टर को बहुत संभालकर उसकी चिकित्सा करनी पड़ती है। सर्वप्रथम वह डॉक्टर, रोगी को और कुछ नहीं बताता कि क्या कैसा है। वह केवल यही कहता है कि यदि नियम से दवाई लोगे तो तुम्हारा रोग जल्दी ठीक हो जायेगा। वह और कुछ नहीं बताता, मात्र दवाई लेना सिखाता है। उस दवाई का क्या लक्षण है? क्या गुणधर्म है? इसमें कितना क्या मिला है? इसे कैसे तैयार किया गया है? किस फैक्टरी में तैयार किया गया है। यह सब उस रोगी को बताने की आवश्यकता नहीं है।

इसी प्रकार संसारी प्राणी के सामने सर्वप्रथम विश्व का लेखा-जोखा या विभिन्न मत-मतान्तरों का वर्णन आवश्यक नहीं है। प्रयोजनभूत तत्त्व तो यह है कि किसे प्राप्त करना है और किसे छोड़ना है, यह ज्ञात हो जाये। ऐसा न हो कि हेय का ग्रहण हो जाये और उपादेय का विमोचन हो जाये। संवेग और निर्वेग के उपदेश द्वारा उसे उपादेय को ग्रहण करना और हेय को छोड़ना पहले सिखाना आवश्यक है। आत्म-ज्ञान के लिए बाधक तत्त्वों का हम थोड़ा विचार करें तो ज्ञात होगा कि 'मोह' ही ज्ञान के लिए बाधक साबित होता है। 'कषाय-भाव' ही ज्ञान के लिए बाधक सिद्ध होता है। **मोह के कारण ज्ञान मिथ्या बना हुआ है। इस बाधक तत्त्व से ज्ञान को पृथक् करने का प्रयास करना ही एक मात्र पुरुषार्थ है जो कि संवेग और निर्वेग के बल पर ही संभव है।**

बाधक कारण को हटाये बिना कार्य की सिद्धि नहीं होती। कई बार, कई लोग प्रश्न करते हैं कि ध्यान के बारे में समझाइए। हम ध्यान लगाना चाहते हैं। हमारा ध्यान लगता ही नहीं, हम बहुत कोशिश करते हैं। हमारा उनसे कहना यह है कि कोई भी शिक्षा दी जाती है तो पहले शिक्षा पाने वाले शिक्षार्थी की आदतों को समझना आवश्यक है। कोई आदत ऐसी हो जो उसके लक्ष्य के विपरीत हो और वह उसके साथ ही लक्ष्य प्राप्ति चाहता हो तो कैसे संभव है? जैसे टैंक में पानी भरा जाता है और वह गंदा हो जाता है। साफ पानी डालने पर भी वह गंदा कैसे हो गया? कारण यही है कि टैंक की सफाई करना आवश्यक है। इसी प्रकार परिणामों में ध्यान के योग्य पर्याप्त निर्मलता आवश्यक है। घाव के ऊपर मात्र मरहम पट्टी लगाने से कुछ नहीं होता, घाव साफ करना भी आवश्यक है।

आपका ध्यान कहीं न कहीं तो लगा ही रहता है। हम कभी आत्म-ध्यान से विचलित हो सकते हैं किन्तु आप लोग अपने संसार के ध्यान से कभी विचलित नहीं होते। आपको सांसारिक ध्यान का खूब अभ्यास है। आप लोगों का जीवन ऐसा ध्यान लगाने में इतना अभ्यस्त हो गया है कि आप यहाँ सुन रहे हैं किन्तु फिर भी आपका ध्यान वहाँ है जहाँ आपने लगाया हुआ है। शरीर यहाँ बैठा है पर संभव है कि मन कहीं और लगा हो। **आपको ध्यान लगाना सिखाने की आवश्यकता**

नहीं है। ध्यान को Divert करने के लिए प्रयास की जरूरत है। आप चाहें तो यह कर सकते हैं। जबर्दस्ती कराया नहीं जा सकता।

माँ जबर्दस्ती बच्चे को दूध पिलाती है, बुलाती है, नहीं आता तो पकड़ कर लाती है। इसके उपरांत भी वह बच्चा दूध पीने की मंजूरी नहीं देता तो दोनों हाथ पकड़कर गोद में ले लेती है और चम्मच से दूध पिलाना प्रारम्भ कर देती है। मुँह में दूध डाल देती है पर दूध को अंदर ले जाने का काम बच्चे का है दूध कदाचित् अंदर भी चला जाये और बालक की इच्छा न हो तो वह वमन कर देता है। इसी तरह ध्यान जबर्दस्ती सिखाने की चीज नहीं है। यह तो इच्छा से स्वयं सीखने की चीज है। आपने जो बहुत दिन से ध्यान सीख रखा है उसे छोड़ना, उसे मोड़ना परमावश्यक है। यदि Divert करना नहीं सीखा तो परमार्थ को पाना संभव नहीं है।

बहुत लगाते हैं आप ध्यान, उधर सांसारिक कामों के लिए। अस्सी साल के वृद्ध को भी यदि दुकान जाना हो तो कमर का दर्द ठीक हो जायेगा और यदि अध्यात्म के लिए ध्यान करने की बात आती है तो कमर-दर्द बढ़ जाता है। **मंदिर आना है तो कह देते हैं कि अब तो ढलती उम्र है बैठा नहीं जाता, सुना नहीं जाता। दुकान पर टेलीफोन की आवाज सुन लेते हैं और तत्संबंधी निर्णय ले लेते हैं।** यह क्या बात है? यह ध्यान की बात है कि सूक्ष्म स्वर भी सुनने में आ जाते हैं क्योंकि उसके पीछे रुचि है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में रुचि नहीं होने से ध्यान से बचने के लिए कोई बहाना ढूंढ लेते हैं। अंदर यदि ग्रहण का भाव नहीं है रुचि नहीं है, तो प्रयास व्यर्थ हो जाता है। **बच्चा जैसे मुख से दूध पीकर मुख से ही वमन कर देता है, आप भी एक कान से सुनकर दूसरे से निकाल देते हैं।** आत्मा की बात नहीं रुचती। हजारों बातों का आपको ध्यान है पर सीधी-सीधी एक बात जो आत्म-कल्याण की है वह आपके ध्यान में नहीं रहती। ऐसे-ऐसे व्यक्ति भी हैं जो हस्ताक्षर नहीं कर पाते, अंगूठा लगाते हैं और करोड़पति हैं। अनेक फैक्ट्रियों के मालिक हैं और अनेक विद्वान् पढ़े-लिखे लोग उनके आधीन काम करते हैं। सेठजी को प्रणाम करते हैं। एक अक्षर का भी ज्ञान नहीं फिर भी इतना काम चल सकता है। ऐसा ही अध्यात्म के क्षेत्र में यदि अपनी आत्मा के प्रति रुचि है और संवेग और निर्वेग है तो कल्याण सहज संभव है। अधिक ज्ञान की आवश्यकता नहीं है।

आत्मा की ओर ध्यान कठिन नहीं है, संसार से ध्यान Divert करना बहुत कठिन है। जैसे एक नदी का प्रवाह बरसों से चलता है उसका रास्ता बन चुका है, उस ओर वह अनायास बहता रहता है किन्तु उसको बिल्कुल विरुद्ध दिशा में मोड़ना हर व्यक्ति के द्वारा संभव नहीं है। जो बाँध बनाकर नहरों के द्वारा रास्ता मोड़ देते हैं वे जानते हैं कि यह कितना कठिन काम है। अनेक परीक्षण करने पड़ते हैं। सामग्री की मजबूती का ध्यान रखना पड़ता है। इसी तरह अनादि काल से

आपका जो प्रवाह विषयों की ओर बह रहा है, आपका ज्ञान विषय-सामग्री को पकड़ने के लिए उत्सुक है, उसकी गति इतनी तीव्र है कि उसे मोड़ना तो मुश्किल है ही, उसके वेग में कमी लाना भी मुश्किल है। पंचेन्द्रिय के विषय जो यत्र-तत्र फैले हुए हैं, अतीत, अनागत और वर्तमान तीनों कालों की अपेक्षा जो इन्द्रिय मन का विषय बनते हैं उनसे बचना कैसे संभव है? तो आचार्यों ने उद्यम करने की प्रक्रियाएँ बतायी हैं। उसके माध्यम से हमें आगे बढ़ना चाहिए।

उद्यम किस प्रकार किया जाए, इसके लिए भी आचार्यों ने अपनी अनुभूति के माध्यम से लिखा है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने ध्यान को परमावश्यक बताया है, ध्यान के बिना उद्धार संभव नहीं है। धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान ये दोनों ध्यान मोक्ष के हेतु हैं। आर्तध्यान-रौद्रध्यान संसार के हेतु हैं। आप धर्म ध्यान का स्रोत खोलना चाहते हैं, उस ओर मुड़ना चाहते हैं तो पहले आर्तध्यान-रौद्रध्यान को छोड़ना होगा। उसमें कमी लाना होगा। उसके लिए निरंतर प्रयत्न करना होगा।

जैसे किसी एक व्यक्ति को वैद्य ने कहा कि तुम घी का प्रयोग करो, पुष्टि आयेगी। उस व्यक्ति ने आधा किलो घी खा लिया और बैठ गया। घी पचा नहीं, खराबी आ गयी। वैद्य को बुलाया गया। उसने बताया कि सिर्फ घी खाने से पुष्टि नहीं आती, घी को पचाने के लिए मेहनत करनी होगी, व्यायाम करना होगा, अभ्यास करना होगा। इसी प्रकार ध्यान लगाओ, ऐसा कहने पर ध्यान लगाने बैठ जाने से काम नहीं चलेगा। मन, वचन, काय को बार-बार विषय कषायों में जाने से रोकना पड़ेगा, उस ओर से मोड़ने का अभ्यास करना होगा। विषयों की ओर ध्यान न जाये, इस बात का ध्यान रखना होगा। तभी धर्मध्यान में प्रगाढ़ता आयेगी, तभी वह धर्मध्यान आगे जाकर शुक्लध्यान में परिवर्तित हो सकेगा।

एक बात और समझने की है। रावण ने सीता के अपहरण के पश्चात् राम से युद्ध के समय भगवान् शान्तिनाथ के मंदिर में जाकर ध्यान लगाया, मंत्र जपे पर राम की मृत्यु की कामना के साथ। शब्द, आस्था, मुद्रा आदि सब ठीक थी किन्तु राम की मृत्यु की कामना सहित वह ध्यान, सच्चा ध्यान नहीं माना जायेगा। रावण ने सोलह दिन तक ध्यान किया बहुरूपिणी विद्या की प्राप्ति के लिए। पद्मपुराण में उल्लेख है कि रावण विद्या सिद्ध करने में बहुत पारंगत था। वह विद्या सिद्ध करने बैठ जाता था तो कोई उसके ध्यान में विघ्न नहीं डाल पाता था और वह विद्या सिद्ध करके ही उठता था। क्या वह ध्यान माना जायेगा? बहुरूपिणी विद्या के लिए किया गया वह ध्यान आत्मानुभूति के लिए नहीं किया गया इसलिए उपयोगी नहीं है। आत्मानुभूति के लिए किया गया ध्यान तो अंतर्मुहूर्त में भी मुक्ति दिला देता है।

हम लोगों को अपने स्वरूप को देखने की रुचि हो जाए, हम अंतर्मुखी होते चले जायें तो

बाहर कुछ भी होता रहे, पता ही नहीं चलेगा।Telephone पर अनेक आवाजों के बीच अपने काम की आवाज आप सुन लेते हैं, बाकी छोड़ देते हैं। नगाड़े के बीच बाँसुरी की आवाज चलती है तो जो संगीत प्रेमी हैं या संगीतकार हैं वह उसे पहचान लेते हैं। इसी प्रकार ध्यान की बात है। यदि एक घंटे तक ध्यान की बात आप ध्यान से सुन लें और अपनी रुचि जागृत कर लें तो ऐसा नहीं हो सकता कि धर्मध्यान न लगे। हम रुचि जागृत कर सकते हैं। ध्यान भी कर सकते हैं।

माँ, बच्चे को गोद में बिठाकर दूध पिलाती है और चुटकी बजाती जाती है। बीच में यदि चुटकी बजाना बंद कर देती है तो बच्चा दूध पीना बंद कर देता है। यदि माँ के ललाट पर थोड़ी सलवटें पड़ जाती है तो वह हैरान निगाहों से देखने लगता है कि मामला क्या है? वह सब ध्यान से देखता है। वह समझ जाता है कि माँ डाँट लगा रही है या प्यार कर रही है। अर्थ क्या हुआ कि ध्यान तो सभी के पास है लेकिन धर्म-ध्यान नहीं है। मुक्ति के लिए ध्यान की, जितनी एकाग्रता की आवश्यकता है उतनी ही तीव्रता सप्तम नरक में जाने के लिए भी आवश्यक है। एक छोर सप्तम नरक तक तो हम कई बार पहुँच गये होंगे किन्तु दूसरे छोर मोक्ष की ओर कभी नहीं पहुँच पाये। अभी तो ऐसा कह सकते हैं कि पंचमकाल है, उत्तम संहनन नहीं है, ठीक है। लेकिन जब चतुर्थ काल आता है उस समय तो जा सकते थे। नहीं गये अर्थात् पुरुषार्थ की कमी रही।

चतुर्थ काल की अपेक्षा भरतक्षेत्र और ऐरावत के मात्र दस क्षेत्र हैं लेकिन जो एक सौ साठ विदेह क्षेत्र हैं वहाँ तो सदैव चतुर्थ काल रहता है। कुल मिलाकर एक सौ सत्तर क्षेत्र हैं जहाँ एक साथ तीर्थंकर हो सकते हैं। काल भेद मात्र दस क्षेत्रों में है, शेष एक सौ साठ क्षेत्रों में भेद नहीं होता। वहाँ से मोक्ष का सीधा रास्ता है, साथ ही सप्तम नरक भी जाया जा सकता है। जिसकी रुचि जिस तरह की होती है वहीं चला जाता है। **आठ साल का बच्चा भी धर्मध्यान व शुक्लध्यान के माध्यम से मुक्ति का द्वार खोल सकता है और अस्सी साल का वृद्ध भी आर्त-रौद्र ध्यान के द्वारा सप्तम पृथ्वी का द्वार खोल लेता है।**

मन, वचन, काय को रोककर रुचिपूर्वक किसी पदार्थ में लीन हो जाना ही ध्यान है। पंचेन्द्रिय के विषयों में लीन होना आर्त और रौद्रध्यान है और आत्म-तत्त्व को उन्नत बनाने के लिए अहर्निश प्रयास करना, सब कुछ भूलकर उसी आत्म-तत्त्व में लीन रहना धर्मध्यान है। आप चाहें तो अभी यह संभाव्य हैं। यहीं पर बैठे-बैठे विषयों की ओर पीठ कर लें, मन को लें तो Divert धर्मध्यान हो सकता है। जयपुर आपके लिए भी है और जयपुर में मैं भी हूँ। मेरे ज्ञान ने भी जयपुर को विषय बनाया है और आपके ज्ञान ने भी बनाया है। दोनों अभी यहीं जयपुर में हैं। पर आपका संकल्प जयपुर में हमेशा रहने का है, मेरा कोई संकल्प ऐसा नहीं है। आपका संकल्प है इसलिए जयपुर छोड़कर कहीं जाने पर भी जयपुर भीतर रहा आता है।

यह आपको ज्ञात है कि एक न एक दिन जयपुर छूटेगा। जब जयपुर छूटना निश्चित है तो उससे स्वयं को जोड़कर बैठे रहना, जानबूझकर इसको पकड़ने का प्रयास करना यही रागभाव है। जब जयपुर छूटेगा- यह ज्ञान का विषय बना, तो फिर उसे अपना मानकर इससे चिपकना ठीक नहीं है, यही ज्ञान का प्रयोजन है। जयपुर में जहाँ आप रह रहे हैं उसे आप मान रहे हैं कि हमारा है। लेकिन जयपुर हमारा, तुम्हारा किसी का नहीं है, वह जो कुछ है, वह है। उसका अस्तित्व पृथक् है, हमारा पृथक् है। अस्तित्व को जानना अपेक्षित है, प्रयोजनभूत है किन्तु अस्तित्व को जानकर 'यह मेरा' 'ये तेरा' ऐसा मानना बाधक है प्रयोजनभूत नहीं है।

'पर' क्या है 'स्व' क्या चीज है यह जानना परमावश्यक है। 'स्व' को स्व-रूप में जानकर, 'पर' को पर-रूप में जानकर, 'पर' का ग्रहण नहीं करना यही प्रयोजनभूत तत्त्व का ज्ञान है। उपादेय की प्राप्ति और हेय का विमोचन हो गया तो मोक्षमार्ग प्रारंभ हो गया। यदि 'स्व' का ग्रहण और 'पर' का विमोचन नहीं होता, उसके प्रति जो राग है वह नहीं हटता तो कार्य सिद्धि भी नहीं होगी।

ज्ञानी भी वहीं रह रहा है। अज्ञानी भी वहीं रह रहा है। ज्ञानी के लिए भी वही पदार्थ है और अज्ञानी के लिए भी वही पदार्थ है। दोनों के बीच वही पदार्थ होते हुए भी ज्ञानी के लिए वैराग्य का कारण बन जाते हैं और अज्ञानी उन्हें लेकर रागद्वेष में पड़ जाता है। जिसको आप अपना मान रहे हो अभी उसी में चौबीस घंटे ध्यान लगा रहता है। जो वास्तव में अपना है उस ओर ध्यान है ही नहीं। आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव नामक ग्रन्थ में आद्योपान्त ध्यान के विषय में ध्यान के पात्र, ध्यान के फल, ध्यान में बाधक और साधक तत्त्वों का प्ररूपण किया है। उसमें एक श्लोक के माध्यम से सद्ध्यान की परिभाषा, अर्थात् मोक्ष में हेतुभूत ध्यान की परिभाषा दी है। सद्ध्यानी वह माना जाता है जो वीतरागी हो। संवेग और निर्वेग भाव जिसमें भरपूर हो। लम्बा-चौड़ा ज्ञान हो तो ठीक है, नहीं हो तो भी अच्छा है क्योंकि ज्ञान भी उस समय ध्यान में समाप्त हो जायेगा। **ध्यान के समय उसका उपयोग नहीं है, ध्यान से बाहर आते ही ज्ञान की कीमत है।**

जो वीतरागी हैं वे दुनियाँ में जितने भी पदार्थ हैं उसमें से कोई पदार्थ ले लें और उसका चिंतन करें, बाधा नहीं है। बाधा तो रागद्वेष की है। रागी द्वेषी बन जायें तो ध्यान बिगड़ जाता है। रागी होकर यदि वीतरागी मुद्रा देखेंगे तो वहाँ भी राग का ही अनुभव होगा। वहाँ भी उस मूर्ति की कीमत आँकने लगेंगे। धातु की है या पाषाण की है। सफेद है, काली है। भाई! सफेद काला तो पाषाण है। भगवान तो वीतरागी हैं। वीतद्वेषी हैं। शरीरातीत हैं। चैतन्य पिण्ड हैं। उपयोगवान हैं। जो वीतराग भाव से देखेगा वह पत्थर में भी वीतरागता देखेगा। राग में भी वीतरागता का अनुभव वीतरागी करता है और रागी वीतरागता में भी राग का अनुभव करता है। इसलिए रागी का ध्यान अशुभ है और वीतरागी का ध्यान शुभ है।

अनादिकाल से उपयोग की धारा अशुभ की ओर बह रही है। उसे Divert करना है। उसे अपनी आत्मा की ओर मोड़ना है। उपयोग, उपयोग में लीन हो जाये, यही प्रयोजनभूत है। आप लोगों की रुचि सद्ध्यान में अभी नहीं है लेकिन आप चाहें तो रुचि उत्पन्न कर सकते हैं और सद्ध्यान के माध्यम से परमपद प्राप्त कर सकते हैं। मुक्ति का सोपान ध्यान है।

❑ ❑ ❑

मूर्त से अमूर्त

वह ज्ञान जयवंत रहे जिस ज्ञान में तीन लोक और तीन लोक में विद्यमान विगत, अनागत-वर्तमान पर्यायों सहित समस्त पदार्थ प्रतिबिंबित हो रहे हैं। जिस प्रकार दर्पण के सामने जो भी पदार्थ आ जाता है, वह उसमें प्रतिबिंबित होता है, उसी प्रकार केवलज्ञान में तीन लोक का प्रतिबिंब अनायास आ जाता है। संसारी जीव के पास भी ज्ञान है किन्तु उसमें सकल चराचर पदार्थ प्रतिबिंबित नहीं होते। ज्ञान होते हुए भी इतना भारी अंतर होने का एक ही कारण है कि संसारी जीव का ज्ञान आवरित है। कषाय की कालिमा से आविष्ट है। जैसे दर्पण है लेकिन उस पर कालिमा हो तो प्रतिबिंबित होने की सामर्थ्य होते हुए भी पदार्थ प्रतिबिंबित नहीं हो सकते। इसी प्रकार संसारी प्राणी का ज्ञान अपना सही कार्य नहीं कर पाता।

कई बार ऐसा होता है कि आप किसी व्यक्ति से कोई गूढ़ बात समझने जाते हैं और वह क्रोधित हो जाता है तो आप दोबारा नहीं पूछते। यदि कोई दूसरा उस समय पूछने जा रहा हो तो उसे भी आप रोक देते हैं और कहने मैं आ जाता है कि वह व्यक्ति आपे में नहीं है। कषाय से आवेष्टित जो ज्ञान-विज्ञान है, वह हमें सही-सही कुछ नहीं बता सकेगा। कोई व्यक्ति बहुत दातार है, उदार है किन्तु जिस समय वह किसी उलझन में फँसा हुआ हो उस समय उसके पास कोई भी दीन हीन जायेगा तो खाली हाथ लौटना पड़ेगा। कुछ पाना उस समय संभव नहीं है। ऐसे समय में यदि याचक उस दातार के संदर्भ में कहे कि कैसा दातार है, काहे का दातार है। तब अन्य लोग उसे समझाते हैं कि दाता तो वह है, पर आप उचित समय नहीं पहुँचे। आप उस समय पहुँचे जब वह उलझन में था। वह अपने में नहीं था। रणांगण में कोई दानवीर राजा दान नहीं कर सकता।

सही समय पर और सही क्षेत्र पर जाओ तभी दान मिलता है अन्यथा नहीं। अर्थ यह हुआ कि जब कोई अपने स्वभाव से च्युत रहता है उस समय उसका ज्ञान अपने लिए भी हानिकारक हो जाता है। उस समय जीव का 'उपयोग' लक्षण होते हुए भी सही-सही कार्य नहीं करता। दुख का मूल कारण यही है।

जीव उपयोगवान होकर भी, अमूर्त स्वभाव वाला होकर भी वर्तमान में उस स्थिति में नहीं है। कर्म जब बंधता है उस समय आत्मा किस रूप में रहती है? कई लोगों का ऐसा सोचना है कि कर्म, कर्म से बंधता है, आत्मा तो अमूर्त है। इसलिए आत्मा से तो कर्म बंधता नहीं है। अमूर्त का मूर्त से बंधन भी कैसे संभव है? इससे ज्ञात होता है कि अभी लोगों को आत्मा अमूर्त है या मूर्त, उस बारे में सही-सही ज्ञान नहीं है। कई लोग तो ऐसी धारणा बना चुके हैं कि हम तो अमूर्त हैं और कर्म, कर्म के साथ बंधन को प्राप्त हो रहा है। उदाहरण भी दिया जाता है जैसे गाय के गले में रस्सी। गाय, अपने आप में पृथक् है और रस्सी, रस्सी में बँधी है। किन्तु यह उदाहरण सही-सही कर्मबन्ध को प्रस्तुत नहीं करता क्योंकि कर्म और आत्मा के बीच ऐसा सम्बन्ध नहीं है।

आचार्यों ने इसके समाधान में यह कहा है कि आत्मा वर्तमान में अमूर्त नहीं है। जीव जब तक संसार दशा में रहेगा, तब तक वह मूर्त रहेगा। मूर्तता की अनेक श्रेणियाँ हैं। आत्मा बहुत सूक्ष्म है, कर्म भी सूक्ष्म हैं क्योंकि देखने में नहीं आते। पर दोनों के बीच ऐसी रासायनिक प्रक्रिया हुई है कि कर्म मूर्त होकर भी आत्मा के साथ बंधे हैं। आत्मा के साथ जो कर्म का बंधन है वह क्षेत्रावगाह है। बंधे हुए जो कर्म हैं उनकी सत्ता अंदर है, उनके साथ कर्म का बंध नहीं होता और उदय में आये हुए कर्म के साथ भी बंध नहीं हुआ करता। बंध की प्रक्रिया आत्मा के उपयोग के साथ आत्मा के प्रदेशों के साथ जुड़ी हुई है क्योंकि उदय में आया हुआ कर्म फल देकर चला जाता है और सत्ता में जो कर्म हैं उनके साथ स्थिति, अनुभाग आदि सभी पृथक् रूप से पूर्व में बंधे हैं, उनके साथ बंध नहीं होता। इतना अवश्य है कि सभी नये-पुराने कर्म अपना आत्मा से अलग अस्तित्व रखते हुए भी एक क्षेत्र में रह सकते हैं, रहते भी हैं।

इस तरह आत्मा की मूर्तता अलग प्रकार की है। मूर्त होने के कारण ही कर्मों का बंध निरंतर प्रत्येक समय हो रहा है। आत्मा, पुद्‌गल के समान रूप, रस, गंध, स्पर्श गुण वाला नहीं है, फिर भी मूर्त है। अनादिकाल से वैभाविक परिणमन की अपेक्षा मूर्त है। इसके लिए एक उदाहरण है। शुद्ध पारा होता है, उसे आप हाथ से या चिमटी आदि किसी चीज से पकड़ नहीं सकते। उस पारे की यदि भस्म बना दी जाये तो वह सहज ही पकड़ में आने लगता है। अब वह पारा, पारा होते हुए भी एक तरह से पारा नहीं रहा, वह भस्म हो गया। पारा अपना स्वभाव छोड़कर विकृत या विभाव रूप में परिणत हो गया। यह भस्म यदि खटाई का संयोग पा जाये तो पुनः पारे में परिणत हो जाती है। पारे की भस्म दवा के रूप में रोग के इलाज में काम आती है। लेकिन शुद्ध पारे का एक कण भी मृत्यु का कारण बन सकता है।

यहाँ शुद्ध पारे को जो कि पकड़ में नहीं आता, हम कथंचित् अमूर्त मान सकते हैं और पारे की भस्म जो कि पकड़ में आ जाती है उसे मूर्त मान सकते हैं। आत्मा की यही स्थिति है। आत्मा

शुद्ध पारे के समान शुद्ध दशा को जब प्राप्त कर लेती है तब पकड़ में नहीं आती, उस समय वह अपने अमूर्त स्वभाव में स्थित है। लेकिन जब आत्मा पारे की भस्म के समान अशुद्ध दशा में रहती है, विकृत या वैभाविक दशा में रहती है तब वह मूर्त ही मानी जाती है। पकड़ में आ जाती है। इसलिए जो आत्मा को सर्वथा अमूर्त मानकर ऐसी धारणा बना लेते हैं कि कर्म, कर्म से बंधता है, उनकी यह धारणा गलत साबित होती है, आगम के विरुद्ध भी है।

आगम में करणानुयोग में लिखा है कि आत्मा से कर्म बंधता है। 'आत्म-कर्मणोः अन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बंधः।' बंध की प्रक्रिया आत्मा और कर्म के बीच ही हुई है। दोनों के प्रदेश एकमेक हुए हैं। यह ठीक है कि आत्मा कर्म के साथ बंधकर भी अपने गुणधर्म को नहीं छोड़ती। आत्मा के साथ कर्मबन्ध होना वैभाविक आत्मदशा है, जिससे वह कर्म के माध्यम से पकड़ में आती रहती है। यदि कर्म के साथ कर्म का बंध होता, तो कर्म का फल आत्मा को नहीं मिलता। ध्यान रहे कर्म भोक्ता नहीं है, भोक्ता आत्मा है क्योंकि वह चेतन है। भोगने की क्रिया संवेदन पूर्वक ही हुआ करती है।

कर्म फल का जो संवेदन आत्मा करती है वह अमूर्त नहीं अपितु मूर्त होता है। संवेदन से तात्पर्य फल की अनुभूति से है। संवेदन का अर्थ मात्र जानना-देखना नहीं है। मात्र जानने-देखने रूप चेतना तो सिद्ध परमेष्ठी के होती है। यहाँ उसका सवाल नहीं है किन्तु फल की अनुभूति रूप संवेदना मूर्त अवस्था में ही होना संभव है। यही आत्मा का विपरीत परिणमन है। आत्मा का स्वभाव-परिणमन शुद्ध पारे के समान है और विभाव-परिणमन पारे की भस्म के समान है जो कि पकड़ में आ जाती है।

वर्तमान में आत्मा अमूर्त नहीं है मूर्त है किन्तु अमूर्त बन सकता है। अमूर्त बनने की प्रक्रिया बहुत आसान है। जैसे पारे की भस्म की खटाई का योग मिल जाने से वह पुनः पारा बन जाती है उसी प्रकार आप लोगों को भी वीतराग रूप खटाई का योग मिल जाये तो आप भी मूर्त से अमूर्त बन सकते हैं। जो अपने अमूर्त स्वभाव को प्राप्त करना चाहता है उसे वीतरागता का संयोग करना होगा।

कर्म का आत्मा के साथ सम्बन्ध बड़ा अद्‌भुत है। जिस समय यह संसारी प्राणी-एक गति से दूसरी गति में जाता है उस समय विग्रह गति में कार्मण-काययोग रहता है। उस समय आत्मा का कुछ जोर नहीं चलता, कर्म ही आत्मा को इस गति से उस गति में ले जाता है। यदि कर्म का मात्र कर्म से ही संयोग होता तो आत्मा को न ले जाकर कर्म को ही कर्म के साथ जाना चाहिए था। नरक कौन जाना चाहता है भैया। जाना तो कोई नहीं चाहता किन्तु नरकायु का बंध होने के उपरान्त जाना पड़ता है। कर्म के पास यह शक्ति है। यदि कर्म, कर्म के साथ बंधता और आत्मा से बिल्कुल पृथक् रहता तो आत्मा को चारों गतियाँ में नहीं ले जा सकता।

जब रस्सी को खींचते हैं तो गाय साथ में चली आती है। यदि रस्सी मात्र रस्सी से बँधी होती तो गाय पृथक् रही आती और खींचने पर केवल रस्सी खीच पाती। लेकिन गाय नहीं भी जाना चाहे तो भी रस्सी से बँधी होने के कारण खिची चली जाती है। रस्सी से रस्सी की गांठ लगी है किन्तु गाय खिची चली जाती है। यह बंध की प्रक्रिया अनोखी प्रक्रिया है। संसारी प्राणी बंध को नहीं चाहता लेकिन बंधन के साधन अपनाता चला जाता है, यही उसका सबसे बड़ा अपराध है। वीतरागता उसे इस अपराध से मुक्त कर सकती है। हम यदि रागद्वेष छोड़कर वीतराग अवस्था को प्राप्त कर लें तो हम अमूर्त बन जायेंगे, अपने आपे में आ जायेंगे।

अभी हमारा ज्ञान पूजनीय नहीं बल्कि वह मूर्त है। आचार्यों ने उस कैवल्य ज्योति को जयवंत कहा जिसमें तीन लोक के सारे पदार्थ प्रतिबिंबित होते हैं। ऐसा वह केवल ज्ञान किसी के आधीन नहीं है। अनंत उज्ज्वलता उसमें विद्यमान है। हमें उस ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। बंध की प्रक्रिया को समझकर उससे मुक्त होने का उपाय करना चाहिए। बंध की प्रक्रिया रागद्वेष के माध्यम से चल रही है। वीतराग के माध्यम से ही इसका विमोचन होगा। लेकिन यह भी ध्यान रखना कि दूसरे का वीतराग भाव हमारे काम नहीं आयेगा। हमें उसे निमित्त बनाकर स्वयं वीतरागी बनना होगा। हम वीतराग भगवान् के चरणों में पड़ जायें और कहें कि हे भगवान्! थोड़ी कृपा कर दो, आपके पास रसायन है हमें थोड़ा दे दो, तो ऐसा संभव नहीं है।

पारसमणि के स्पर्श से लोहा, सोने में बदल जाता है। पारसमणि लोहे को सोना तो बना सकती है किन्तु पारसमणि नहीं बना सकती। लोहे के पास सोना बनने की योग्यता है और उसे पारसमणि का योग मिल जाये तो वह सोना बन जाता है। यदि योग्यता न हो तो स्पर्श का असर भी नहीं होगा। एक व्यक्ति अपने गुरु से प्राप्त पारसमणि को लोहे से स्पर्श कराता है किन्तु लोहा स्वर्ण नहीं बनता। वह वापिस आकर गुरु को उलाहना देता है कि आपने झूठ कहा था। यह पारसमणि नहीं है। लोहा, स्वर्ण नहीं बना। गुरु ने कहा, झूठ नहीं है बेटा, बता कौन सा लोहा स्पर्श कराया तूने। शिष्य वह लोहा ले आया। गुरु ने वह लोहा देखा और कहा- बात ऐसी है कि यह पारसमणि तो सही है किन्तु लोहा सही नहीं है।

शुद्ध लोहा ही सोना बन सकता है। अशुद्ध, जंग खाया हुआ लोहा, या मिट्टी आदि की पर्त चढ़ा हुआ लोहा स्वर्ण नहीं बन सकता। पहले लोहे को शुद्ध बनाओ। **भगवान् शुद्ध हैं, हम अशुद्ध हैं। शुद्धत्व के योग्य भूमिका में ढले बिना उनका स्पर्श हमें शुद्ध नहीं बना सकेगा। यह ध्यान रहे कि हम जहाँ कहीं भी रहते हैं, वह शुद्ध तत्त्व अर्थात् केवली भगवान् हमारे पास प्रतिदिन तीन बार आया करते हैं।** कर्म सिद्धांत के अनुसार छह सौ आठ जीव छह महीने आठ समय में मुक्ति को प्राप्त करते हैं। तो एक महीने में लगभग सौ जीव मोक्ष पा जाते हैं और एक दिन

में लगभग कम से कम तीन जीव जाते होंगे और मुक्त होने से पहले केवली समुद्घात हो तो उस समय लोक में एक भी प्रदेश ऐसा नहीं रहता जिसमें केवली भगवान् स्पर्श न करते हों।

केवलज्ञानी का स्पर्शन तीन लोक में फैल जाता है। उस तीन लोक में तो सभी आ जाते हैं। **हम सभी को भगवान् एक ही दिन में तीन बार छू लेते हैं फिर भी हम अशुद्ध के अशुद्ध ही रहे आते हैं।** किसी बार छह महीने का अंतराल पड़ जाता है तब उसकी पूर्ति शेष आठ समय में हो जाती है। परोक्ष रूप में यह सारी घटना होती रहती है लेकिन कर्म बंध में फँसा हुआ जो व्यक्ति है उसको इसका भान नहीं हो पाता। **भगवान् को पाना चाहो तो कहीं भागो मत, अपने पास ही रहो।** लौकिक दृष्टि से प्रचलित सूक्ति है कि **''भगवान् भी भक्त के वश में हैं।''** उपयोग बदल जाये अर्थात दृष्टि में वीतरागता आ जाये तो भगवान् को पाना आसान है।

जैसे दीपक जल रहा है जिस समय वह वायु में प्रवाहित नहीं होता उस समय उसकी लौ बिल्कुल सीधी व सही होती है किन्तु जिस समय वह किसी कारणवश भभकने लगता है उस समय वह लौ, आपे में नहीं रहती। प्रकाश की मात्रा तब कम हो जाती है। दीपक का स्वभाव प्रकाश तो रहता है किन्तु उसमें विकार आ जाता है। उसी प्रकार संसारावस्था में जीव में ज्ञानदर्शनात्मक उपयोग तो रहता है लेकिन सही काम नहीं करता। **भभकने वाला दीपक प्रकाश कम देता है। हमारे अंदर भी अपने क्षयोपशम के माध्यम से जो वीर्य प्राप्त होता है वह कषाय करने से भभकते दीपक के समान हो जाता है।**

हम जब कषाय तीव्र करते हैं तो हमारी शक्ति का अपव्यय होता है। हमारी शक्ति हमारे ही द्वारा समाप्त हो जाती है, उसका सदुपयोग नहीं हो पाता और यह अनर्थ, जीवन में प्रति समय हो रहा है। जो जीवन में प्रकाश हमें मिलना चाहिए था, जो कार्य होना चाहिए था वह नहीं हो पाता और जीवन यूँ ही समाप्त हो जाता है। बंध की प्रक्रिया के उपरान्त हुई अपनी स्थिति को हमने बुद्धि पूर्वक अपना लिया है और उसी में आनंद का अनुभव मान रहे हैं। विचार तो करो, केवली भगवान् का स्पर्श होने के उपरान्त भी हमें भान नहीं हो पा रहा।

यहाँ कोई व्यक्ति शंका कर सकता है कि जब आज भी केवली का स्पर्श हमें प्राप्त है तो आज भी तीर्थंकर प्रकृति का अर्जन हमें होना चाहिए। क्षायिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होनी चाहिए। तो ध्यान रखना कि किसी गुण को प्राप्त करना चाहते हो तो गुण प्राप्ति के लिए गुणवान के निकट जाना पड़ता है। वे हमारे पास आ जायें, तो आ सकते हैं। लेकिन जब तक हम नहीं जायेंगे वह गुण प्राप्त भी नहीं होगा। जब हम क्षायिक सम्यग्दर्शन या तीर्थंकर प्रकृति का अर्जन करते हैं तब उसके लिए केवली या श्रुतकेवली के चरणों में चले जाना आवश्यक होता है। मेहमान को आप निमंत्रण

दें तभी वह आता है, वैसे नहीं आता। आपको स्वयं जाना होगा उसके पास, उसके चरणों में बैठकर भावों को उज्ज्वल करना पड़ेगा।

जब भावों को पुरुषार्थ के माध्यम से उज्ज्वल करेंगे तब यह प्रक्रिया घट सकती है अन्यथा नहीं। **आपके भावों को उज्ज्वल करने के लिए वे तीन लोक के नाथ आपके पास नहीं आते, वे तो समुद्घात की प्रक्रिया के माध्यम से अपने शेष कर्मों की स्थिति को समान बनाते हैं।** इस कार्य को करने के उपरान्त वे तीसरे व चौथे शुक्ल ध्यान को अपना लेते हैं और मुक्ति पा लेते हैं। आप भी मुक्ति के भाजन हैं, इसमें कोई संदेह नहीं लेकिन उसे प्राप्त करने के लिए प्रयास निरन्तर करना होगा।

यदि बंध की प्रक्रिया का सही-सही अध्ययन आप कर लें तो ज्ञात होगा कि तेरहवें गुणस्थान में केवली भगवान् भी अभी कर्मबन्ध की अपेक्षा मूर्त हैं। अमूर्तत्व का अनुभव शुद्ध पर्याय के साथ होना संभव है। भगवान् भी ही अर्हन्त अवस्था में स्वयं को मूर्त समझकर अमूर्त होने की प्रक्रिया अपनाते हैं और तीसरे व चौथे शुक्लध्यान के माध्यम से योग-निरोध करके सिद्धत्व को प्राप्त कर लेते हैं। ध्यान की आवश्यकता अमूर्त हो जाने के उपरान्त नहीं होती, अमूर्त होने के लिए अवश्य होती है। सिद्ध भगवान् ध्यान नहीं करते, कृतकृत्य हो चुके हैं।

अतः संसारी दशा में यह मत समझो कि हम अमूर्त हैं। अभी हम मूर्त हैं लेकिन अमूर्त होने की शक्ति हममें विद्यमान है। जो व्यक्ति स्वयं को बंधन में मानता है वही बंधन से मुक्ति की प्रक्रिया अपनाता है। जिस समय रागद्वेष हम कर लेते हैं उसी समय आत्मा कर्म के बंधन में जकड़ जाता है। एक आत्मा के प्रदेशों पर अनन्तानन्त पुद्‍गल वर्गणाएँ कर्म के रूप में आकर एक समय में चिपक रही हैं। इसके उपरान्त भी यदि कोई कहे कि हम मुक्त हैं, अमूर्त हैं तो यह आग्रह ठीक नहीं है। अनादिकाल से जो रागद्वेष की प्रक्रिया चल रही है जब तक वह नहीं रुकेगी तब तक कोई बंध से मुक्त नहीं हो सकता। इसलिये बंध की प्रक्रिया को रोकने का उपाय करना ही श्रेयस्कर है। उपाय सीधा सा है कि कर्म के उदय में हम शान्त रहें।

मैंने किया विगत में कुछ पुण्य-पाप, जो आ रहा उदय में स्वयमेव आप।
होगा न बंध तब लौ जबलौं न राग, चिन्ता नहीं उदय से बन वीतराग॥

यदि हम वीतरागता को अपना लें तो कर्मबन्ध की प्रक्रिया रुकने लगेगी। संवर और निर्जरा को प्राप्त करके मुक्ति के भाजन बन सकेंगे। अपने वर्तमान मूर्तपने को जानकर अमूर्त होने का उपाय अपनाना ही आत्म-कल्याण के लिए अनिवार्य है। एक बार शुद्ध पारे के समान हमारी आत्मा शुद्ध बन जाये, अमूर्त हो जाये तो अनन्त काल के लिए हम अमूर्तत्व का अनुभव कर सकते हैं। यही हमारा प्राप्तव्य है। ❑ ❑ ❑

परिग्रह

आज तक जितने लोगों ने अपनी आत्मा को पवित्र-पावन बनाया है वे सभी सिद्ध भगवान् महान् अपरिग्रह महाव्रत का आधार लेकर आगे बढ़े हैं। उन्होंने मन-वचन-काय से इस महाव्रत की सेवा की है। अपरिग्रह-यह शब्द विधायक नहीं है, निषेधात्मक शब्द है। उपलब्धि दो प्रकार से हुआ करती है और प्ररूपणा भी दो प्रकार से हुआ करती है-एक निषेधमुखी और दूसरी विधिमुखी। परिग्रह के अभाव का नाम अपरिग्रह है। परिग्रह को अधर्म माना गया है। इसलिए अपरिग्रह स्वतः ही धर्म की कोटि में आता है। इस अपरिग्रह धर्म का परिचय, इसकी अनुभूति, इसकी उपलब्धि आज तक पूर्णतः हमने की ही नहीं। क्योंकि जब तक बाधक तत्त्व विद्यमान हैं साध्य की प्राप्ति संभव नहीं है।

जैसे धर्म और अधर्म एक साथ नहीं रह सकते। अंधकार और प्रकाश एक साथ नहीं रह सकते। इसी प्रकार परिग्रह के रहते हुए जीवन में अपरिग्रह की अनुभूति नहीं हो सकती। परिग्रह को महावीर भगवान् ने पाँच पापों का मूल कारण माना है। संसार के सारे पाप इसी परिग्रह से उत्पन्न होते हैं। हमारा आत्मतत्त्व स्वतंत्र होते हुए भी, एकमात्र इसी परिग्रह की डोर से बंधा हुआ है। परिग्रह शब्द की व्युत्पत्ति इस ओर इशारा भी करती है जो विचारणीय है। **परि आसमन्तात् ग्रहणाति आत्मानं इति परिग्रहः** जो आत्मा को सब ओर से घेर लेता है, जकड़ देता है वह परिग्रह है। आत्मा जिससे बंध जाता है उसका नाम परिग्रह है।

मात्र बाह्य वस्तुओं के ग्रहण का नाम परिग्रह नहीं है। मूर्छा ही परिग्रह है। बाह्य पदार्थों के प्रति जो अटेचमेन्ट है, लगाव है, उसके प्रति रागानुभूति है, उसमें जो एकत्व की स्थापना का भाव है वह परिग्रह है। जहाँ आप रह रहे हैं वहीं पर अर्हन्त परमेष्ठी भी हैं, साधु परमेष्ठी भी हैं। वहीं पर पुनीत आत्माएँ रह रही हैं। किन्तु वही स्थान आपके लिए दुख का स्थान बन जाता है और वही उन आत्माओं के लिए जरा भी प्रभावित नहीं करता, सुख-दुख का कारण नहीं। **वास्तव में, पदार्थ दुख-सुख का कारण नहीं है। अपितु उसके प्रति जो मूर्छा-भाव है, जो ममत्व है वही दुख का कारण है। इसी का नाम परिग्रह है।**

विशालकाय हाथी को कोई बाँध नहीं सकता। वह स्वयं बंध जाता है, उसकी मूर्छा उसे स्वयं बंधन में डाल देती है। इसी प्रकार तीन लोक को जानने की अनन्त-शक्ति और अनन्त-आलोक जिस आत्मा के पास विद्यमान है वह आत्मा भी मूर्छित है, सुप्त है जिससे उसकी वह शक्ति कुंठित हो रही है। आप चार पापों के प्रति अत्यन्त सावधान हैं। आप हिंसा से परहेज करते हैं, झूठ से बचते हैं, 'चोरी नहीं करूँगा' ऐसा संकल्प ले सकते हैं और लौकिक ब्रह्मचर्य के प्रति भी आपकी स्वीकृति है किन्तु परिग्रह को आप विशेष रूप से सुरक्षित रखे हुए हैं। वह पाप मालूम ही नहीं पड़ता।

आज हिंसा करने वाले का कोई आदर नहीं करता, झूठ बोलने वाले, चोरी करने वाले का अनादर ही होता है, लेकिन परिग्रही का आज भी आदर हो रहा है। जितना परिग्रह बढ़ता है वह उतना ही बड़ा आदमी माना जा रहा है, जो कि धर्म के लिए सत्य नहीं है। धर्म कहता है कि परिग्रह का समर्थन सारे पापों का समर्थन है। आप धर्म चाहते हैं किन्तु परिग्रह को छोड़ना नहीं चाहते। इससे यही प्रतीत होता है कि आप अभी धर्म को नहीं चाहते। धर्म तो अपरिग्रह में है।

मूर्छा रूपी अग्नि के माध्यम से आपकी आत्मा तप्त है, पीड़ित है और इसी के माध्यम से कर्म के बंधन में जकड़ा हुआ है। आत्मा की शक्ति इसी के कारण समाप्त प्रायः हो गयी है। वह अनंत शक्ति पूर्णतः कभी समाप्त तो नहीं होती लेकिन मूर्छा के कारण सुप्त हो जाती है। जैसे आकाश में बादल छा जाते हैं तो सूर्य ढक जाता है। प्रकाश तो होता है, दिन उग आता है लेकिन सूरज दिखायी नहीं पड़ता। इसी प्रकार मूर्छा के बादलों में ढका आत्मा दिखायी नहीं देता। आत्म-दर्शन के लिए स्वयं को परिग्रह से मुक्त करना अनिवार्य है।

दिखता है बाहर से कि आप परिग्रह से नहीं चिपके किन्तु अंदर से कितने चिपके है यह आप स्वयं समझते हैं। लगभग पंद्रह-सोलह वर्ष पुरानी घटना है। मैं एक आम वृक्ष के नीचे बैठा था। वृक्ष में आम लगे हुए थे। बच्चे आम तोड़ने के लिए पत्थर फेंक रहे थे। मैं भी उस समय बच्चों के साथ हो गया। गृहस्थ अवस्था की बात है, एक-एक करके कई पत्थर फेंक दिये किन्तु आम नहीं गिरे, आम की एक कोर टूटकर गिर गई। यह शायद आम की ओर से सूचना थी कि मैं इस प्रकार टूटने वाला नहीं हूँ। फिर जिसने भी पत्थर फेंका, एक कोर ही आ गयी पर पूरा आम कोई भी नहीं टूटा। पर्याप्त था मेरे लिए यह बोध जो उस आम की ओर से प्राप्त हुआ। बाहरी पदार्थों के प्रति अंतरंग में जितनी गहरी मूर्छा होगी, हमारी पकड़ भी उतनी ही मजबूत होगी। पदार्थों को छोड़ना उतना ही मुश्किल होगा। पदार्थ कदाचित् हटा भी लिये जायें तो भी हमारा मन वहीं जाकर चिपक जायेगा। तो पहली बात यही है कि भीतरी पकड़ ढीली पड़नी चाहिए।

थोड़ी देर जब मैं उसी वृक्ष के नीचे रुका तो उसी समय थोड़ा-सा हवा का झोंका आया और एक पका हुआ आम आकर नीचे चरणों में गिर गया। उसकी सुगंधि फैलने लगी, हरा नहीं था वह पीला था, कड़ा नहीं था मुलायम था, चूसकर देखा तो वह मीठा भी था। आनंद की अनुभूति हुई। मैं सोचने लगा कि इस आम को गिरने के लिए हवा का झोंका भी पर्याप्त था क्योंकि यह वृक्ष से जो संबंध था उसे छोड़ने के लिये तैयार हो गया। आपने कभी अनुभव किया कि उस आम ने वृक्ष से सब बंधन तोड़ दिये। ऊपर से दिखता था कि सम्बन्ध जुड़ा हुआ है किन्तु जरा सा इशारा पाकर वह वृक्ष से पृथक् हो जाता है। तो दूसरी बात यह मिली कि जो जितना भीतर से असम्पृक्त होगा वह बाहर से जुड़ा होकर भी इशारा पाते ही मुक्त हो जायेगा। इस तरह जब कोई मुक्त होता है तो उसकी सुगंध, उसकी मिठास आनंददायक होती है।

यह तो समय पर एकाध आम पकने की घटना हुई। लेकिन पकने की योग्यता आते ही पूर्णतः पकने से पूर्व यदि कोई होशियार माली उन्हें सावधानी से तोड़ लेता है तो भी उसे पाल में आसानी से पकाया जा सकता है। आप समझ गये सारी बात, पर भइया डरो मत, मैं जबर्दस्ती आपको पकाने की बात नहीं कहूँगा। आपका डण्ठल अभी मजबूत है। इतना अवश्य है कि अपरिग्रह की बात समझ में आ जाये तो संभव है कुछ समय में पक सकते हैं। अर्थात् पदार्थों के प्रति मूर्छा कम होने के उपरांत यदि उन्हें छोड़ दिया जाए तो भी छूटना संभव है। समय से पहले भी यह घटना घट सकती है। अविपाक निर्जरा के माध्यम से साधक इसी प्रकार समय से पूर्व कर्मों को झड़ा देता है, और परिग्रह से मुक्त होकर मोक्षमार्गी होकर आत्म-कल्याण कर लेता है।

आप लोगों ने अपनी निजी सत्ता के महत्त्व को भुला दिया है। इसी कारण निधि होते हुए भी लुट गयी है। आप आनंद की अनुभूति चाहते हैं लेकिन वह कहीं बाहर से मिलने वाली नहीं है। वह आनंद, वह बहार अपने अंदर है। बसंत की बहार बाहर नहीं है वह अंदर ही है। लेकिन जो अंधा हो उसे चारों ओर बहार होते हुए भी दिखायी नहीं देती। उपयोग में जो एक प्रकार का अंधापन छाया है, मूर्छा छायी है वह मूर्छा टूट जाये तो वहीं पर बसंत बहार है। आत्मा का आनंद वहीं पर है।

एक किंवदंती है। एक बार भगवान् ने भक्त की भक्ति से प्रभावित होकर उससे पूछा कि तू क्या चाहता है? भक्त ने उत्तर दिया कि मैं और कुछ अपने लिए नहीं चाहता। बस यही चाहता हूँ कि दुखियों का दुख दूर हो जाये। भगवान् ने कहा 'तथास्तु। ऐसा करो जो सबसे अधिक दुखी है उसे यहाँ लेकर आना होगा।' भक्त ने स्वीकार कर लिया। भक्त बहुत खुश था कि इतने दिनों की भक्ति के उपरांत यह वरदान मिल गया। बहुत अच्छा हुआ, अब मैं एक-एक करके सारी दुनियाँ को सुखी कर दूँगा। भक्त, दुखी की तलाश करता है। एक-एक व्यक्ति से पूछता जाता है। सब यही कहते हैं कि और तो सब ठीक है बस एक कमी है। कोई पुत्र की कमी बताता, तो कोई धन की, कोई मकान या दुकान की कमी बता देता है पर पूर्ण कमी है ऐसा किसी ने नहीं बताया।

चलते-चलते उसने देखा कि एक कुत्ता नाली में पड़ा तड़प रहा है, वह मरणोन्मुख है। उसने जाकर पूछा कि क्यों, क्या हो गया है? कुत्ता कहता है कि मैं बहुत दुखी हूँ। भगवान का भजन करना चाहता हूँ। भक्त ने सोचा यह सचमुच बहुत दुखी है। इसे ले चलना चाहिए। उसने कुत्ते से कहा कि तुम दुख से मुक्ति चाहते हो तो चलो, तुम स्वर्ग चलो वहाँ पर सुख ही सुख है। मैं तुम्हें वहाँ ले चलता हूँ। कुत्ते ने कहा बहुत अच्छा। पर यह तो बताओ कि वहाँ क्या-क्या मिलेगा? सभी सुख सुविधाओं के बारे में पूछने के उपरांत कुत्ते ने आश्वस्त होकर कहा कि ठीक है चलते हैं किन्तु एक बात और पूछनी है कि स्वर्ग में ऐसी नाली मिलेगी या नहीं। भक्त हँसने लगा और कहा कि

ऐसी नाली स्वर्ग में नहीं है। तब फौरन कुत्ता बोला कि नाली नहीं है तो फिर क्या फायदा! मुझे यहीं रहने दो, यहाँ ठंडी-ठंडी लहर आती है।

अब विचार करिये। कैसी यह मूर्छा है? पाप-प्रणाली अर्थात् पाप रूपी नाली को कोई छोड़ना नहीं चाहता। सबके मुख से यही वाणी सुनने को मिलती है कि यहाँ से छुटकारा मिल जाये पर मांग यही है कि हम यहीं पर बने रहें। सभी सुख चाहते हैं लेकिन परिग्रह छोड़ना नहीं चाहते। आचार्यों ने विद्वानों ने सभी ने कहा है कि **''घर कारागृह, वनिता बेड़ी, परिजन हैं रखवारे'' घर कारागृह है, गृहिणी बेड़ी है, बंधन है और जो परिवार जन हैं वे रखवाले हैं।** आप कहीं जायें तो वे पूछ लेते हैं कि कहाँ जा रहे हैं आप? कब तक लौटेंगे? इस प्रकार का यह मोह जाल है, उसमें आत्मा जकड़ती चली जाती है और जाल में फँसकर जीवन समाप्त होता जाता है।

मूर्छा का उदाहरण रेशम का कीड़ा है। जो अपने मुख से लार उगलता रहता है और उस लार के माध्यम से वह अपने शरीर को स्वयं आवेष्टित करता चला जाता है। वह लार रेशम की तरह काम आती है जिसके लिए रेशम के कीड़े को जिन्दगी से हाथ धोना पड़ता है। यह उसकी ही गलती है, उसका ही दोष है। वह चाहे तो उससे बाहर आ सकता है लेकिन लार इकट्‌ठी करने का मोह नहीं छूटता, और जीवन नष्ट हो जाता है। संसारी आत्मा भी प्रत्येक समय रागद्वेष मोह, मद, मत्सर के माध्यम से स्वयं के परिणामों को विकृत बनाता रहता है जिसके फलस्वरूप अनंत कर्म वर्गणाएँ आकर चिपकती चली जाती हैं और यह बंधन की परम्परा अक्षुण्ण चलती रहती है।

आत्मा को न कोई दूसरा सुखी बना सकता है, न कोई दूसरा इसको दुखी बना सकता है। यह स्वयं ही अपने परिणामों के द्वारा सुखी बन सकता है और स्वयं ही दुखी बना हुआ है। यह अजर है, अमर है, इसे मिटाने वाला कोई नहीं है। यह चाहे तो रागद्वेष, मोह को मिटाकर अपने संसार को मिटा सकता है और अपने शाश्वत स्वभाव में स्थित होकर आनंद पा सकता है। यह संभाव्य है। उन्नति की गुंजाइश है। किन्तु उन्नति चाहना बहुत कठिन है। आप प्रत्येक पदार्थ को चाह रहे हैं किन्तु निजी पदार्थ की चाह आज तक उद्भूत नहीं हुई। मोह की मूर्छा बहुत प्रबल है। पर ध्यान रहे मोह जड़ पदार्थ है और आप चेतन हैं, मोह आपको प्रभावित नहीं करता किन्तु आप स्वयं मोह से प्रभावित होते हैं।

आत्मा की अनंत शक्ति को जागृत करके आप चाहें तो अतीत में बंधे हुए मोह कर्म को क्षणभर में हटा सकते हैं। आप सोचते हैं कि कर्म तो बहुत दिन के हैं और इनको समाप्त करना बहुत कठिन है, तो ऐसा नहीं है। एक प्रकाश की किरण अनंतकाल से संचित अंधकार को मिटाने के लिए पर्याप्त है। 'मोह' बलवान नहीं है यह आपकी कमजोरी है, **''मन के हारे हार है मन के जीते**

जीत।'' आप कमजोर पड़ जाते हैं तो कर्म बलवान मालूम पड़ने लगते हैं। आपके मकान की दीवार से हवा टकराती हुई जा रही है किन्तु कोई असर नहीं होता। यदि उस दीवार पर आप थोड़ी सी चिकनाहट लगा लें तो वहाँ हवा के साथ आयी हुई धूलि चिपकना प्रारम्भ हो जायेगी। यह ऐसा क्यों हुआ? तो चिकनाहट के कारण हुआ। इसी प्रकार हमारे परिणामों की विकृति के कारण नित्य नये कर्म आते रहते हैं और परम्परा चलती रहती है। हम यदि अपने भावों की संभाल करें तो इस संतति को तोड़ सकते हैं।

तेली के बैल को कोल्हू से बाँध दिया जाता है, आँखें बंद कर दी जाती हैं। बैल सोचता रहता है कि सुबह से लेकर शाम हो गयी मेरा सफर चल रहा है, शाम को कोई अच्छा स्थान मिल ही जायेगा, बहुत चल चुका हूँ पर शाम को जब पट्टी हटती है तब ज्ञात होता है कि मैं तो वहीं पर हूँ, जहाँ सुबह था। इसी प्रकार हमारी दशा है। यदि सावधान नहीं होंगे तो मोह की परम्परा कोल्हू के बैल की तरह निरंतर चलती रहेगी और हम संसार में वहीं के वहीं घूमते रह जायेंगे। अगर गौर से देखें तो अर्जित कर्म बहुत सीमित हैं और संकल्प अनन्त हैं। तेरे-मेरे का संकल्प यदि टूट जाये तो कर्म हमारा बिगाड़ नहीं कर सकते।

तूने किया विगत में कुछ पुण्य पाप, जो आ रहा उदय में स्वयमेव आप।
होगा न बंध तबलौं जबलौं न राग, चिंता नहीं उदय से बन वीतराग॥

अज्ञान दशा में मोह के वशीभूत होकर जो कर्म किया है उसका उदय चल रहा है किन्तु उदय मात्र अपने लिए बंध कारक नहीं है अपितु उदय से प्रभावित होना हर्ष विषाद करना हमारे लिए बंधकारक है। उस उदय से प्रभावित होना हमारी कमजोरी है। यदि हम उदय से प्रभावित न हों तो उदय आकर जा रहा है।

मोह का कार्य भोगभूमि की जुड़वा संतान जैसा है। जब तक मोह सत्ता में है तब तक उसका कोई प्रभाव उपयोग पर नहीं है। किन्तु जब उदय में आता है उस समय रागी-द्वेषी संसारी प्राणी उससे प्रभावित हो जाता है। इसलिए वह अपनी संतान छोड़कर चला जाता है। भोगभूमि काल में पल्योपम आयु तक स्त्री-पुरुष जोड़े भोग में लगे रहते हैं किन्तु संतान की प्राप्ति नहीं होती। अंत में मरण से पूर्व में नियम से जुड़वा संतान छोड़ कर चले जाते हैं। यह क्रम चलता रहता है। जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश इतना ही संक्षेप में है कि राग करने वाला बंधन में पड़ता है और द्वेष करने वाला भी बंधन को प्राप्त होता है किन्तु वीतरागी को कोई बाँध नहीं सकता।

सुख-दुख मात्र मोहनीय कर्म की परिणति है। मोह के कारण ही हम स्वयं को सुखी दुखी मान लेते हैं। **मैं सुखी दुखी मैं रंक राव। मेरे गृह धन गोधन प्रभाव। मेरे सुत तिय मैं सबल दीन,**

बेरूप सुभग मूरख प्रवीण। यह अज्ञानता ही संसार का कारण है। जीव रंक राव आदि रूप नहीं है फिर भी इस रूप स्वयं को मानता चला जा रहा है। 'पर' में सुख मानना ही परिग्रह को अपनाना है और 'स्व' में सुख मानना ही परिग्रह से मुक्त होना है।

अरब देश से एक बार कुछ श्रीमान यहाँ भ्रमण हेतु आये। ऐसा कहीं किसी से सुना था। वे यहाँ किसी रेस्ट हाउस में ठहर गये। वहाँ उनका सब प्रकार का प्रबंध था। गर्मी का मौसम था इसलिए दिन में तीन बार भी स्नान की व्यवस्था थी। अरब देशों में पानी की बड़ी कमी रहती है। यहाँ इतना पानी देखकर एक व्यक्ति को उनमें से बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने टोंटी को थोड़ा घुमाया तो तेजी से पानी आता देखकर सोचने लगा कि अरे! यह तो बहुत अच्छा है। टोंटी से पानी आता है। उसने नौकर को बुलाकर पूछा कि ऐसी टोंटी और मिल जायेंगी। नौकर ने कहा कि हाँ मिल जायेंगी। पर आप क्या करेंगे? व्यक्ति बोला पानी के काम आयेगी। नौकर समझ गया कि यह व्यक्ति धोखे में है। उसने कहा कि टोंटी मंहगी मिलेगी, हमारे पास और भी हैं पर प्रत्येक का सौ रुपया लगेगा।

उस व्यक्ति ने दस बीस टोंटी खरीद कर रख लीं। रात में जब सब साथी सो गये तो उसने चुपके से एक टोंटी निकाली और उसे घुमाया पर उसमें से पानी नहीं निकला। सोचने लगा कि बात क्या हो गयी। दूसरी टोंटी को परखा फिर वही बात। एक-एक करके सारी टोंटियाँ परख लीं पर पानी किसी में से नहीं आया। एक व्यक्ति पास में लेटा-लेटा सब देख रहा था। उसने कहा कि यह क्या पागलपन कर रहे हो? वह व्यक्ति बोला कि मेरे साथ धोखा हो गया। टोंटी में से पानी आता देखकर मैंने सोचा कि अपने यहाँ पानी की कमी है, टोंटी खरीद लें तो वहाँ पर पानी ही पानी हो जायेगा। तब उस व्यक्ति को समझाया उसके साथी ने कि भइया! टोंटी में पानी थोड़े ही है पानी तो टंकी में था। उसी में से उसमें आ रहा था। पानी इसमें नहीं है इसमें से होकर आता है।

इसी प्रकार सुख इस शरीर में नहीं है, बाहरी किसी सामग्री में नहीं है। आप टोंटी वाले की अज्ञानता पर हंस रहे हैं। आपने भी तो टोंटियाँ खरीद रखी हैं इस आशा से कि उनसे सुख मिलेगा। प्रत्येक व्यक्ति ने कुछ न कुछ खरीद रखा है और उसके माध्यम से सुख चाहता है। शान्ति चाहता है। मकान एक टोंटी, फ्रिज एक टोंटी। आप लोगों ने टोंटियाँ खरीदने में ही जीवन व्यतीत कर दिया। इनमें से सुख थोड़े ही आने वाला है यदि आता तो आ जाता आज तक। आप दूसरे के जीवन की ओर मत देखो। हमारा अपना जीवन कितना मोहग्रस्त है यह देखो। सुख अपने भीतर है। सुख इन बाह्य वस्तुओं (टोंटियों) में नहीं है। सुख का सरोवर अंदर लहरा रहा है उसमें कूद जाओ तो सारा जीवन शांत और सुखमय हो जाये। अंत में मैं आपको यही कहना चाहूँगा कि यह स्वर्णिम अवसर है मानव के लिए, उन्नति की ओर जाने के लिए, आप सब बाह्य उपलब्धियों को छोड़कर एक बार

मात्र अपनी निज सत्ता का अनुभव करें इसी से सुख और शान्ति की उपलब्धि हो सकती है। दुनियाँ में अन्य कोई भी वस्तु सुख-शान्ति देने वाली नहीं है। सुख-शान्ति का एकमात्र स्थान परिग्रह से रहित आत्मा है।

❑ ❑ ❑

अचौर्य

जिन्होंने इस विश्व का समस्त ज्ञान प्राप्त कर लिया ऐसे सर्वज्ञ वीतराग और हितोपदेशी भगवान ने हमारे आत्म कल्याण के लिए एक सूत्र दिया है वह है अस्तेय या अचौर्य व्रत। 'स्तेय' कहते हैं अन्य पदार्थों के ऊपर अधिकार जमाने की आकांक्षा अथवा 'पर' पदार्थों पर आधिपत्य रखने का वैचारिक प्रयास जो कभी संभव नहीं है फिर भी उसे संभव बनाने का मिथ्या-भाव। चोरी का सीधा सा अर्थ है 'पर' का ग्रहण करना। इस बात को हमें स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि 'स्व' के अलावा 'पर' के ऊपर हमारा अधिकार नहीं हो सकता। 'स्व' क्या है 'पर' क्या है जब तक यह ध्यान नहीं होगा और 'पर' को हम जब तक 'स्व' बनाने का प्रयास करते रहेंगे तब तक इस संसार से निस्तार संभव नहीं है।

हम 'स्व' को पहचान नहीं पा रहे हैं। विस्मृति प्रत्येक संसारी जीव को 'स्व' की ही हुई है। 'पर' की विस्मृति आज तक नहीं हुई। 'पर' को हमने कभी 'पर' नहीं माना, 'पर' को 'पर' समझना अत्यन्त आवश्यक है। 'पर' को 'स्व' मान लेना या 'पर' जानते हुए भी उसे अपना लेने का भाव ही चोरी है। आप अपने को साहूकार मानते हैं तो सच्चा साहूकार तो वही है जो ऐसे भाव नहीं लाता जो पर की चीजों पर दृष्टिपात भी नहीं करता, अपना आधिपत्य जमाने का रंचमात्र भी प्रयास नहीं करता। आत्मा के पास ज्ञान-दर्शन रूप उपयोग है। जानने देखने की शक्ति है, भगवान् तीन लोक को स्पष्ट जानते-देखते हैं। लेकिन हमारे जानने-देखने और उनके जानने-देखने में बहुत अंतर है। हमारी दृष्टि में मात्र देखना नहीं है, हमारी दृष्टि में पदार्थ को लेने के भाव हैं, प्राप्ति के भाव हैं और उनकी दृष्टि में मात्र दर्शन है।

एक दार्शनिक ने जगत् के बारे में लिखा है कि दूसरा जो भी है वही दुख है वही नरक है। भगवान् महावीर स्वामी ने पहले कह दिया था कि दूसरा नरक नहीं है बल्कि दूसरे को पकड़ने की जो भाव दशा है वह हमारे लिए दुख और नरक का कारण बनती है। पकड़ना चोरी, ग्रहण का भाव करना चोरी है। किसी का होना या किसी को जानना चोरी नहीं है। जब तक हमारी दृष्टि लेने के भाव से भरी हुई है वह निर्मल दृष्टि नहीं है।

लौकिक क्षेत्र में चोरी करना एक बहुत बड़ा पाप माना गया है और चोरी करने वाला सज्जन

या नागरिक नहीं कहलाता, उसे सभी चोर कहते हैं। इस राजकीय कानून से डरकर आप राजकीय सत्ता के अनुरूप चल देते हैं किन्तु चोरी से बचते नहीं हैं, कोई न कोई पगडंडी निकाल लेते हैं। तब भले ही कानून आपको दंडित नहीं कर पाता किन्तु सैद्धांतिक रूप से आप दण्डित हैं। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने अभिनंदननाथ भगवान् की स्तुति करते हुए लिखा है कि हे भगवान्! यह संसारी प्राणी राजा के भय से, माता-पिता या अपने से बड़ों के भय से, बलवानों के भय से अन्याय, अत्याचार और पाप तो नहीं करता किन्तु करने का भाव भी नहीं छोड़ता। ऊपर से भले ही बच जाता है पर अंदर से भावों में नहीं बच पाता।

राजकीय सत्ता का अधिकार मात्र अपराध के ऊपर है और वह अपराधी को दंडित भी करती है लेकिन अपराधी के भावों के ऊपर उसका भी अधिकार नहीं चलता। भावों पर अधिकार चलाने वाला तो स्वयं हमारा कर्म है। **कर्म की शक्ति आणविक शक्ति से भी अधिक है। वह कर्म आपके चारों ओर है गुप्तचरों की तरह, जहाँ कहीं भी आपका स्खलन देखने में आया, वहीं आपको बंधन में डाल देता है।** राजकीय सत्ता तो मात्र हाथ पैर में बेड़ी डालती है, तालों में बंद कर सकती है किन्तु कर्म आपकी आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर अपना अधिकार जमा लेते हैं। आप बचकर नहीं जा सकते। यह भाव-दंड निरंतर मिलता रहता है। आप वर्तमान में मात्र सांसारिक जेल में न जाना पड़े, उससे बचने का उपाय करते हैं किन्तु वास्तविक रूप में जब तक भावों द्वारा बुरे कार्य से नहीं बचेंगे तब तक साहूकार नहीं कहलाएँगे। भावों के द्वारा चौर्य कार्य से बचें तभी साहूकार कहलायेंगे और साहूकारी का मजा भी आपको तभी मिल पाएगा।

आप अभी मात्र बाहर से बच रहे हैं। राज्य सत्ता भी बचने के लिए बाध्य कर रही है लेकिन आप कहीं न कहीं से पगडंडी निकालकर भावों के द्वारा चोरी कर रहे हैं। महाराज! बिना चोरी के तो आज कार्य चल ही नहीं सकता, कई लोगों से ऐसा सुना मैंने, सुनकर दंग रह गया मैं। आपने इस चौर्य कर्म को इतना फैला लिया कि इसके बिना अब काम ही नहीं चलता एक प्रकार से यह राजमार्ग ही बन गया। ऊपर से आप कह रहे हैं कि चोरी करना पाप है और अंदर क्या भावों में घटाटोप छाया है यह तो आप ही जानते हैं। यह ठीक नहीं है।

एक समय की बात है। एक ब्राह्मण प्रतिदिन नदी पर स्नान करने जाया करता था। एक दिन उसकी पत्नी भी उसके साथ गई। ब्राह्मण स्नान करने के बाद सूर्य के सामने खड़े होकर रोज की भांति जल समर्पण करने लगा। मुख से उच्चारण करने लगा कि 'जय हर हर महादेव, जय हर हर महादेव और मन में जो है सो है ही'। पास ही स्नान करते हुए एक मित्र ने पूछा कि भैया आज क्या बात है? यह जय हर हर महादेव के साथ आप क्या कह रहे हैं? वह ब्राह्मण हँसने लगा, बोला, कुछ खास नहीं भइया। मैं प्रतिदिन जय हर हर गंगे, हर हर गंगे कहता था पर आज मेरी पत्नी भी साथ

में आयी है और उसका नाम गंगा है इसलिए आज कैसे कहूँ ? इसलिए कहता हूँ कि जय हर हर महादेव मन में जो है सो है ही।

आप भी यही कह रहे हैं ऊपर से कह रहे हैं कि हम चोरी नहीं करेंगे पर भीतर करे बिना नहीं रहेंगे क्योंकि मन में जो है सो है ही। मात्र बाहर से छोड़ना, छोड़ना नहीं है अंदर से छूटना चाहिए। हम दूसरे पदार्थ का ग्रहण नहीं कर सकते इसलिए उसका विमोचन भी नहीं कर सकते- यह कहने में आता है किन्तु वस्तु व्यवस्था इतनी आसान नहीं है, वस्तुतः हम किसी पर पदार्थ का ग्रहण नहीं कर सकते किन्तु वैभाविक दशा में भावों के माध्यम से ग्रहण किया जाता है। जिस समय ग्रहण का भाव आता है उसी समय कर्म का बंधन हो जाता है। इस बंधन को समझना चाहिए। **राज्य-सत्ता आपके शरीर और वाणी पर नियंत्रण रखती है लेकिन कर्म की सत्ता आपके भावों का भी ध्यान रखती है।** जो इन दोनों के बीच अपने को साहूकार बनाने में लगा है वह जिनेन्द्र भगवान् के मार्ग का प्रभावक है और अपनी आत्मा का भी उत्थान कर रहा है।

बाह्य और अभ्यंतर ये दोनों कार्य अनिवार्य हैं। बाहर से तो जेल से बचना ही है पर अंदर से भी जब तक नहीं बचेंगे तब तक हमारी निधि क्या है? यह आप लोगों को विदित नहीं हो पायेगा। कर्म सिद्धांत को जानकर अपना आचरण करना चाहिए। कारागृह मात्र बाहर नहीं है, जहाँ कहीं मलिन भाव है वहीं पर कारागृह है। और कारागृह में रहने वाला तो अपराधी है। हम जब यहाँ आये तो एक व्यक्ति ने कहा कि महाराज! आप जयपुर आये हैं तो एक प्रवचन यहाँ कारागृह में भी दें तो अच्छा रहेगा। मैं सोच में पड़ गया कि क्या यह कारागृह नहीं है? संसार भी तो कारागृह है, यह देह भी तो कारागृह है। जो इसे कारागृह नहीं समझता वह भूल में है। आप मात्र बाहर राज्य के द्वारा निर्मित जेल को जेल मानते हैं किन्तु वास्तव में आत्मा के विपरीत परिणमन ही जेल है। जब तक यह बात समझ में नहीं आयेगी तब तक आत्मा लुटती जायेगी हम अपराधी बने रहेंगे, दरिद्र और दीन होकर भटकते रहेंगे। आप आत्मा को इस कारागृह से निवृत्त करने का प्रयास करें।

'छूटे भव-भव जेल' भव-भव में जो परिभ्रमण करना पड़ रहा है वह जेल है। चारों गतियाँ क्या जेल नहीं हैं? दूसरे को जो, बाहरी जेल में कैद है उसे कैदी कहने से पहले सोचना चाहिए कि मैं स्वयं कैदी हूँ। **यह देह रूपी कैद ही हमारे कैदी और अपराधी होने की प्रतीक है।** अनादिकाल से हम अपराध करते आ रहे हैं, आज तक इस संसार रूपी विस्तृत जेल से छूटने का भाव नहीं किया। प्रत्येक समय गल्ती करते जा रहे हैं। यह भी नहीं समझ पा रहे हैं कि 'हम अपराधी हैं' या नहीं। जब तक कहीं कोई एक अपराधी रहता है तब तक वह अनुभव करता है कि हाँ मैं अपराधी हूँ, मैंने अपराध किया है, मैं अपराध का यह दंड भोग रहा हूँ। लेकिन जब अपराधियों की संख्या बढ़ जाती है तो उनमें भी मजा आना प्रारम्भ हो जाता है। भूल जाते हैं कि मैं अपराधी हूँ।

भाई! शरीर को कारागृह समझो। बहुमत हो जाने से सत्य को मत भूलो। सत्य की पहचान बहुमत के माध्यम से नहीं होती, सत्य की पहचान भावों के ऊपर आधारित है। इसलिए सत्य को पाने के लिए अहर्निश अपने परिणामों को सुधारने का प्रयास करना चाहिए। बाहरी स्थिति में साहूकार होना, अपनी स्थिति सुधारना ठीक है किन्तु इतना सा ही हम लोगों का धर्म नहीं है। इस बाहरी साहूकारी से हम लोग एक भव में कुछ इन्द्रिय सुख भले पा लेंगे, यश ख्याति मिल जायेगी किन्तु जो विकारी परिणति है उसे हटाये बिना हम अनंत आनंद की अनुभूति नहीं कर सकेंगे। यह भव-भ्रमण मिटने पर ही आनंद की अनुभूति होना प्रारम्भ होगी।

अध्यात्म में 'पर' वस्तु के ग्रहण का भाव ही चोरी माना गया है। ग्रहण का संकल्प पूर्ण हो या न हो, उसके विचार साकार हों या न हों पर मैं ग्रहण करूँ इस प्रकार का भाव ही चोरी है। प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व भिन्न है उस अस्तित्व पर हमारा अधिकार संभव नहीं है यह समझना प्रत्येक संसारी प्राणी के लिए अनिवार्य है। भावों में प्रत्येक स्वतंत्र है। लौकिक जेल में रहने वाला भी भाव के माध्यम से निरंतर चोरी कर सकता है। पराई वस्तु पर दृष्टि भले ही जाये पर उसे ग्रहण करने का भाव न हो तो अचौर्य वहाँ पर है। भगवान् की स्तुति करते हुए लिखा है कि

सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानंद रसलीन।
सो जिनेन्द्र जयवंत नित, अरि रज रहस विहीन॥

भगवान् ने विश्व को जाना, विश्व के समस्त ज्ञेय रूप पदार्थों को जाना किन्तु आनंद की अनुभूति विश्व में नहीं की, निज में की।

आप दूसरे पदार्थों में लीन हैं और समझ रहे हैं कि बहुत सुखी हो गये हैं। हमारा ज्ञान भी सकल न होकर 'शकल' को जानने वाला है। 'शकल' का अर्थ है टुकड़ा अर्थात् थोड़ा सा शकल अर्थात् ऊपर का आकार इतना ही हम जानते हैं। यह अपूर्ण ज्ञान भी हमारे लिये भले ही बाहर से संतुष्टि दे लेकिन भीतर संतुष्ट नहीं कर पाता। हमारा ज्ञान और आनंद ऐसा है कि 'शकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानंद रसलीन'। यही कारण है कि हमारी आत्मा लुटती जा रही है। सत्य जीवन से खोता जा रहा है। सत् का कभी विनाश नहीं होता लेकिन सत् का विभाव रूप परिणमन होना ही सत् का खोना है। जो सत्य का अनुपालन करेगा वह स्तेय-कर्म को नहीं अपनायेगा। जो अपने सत् को पा लेगा वह परायी सत्ता पर अधिकार का भाव क्यों करेगा?

एक-उदाहरण सुना था, यद्यपि वृतांत लौकिक है किन्तु उस लौकिकता के माध्यम से भी पारलौकिक सिद्धांत की ओर दृष्टि जा सकती है। एक व्यक्ति रोगी था। मस्तिष्क का कोई रोग था। बहुत दिन से पीड़ा थी। इलाज के लिए उसने बहुत सा पैसा चोरी, झूठ आदि करके, अन्याय करके

एकत्रित किया और अस्पताल में भर्ती हो गया। मस्तिष्क का Operation हुआ। शल्य चिकित्सा अच्छी हुई। मित्रों ने पूछा कि क्यों भाई ठीक हो? उसने कहा कि पहले से बहुत अच्छा हूँ, बहुत आराम है। अचानक डॉक्टर ने कहा, क्षमा करिये हमने Operation तो ठीक कर दिया पर मस्तिष्क तो बाहर ही रह गया। हालांकि ऐसा संभव नहीं है पर व्यंग जैसा है। तब रोगी कहता है कि कोई बात नहीं उसके बिना भी काम चल जायेगा। क्योंकि मैं सरकारी नौकरी करता हूँ।

यह सुनकर-पढ़कर मुझे लगा कि देखो किस तरह हम अपने कर्त्तव्य से च्युत हो रहे हैं। डॉक्टर और मरीज दोनों सरकारी सेवा में हैं लेकिन कोई अपना कार्य सुचारू रूप से नहीं करता। यह काम चोरी है। इस तरह करने वाला कभी सत्य और अस्तेय दोनों को नहीं पा सकता। ऐसी स्थिति में साहूकार नहीं हुआ जा सकता। आज तो लोग चोरी करते हुए भी स्वयं को साहूकार मान रहे हैं, ज्ञायक और शुद्ध चैतन्यपिण्ड मान रहे हैं जिसमें 'पर' का किसी प्रकार से भी सद्भाव नहीं है। अंधाधुंध चोरी चल रही है और कह रहे हैं जो कुछ होता है कर्म की देन है, आत्मा बिल्कुल अबद्ध, असंपृक्त और अस्पृष्ट है। **आत्मा अपने में है, 'पर' में है, प्रत्येक का द्रव्य भिन्न, स्वभाव भिन्न है। इस प्रकार एकांत से मानना, निर्णय ले लेना क्या ठीक है? क्या यह सच्चाई है? यह तो एक प्रकार की कायरता है। एक प्रकार से पुरुषार्थ विमुख होना है।**

मानव होकर भी हमारा जीवन 'पर' में चल रहा है। इस प्रकार का जीवन तो तिर्यञ्च भी व्यतीत करते रहते हैं। मात्र जीवन को चलाना नहीं है जीवन अपने आप अनाहत चल रहा है। जीवन को उन्नति की ओर बढ़ाने में ही मानव जीवन की सफलता है। यह सत्य और अचौर्य उन्नति की खुराक है। जीवन तो असत्य से भी चल सकता है, चोरी के साथ भी चल सकता है किन्तु वह जीवन नहीं भटकन है। यदि उन्नति चाहिए, विकास चाहिए, उत्थान चाहिए तो अपनी आत्मा को अपराध से मुक्त करने का प्रयास करना होगा। चाहे कल करो या आज-विकारों से रहित वीतरागता की अनुभूति के बिना सर्वज्ञत्व की प्राप्ति संभव नहीं है।

अनादिकाल की पीड़ा तभी मिटेगी। जब हम पाप भाव से मुक्त होकर आत्म-स्वभाव की ओर बढ़ेंगे। पीड़ा सिर्फ इतनी नहीं है कि भूख लग आई या धन नहीं है, मकान दुकान नहीं है। वस्तुतः, पीड़ा यह है कि हमारा ज्ञान अधूरा है और हम समझ रहे हैं कि हम पूर्ण हैं। प्रत्येक व्यक्ति समझता है कि मैं साहूकार हूँ। ठीक है। क्या चोरी के त्याग का संकल्प लिया है? यदि त्याग का संकल्प नहीं है तो 'पर' के ग्रहण का भाव अवश्य होगा। 'पर' के ग्रहण का भाव छोड़े बिना कोई साहूकार नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे को चोर मान रहा है और स्वयं को साहूकार सिद्ध करता है। यह तो चोर के द्वारा चोर को डांटने जैसा हुआ। अपनी चोरी की गल्ती को पहचान करके उसे छोड़ने का प्रयास करना चाहिए। जिस जीव के चोरी के भाव रहते हैं उसी जीव को चोर कहा जाता है। जिस क्षण छोड़ने के भाव हैं उस क्षण वह साहूकार है।

आप चोर से नहीं बल्कि चौर्य भाव से बचिये।

पापी से नहीं पाप से घृणा करिये। अनादिकाल से चोरी का कार्य जिसने किया है तो भी यदि आँख खुल गई, अब यदि दृष्टि मिल गयी, ज्ञात हो गया कि अभी तक अनर्थ किया है अब उसे छोड़ता हूँ, अब चोरी से निवृत्ति लेता हूँ तो वह अब चोर नहीं है। आप संसारी कब तक कहलायेंगे? जब तक संसार के कार्य करते रहेंगे। जब उनको छोड़ देंगे, वीतराग बनकर विचरण करेंगे तो मुक्त कहलायेंगे। इसलिए यदि चोर की चोरी छुड़ानी है तो उसे चोर मत कहो बल्कि उसे समझाओ कि तुम्हारा यह कार्य ठीक नहीं है। तुम्हारा कर्त्तव्य है कि चोरी से मुक्त होओ। यदि हम उसे डाटेंगे तो सुधारने की संभावना कम है। प्रत्येक समय भावों का परिणमन हो रहा है। संभव है उस समय भय वश वह चोरी के भाव छोड़ दे, बाद में पुनः बड़ा चोर बन जाये। उसे इस तरह कुछ कहा जाये कि वह स्वयं ही चौर्य भाव को बुरा मानकर छोड़ दे।

भगवान् महावीर ने हमें यही कहा कि प्रत्येक व्यक्ति में प्रभुत्व छिपा है। जैसा मैं निर्मल हूँ वैसे ही आप भी उज्ज्वल बन सकते हैं, राग का आवरण हटाना होगा। जैसे स्फटिक मणि धूल में गिर जाये और पुनः उसे उठाकर धूल साफ कर दें तो चमकती हुई नजर आयेगी। ऐसी ही हमारी आत्मा है। धूल में पड़ी है, उसे उठाकर चमकाना है। एक बात और ध्यान रखना कि दूसरे को चोर कहने का तब तक हमारा अधिकार नहीं है जब तक हम साहूकार न हो जायें। इस तरह लगेगा कि सारी लौकिक व्यवस्था ही बिगड़ जायेगी। मैं बाह्य व्यवस्था फेल करने के लिए नहीं कह रहा हूँ बल्कि अपने आप को चोरी से मुक्त करके पूर्ण साहूकार बनने के लिए कह रहा हूँ। मात्र बाहर से नहीं, अंदर आत्मा में साहूकार बनो।

जब यह रहस्य एक राजा को विदित हुआ तो वह राजा अपनी सारी सम्पदा व परिवार को छोड़कर जंगल को चले गये। किसी से कुछ नहीं बोले और घने जंगल में जाकर आत्मलीन हो गये। जो ग्रहण का भाव था मन में, वह भी सब राजकीय सत्ता को छोड़ते ही छूट गया। वे सभी से असंपृक्त हो गये। बहुत दिन व्यतीत हो गये। एक दिन परिवार के लोगों को उनके दर्शन के भाव जाग्रत हुए और दर्शन करने चल पड़े। संकल्प कर लिया था इसलिए रास्ता कठिन होने पर भी पहुँच गये। चलते-चलते मिल गये मुनि महाराज। देखते ही उल्लास हुआ। बीते दिन की स्मृति हो आयी। पत्नी सोचती है कि देखो वे ही राजा, वही पतिदेव, वही तो हैं 'सब कुछ छोड़ दिया, कोई बात नहीं' जीवित तो हैं। माँ सोचती है मेरा लड़का है अच्छा कार्य कर रहा है।

सभी प्रणिपात करते हैं चरणों में। मुनि महाराज सभी को समान दृष्टि से आशीष देते हैं। सभी को इच्छा थी कि कुछ बोलेंगे। पर वे नहीं बोले। सभी ने सोचा कोई बात नहीं मौन होगा। सभी

नमोऽस्तु कहकर वापिस चलने को हुए पर आगे रास्ता विकट था इसलिए माँ ने कहा कि महाराज! आप तो मोक्षमार्ग के नेता हैं, मोक्षमार्ग बताने वाले हैं। लेकिन अभी मात्र इस जंगल से सुरक्षित लौटने का मार्ग बता दें। मुनिराज निर्विकल्प रहे और मौन नहीं तोड़ा। मौन मुद्रा देखकर माँ ने सोचा कोई बात नहीं, यही मार्ग ठीक दीखता है और सामने के मार्ग पर चले गये। कुछ दूर बढ़ने के उपरांत एक चुंगी चौकी थी, जो अब डाकुओं के रहने का स्थान बन गया था। राजघराने को देखकर डाकुओं ने रोक लिया और कहा कि जो कुछ भी तुम्हारे पास है वह रखते जाओ। वह माँ, पत्नी, लड़का सभी दंग रह गये, घबरा गये।

माँ बोली- अरे! यह तो अन्याय हो गया। अब कहीं भी धर्म नहीं टिकेगा। अब कहीं भी शरण नहीं है। हमने तो सोचा था, हमारा लड़का तीन लोक का नाथ बनने जा रहा है वह मार्ग प्रशस्त करेगा, आदर्श मार्ग प्रस्तुत करेगा, दयाभाव दिखायेगा और वही इतना निर्दयी है कि यह भी नहीं कहा कि इस रास्ते से मत जाओ, आगे डाकुओं का दल है। ओहो! काहे का धर्म, काहे का कर्म। धिक्कार है ऐसे पुत्र को। जिसने अपनी माँ के ऊपर थोड़ी भी करुणा बुद्धि नहीं रखी, वह क्या तीन लोक के ऊपर करुणा कर सकेगा। ठीक ही कहा है कि संसार में कोई किसी का नहीं है। डाकुओं का सरदार सारी बात सुनता रहा और अपने साथियों से कहा कि इन लोगों को मत छेड़ो। फिर उस माँ से पूछा कि माँ तू क्या कह रही है? यह अभिशाप किसे दे रही है। माँ कहती है कि मैं आपके लिए नहीं कह रही हूँ। मैं तो उसके लिए कह रही हूँ जिसे मैंने जन्म दिया, जो यहाँ से कुछ दूरी पर बैठा है वह नग्न साधु। वही था मेरा लड़का। घर छोड़कर आ गया। जब तक घर पर था प्रजा की रक्षा करता था, यहाँ पर आ गया तो माँ को भी भूल गया। थोड़ा भी उपकार नहीं किया। रास्ता तक नहीं बताया कि कौन-सा ठीक है।

सरदार सारी बात समझ गया। उसने कहा ''माँ! हम सभी डाकू अभी इसी रास्ते से आये थे, रास्ते में नग्न साधु मिला था, उसे पत्थर मारकर नंगा कहकर चले आये थे, उस समय भी उसके मुख से वचन नहीं निकले थे। शांत बैठा था। सचमुच वह बड़ा श्रेष्ठ साधु है। हमने गाली दी थी और आप उसकी माँ थी, आपने प्रणिपात किया था चरणों में। उसने हमारे लिए अभिशाप नहीं दिया और आपके लिए वरदान नहीं दिया''। इतना कहकर उस डाकुओं के सरदार ने पहले माँ के चरण छू लिये और बोला कि 'धन्य हो माँ! जो आपकी कोख से इस प्रकार का पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ जिसकी दृष्टि में संसार में सभी के प्रति समान भाव हैं, ऐसे व्यक्ति का मैं अवश्य दुबारा दर्शन करूँगा। जिस व्यक्ति की दृष्टि में समानता आ जाती है वह व्यक्ति सामने वाले वैषम्य भाव को भी श्रद्धा के रूप में परिणत कर देता है। वे सभी डाकू लोग मुनिराज के पास चले गये और नतमस्तक होकर कहा कि हमें भी अपना शिष्य बना लीजिये और समर्पित हो गये।

डाकू भी जब रहस्य को समझ लेते हैं तो डाकूपन को छोड़ देते हैं। माँ सोचती है 'यदि मुनिराज उस समय मुझे रास्ता दिखाते तो ये डाकुओं का दल दिगंबरी दीक्षा नहीं ले पाता। उनका वह मौन, उनकी वह समता दया-शून्य नहीं थी। वह तो समता मुद्रा थी जिसमें प्राणी मात्र के लिए अभय था।' **पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि 'अवाक् विसर्गं वपुषा निरूपयन्तं मोक्षमार्गं- वह नग्न दिगंबर मुद्रा ऐसी है जो मौन रहकर भी सारे विश्व को मोक्षमार्ग का उपदेश देती है, सही मार्ग दिखाती है।** चोर और साहूकार सभी के प्रति समता भाव जाग्रत होना चाहिए। क्योंकि चोर और साहूकार यह तो लौकिक दृष्टि से हैं। अंदर सभी के वही आत्मा है, वही चेतन है, वही सत्ता है जिसमें भगवान् बनने की क्षमता है। ऊपर का आवरण हट जाये तो अंदर तो वही है। राख में छिपी अग्नि है। राख हटते ही वही उजाला, वही उष्णता है जो विकारों को जला देती है। इस घटना में समझने योग्य है **उन मुनिराज की समता, उस माँ की ममता और उन डाकुओं की क्षमता जो जीवन भर के लिए डाकूपने का त्याग कर साधुता के प्रति समर्पित हो गये।**

डाकू मात्र जंगल में ही नहीं हैं, डाकू यहाँ भी हो सकते हैं। जिसके भीतर दूसरे को लूटने, दूसरे की सामग्री हड़पने या 'पर' को ग्रहण करने का भाव है उसे क्या कहा जायेगा? आप स्वयं समझदार हैं। बंधुओ! समता भाव आये बिना हम महावीर भगवान् को पहचान नहीं पायेंगे। राग की दृष्टि, व्यसन की दृष्टि कभी वीतरागता को ग्रहण नहीं कर सकती। उसे वीतरागता में भी राग दिखाई पड़ेगा लेकिन जिस व्यक्ति की दृष्टि वीतराग बन गयी उसकी दृष्टि में राग भी वीतरागता में ढल जाता है।

संसारी जीव यद्यपि पतित है लेकिन पावन बनने की क्षमता रखता है। स्वयं पावन बनकर दूसरों को भी पावन बनने का मार्ग दिखा सकता है। हमारी दृष्टि में समता आ जाये, हमारी परिणति उज्ज्वल हो और इतनी सुंदर हो कि जगत् को भी सुंदर बना सकें। सही दिग्दर्शन करके प्राणी मात्र के लिए आदर्श बना दें। इसके लिए पुरुषार्थ अपेक्षित है, त्याग अपेक्षित है, इसके लिए सहिष्णुता, समता, संयम और तप आवश्यक हैं, अस्तेय महाव्रत समता का उपदेश देता है। चोर को चोर न कहकर उसे साहूकार बनना सिखाता है। यही इसकी उपयोगिता है। इसे अपने जीवन में अंगीकार करके आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना चाहिए।

❑ ❑ ❑

जन्म : आत्म - कल्याण का अवसर

पंच-कल्याणक की प्रत्येक क्रिया का विश्लेषण करना तो विद्वानों और गणधर परमेष्ठी के लिए भी शक्य नहीं पर फिर भी 'क्या छोड़ना है और क्या ग्रहण करना है'- यह ज्ञान यदि हमें इन पाँच दिनों के अन्दर हो जाता है तो यह हमारा सौभाग्य होगा। धर्म की अधिकांश बातें सूक्ष्म हैं और परोक्ष हैं। हमारे इन्द्रिय-ज्ञान-गम्य नहीं हैं। फिर भी पूर्वाचार्यों ने उन सभी बातों को कहने और लिपिबद्ध करके हमें समझाने का प्रयास किया है। उसे साहित्य के माध्यम से हमें समझने का प्रयास करना चाहिए। साथ ही इन शुभ-क्रियाओं को देखकर अपने जीवन को सँभालने का प्रयास करना चाहिए।

कल जहाँ संध्या के समय हम सामायिक करने वाले थे वहाँ कुछ लोग आये और कहने लगे- महाराज! कल जन्म-कल्याणक महोत्सव है। आप भी जुलूस के साथ पाण्डुक शिला तक चलें और कार्यक्रम में सम्मिलित होवें तो अच्छा रहेगा। हम सभी को बड़ा आनन्द आयेगा। तो हमने कहा- भैया! हमारा कार्य तो दीक्षा कल्याणक के दिन से ही शुरू होगा। अभी तो आपका कार्य है, आप जाओ और मैं नहीं आया। यद्यपि मेरे पास समय था, मैं आ सकता था, लेकिन नहीं आने के पीछे कुछ रहस्य भी था, जिसके माध्यम से कुछ बातें आपको समझनी हैं।

यह मैं भी जानता हूँ कि जन्म-कल्याणक में सौधर्म इन्द्र आता है। अपने हाथों से बालक आदिनाथ को उठाने का सौभाग्य पाता है और जीवन को कृतकृत्य मानता है। इन्द्राणी-शची भी इस सौभाग्य को पाकर आनन्द-विभोर हो जाती है और अपने सांसारिक जीवन को मात्र एक भव तक सीमित कर देती है। इस अवसर को प्राप्त करके वह नियम से एक भव के पश्चात् मुक्ति को पा लेती है। इतना सौभाग्यशाली दिन है यह। फिर भी हमारे नहीं आने के पीछे रहस्य यह था। बंधुओ! हमारा धर्म वीतराग-धर्म है। जन्म से कोई भी भगवान् नहीं होता। जिनकी धारणा हो कि भगवान जन्म लेते हैं तो वह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर तो गृहस्थाश्रम में ही मुक्ति माननी होगी और राग के बाद केवलज्ञान मानना होगा जो कि संभव नहीं है। जन्म-कल्याणक और जन्माभिषेक तो राग-दशा में होते हैं। इसमें आप सम्मिलित हों यह तो आपका कर्त्तव्य है। क्योंकि सरागी श्रावक के लिए तो इसी में धर्म है। श्रावक की धार्मिक क्रियाओं में पूजा-प्रक्षाल-अभिषेक आदि शामिल है। अशुभ राग से छूटने तथा वीतरागता को प्राप्त करने के लिए शुभ राग का आलम्बन आवश्यक है। आपको शुभ राग के कार्यों में जितना आनन्द आता है उतना ही हमें वीतरागता में आता है। हमारी दशा अर्थात् साधु की स्थिति आपसे भिन्न है। जैसा अभी-अभी पंडितजी ने भी कहा था (पं. कैलाशचन्दजी सिद्धान्ताचार्य)। इसलिए हमारा उस अवसर पर आना सम्भव नहीं हुआ।

आपने जन्म-कल्याणक का आनन्द लिया जो आपके लिये उचित ही है लेकिन सही पूछो तो असली आनन्द का दिन कल आने वाला है। जब कुमार आदिनाथ का दीक्षा-कल्याणक होगा। वे सारे परिग्रह को छोड़कर निर्ग्रन्थ-दिगम्बर होकर तपस्या के लिये निकलेंगे। आपके चेहरे फीके पड़ सकते हैं क्योंकि कल से छोड़ने-त्यागने की बात आयेगी। पर बंधुओ! ध्यान रखना, आनंद तो त्याग में ही है। आप कह सकते हैं कि महाराज! कल तो छोड़ना ही है इसलिए क्यों ना हम आज ही आदिनाथ को भगवान् मान लें? पूज्य मान लें? तो यह ध्यान रखना कि होनहार भगवान् और साक्षात् भगवान में बहुत अन्तर है। पूज्यता तो भगवान् बनने पर ही आती हैं। पंच-परमेष्ठी ही वीतराग-धर्म में पूज्य माने गये हैं। क्योंकि वे वीतरागी हो गए हैं।

जन्म कल्याणक के समय क्षायिक सम्यग्दृष्टि सौधर्म इन्द्र और करोड़ों की संख्या में देव लोग आते हैं। पांडुक-शिला पर बालक-तीर्थंकर को ले जाकर जन्म-कल्याणक मनाते हैं। अभिषेक, पूजन और नृत्य-गानादि करते हैं। रत्नों की वृष्टि होती है। जिसने आज जन्म लिया, यह जन्म लेने वाली आत्मा भी सम्यग्दृष्टि है। उसके पास मति, श्रुत और अवधिज्ञान भी है। हमारे यहाँ जिनेन्द्र भगवान् के शासन में पूज्यता मात्र सम्यग्दर्शन से नहीं आती, पूज्यता तो वीतरागता से आती है। सम्यग्दर्शन के साथ जन्म हो सकता है परन्तु वीतरागता जन्म से नहीं आ सकती। इसलिए जन्म से कोई भगवान् नहीं होता। जब आपका बच्चा बोलना शुरू करता है तब तोतला बोलता है। इधर-उधर की कई बातें भी करता है। आपको अच्छी भले ही लगती हों लेकिन वे प्रामाणिक नहीं मानी जाती क्योंकि वह अभी बच्चा है। मनुष्यायु का उदय होने पर भी बच्चे को कोई मनुष्य नहीं कहता। यह कोई नहीं कहता कि मनुष्य जन्मा है, सभी यही कहते हैं कि बच्चा जन्मा है। इसी प्रकार जो आज जन्मे हैं वे अभी भगवान् नहीं हैं, अभी तो वे बालक आदिनाथ ही कहलायेंगे। बच्चे ही माने जायेंगे।

दूसरी बात यह भी है कि 'आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी' ने उन मुनियों को भी प्रमत्त कहा है, नासमझ कहा है जो स्वात्मानुभूति से च्युत होकर शुभ-क्रियाओं में लगे हुए हैं। तब ऐसी दशा में अभी जिस आत्मा ने जन्म लिया है, जो वस्त्र-आभूषण पहने हुए हैं उसे वीतरागी मानकर, भगवान् मानकर कोई मुनि कैसे पूज सकता है? मैं अभी उसका सम्मान करूँ, स्वागत करूँ यह नहीं हो सकता। अभी वह आत्मा तीर्थंकर नहीं बनी। जिस दिन वह आत्मा राग के ऊपर रोक लगायेगी अर्थात् संयम को ग्रहण करेगी। उस दिन मैं बार-बार उसे नमोऽस्तु करूँगा और अपने-आपको सौभाग्यशाली समझूँगा क्योंकि वह महान् भव्य आत्मा निर्ग्रन्थ दीक्षा-धारण करते ही अनेक ऋद्धियों को प्राप्त करेगी, मनःपर्यय ज्ञानी होगी, वर्धमान-चारित्र को प्राप्त करेगी और तप के माध्यम से संसार के आवागमन से मुक्त होगी, सिद्धालय में विराजेगी।

आपके मन में यह भाव आ सकता है कि महाराज! जब अभी उस आत्मा के पास पूज्यता नहीं है तो हम जन्म कल्याणक क्यों मनायें? ऐसा नहीं सोचना चाहिए। भइया! यह तो सारा का सारा नियोग है और इंद्र आकर स्वयं इस सारे कार्यक्रम को यथाविधि सम्पन्न करता है। जिसे देखकर हमें ज्ञात होता है कि एक जीवात्मा ने विगत जीवन में कैसा अद्‌भुत पुरुषार्थ किया, जिसका फल स्वर्गादिक में भोगकर पुनः यहाँ मनुष्य जन्म लेकर सांसारिक सम्पदा और वैभव को भोग रही है। इतना ही नहीं इसके उपरांत मुनिव्रत धारण करके मुक्तिश्री को प्राप्त करेगी। ऐसी भव्य तद्‌भव मोक्षगामी आत्मा की जन्म-जयंती मनाना श्रावक का सौभाग्य है, पर इसका यह आशय नहीं है कि सामान्य व्यक्ति की जन्म-जयंती मनाई जाये। आज तो यहाँ जो भी मनुष्य उत्पन्न होगा चाहे मनुष्य गति से आये, तिर्यञ्चगति या नरकगति से आये अथवा चाहे देवगति से आये, वह सम्यग्दर्शन लेकर नहीं आ सकेगा। ऐसी दशा में मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के साथ जन्म-जयंती मनाना उचित नहीं है। बंधुओ! समझो! यह कौन सी पर्याय है? कब और कैसे हमें मिली है? इसके माध्यम से कोई भी धार्मिक क्रिया बिना विवेक के नहीं करना चाहिए। जो भी धार्मिक क्रियाएँ करो उनको विवेक पूर्वक करो ताकि आवागमन मिट सके। कर्म के बंधन, कर्म की बेड़ियाँ/शृंखलाएँ ढीली हो सकें और हमारा भविष्य उज्ज्वल बन सके।

कर्म के बंधन तोड़ना इतना आसान भी नहीं है कि कोई बिना पुरुषार्थ किये ही कर ले। बिना रत्नत्रय को प्राप्त किये यह कार्य आसान नहीं हो सकता। जिसे एक बार रुचि जागृत हो जाये और जो रत्नत्रय की साधना करें उसे ही यह कार्य सहज है, आसान है। जन्म से लेकर जब तक आठ वर्ष नहीं बीत जाते तब तक यहाँ सभी मिथ्यादर्शन के साथ ही रहते हैं। यह पंचमकाल है और उसमें भी हुण्डावसर्पिणी काल है। आठ वर्ष के उपरांत भी सम्यग्दर्शन हो ही जाये ऐसा नियम भी नहीं है। दूसरी बात यह है कि सम्यग्दर्शन हुआ भी या नहीं हुआ- यह ऐसे मालूम नहीं पड़ सकता क्योंकि जो अस्सी साल के वृद्ध हो गये और अभी रत्नत्रय उपलब्ध नहीं हुआ, जीवन में त्याग नहीं आया तो सम्यग्दर्शन का क्या भरोसा? रत्नत्रय की उपलब्धि ही वास्तविक उपलब्धि है। आप लोग धन के अभाव में दरिद्रता मानते हैं पर वास्तविक दरिद्रता तो वीतरागता के अभाव में होती है। राग-द्वेष और विषय कषाय ही दरिद्रता के कारण हैं। गर्भ और जन्म-कल्याणक में देवों के द्वारा होने वाले रत्नों की वर्षा से आपके घर की दरिद्रता भले ही मिट जाती हो लेकिन मोक्षमार्ग में दरिद्रता तभी मिटेगी जब हम त्याग की ओर बढ़ेंगे, वीतरागी होंगे।

आज एक भव्य आत्मा देवगति से शेष पुण्य का फल भोगने के लिये यहाँ आयी है। वह अपने जीवन काल के अन्तराल में केवल भोग में ही रची-पची रहे ऐसी बात नहीं है। वह तो सारे भोग-वैभव को छोड़कर दीक्षा ग्रहण करेगी। जो आज भोग-सम्पदा और देव-सम्पदा का अनुभव

करने वाले हैं, वे होनहार भगवान आदिनाथ कल इस सारी माया-ममता को छोड़ेंगे। क्यों छोड़ेंगे? इसलिए छोड़ेंगे कि आवागमन का कारण माया-ममता ही है। '**आतम के अहित विषय कषाय**' यही भगवान जिनेन्द्र की देशना है। हम लोगों के लिए उपदेश है। ये रागद्वेष और विषय-कषाय ही आत्मा को बंधन में डालने वाले हैं। एक मात्र विरागता ही मुक्ति को प्रदान करने वाली है।

समयसार में कुन्दकुन्द भगवान ने कहा भी है-

रत्तो बंधदि कम्मं, मुंचदि जीवो विराग संपण्णो।
ऐसो जिणोवदेसो, तम्हा कम्मेसु मा रज्ज॥॥ समयसार

राग से जीव बंधता है और वैराग्य से मुक्त होता है, यही बंध तत्त्व का कथन संक्षेप में जिनेन्द्र देव ने कहा है, इसलिए राग नहीं करना चाहिए। आप यह जो भी कार्यक्रम कर रहे हैं वह अपना कर्त्तव्य मानकर करें क्योंकि यही बालक आदिनाथ आगे जाकर तीर्थंकर बनेगा और हमें वीतरागता का सदुपदेश देगा। वह स्वयं भी परिपूर्ण होगा और हमें भी सही रास्ता दिखायेगा। आगम में उल्लेख है कि दो चारण ऋद्धिधारी मुनि महाराज आकाश मार्ग से गमन कर रहे थे, तब नीचे खेलते हुए भावी तीर्थंकर बालक को देखकर उनकी धर्म-शंकाएँ दूर हो गयीं थीं, उन्हें समाधान मिल गया था। पर एक बात और थी कि उन मुनिराजों ने उस भावी तीर्थंकर बालक को नमोऽस्तु नहीं किया। सोचिये शंकाओं का निवारण हो गया, वह बालक तीर्थंकर होने वाला है। मुनि स्वयं भी मन:पर्ययज्ञान के द्वारा जान रहे होंगे परन्तु वे मुनिराज राग का समर्थन नहीं करते। वे सरागी बालक को नमस्कार नहीं करते।

एक बात और ध्यान रखना कि वीतरागी और अरागी में बहुत अन्तर है। अरागी उसे कहते हैं जिसमें रागद्वेष रूप संवेदन की शक्ति ही नहीं रहती। जिसमें जानने-देखने रूप शक्ति भी नहीं रहती अर्थात् जड़ वस्तु अरागी है। सरागी वह है जो विषय-कषाय से युक्त है। राग-द्वेष कर रहा है। और वीतरागी उसे कहते हैं जिसमें राग पहले था लेकिन अब उसने छोड़ दिया है। "**विगत: राग: यस्य यस्मात् वा इति विराग:।**" होनहार भगवान् अभी वीतरागी बनने के लिये उम्मीदवार है और जब वीतरागी बनेंगे तभी वे तीन लोक में सभी के द्वारा पूज्यता/आदर के पात्र होंगे। तभी हम भी नमोऽस्तु करेंगे। यही वीतराग धर्म की महिमा है। इसे समझना चाहिए और आचार्यों ने जो अपने जीवन भर की अनुभूतियों को शास्त्रों में लिखा है उसके अनुरूप ही धार्मिक क्रियाएँ विवेक पूर्वक करनी चाहिए। सच्चे-देव-गुरु शास्त्र की उपासना के माध्यम से हमें अपनी श्रमण-संस्कृति को सुरक्षित रखने का प्रयास करना चाहिए। उसमें चार-चांद लगाना तो बड़े भाग्यशाली जीवों का ही कार्य है लेकिन जितना मिला है उतना ही सुरक्षित रखने का प्रयास हमें करना ही चाहिए। भइया! अभी करीब साढ़े अठारह हजार वर्ष पंचमकाल के शेष हैं। काल की अपेक्षा श्रावक धर्म और मुनि

धर्म में शिथिलता तो आयेगी लेकिन शिथिलता आना बात अलग है और अपनी तरफ से शिथिलता लाना अलग बात है। आत्मानुभूति की कलियाँ धीरे-धीरे मुरझाती जायेंगी लेकिन समाप्त नहीं होंगी।

जब फसल पकने को होती है, दस बारह दिन शेष रह जाते हैं तो किसान एक बार पुनः पानी देता है। यद्यपि पानी का प्रभाव अब फसल के लिये विशेष लाभप्रद नहीं होता परन्तु फिर भी साधक तो होता ही है। इसी प्रकार हमें भी समय-समय पर धार्मिक कार्य करते रहना चाहिए और समय-समय पर आने वाली कुरीतियों-कुप्रणालियों से बचते रहना चाहिए।

आज इस जन्म कल्याणक के दिन हमें विचार करना चाहिए कि जन्म, शरीर का हुआ है। आत्मा तो अजर-अमर है, वह जन्मता-मरता नहीं है। मात्र आवागमन हो रहा है। इस आवागमन से मुक्त होना ही सच्चा पुरुषार्थ है। यही कल्याणकारी है। शरीर का कल्याण नहीं करना है, हमें आत्मा का कल्याण करना है। शरीर की पूजा नहीं करनी, शरीर में बैठी हुई रत्नत्रय गुण से युक्त आत्मा की ही पूजा करनी है। उसी की जयन्ती मनानी है। अमूर्त आत्मा की प्राप्ति में शरीर तो साधन मात्र है। इसका अभिमान नहीं करना चाहिए।

एक बार की बात है। इन्द्र की सभा चल रही थी। इन्द्र स्वयं पृथ्वी के चक्रवर्ती के रूप की प्रशंसा कर रहे थे। कह रहे थे कि हम देवों के पास कुछ रूप है ही नहीं। असली रूप का अवलोकन करना हो तो पृथ्वी पर जाकर देखो। कुछ देवों के मन में परीक्षा करने की बात आ गयी। वे नीचे उतरे और जहाँ अखाड़े में चक्रवर्ती धूल-धूसरित होकर कसरत कर रहा था, वहाँ पहुँचे। देव उस छवि को देखकर अवाक् रह गये। सोचने लगे वास्तव में रूप तो सही है। देवों के द्वारा अपनी प्रशंसा सुनकर चक्रवर्ती को अभिमान आ गया। चक्रवर्ती कहने लगा, अभी क्या रूप देखते हो। अभी स्नान करके आभूषण पहन कर जब राज-दरबार में आऊँगा तब देखना। देव राज-दरबार में पहुँचे। राजा आये। राज-सिंहासन पर बैठ गये। पर देवों ने देखा कि अब वह रूप नहीं रहा। अब वह छवि नहीं रही। वे अपने अवधिज्ञान से जान गये कि रूप, लावण्य में कमी आ गयी है और वे बाहर से ही वापिस लौटकर जाने लगे। राजा ने उन्हें बुलाया और पूछा कि क्या बात है? क्या मैं अब सुन्दर नहीं लगता? तब देवों ने कहा- राजन् आपको देखना ही है तो एक थाल मंगा लो और उसमें थूककर देखो। थाल मंगाया गया। राजा ने थूका तो उसमें कितने ही बिलबिलाते रोग के कीड़े देखने में आये। इस शरीर में ऐसे ही घिनावने पदार्थ भरे हुए हैं। यह बात राजा की समझ में आ गयी। वे सामान्य राजा नहीं थे। चक्रवर्ती सनतकुमार थे। कामदेव थे। सोचने लगे-शरीर का स्वभाव ही जब ऐसा है तो इसका अभिमान करना व्यर्थ है। भेद-विज्ञान हो गया। वैराग्य आ गया। वे दीक्षित हो गये।

'जगत्काय-स्वभावौ वा संवेग-वैराग्यार्थम्'- संसार और शरीर के स्वभाव को जानकर जो संवेग और वैराग्य धारण करते हैं, वे धन्य हैं। शरीर को पढ़ने वाला, शरीर के स्वभाव को जानने वाला अपढ़ भी भेदविज्ञान को प्राप्त कर लेता है और अपने कल्याण के मार्ग पर चल पड़ता है। लेकिन आज तो समयसार को दस बार पढ़ने वालों को भी संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य नहीं आ रहा। छह खंड पर राज करने वाले, अनेक सांसारिक कार्यों में लिप्त रहने वाले सनतचक्रवर्ती ने क्षणभर में सब त्याग कर दिया। सभी ने समझाया कि राजन्! आपके पास सुख सम्पदा है, भोग सामग्री है। देवों के समान सुन्दर शरीर आपने पाया है। इसका भोग करने के बाद योग धारण करना। अभी से क्यों योग अपनाने चले हो? परन्तु सनतकुमार रत्नत्रय धारण कर लेते हैं और कुछ समय के उपरांत उनके शरीर में कुष्ठ रोग हो जाता है लेकिन भेदविज्ञान के बल से शरीर के प्रति वैराग्य होने के कारण वे अपने रत्नत्रय में अडिग बने रहते हैं। कल ऐसे ही रत्नत्रय की बात आने वाली है। कल के दीक्षा-कल्याणक की आज से ही भूमिका बता रहा हूँ ताकि कल तक शायद आप लोगों में से कोई भव्यात्मा दीक्षा के लिये तैयार हो जाये।

शरीर के प्रति वैराग्य और जगत् के प्रति संवेग-ये दो बातें ही आत्म-कल्याण के लिए आवश्यक हैं। चार प्रकार के उपदेश होते हैं। जिसमें संवेगनीय और निर्वेगनीय- ये दो उपदेश ही जीव के कल्याण में मुख्य रूप में सहायक बनते हैं। आक्षेपणी और विक्षेपणी धर्मकथा/धर्मोपदेश न आदि में काम आते हैं और न ही अंत में सल्लेखना के समय काम आते हैं। वे तो मध्य के काल में उपयोग लगाने के लिये ही उपयोगी हैं। इसलिए संवेग और वैराग्य की बातें ही साधक को मुख्य रूप से ध्यान में रखना चाहिए। उन्हीं का बार-बार चिंतन-मनन करना चाहिए।

कुछ समय के उपरांत फिर इन्द्र की सभा में चर्चा आई और इन्द्र ने कहा कि हम तो यहाँ मात्र शास्त्र-चर्चा में ही रह गये और वहाँ पृथ्वी पर साक्षात् चारित्र को धारण करने वाले सनतकुमार चक्रवर्ती धन्य हैं। महान् तपस्वी को देखना चाहो तो इस समय मात्र सनतचक्रवर्ती के अलावा कोई दूसरा नहीं है। उन दो देवों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह चक्रवर्ती क्या तप करेगा उसे तो अपने रूप का अभिमान हो गया था। फिर भी उन्होंने सोचा कि चलो चलते हैं। चलकर देखेंगे। दोनों भेष बदलकर पहुँचे। बोले -महाराज! आपको क्या हो गया? आपकी कंचन जैसी काया थी। सारी कुष्ठ-रोग से गल गयी है। आप चाहो तो हम इसे पहले जैसी कर सकते हैं। आप बहुत पीड़ा महसूस कर रहे होंगे। हम आपको इस रोग से मुक्त करा सकते हैं। अब सनतचक्रवर्ती तो राजा से महाराज हो गये। मुनिराज हो गये थे। बोले-भइया! इससे भी भयानक एक रोग और है मुझे। हो सके तो उसका इलाज कर दो। दोनों देव बोले- आप हमें बतायें। हम ठीक कर देंगे। ऐसा कोई रोग नहीं जिसकी औषधि जिसका इलाज हमारे पास न हो। मुनिराज कहने लगे-भइया! मुझे तो जन्म-

जरा-मृत्यु का रोग है, आवागमन की पीड़ा है। कोई ऐसी औषधि बताओ जिससे मेरा संसार में आना-जाना रुक जाये। वे देव स्वयं उसी से पीड़ित थे। तब महाराज बोले-भइया! शरीर के रोग का इलाज कोई इलाज नहीं है। **ये शरीर में आया हुआ रोग तो कर्म-निर्जरा में सहायक है।** संवर पूर्वक की गई निर्जरा से ही आना-जाना रुकता है। मुक्ति मिलती है। आत्मा स्वस्थ हो जाती है। देव ऐसा सुनकर गद्गद् हो उठे और कहने लगे कि आप वास्तव में चारित्र के धनी हैं। आपको मुक्ति मिलेगी इसमें कोई सन्देह नहीं है।

तो बन्धुओं! यह काया कंचन जैसी भले ही हो जाये लेकिन यह तो पौद्गलिक रचना है। जैसे-जैसे आयु कर्म क्षीण होता जाता है यह भी बिखरती जाती है। पूरण और गलन ही इसका स्वभाव है। आचार्यों ने कहा है जब तक आयु कर्म है, प्रति समय मृत्यु हो रही है। जन्म लिया है तो मृत्यु अवश्य ही होनी है। ये चक्र अनादिकालीन है। इस अनादिकालीन आवागमन से मुक्त होने के लिये जन्म लेने वाली आत्मायें विरली ही होती हैं। हमें भी अपनी चैतन्य-शक्ति को पहचान कर इस जड़ पुद्गल शरीर को साधन बनाकर आवागमन से मुक्त होने का प्रयास करना चाहिए। खूब विचार कर लीजिये कि हम किस ओर जा रहे हैं। अभी रात शेष है। कल दीक्षा-कल्याणक है। शरीर से आत्मा को पृथक् मानने के उपरांत उस शरीर से मोह छोड़ने की बात आने वाली है। उसी मार्ग पर सभी को बढ़ना चाहिए। जिससे इस संसार का अंत हो सके।

रे मूढ़ ! तू जनमता मरता अकेला, कोई न साथ चलता गुरु भी न चेला।
है स्वार्थ-पूर्ण यह निश्चय एक मेला, जाते सभी बिछुड़ के जब अंत बेला॥१॥

❑ ❑ ❑

तप : आत्म-शोधन का विज्ञान

आज इस शुभ-घड़ी से मुनि ऋषभदेव आत्म-साधना प्रारम्भ करके परमात्मा के रूप में ढल रहे हैं। वे भेदविज्ञान प्राप्त कर चुके हैं। यही भेदविज्ञान उन्हें केवलज्ञान प्राप्त करायेगा। आत्म-साधना ही केवलज्ञान तक पहुँचाने में समर्थ है। अद्भुत है यह आत्म-साधना। भेदविज्ञान जब जागृत हो जाता है तो हेय का विमोचन और उपादेय का ग्रहण होता है। यद्यपि अभी उन्हें उपादेय तत्त्व की परम प्राप्ति नहीं हुई है। तथापि हेय के विमोचन के लिए इनके कदम बढ़ ही चुके हैं। उपादेय की प्राप्ति हो जाये उसके उपरांत हम हेय का विमोचन करें-ऐसा नहीं है। हेय का विमोचन करने पर ही उपादेय की प्राप्ति सम्भव है।

बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा जिनके चरणों में आकर नौकर-चाकर की तरह हाथ जोड़े खड़े रहते हैं और उनकी सेवा में ही अपना सौभाग्य मानते हैं। स्वर्ग सम्पदा जिनके चरणों में रहती है ऐसे भोग वैभव आज उन्होंने त्याग दिये हैं। धन्य है उनकी भावना। अद्भुत है उनका भेदविज्ञान। त्याग

तो इनका ही सच्चा त्याग है कि वे अब त्याग करने के बाद उस ओर मुड़कर भी नहीं देखते। यहाँ तक कि किसी से बोलते भी नहीं। सारे सम्बन्ध, सारे नाते तोड़कर मात्र अपनी आत्मा से इन्होंने नाता जोड़ा है। जो भी आज तक अज्ञानतावश जोड़ा था वह सारा का सारा उन्हें नश्वर प्रतीत हुआ है। अब वे इस सबको कभी ग्रहण नहीं करेंगे। उनका आवागमन भेदविज्ञान के बल से समाप्त होने वाला है। मैं भी यही चाहता हूँ कि भगवन्! यह अवसर मुझे भी प्राप्त हो। आप कह सकते हैं कि महाराज! आपको तो प्राप्त हो ही गया है। सो आपका कहना कथंचित् ठीक है लेकिन बंधुओ! मैं तो उस भेदविज्ञान की प्राप्ति की बात कर रहा हूँ जो साक्षात् केवलज्ञान दिलाने में सक्षम है।

आचार्यों का कहना है कि आज इस पंचमकाल में साक्षात् केवलज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं है। अभी मुक्ति तक पहुँचाने वाली Direct Train उपलब्ध नहीं है। अभी तो बीच में कम से कम दो स्टेशनों पर तो रुकना ही पड़ेगा। हाँ इतना आनन्द हमें अवश्य मिल रहा है कि हम तो ट्रेन में बैठ गये हैं, भले ही एक स्टेशन बीच में रुकना पड़े पर पहुँचेंगे अवश्य। आपकी आप जाने।

आज मुझे केवलज्ञान की बात विशेष नहीं करनी है। आज तो केवलज्ञान से पूर्व की भूमिका जो तपश्चरण है, उसी की बात करनी है। केवलज्ञान दीक्षा लेने मात्र से नहीं मिलेगा। अभी तो शरीर तपेगा, मन भी तपेगा और वचन भी तपेगा, तब आत्मा शुद्ध होगी। कंचन की भांति निर्मल/उज्ज्वल होगी। अभी तो मन, वचन और काय तीनों से निरावरित/निर्ग्रन्थ-दशा का अनुभव करने वाले परिव्राजक 'आदिनाथ ऋषि' हैं। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की है जो स्वयंभू-स्तोत्र के नाम से प्रचलित है। उसके प्रारम्भ में उन्होंने आदि तीर्थंकर आदिनाथ की स्तुति करते हुए लिखा है-

विहाय यः सागर-वारिवाससं, वधूमिवेमां वसुधा-वधूं सतीम्।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकु कुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः॥

आचार्य समन्तभद्र स्वामी दार्शनिक होकर भी अध्यात्म की गहराइयों को छूने वाले आचार्य हैं। प्रत्येक स्तोत्र में उनकी लेखनी से जो दर्शन और अध्यात्म निकला है वह उनकी आत्मानुभूति का प्रतीक है। 'मुमुक्षु' शब्द का प्रयोग उन्होंने कहाँ किया है। जहाँ त्याग प्रारम्भ में है। त्याग के उपरांत ही 'मुमुक्षु' कहा है। जब तक वृषभकुमार राजा या राजकुमार रहे तब तक मुमुक्षु नहीं कहा। सर्व परिग्रह का त्याग करते ही वे 'मुमुक्षु' कहलाये। "**मोक्तुं इच्छुः मुमुक्षुः**"। मुच् लृ धातु से मुमुक्षु शब्द बना है जो कि छोड़ने के अर्थ में आती है। जिसकी रक्षा के लिये चक्रवर्ती भरत ने अपने भाई बाहुबली पर चक्ररत्न चला दिया उसी सागर पर्यन्त फैली हुई वसुंधरा को, सारे धन-वैभव-ऐश्वर्य को, घर-गृहस्थी, स्त्री-पुत्र सभी को उन्होंने छोड़ दिया। जो अपना नहीं था उस सबको उन्होंने छोड़ा तभी वे मोक्षमार्ग पर आगे बढ़े हैं।

आज वे प्रवज्या ग्रहण करके परिव्राजक हुए हैं। दीक्षित हुए हैं। व्रज कहते हैं त्यागने को, तैरने को, आगे बढ़ने को। वे आज सर्व परिग्रह का त्याग करके संसार से पार होने के लिये मोक्षमार्ग पर आगे बढ़े हैं। वे अब मुनि हैं, ऋषि हैं, योगी हैं और तभी उनके लिये मुमुक्षु यह शब्द उपयोग में लाया गया है। भगवान् बनने के लिए जो रूप उन्होंने धारण किया है वह आवश्यक है। क्योंकि भगवान बनने में जो बाधक कारण हैं, उन्हें हटाना पहले आवश्यक होता है। बाधक तत्त्वों का विमोचन करके वे आज निरावरित दिगम्बरी दीक्षा धारण कर चुके हैं। तभी उनका मुमुक्षुपन सार्थक हुआ है।

मुमुक्षु वे कहलाते हैं जिन्होंने अपना लक्ष्य मात्र मुक्ति बनाया है। संसार से ऊपर उठने का संकल्प कर लिया है। सिर्फ मुक्ति को प्राप्त करने की इच्छा रही है और कोई कामना नहीं रही। जो वैभव मिला उसे खूब देख लिया, उसमें रस नहीं मिला। रस उसमें था भी नहीं तो मिलेगा कहाँ से? नवनीत कभी नीर के मंथन से नहीं मिलेगा। सुख-शांति और आनन्द तो अपनी आत्मा में ही है। उन्होंने उस आत्मा को ही अपने पास रखा। एक अकेला आत्मा, और कुछ नहीं। उस आत्म-पद के अलावा सारे के सारे पद फीके पड़ गये। 'पर-पद' का विमोचन करना और 'स्व पद' का ग्रहण करना ही मुमुक्षुपन है। यही सम्यग्ज्ञान है। भेदविज्ञान है। **''भेदस्य विज्ञानम् भेदविज्ञानम्। भेदं कृत्वा यद्लभ्यते तत् भेदविज्ञानम्''** भेद करके जो प्राप्त होता है वह भेदविज्ञान है। ''रागान्वतं यद् ज्ञानं तद् भेदविज्ञानं न, वीतराग स्वसंवेदनं एवं भेदविज्ञानं अस्ति तदेव मुक्ते साक्षात् कारणम्।'' वीतराग-विज्ञान ही मुक्ति का साक्षात् कारण है।

ये बात ध्यान रखना भइया! कि जब तक भोक्ता है तभी तक भोगों की कीमत है। भोक्ता जब उनसे मुख मोड़ लेता है तो भोग्य पदार्थ व्यर्थ ही जाते हैं। यही बात ऋषिराज आदिनाथ मुनिराज की है। उन्होंने आज से वैराग्य का रास्ता अपना लिया है और उस पर अकेले ही चल रहे हैं। बाह्य पदार्थों की शरण, बाह्य पदार्थों का सहारा छोड़कर केवल अपनी आत्मा में ही शरण का संकल्प कर लिया है। इसे कहते हैं दिगम्बरी दीक्षा। दिशाएँ ही अम्बर अर्थात् वस्त्र हो जिसका-ऐसा ये रूप है। इस रूप को धारण किये बिना किसी को न मुक्ति आज तक मिली है और न ही आगे मिलेगी।

यह बाह्य में निर्ग्रन्थता, अंदर की शेष ग्रन्थियों को निकालने के लिये धारण की है। इसके लिये आचार्यों ने उदाहरण दिया है कि जिस प्रकार चावल प्राप्त करने के लिये सर्वप्रथम धान के ऊपर का छिलका हटाना पड़ता है उसके उपरांत उसकी ललाई हटायी जाती है तभी उसे पकाने पर सुगंध आती है। ऐसा कोई यंत्र नहीं बनाया गया आज तक कि जिसके माध्यम से पहले ललाई हटायी जाये फिर छिलका हटे। उसी प्रकार दिगम्बर हुए बिना जो शेष ग्रंथियाँ हैं जो कि केवलज्ञान में बाधक हैं, यथाख्यात चारित्र में बाधक हैं, निकल नहीं सकती। बाहर से राग उत्पन्न करने वाली

चीजों को जब तक नहीं हटायेंगे, नहीं छोड़ेंगे तब तक अन्दर का राग जा नहीं सकता। लड्डू हाथ में है, खाते भी जा रहे हैं और कह रहे हैं कि लड्डू के प्रति हमारा राग नहीं है तो ध्यान रखना कि गृहस्थावस्था में रहकर ऐसा हजार साल तक भी करो तो मुक्ति संभव नहीं है। पर का ग्रहण राग का प्रतीक है। न्यूनाधिकता होना बात अलग है लेकिन राग को पैदा करने वाली चीजों का त्याग किया जाये। आज वृषभनाथ मुनिराज ने ऊपर का छिलका अर्थात् वस्त्राभूषण आदि छोड़ दिया। शरीर के प्रति निर्मम होकर अब अंदर की लालिमा को भी निकालेंगे और इसी कार्य के लिये उन्हें हजार साल की साधना करनी पड़ी।

एक साल नहीं, दो साल नहीं, हजार वर्ष तक ये तप चलेगा, साधना चलेगी। आपका ध्यान तो एक सेकेंड भी आत्मा में नहीं ठहरता और आप कहने लगते हैं कि महाराज! हमें मिलता ही नहीं आत्मा? कैसे मिले भइया? वर्षों की तपस्या के उपरान्त आत्म-साक्षात्कार होता है। वृषभनाथ मुनिराज को मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान तो जन्म से ही प्राप्त थे और दीक्षा लेते ही मनःपर्ययज्ञान भी प्राप्त हो गया। चौसठ ऋद्धियाँ होती हैं उनमें से एकमात्र केवलज्ञान को छोड़कर सभी उनको प्राप्त हो गयी हैं। फिर भी अभी हजार साल तक उन्हें छठे-सातवें गुणस्थान में झूलना होगा। प्रमत्त-अप्रमत्त दशा में रहना होगा। बार-बार छठे-सातवें गुणस्थान में झूलना होगा। प्रमत्त-अप्रमत्त दशा में रहना होगा। बार-बार छठे-सातवें में आने जाने का अर्थ यही है कि जरा देर ठहरकर बार-बार कषायों पर चोट करनी होती है। मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, मेरा किसी से नाता-रिश्ता नहीं है- ऐसी पवित्र भावना बार-बार भानी होती है और ध्यान रखना, गृहस्थ अवस्था में रहकर ऐसी भावना हजार साल भी भावों तो भी मुक्ति सम्भव नहीं है। यह कार्य तो मुनि बनने के उपरांत ही करना सार्थक है। जब तक परिव्राजक अवस्था प्राप्त नहीं करोगे, दिगम्बरत्व को धारण नहीं करोगे तब तक केवलज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं है। यही कारण है कि आज ऋषभनाथ ने दीक्षा ग्रहण की है। आज भगवान् बनने की भूमिका, मुक्त होने की भूमिका बनाई है। वीतरागता को जीवन में प्रकट किया है जो हमारे लिये शरण योग्य है, चत्तारि सरणं पव्वज्जामि। अर्हन्त, सिद्ध, साधु और केवली भगवान् द्वारा कहा गया धर्म- ये चारों ही हमारे लिये शरण लेने योग्य हैं।

समयसार कलश में श्री अमृतचन्द्रसूरि ने एक कारिका लिखी है उसी का पद्यानुवाद किया था-

पद-पद पर बहु पद मिलते हैं पर वे सब-पद पर-पद हैं।
सब-पद में बस पद है वह पद, सुखद निरापद निजपद है॥

जिसके सन्मुख सब पद दिखते अपद दलित-पद आपद हैं।
अतः स्वाद्य है पेय निजी-पद, सकल गुणों का आस्पद है॥॥

दुनियाँ के जितने भी पद हैं जिन्हें प्राप्त करने की लालसा संसारी जीव को लगी हुई है वे सभी पद निज-पद से दूर ले जाने वाले पद हैं। निज-पद पर धूल डालने वाले, उसे छिपाने वाले, यदि कोई कारण हैं तो वे पर-पद ही हैं। जिनकी चमक-दमक देखकर आप मुग्ध हो जाते हैं और अनेक गुणों के भंडार-रूप आत्म-पद को, निज-पद को नहीं समझ पाते/ नहीं पा पाते हैं।

जो मार्ग आज वृषभनाथ ने चुना है वह मोक्ष-मार्ग ही ऐसा मार्ग है जहाँ किसी प्रकार का कंटक नहीं है, बाधाएँ नहीं हैं, व्याधियाँ नहीं हैं। बड़ा सरल मार्ग है। जहाँ अनेक मार्ग मिलते हों वहाँ भटकने की भी संभावना हो सकती है लेकिन ये मोक्षमार्ग ऐसा है कि जहाँ पर अनेक मार्गों का काम ही नहीं है। अपने को पर-पदार्थों से हटा लेने और एकाकी बना लेने का ही मार्ग है। जो निषेध को समझ लेता है, वह विधि को सहज स्वयं ही समझ लेता है। पर-पदार्थों को 'पर' जानकर स्वयं की ओर आना सहज हो जाता है। यद्यपि आत्मा साक्षात् हमें देखने में नहीं आती किन्तु आगम के माध्यम से आत्मानुभूति संभव हो जाती है। केवलज्ञान के माध्यम से आत्माओं ने आत्मा का स्वरूप जाना/समझा। जिसका कोई आकार-प्रकार नहीं है, जिसकी किसी अन्य पदार्थ से तुलना नहीं की जा सकती, इन्द्रियों के द्वारा जिसे ग्रहण नहीं किया जा सकता, ऐसी उस आत्मा को हम कैसे ग्रहण करें? तो आचार्य कहते हैं कि सीधा सा रास्ता है, कि जो आत्म-स्वरूप से भिन्न है उसे छोड़ो। पूर्व दिशा ज्ञात हो जाये तो पश्चिम दिशा किधर है-यह पूछने की आवश्यकता नहीं रह जाती। ऐसे ही मुक्ति क्या चीज है, यह पूछने की कोई आवश्यकता नहीं है। मुक्ति चाहते हो तो बंधन है उससे बचो, उसे छोड़ो। आजादी पहले नहीं मिलती किन्तु बंधन के अभाव होने के उपरांत मिलती है। बंधन के साथ यदि अनुभूति होगी तो वह मुक्ति की अनुभूति नहीं होगी, बंधन की ही अनुभूति होगी।

जो बंधन को बंधन समझ लेता है, दुख का कारण जान लेता है और उससे बचने का प्रयास करता है वही आजादी को पाता है। उसे ही मुक्ति मिलती है। ज्ञान होने के उपरांत उस रूप आचरण भी होना चाहिए तभी उस ज्ञान की सार्थकता है।

एक व्यक्ति ने पूछा कि महाराज! हम लोगों के ऊपर आपदायें क्यों आती हैं? ग्रहों का प्रभाव हम पर क्यों पड़ता है? तो मैंने कहा भइया! बात यह है कि आपके पास दसवां ग्रह, परिग्रह हैं इसी कारण अन्य नौ ग्रहों का प्रभाव भी आपके ऊपर खूब पड़ता है। जो परिग्रह का विमोचन करके अपनी आत्मा में रम गया, उसके ऊपर बाह्य पदार्थों का प्रभाव नहीं पड़ सकता। वे समझ गये और हँसने लगे। बोले महाराज! बात तो सही है। परिग्रह की परिभाषा ही सही है कि ''परि आसमन्तात्

आत्मानं ग्रह्णाति स परिग्रहः''। जो चारों ओर से आत्मा तो खींचता है, ग्रसित कर लेता है उसका नाम परिग्रह है। परिग्रह को आप नहीं खींचते बल्कि परिग्रह के माध्यम से आप ही खिंच जाते हैं। परिग्रह आपको निगल रहा है। परिग्रह को आप नहीं भोगते बल्कि परिग्रह के द्वारा आप ही भोगे जा रहे हैं। परिग्रह सेठ-साहूकार बन चुका है और आप उसके नौकर।

जिसके पास परिग्रह नहीं है, जिसने परिग्रह को छोड़ दिया है उसे कोई चिन्ता नहीं सताती। वह आनन्द की नींद लेता है। पर जिसके पास जितना ज्यादा परिग्रह है वह उतना ही बेचैन है। उसको न दिन में नींद है, न रात में। बड़े-बड़े धनी लोग अच्छे-अच्छे गद्दों पर भी रात भर सो नहीं पाते। **उन्हें चिंता रहती है कि कहीं तिजोरी में बन्द धन-पैसा-सोना लुट न जाये। तिजोरी में बन्द सोना यद्यपि जड़ है, यही कारण है कि जड़/पुद्‌गल की सेवा में लगा हुआ वह चेतन स्वयं ही जड़ अर्थात् मूर्ख/अज्ञानी हो गया है।** ज्ञानी तो वह है जिसको कषायों की आवश्यकता नहीं। जो परिग्रह का आश्रय नहीं लेता, वह तो मात्र अपनी आत्मा का ही आश्रय लेता है। यही कारण है कि वृषभनाथ मुनिराज ने सारे परिग्रह को छोड़ दिया और ज्ञानी होकर मात्र अपनी आत्मा के आश्रित हो गये हैं।

अध्यात्म-प्रेमी बंधुओ को समझना चाहिए कि सही रास्ता तो यही है। परिग्रह को जब तक पकड़ रखा है तब तक मुक्त होना संभव नहीं है। परिग्रह को छोड़े बिना ध्यान होना भी संभव नहीं है। आचार्य शुभचन्द्र स्वामी ने ज्ञानार्णव में कहा है कि-

अनिषियाक्षसंदोहं यः साक्षात् मोक्तुमिच्छति।
विदारयति दुर्बुद्धिः शिरसासमहीधरम्॥२०/३१॥

ध्यान के माध्यम से ही आत्मानुभूति होती है। यदि कोई ध्यान को रत्नत्रय का आलम्बन लिये बिना, दिगम्बर हुए बिना ही साधना चाहे तो ध्यान रखना वह मस्तक के बल पर पर्वत को तोड़ने का व्यर्थ प्रयास कर रहा है। ऐसा करने पर पर्वत तो फूटेगा नहीं, उसका सिर जरूर फूट जायेगा। इसलिए भइया! साधना का जो क्रम है, जो विधि बताई गयी है उसी के अनुसार करोगे तभी मुक्ति मिलेगी। जब दोषों को निकालोगे तब गुण प्रकट होंगे। गुण कहीं बाहर से नहीं आयेंगे, वे तो दोषों के हटते ही अपने आप प्रकट हो जायेंगे। गुणों में ही तो दोष आये हैं, उन दोषों का अभाव होने पर गुणों का सद्‌भाव सहज ही हो जायेगा। स्वामी समन्तभद्राचार्य भगवान् की स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे भगवन्! आप अठारह दोषों से रहित हैं इसलिए मैं आपको नमस्कार कर रहा हूँ।

बंधुओ! सोचो, जिस परिग्रह का आज वृषभदेव मुनिराज त्याग कर रहे हैं उसे ही आप अपनाते जा रहे हैं तो मुक्ति कैसे मिलेगी? आप ज्ञानी कैसे कहे जायेंगे? रागपूर्वक संसार को ही अपनाते जाने वाला ज्ञानी नहीं कहला सकता। ज्ञानी तो वही है जो भूतकाल में भोगे गये पदार्थों का

स्मरण तक नहीं करता और वर्तमान में भोगों के प्रति हेयबुद्धि रखता है। समयसार जैसे महान् ग्रन्थ में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है उसी का भावानुवाद-

ना भूत की स्मृति अनागत की अपेक्षा, भोगोपभोग मिलने पर भी उपेक्षा।
ज्ञानी, जिन्हें विषय तो विष दीखते हैं, वैराग्य-पाठ उनसे हम सीखते हैं॥

ऐसे ज्ञानी मुनिराज धन्य हैं जिनके दर्शन मात्र से संसारी प्राणी को वैराग्य का पाठ सीखने को मिलता है। यही ज्ञानी का लक्षण है। यही वीतराग सम्यग्दृष्टि का लक्षण है। स्व-समय का अनुभव करने वाला भी यही है।

परमट्ठो खलु समओ, सुद्धो जो केवली मुणी णाणी
तम्हिट्ठिदा सहावे, मुणिणा पावंति णिव्वाणं॥

परमार्थ कहो, निश्चय कहो, समय कहो, केवली कहो या मुनि कहो, ज्ञानी कहो- यह सब एकार्थवाची हैं। अर्थात् ज्ञानी वही है जो समय अर्थात् आत्मा में निहित है, शुद्ध में निहित है, मुनिपने में निहित है। ऐसा ज्ञानी ही निर्वाण को प्राप्त कर सकता है और इसके अलावा अन्य कोई ज्ञानी नहीं है। आज तो विज्ञान का युग है, प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको विज्ञानी मान रहा है लेकिन वास्तव में देखा जाये तो वह ज्ञानी नहीं है। भइया! भावों में ज्ञानीपना होना अलग बात है और मात्र नाम निक्षेप की अपेक्षा ज्ञानी होना अलग बात है। समयसार के अनुसार तो ज्ञानी पुरुष वही है जिसने बुद्धिपूर्वक विषयों का विमोचन कर दिया है, जो निष्परिग्रही है, जो अप्रमत्त है और अपनी आत्मा में लीन रहता है। विषयों के प्रति हेयबुद्धि का अर्थ ऐसा नहीं है कि जैसे आप लोग किसी के घर मेहमान बनकर जाते हैं तो भोजन करते समय यदि मिठाई परोसी जा रही हो तो आप, 'बस-बस! अब नहीं चाहिए', कहते जाते हैं और खाते भी जाते हैं। हेयबुद्धि तो वह है जो वर्तमान में मिली भोग-सामग्री को भी छोड़ देता है। अतीत के भोगों की तो बात ही क्या?

भोग-पदार्थों को ग्रहण कर लेने के बाद जो यह कहता है कि ये तो पुद्गल हैं, उसे समयसार में ज्ञानी नहीं कहा गया। सोचो! जब पुद्गल को पुद्गल ने ही खाया तो थाली पर खाने के लिए बैठने की जरूरत क्या थी? और अगर निमन्त्रण देकर किसी ने आपको बुलाया और पेट भर नहीं खिलाया, आपके मन पसन्द नहीं खिलाया तो यह कहने की क्या आवश्यकता थी कि उनके यहाँ गये और उन्होंने ठीक से खिलाया भी नहीं। यह ज्ञानीपना नहीं है। जहाँ राग के साथ पदार्थों का ग्रहण किया जा रहा हो वहाँ विषयों का ही पोषण होता है। हाँ जहाँ पर राग नहीं है वहाँ पर विषय-सामग्री होने पर भी उसे निर्विषयी कहा जायेगा। मुनि महाराज वीतरागी होकर पदार्थों का उपभोग करते हैं इसलिए वे भोक्ता नहीं कहलाते बल्कि ज्ञानी कहलाते हैं, निर्विषयी कहलाते हैं। सभी भोग्य पदार्थों का त्याग करने के उपरांत, पदार्थों के प्रति अनासक्त होकर मूलगुणों का पालन करते

हुए आगम की आज्ञा के अनुसार वे पदार्थों को ग्रहण करते हैं इसलिए उन्हें ज्ञानी कहा गया है।

'पर' के प्रति राग का अभाव हो जाना ही 'स्व' की ओर आना है। 'पर' को 'पर' मानकर जब तक आप उसे नहीं छोड़ेंगे तब तक स्व-समय की प्राप्ति सम्भव नहीं है। स्व-समय का स्वाद तभी आयेगा जब 'पर' का विमोचन होगा। ऐसे स्व-समय को प्राप्त करने वाले वृषभराज मुनिराज के चरणों में रागी भी नतमस्तक हो रहे हैं। आज तो वैराग्य का दिन है। तप का दिन है। त्याग का दिन है। मेरे पास कुण्डलपुर में यहाँ के कुछ लोग आये और कहा कि महाराज! पंचकल्याणक महोत्सव किशनगढ़ में होना है। आपकी उपस्थिति अनिवार्य है। उसके बिना काम नहीं चलेगा। आपको अवश्य आना है। मैंने कहा भइया! आप ले जाना चाहो तो ऐसे मैं किसी के कहने में आने-जाने वाला नहीं हूँ! हाँ इतना जरूर तय कर लो कि अगर मैं आ भी जाऊँ तो आप क्या करेंगे? सिर्फ कार्यक्रम होंगे, सभी लोग लाभ लेंगे, यह तो ठीक है लेकिन आप क्या करेंगे? सिर्फ कार्यक्रम आयोजित करेंगे या अपनी भी कुछ फिकर करेंगे? हम वहाँ आयें या न भी आयें पर आपको जो करना हो वह अभी कर लो, उसमें देर मत करो। सारा महोत्सव त्याग का ही है। इसलिए त्याग के लिये देर करना ठीक नहीं। वृषभनाथ मुनिराज तो मौन बैठे हैं। अपना कल्याण करने के लिये दीक्षा ले ली है। दूसरे की उन्हें फिकर भी नहीं करनी है। पर एक **अनिवार्य** के लिये तो स्वयं भगवान् की आज्ञा है कि वह उपदेश के माध्यम से लोगों को त्याग की प्रेरणा दें। दीक्षा के अवसर पर आप लोगों को कुछ न कुछ त्याग तो अवश्य ही करना चाहिए। 'स्व' का आलम्बन लेना ही जीवन है। 'पर' का आलम्बन लेना, विषयों का आलम्बन लेना मृत्यु की ओर बढ़ना है। इसलिए आप लोगों को विषयों से ऊपर उठकर निर्विषयी बनकर अपना जीवन बिताने का प्रयास करना चाहिए। अधिक नहीं तो कम से कम त्याग के भाव तो करना ही चाहिए कि हे भगवन्। मैं कब सर्व परिग्रह से मुक्त होकर अपनी आत्मा का अनुभव करूँ। इस जीवन में आप लोगों को वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से जो थोड़ी शक्ति मिली है और ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जो थोड़ा ज्ञान प्राप्त हुआ है उसका सदुपयोग तो कर ही लेना चाहिए। सभी को शक्तितस्त्याग अर्थात् यथाशक्ति त्याग तो करना ही चाहिए।

दो प्रकार से व्रतों के ग्रहण की बात आचार्यों ने कही है -अणुव्रत और महाव्रत। अणुव्रतों का विस्तार भी बहुत लम्बा-चौड़ा है, जैसे एक रुपया को महाव्रत कहें तो एक पैसे से लेकर निन्यानवे पैसे तक सभी अणुव्रत रूप में कहे जायेंगे। **व्रत कोई भी हो, छोटा नहीं होता। एक पैसे के बराबर भी यदि व्रत लिया जाये तो भी सार्थक है। व्रत-नियमों के संस्कार जीवन में डालते-डालते ही वह समय भी आ सकता है जबकि हम महाव्रतों को धारण करके स्व-समय को प्राप्त कर लें।**

इस महान् तप-कल्याण के दिन हम अधिक क्या कहें? हम तो यही भावना करते हैं कि हे भगवन्! हमें जो रास्ता मिला है वह निर्वाण होने तक छूटे नहीं। जो रेल हमने पकड़ी है वह एक-दो स्टेशन बीच में भले ही रुक जाये, धीरे-धीरे भले ही पहुँचाये, पर जीवन में मुक्ति मिलनी चाहिए। भगवान् के जीवन को आदर्श बनाकर, उनके जीवन का आदर्श सामने रखकर हम भी अपने जीवन को सफल बनायें। कुन्दकुन्द स्वामी जैसे महान् आचार्यों के ग्रन्थों के माध्यम से हमारी आँखें खुल गयीं। हमें ज्ञात हो गया कि क्या कर्म है? क्या संसार है और क्या मुक्ति है? साथ ही आचार्य ज्ञानसागरजी जो मेरे गुरु महाराज थे, आप लोगों को उनका स्मरण तो होगा ही क्योंकि उनका अन्तिम समय अजमेर में ही बीता, उनके आशीर्वाद से मुझे यह ज्ञान और वैराग्य प्राप्त हुआ। उन सभी महान् आत्माओं का स्मरण हमेशा बना रहे इसी भावना से इन पंक्तियों द्वारा उनका स्मरण करता हूँ-

कुन्दकुन्द को नित नमूँ, हृदय कुन्द खिल जाय।
परम-सुगंधित महक में, जीवन मम घुल जाय॥

❑ ❑ ❑

ज्ञानः आत्मोपलब्धि का सोपान

आज मुनिराज वृषभनाथ भगवान् बनने का पुरुषार्थ कर रहे हैं। एक भक्त की तरह भगवान् की भक्ति में लीन होकर आत्मा का अनुभव कर रहे हैं। संसार क्या है? इसके चिंतन की अब उन्हें आवश्यकता नहीं है किन्तु एक मात्र स्व-समय की प्राप्ति की लगन लगी हुई है। 'समय' का अर्थ यहाँ आत्मा से है। इस आत्मा की प्राप्ति के लिये ही साधना चल रही है।

'समय' की व्याख्या आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने की है जो हमें उपलब्ध है लेकिन सभी को उसका बोध नहीं हो पा रहा है। इसलिए 'समय' की व्याख्या संक्षेप में यहाँ आज करूँगा। समीचीन रूप से जो अपनी निधि को प्राप्त कर रहा है, जो अपने आपको संभालने में लगा हुआ है तथा बहिर्मुखी दृष्टि को जिसने त्याग दिया है, ऐसी समय की व्याख्या प्रत्येक द्रव्य पर घटित हो जाती है किन्तु यहाँ पर विशेष रूप से मोक्षमार्ग में उपादेयभूत जो समय है वह स्व-समय है। जो अपने गुण, अपनी पर्याय और अपनी सत्ता के साथ एकता धारण करते हुए बहिर्मुखी दृष्टि को हटाकर उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप अपनी आत्मा में लीन है उसका नाम 'स्व-समय' है। अपने को सही-सही जानना, अपने में रहना और अपनी सुरक्षा करते रहना यही स्व-समय है। यहाँ पंडाल में कभी-कभी देखता हूँ कि स्वयंसेवकों की संख्या जनता से भी अधिक हो जाती है और स्वयंसेवकों से ही अव्यवस्था फैल जाती है। स्वयंसेवक का अर्थ अगर आप गहराई से समझें तो स्वयंसेवक

कहो या कि स्व-समय कहो-एक ही बात है। अपने आपकी जो सेवा करता है वही वास्तविक स्वयंसेवक है।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हुए भव्य जीव के लिए एक विशेषण दिया है- **स्व-हितं उपलिप्सुः**- जो अपने हित को चाहता है। अपना हित किसमें है- यह भलीभांति जानता है- वही भव्य है। स्व-पर कल्याण करने की दृष्टि तो अच्छी है परन्तु पर के कल्याण में ही लग जाना और स्व को भूल जाना- वह उचित नहीं है। स्व-हित की इच्छा होना ही वास्तविक धर्मानुराग है, वास्तविक अनुकम्पा है, दया है और वास्तविक जैनत्व भी वही है। अपने ऊपर कषाय रूपी वैभाविक भावों की जो सत्ता चल रही है, जो विकारी भावों का प्रभाव पड़ रहा है उसको मिटाने की जिज्ञासा जिसे हो, वह भव्य है। इसके अलावा जो भी है उन्हें सज्जन भले ही कह दें, परन्तु निकट भव्य नहीं कह सकते।

भव्य का अर्थ होता है होनहार! '**भवितुं योग्यः भव्यः**' - जो होने योग्य हो। होनहार के लक्षण अलग ही होते हैं जिन्हें देखकर ही होनहार कहा जाता है। आप लोगों के घर में जब कोई बच्चा पैदा होता है तो आप उसके कुछ विशेष लक्षणों को देखकर उसे होनहार कहते हैं। मान लीजिये दो बच्चे हैं, एक शैतानी करता है तो उसे शैतान कहते हैं और यदि शांत रहता है तो होनहार निकलेगा- ऐसा कहते हैं। जो होने की योग्यता रखता है सैद्धान्तिक भाषा में उसे ही भव्य कहते हैं। होने की योग्यता का अर्थ यही नहीं है कि वह बड़ा होगा। बड़े तो सभी होते हैं। वय के अनुसार बढ़ने का अर्थ होनहार नहीं है। होनहार तो आप उसे मानते हैं जिसमें आपकी इज्जत और घर की संस्कृति, परम्परा की सुरक्षा के लक्षण दिखाई देते हैं। हांलाकि आप पालन-पोषण दोनों बच्चों का समान रूप से करेंगे/करते हैं- यह बात अलग है लेकिन भीतर ही भीतर उस होनहार बालक के प्रति आपके मन में प्रेम अधिक रहता है। गुरु का शिष्य के प्रति प्रेम भी इसी प्रकार हुआ करता है। एक कक्षा में बहुत से विद्यार्थी होते हैं, गुरु सभी को एक सी शिक्षा देते हैं लेकिन जो गुणवान हैं, होनहार हैं उनके प्रति गुरुओं के मन में सहज ही प्रमोद भाव आता है।

एक और विशेषण आता है कि वह 'प्रज्ञावान' भी हो। सो ठीक ही है। बुद्धिमान भी होना चाहिए। लेकिन ऐसी बुद्धिमानी किस काम की कि अपना हित भी न कर सके। इसीलिए बुद्धिमान होना कोई बड़ी बात नहीं है। वह तो ज्ञान की परिणति है। कम या ज्यादा सभी के पास होती है लेकिन स्व-कल्याण की मुख्यता होनी चाहिए। भक्तामर स्तोत्र की- '**आलंबनं भव जले पततां जनानाम्**-' ये पंक्ति प्रत्येक व्यक्तिके मुख से सुनने को मिल जाती है। इसका अर्थ यही है कि जिन्होंने अपना कल्याण कर लिया उनके नाम का स्मरण/आलम्बन लेने वालों की संख्या बहुत है। जो अपना कल्याण कर लेता है वही पर का कल्याण कर सकता है। मैं पर-कल्याण का निषेध नहीं

कर रहा, लेकिन कहना इतना ही है कि भाई! पर-कल्याण में लग जाना ठीक नहीं है। जब मैं विद्यार्थी था तो परीक्षा भवन में सभी विद्यार्थियों के साथ परीक्षा पेपर हल कर रहा था और समीप बैठा हुआ एक साथी बार-बार कुछ प्रश्नों के उत्तर मुझ से पूछ रहा था। अब परीक्षा भवन में तो ऐसा है कि जो सही उत्तर लिखेगा उसे ही नम्बर मिलेंगे। जो अपने उत्तर न लिखकर मात्र औरों को उत्तर लिखाने में लगा रहेगा वह परीक्षा में पास नहीं हो सकेगा। इसलिए परहित कितना, कब और कैसा होना चाहिए यह भी समझना हमें जरूरी है। मेरे मन में उसे उत्तर लिखकर देने का भाव तो आया लेकिन घड़ी की तरफ देखा तो सिर्फ पन्द्रह मिनट शेष थे, एक प्रश्न का उत्तर लिखना अभी मेरे लिये शेष था, ऐसी स्थिति में अगर 'पर' की ओर देखता तो 'स्व' के उत्तर भी नहीं लिख पाता। आचार्यों ने कहा है कि स्वहित करो, साथ ही परहित भी करो लेकिन स्वहित पहले अच्छी तरह करो। इसलिए भाव होते हुए भी पहले अपने हित की चिंता मैंने की। यह बात आपको कठोर जान पड़ेगी लेकिन गहराई से विचार करेंगे तो कठोर नहीं लगेगी।

जैसे माता-पिता कई बार अपने बच्चों के प्रति कठोर हो जाते हैं। जब वह शैतानी करता है, पैसे चुराकर घर से भागकर घूमता रहता है, कुसंगति में पड़कर पैसा बरबाद करता है तो उसे वे डांटते, मारते-पीटते भी हैं और घर से बाहर निकालने की धमकी भी देते हैं, पर उनका मन भीतर से कठोर नहीं होता। यदि बेटा घर छोड़कर जाने की बात करता है तो वही माता-पिता रोने लग जाते हैं, उसे मनाते भी हैं। यही बात हमारे पूर्वाचार्यों ने मोक्षमार्ग में भी ध्यान में रखी है। हित की दृष्टि से कहीं-कहीं कड़ी बात भी की है। मृदुता और कठोरता दोनों एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। आप नवनीत की मृदुता से परिचित हैं और जानते हैं कि मृदु से मृदु पदार्थ यदि कोई है तो वह नवनीत है। वह कठोर से कठोर भी है क्योंकि यदि नवनीत को तलवार चाकू से काटो तो भी नहीं काट सकते। जो नहीं कटे वही तो व्यवहार में कठोर माना जाता है। दूसरी बात यह भी है कि यदि नवनीत को जरा सा अग्नि का संयोग मिले तो वह पिघल जाता है। इसी प्रकार आचार्यों की वाणी भी नवनीत के समान है जिसमें कभी कठोरता भले ही आ जाती हो लेकिन हृदय में तो उनके मृदुता ही रहती है।

जो डॉक्टर शल्य-चिकित्सा करते हैं और जो लोग शल्य-चिकित्सा करवाते हैं, वे जानते हैं कि पहले घाव को साफ करना होता है फिर आवश्यक होने पर काटा भी जाता है तभी मरहम-पट्टी होती है। घाव पर सीधे दवाई नहीं लगाते, उसे साफ-सुथरा करते हैं जिसमें पीड़ा भी होती है लेकिन भाव तो घाव ठीक करने का होता है। अर्थात् सभी जगह निग्रह और अनुग्रह दोनों ही हैं। अपराध करने पर अपराधी को दंड भी दिया जाता है लेकिन वह दंड उसे अपराध-भावना से मुक्त करने के लिए है, शुद्धि के लिये है।

खेल खेलता कौतुक से भी रुचि ले अपने चिंतन में,
मर जा पर कर निजानुभव कर घड़ी-घड़ी मत रच तन में।
फलतः पल में परमपूत को द्युतिमय निज को पायेगा,
देह-नेह तज, सजा निज को, निज के निज घर जायेगा॥ १॥

जिस प्रकार आर्थिक लाभ के लिये आप लोग जैसे-तैसे भी मेहनत-मजदूरी करके लेकिन न्याय-नीति पूर्वक धन का अर्जन करते हैं उसी प्रकार आचार्य कहते हैं कि मनुष्य जीवन पाकर आत्मा के बारे में थोड़ा चिंतन तो जरूर करें। भले मेहनत क्यों न करनी पड़े, कष्ट भी क्यों न सहने पड़े, पर आत्मा की प्राप्ति के लिए कदम तो अवश्य बढ़ाओ। कई लोग कह देते हैं महाराज! सामायिक के लिये आसन लगाकर जब बैठते हैं तो घुटनों में दर्द होने लगता है, अब सामायिक कैसे करें? तो हम यही कहते हैं कि भइया! सांसारिक कार्य करने के लिए दर्द होने पर भी कितना परिश्रम करते हो, उतना/वैसा ही मोक्ष-मार्ग में भी करो। कम से कम अड़तालीस मिनट सामायिक करने के लिए एक आसन पर तो बैठो। जिस प्रकार हलुआ बनाने में भले ही दो-चार घंटे लग जाते हैं, मेहनत भी होती है लेकिन खाने में तो थोड़ा सा समय लगता है और तृप्ति भी मिलती है, इसी प्रकार एक अंतर्मुहूर्त तक एकाग्र चित्त होकर ध्यान करने से अनादिकाल से अप्राप्त आत्मानुभूति सम्भव है। भूमिका होनी चाहिए। और दूसरी बात, उस ध्यान के काल में यदि मरण भी हो जाता है तो डरने की बात नहीं है, मरण तो शरीर का होता है, आत्मा नहीं मरती। आत्मा तो ध्यान करने से तरती है।

आचार्यों ने कहा कि अपने कल्याण के लिए आत्मानुभूति होना आवश्यक है। शुद्धोपयोग होना आवश्यक है। इतना जरूर है कि जब शुद्धोपयोग से च्युत होकर शुभोपयोग की दशा में आ गये हो तो पर-कल्याण हो सकता है लेकिन साथ ही साथ कर्मबंध भी होगा। भैया! ऐसी कौन सी दुकान है, ऐसा कौन सा व्यापार है जिसमें कोई व्यक्ति स्वयं तो घाटे में रहे और दूसरों को मुनाफा देता रहे। ऐसा कोई भी नहीं करता। सभी अपने हित की चिंता करते हैं। और जिसने अपना हित किया है वही दूसरे का भी हित कर सकता है। जिसने आज तक अपने हित की बात ही नहीं सोची वह दूसरे के कल्याण की कल्पना भी नहीं कर सकता। भिखारी दूसरे को भीख नहीं दे सकता। इसलिए अच्छा तो यही है कि पहले स्वयं का हित करो और दूसरे का अहित मत सोचो। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की शरण में जाकर आत्मतत्त्व को पाने के लिए अपनी ओर कदम बढ़ाओ।

एक समय की बात है, जंगल में एक व्यक्ति भटक गया। घना जंगल था, जहाँ पर सूर्य की किरणें भी प्रवेश नहीं कर पाती थीं। दिन में और रात में भी अंधकार रहता था। एक-दो दिन यूँ ही बीत गये पर कोई दूसरा व्यक्ति रास्ता बताने वाला नहीं मिला। तीसरे दिन अचानक एक व्यक्ति दूर

से आता हुआ दिखाई दिया। भटका हुआ व्यक्ति विचार करने लगा कि चलो अच्छा हुआ, तीसरे दिन कोई तो मिला। भागता हुआ वह दूसरे व्यक्ति के चरणों में आकर गिर गया और कहने लगा कि बहुत अच्छा हुआ जो आप मिल गये। यहाँ से निकलने का कोई रास्ता हो तो मुझे बताओ। मैं तीन दिन से भटक रहा हूँ। दूसरा व्यक्ति कहने लगा -भाई! क्षमा करो, मैं क्या बताऊँ। मुझे भी भटकते हुए पाँच दिन हो गये हैं। मैं भी इसी खोज में था कि कोई साथी मिले तो निर्वाह हो जाये। बस! ऐसी ही स्थिति सभी संसारी प्राणियों की हो रही है। सब भटके हुए लोग एक दूसरे की शरण खोज रहे हैं। भगवान् की शरण में कोई नहीं जा रहा। वे दोनों भटके हुए व्यक्ति एक दूसरे के साथ मजे से रहने लगते हैं। घूमने-फिरने लगते हैं। धीरे-धीरे उनकी संख्या बढ़ने लगती है। शहर बन जाता है। अब उन्हें कोई भटका हुआ नहीं मानता। वे भटक गये थे- यह बात उन्हें स्वयं भी स्मृति में नहीं रहती। जैसे दो पागल मिल जाते हैं तो अपने आप को होशियार मानने लगते हैं और शेष सभी उनकी दृष्टि में पागल नजर आते हैं। चार पागल लोग मिलकर, जो ठीक है उसे भी पागल बना देते हैं। वे उसे समझाते हैं कि व्यर्थ भटकते क्यों हो। हमारे साथ आ जाओ, तुम अकेले हो, क्या तुम्हारा रास्ता ठीक हो सकता है? हम चार हैं, हम ही ठीक हैं। इस तरह भटकने वालों की संख्या बढ़ती ही जाती है। लेकिन जो समझदार हैं जिन्हें स्व-कल्याण की इच्छा है वे ऐसी किसी शरण में नहीं जाते। वे तो सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की शरण को नहीं छोड़ते क्योंकि इन्हीं के माध्यम से हमारी अनादिकालीन भटकन समाप्त हो सकती है।

बहुमत कहाँ नहीं होता? नरक में नारकियों का बहुमत है और स्वर्ग में देवों का बहुमत है, पागलों का भी बहुमत होता है। पागलखाने में पागलों की आपस में तुलना की जाती है। कोई कम पागल है और कोई ज्यादा पागल, लेकिन पागल तो सभी हैं। ऐसे बहुमत की सत्य के लिये कोई आवश्यकता नहीं है। सच्चे पथ के लिए दूसरे से तुलना करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। सत्य एक ही बहुत होता है। एक मात्र सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की शरण ही पर्याप्त है भले ही बहुमत हो, या न हो। जो स्वहित चाहते हैं वे ऐसे बहुमत/जमघट से प्रभावित नहीं होते। अपने कल्याण में लगे रहते हैं। संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर जीवन जीते हैं।

देह का नेह अर्थात् शरीर के प्रति मोह ही सबसे खतरनाक है। हमें इस शरीर का ज्ञान पहले होता है फिर शरीर के माध्यम से ही अन्य पर-पदार्थों का ज्ञान होता है। शरीर के पोषण के लिये ही संसार में सारे आविष्कार हुए हैं। इसलिए **आचार्यों ने कहा है कि एक बार जीवन में शरीर पड़ोसी बन जाये, शरीर के प्रति मोह की दीवार टूट जाये तो एक अन्तर्मुहूर्त में आत्मानुभूति संभव है।** हमारे लिए इस भौतिक जगत् से हटाकर आत्मानुभूति का उपाय बतलाने वाले आविष्कारक कुन्दकुन्द ही तो हैं। मोह रूपी मदिरा पीकर ही व्यक्ति अनादिकाल से अपने स्वरूप को जान नहीं पा रहा है। इन्द्रिय-ज्ञान के माध्यम से इसे जाना भी नहीं जा सकता।

इन्द्रियों का ज्ञान नियत और सीमित है, काल भी सीमित है। घड़ी को देखकर आपको घड़ी का व्यवहार ज्ञान हुआ, यदि यह घड़ी दूर रखी हो तो आप देख नहीं सकते। ऐसे ही यदि उस घड़ी को आँखों से चिपका लेंगे तो भी दिखाई नहीं देगा। इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रिय-ज्ञान सीमित है। इस इन्द्रिय-ज्ञान पर अभिमान नहीं करना चाहिए। ज्ञेय पदार्थों को जानने की क्षमता इन्द्रिय-ज्ञान के पास सीमित है, मर्यादित है। ये चर्म-चक्षु ऐसे हैं कि अपने आपको ही नहीं देख सकते। आपकी आँख में कुछ चीज गिर जाये तो किसी दूसरे से निकलवाना पड़ता है। अपनी ही एक आँख के माध्यम से दूसरी आँख में गिरी हुई मिट्टी आदि नहीं दिखती। आप दुनियाँ को तो इन आँखों से देख सकते हैं लेकिन स्वयं को नहीं देख पाते। स्वयं को देखने के लिये दो आँखें बेकार हैं। ठीक भी है, जो आँखें स्वयं को नहीं देख पाती, वे किस काम की। इसलिए आचार्यों ने कहा है कि दया में निष्ठा लाओ, अहिंसा का पालन करो और इन्द्रियों का दमन करो। इन्द्रिय-ज्ञान को समाप्त कर दो अर्थात् बहिर्दृष्टि को समाप्त करके अंदर की ओर देखो।

दया-दम-त्यागसमाधिनिष्ठं, नय-प्रमाणप्रकृताञ्जसार्थम्।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैः, जिन त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥१॥

इसी बात को समझाते हुए संवर के प्रकरण में आचार्य उमास्वामी भी कहते हैं- **''स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजयचारित्रैः।''** संवर को प्राप्त करने के लिये सर्वप्रथम महाव्रतों को अंगीकार करना चाहिए। चारित्र धारण करना चाहिए। चारित्र धारण करने के उपरांत परीषहजय को नहीं भूलना चाहिए। परीषह-जय बारह भावनाओं के चिंतन/मनन द्वारा कर लिया जायेगा। बारह भावना किसलिए हैं, तो कहा कि दशलक्षण-धर्म प्राप्त करने के लिये। दशलक्षण-धर्म किसलिए हैं, हमारी समीचीन प्रवृत्ति हो इसलिए अर्थात् समिति के लिए और समीचीन प्रवृत्ति गुप्ति की ओर ले जाने के लिए है और गुप्ति साक्षात् संवर, निर्जरा और मोक्ष के लिए साधन है। सब एक दूसरे के लिए पूरक बनते चले जाते हैं। इसी प्रकार समाधि के लिये दया और दया के लिये इन्द्रिय-दमन और इन्द्रिय-दमन के लिये त्याग जरूरी है।

जो व्यक्ति इंद्रियों का दास हो जायेगा, वह हेय-उपादेय को नहीं जान पायेगा। ऐसी स्थिति में बिना हेय-उपादेय के ज्ञान के वह हेय को, दोष को कैसे छोड़ पायेगा? इसलिए शरीर को पड़ोसी बनाओ, यह कहा गया। शरीर में स्थित इन्द्रियों के माध्यम से ही विषयों का संग्रह होता है और विषयों का संग्रह जहाँ होता है वहीं मूर्च्छा आती है और कर्म बंध जाते हैं। कर्मबंध होने से ही गति-आगति होती है। संसार में भटकना होता है। पुनः शरीर और इन्द्रियाँ मिलती है। इन इन्द्रिय रूपी खिड़कियों के माध्यम से विषयरूपी हवा आने लगती है। इन्द्रिय-विषयों के ग्रहण होते रहने से कषाय जागृत हो जाती है। कषायों के माध्यम से पुनः बन्ध हो जाता

है और संसारी जीव इस तरह जंजाल में फँसता ही जाता है। बिना इन्द्रिय-दमन के मात्र चर्चा कर लेने से समाधि का द्वार खुल नहीं सकता। एक मक्खी आकर शरीर पर बैठ जाती है तो आप उसे उड़ाने/हटाने की चेष्टा करते हैं या फिर मच्छरदानी का इन्तजाम करते हैं। ऐसे वातानुकूल भवन में बैठकर समाधि की चर्चा भले ही हो जाये लेकिन समाधि नहीं हो सकती।

समाधि प्राप्त करने के लिए तो वृषभनाथ भगवान् के द्वारा बताये गये मार्ग का अनुसरण करना होगा। समाधि के लिए दया, दम और त्याग को अपनाना होगा। इसके बिना कोई सीधा और छोटा रास्ता नहीं है। यदि इसके बिना समाधि प्राप्त करने के लिए कोई शार्टकट ढूँढ़ने जाओगे तो समाधि के बदले आधि-व्याधियों में ही उलझ जाओगे। समाधि कोई हाथ में लाकर रख देने की चीज नहीं है। वह तो साधना के द्वारा ही मिल सकती है। जितना दया का पालन करेंगे, जितना इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करेंगे, कषायों का त्याग करेंगे उतना ही समाधि के निकट पहुँचते जायेंगे। समाधि के द्वार पर लगे तालों को खोलने के लिये इन्हीं चाबियों की जरूरत है। बंधुओ! पुरुषार्थ करो। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने कहा है कि यदि दुख से मुक्ति चाहते हो तो श्रमणता अंगीकार करो। श्रमण हुए बिना आत्मानुभूति नहीं हो सकेगी। प्रवचनसार की चूलिका में आचार्य स्वयं कहते हैं कि आत्मानुभूति के लिये पंचाचारों का होना अनिवार्य है और पंचाचार का सीधा सा अर्थ है कि पाँच पापों को मन, वचन, काय से छोड़ना होगा। महाव्रती ही पंचाचार का पालन करता है। आचार्य पंचाचारों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि "हे दर्शनाचार, हे ज्ञानाचार, हे चारित्राचार, हे तपाचार और हे वीर्याचार-तुम्हारे बिना स्वात्मानुभूति संभव नहीं है और स्वात्मानुभूति के बिना केवलज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए मैं तुम्हें तब तक अपनाता हूँ जब तक मुझे केवलज्ञान नहीं हो जाता, मुक्ति नहीं मिल जाती।" ऐसी स्थिति में पंचाचार को अपनाना अनिवार्य ही है क्योंकि कारण के बिना कार्य को साधा नहीं जा सकता। ये पंचाचार की शरण तभी तक है जब तक कि शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं हो जाती है। उद्देश्य शुद्धात्मा की प्राप्ति का होना चाहिए। जो कोई अभव्य मिथ्यादृष्टि इन्हें धारण करता भी है तो मात्र बाह्य में धारण करता है, इसलिए उसे शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं हो पाती। लेकिन जो सम्यग्दृष्टि होता है वह इन पंचाचारों को बाह्य और अन्तरंग दोनों तरह से धारण करके शुद्धात्मा को प्राप्त कर लेता है।

इसी बात को समझाते हुए उपसंहार के रूप में रत्नकरण्डक श्रावकाचार की एक कारिका कहता हूँ-

पापमरातिर्धर्मो बंधुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन्।
समयं यदि जानीते श्रेयो ज्ञाता ध्रुवं भवति॥२४॥

इस जीव का वैरी पाप है और धर्म, बंधु है। ऐसा दृढ़ निश्चय करता हुआ जो अपने आपको आत्मा को जानता है वही अपने कल्याण को जानने वाला है। वही ज्ञानी है। ग्रन्थ तो रत्नकरण्डकश्रावकाचार है लेकिन बात ज्ञानी की है। ध्यान रहे बंधुओ! लक्ष्य तो सभी का आत्मानुभूति ही है। परन्तु पात्रों को ध्यान में रखकर भिन्न-भिन्न शैली में भिन्न-भिन्न अनुयोगों के माध्यम से आचार्यों ने बात कही है ताकि सभी धीरे-धीरे सही रास्ते पर चलकर अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लें।

संसार शत्रु नहीं है, पाप ही शत्रु है। और पाप जिस आत्मा में उत्पन्न होता है वही आत्मा चाहे तो उस पाप को निकाल भी सकती है। जो पाप का तो आलिंगन करें और धर्म को हेय समझे उसकी प्रज्ञा की कोई कीमत नहीं है। स्वहित करने वालों के लिये पाप से ही लड़ना होगा और धर्म को, रत्नत्रय को, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को अपनाना होगा। जिसने इस बात को जान लिया, मान लिया और इसके अनुरूप आचरण को अपना लिया, वही ज्ञाता है।

आज हमारा सौभाग्य है कि समयसार की गूढ़ बातों को समझने के लिये जयसेन स्वामी की तात्पर्यवृत्ति टीका उपलब्ध है। मुझे तो संस्कृत एवं प्राकृत भाषा भी नहीं आती थी लेकिन आचार्य महाराज गुरुवर श्री ज्ञानसागरजी ने मुझे सभी बातों का धीरे-धीरे ज्ञान कराया। वैसे आप लोग तो उनसे बहुत पहले से परिचित रहे। इस अपेक्षा आप हमसे भी सीनियर हैं। हो सकता है आप मेरे से भी ज्यादा ज्ञान रखते हो परन्तु मुझे तो आचार्य महाराज का आशीर्वाद प्राप्त हुआ, उनकी साक्षात् प्रेरणा मिली। शिक्षा, दीक्षा सभी उन्हीं के माध्यम से हुई। इतनी सरल भाषा में अध्यात्म की व्याख्या मैंने कहीं नहीं सुनी, हिंदी में जो **आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज** ने **समयसार** की व्याख्या की है, उनका उपकार मेरे ऊपर आचार्य कुन्दकुन्द के ही समान है। आचार्य महाराज के आशीर्वाद से, उन्हीं की साक्षात् प्रेरणा से, आज मैं कुन्दकुन्दाचार्य देव से साक्षात् बात कर पा रहा हूँ। अमृतचन्द्रसूरी की आत्मख्याति जैसे जटिलतम साहित्य को देखने-समझने की क्षमता पा सका हूँ तो जयसेन आचार्य के छिले हुए केले के समान सरलतम व्याख्यान के माध्यम से अध्यात्मरूपी भूख मिटा रहा हूँ और आत्मानुभूति को प्राप्त करने के लिए प्रयासरत रहता हूँ किन्तु बड़े दुख की बात है कि आप लोग अभी तक उसे नहीं चख पाये, भूखे ही बैठे हुए हैं। आत्मानुभूति शब्दों में कहने की वस्तु नहीं है। वह तो मात्र संवेदनीय है। वे मुमुक्षु थे और हमारे लिये मोक्षमार्ग के प्रदर्शन हेतु नेता थे। आज से करीब छह वर्ष पहले उन्होंने समाधि/सल्लेखना पूर्वक अपने पार्थिव शरीर को छोड़ा था। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी को, अमृतचन्द्राचार्य को और जयसेनाचार्य को स्मृति में लाते हुए आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज को इस काव्य के माध्यम से श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ-

तरणि ज्ञानसागर गुरो, तारो मुझे ऋषीश।
करुणा-कर करुणा करो, कर से दो आशीष॥

❑ ❑ ❑

ज्ञान कल्याणक (आत्म-दर्शन का सोपान)

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र॥१॥

कल वृषभनाथ मुनिराज ने जो छोड़ने योग्य पदार्थ थे उन्हें छोड़ दिया और जो साधना के माध्यम से छूटने वाले हैं उनको हटाने के लिए साधना में रत हुए हैं। जो ग्रंथियाँ शेष रह गयी हैं, जो अंदर की निधि को बाहर प्रकट नहीं होने दे रही हैं, उन ग्रन्थियों को तप के द्वारा हटाने में लगे हैं। आप लोग अपनी महत्त्वपूर्ण मणियों को तिजोरी में बन्द करके रखते हैं जिस कारण बाहर से देखने पर ज्ञान नहीं हो पाता कि इसमें बहुमूल्य रत्न रखे हैं। ऐसे ही आत्मा के ऊपर आवरण पड़ा हुआ है जिससे वह अपने वास्तविक स्वरूप में प्रकट नहीं हो पाती। इतना ही नहीं, आपकी उस मणि को तिजोरी में रखने के कई स्थान होते हैं। दरवाजा यदि खुल भी जाये तो भी मणियां चोर के हाथ में न आ पायें इसलिए उसे एक छोटी-सी डिबिया में बंद करके मखमल लगाकर कागज में लपेटकर रखा जाता है। तिजोरी में भी एक के बाद एक कई खंड होते हैं। छोटी-छोटी अलमारियाँ होती हैं जिनके अलग दरवाजे खुलते हैं। जब तक तिजोरी के दरवाजे, अलमारी, डिबिया और कागज की पुड़िया नहीं खुलेगी तब तक मणियों को हाथ में लेकर उसकी प्रतीति नहीं हो सकती अर्थात् आवरण कोई भी हो, जब तक आवरण रहेगा तब तक वस्तु का ठीक-ठीक अनुभवन नहीं कर सकते हैं। वृषभनाथ मुनिराज ने जो बाह्य ग्रन्थियाँ थी वे तो खोल दी हैं परन्तु इसके उपरांत भी ऐसी आंतरिक ग्रन्थियाँ शेष हैं जिनको हटाने के लिये साधना की जरूरत है। आज वे उसी साधना में लीन हुए हैं।

आप लोग थोड़े समय स्वाध्याय करके ही अपने आपको आत्मानुभवी मानने लगते हैं, पर सोचो अस्सी वर्ष की आयु में आप क्या ऐसा और इतना अनुभव कर सके होंगे जो तपस्या में लीन मुनिराज वृषभनाथ प्रतिक्षण कर रहे हैं। उनका यह तप हजार वर्ष तक चलेगा और हजार वर्ष वे यों ही व्यर्थ में व्यतीत नहीं करते बल्कि बारह प्रकार के तपों को अंगीकार करके महाव्रतों के साथ व्यतीत करते हैं। गहरे आत्मज्ञान में डूबकर वे धीरे-धीरे ज्ञान-ज्योति के ऊपर से आवरण हटाने में लगे हुए हैं। यह कार्य इतना आसान नहीं है जितना आप लोग समझ रहे हैं। जब कुल्हाड़े से पेड़ की डाल पर प्रहार किया जाता है तो पहली बार में तो मात्र छिलका ही हटता है। उसके मध्य में रहने वाले घनीभूत पदार्थ पर बार-बार और तेजी से प्रहार करने पर ही पेड़ से लकड़ी टूट पाती है। प्रहार करने वाले के हाथ झनझना जाते हैं। बड़ी मेहनत पड़ती है। इसी प्रकार आत्मा के भीतर जो अनादिकालीन कषाय घनीभूत होकर बैठ गयी है उसे निकालने के लिये वीतरागता रूपी पैनी छैनी चाहिए। सूक्ष्म ग्रन्थियाँ खोलना उतना ही कठिन कार्य है जितना कि बाल/केश में पड़ी गांठ को

खोलना। रस्सी के अंदर यदि गांठ पड़ जाये तो आप जल्दी खोल सकते हैं, धागे में पड़ी गांठ खोलना उससे भी कठिन है लेकिन बाल में पड़ी गांठ को खोलना तो और भी कठिन है। ऐसी ही सूक्ष्म ग्रन्थियों को खोलने में इन्हें हजार वर्ष लग गये किन्तु वे ग्रन्थियाँ अभी पूरी नहीं खुलीं। यह भी ध्यान रहे कि इनकी ग्रन्थियाँ खुलने पर पुनः वापिस पड़ती नहीं हैं क्योंकि बाल की ग्रन्थि सुलझाना जितना कठिन है वैसे ही बालों में ग्रंथि पड़ना भी।

बहती रहती कषाय नाली शांति सुधा भी झरती है,
भव की पीड़ा वहीं प्यार कर मुक्ति रमा मन हरती है।
सकल लोक भी आलोकित है शुचिमय चिन्मय लीला है,
अद्‌भुत से अद्‌भुततम महिमा आतम की जयशीला है॥१॥

आत्मा की यह लीला, आत्मा का स्वभाव अद्‌भुत से अद्‌भुत है। वह लीला, वह स्वभाव आत्मा के अंदर ही घट रहा है। उसी में कषाय की नाली भी बह रही है और वहीं शांति-सुधा का झरना भी झर रहा है। भव-भव की पीड़ा भी वहीं पर है तो मुक्ति रूपी रमणी का सुख भी वहीं है। संसार भी वहीं है तो मोक्ष भी वहीं है। सारा लोक उसी में आलोकित हो रहा है। इसके उपरांत भी यदि हम कहें कि हमें कुछ नहीं पता, कि यह किसका परिणाम है तो यह हमारी अज्ञानता ही होगी। और इसका कारण भी यह है कि हम अन्दर न झांककर बाहर ही बाहर देखते हैं। हम उनकी शरण में भी आज तक नहीं गये जो अपनी आत्मा की खोज में लगे हैं। इसी का परिणाम है कि अन्दर क्या-क्या सुख है, हमें ज्ञात ही नहीं है। अब वृषभनाथ मुनिराज अपने ही भीतर झांक कर हजार वर्ष तक साधना करेंगे। हेय को निकालकर उपादेय को उपलब्ध करेंगे। वे वर्धमान-चारित्र वाले हैं। क्षायिक-सम्यक् दर्शन और मनःपर्यय ज्ञान के साथ जीवन व्यतीत कर रहे हैं। पर ध्यान रहे कि कोई तीर्थंकर भले ही हो पर जब तक छद्‌मस्थ रहेगा, तब तक उसे भी अप्रमत्त से प्रमत्त दशा में आना ही पड़ेगा। आधा मिनट के लिए यदि आत्मा के अन्दर टिकेंगे तो कम से कम एक मिनट के लिए बाहर आना ही पड़ेगा अर्थात् अप्रमत्त दशा का अनुभव यदि एक समय के लिए होता है तो प्रमत्त दशा का उससे दुगुने समय तक होगा। हजार वर्ष तक यही चलेगा। यह तो एक तरह से झूला-झूलना है। झूला ऊपर जाता है तो नीचे भी आता है। ऐसा नहीं है कि ऊपर गया तो ऊपर ही रहे, नीचे न आये। बल्कि होता यह है कि ऊपर तो रहता है कम और नीचे की ओर ज्यादा। इसे ऐसा समझें कि लक्ष्य को छूना कुछ समय के लिए ही हो पाता है फिर, पुनः छूने के लिए शक्ति को बटोरना पड़ता है। संसार का त्याग करने के उपरांत कोई कितना भी चाहे, भले ही अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त कर ले परन्तु इसी प्रकार हजारों बार उसे ऊपर-नीचे आना होगा। प्रमत्त-अप्रमत्त दशा में रहना होगा।

कई लोग कह देते हैं कि भरतजी को कपड़े उतारते-उतारते ही केवलज्ञान हो गया, परन्तु ऐसी बातें कहना सिद्धांत का ज्ञान नहीं होने का प्रतीक है। भरतजी की प्रशंसा मैं भी करता हूँ लेकिन प्रशंसा ऐसी होनी चाहिए जिसमें सिद्धांत से विरोध आये। करणानुयोग के अनुसार तो कोई कितना ही प्रयत्नशील क्यों न हो, उसे दिगम्बरत्व धारण करने के उपरांत केवलज्ञान प्राप्त करने में कम से कम अंतर्मुहूर्त का काल अपेक्षित है और उस अन्तर्मुहूर्त में भी उसे हजारों बार प्रमत्त-अप्रमत्त दशा में झूलना पड़ेगा। कषायों को निकालने के लिये इतना परिश्रम तो करना ही पड़ेगा।

आज वृषभनाथ मुनिराज को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है। केवलज्ञान का अर्थ मुक्ति नहीं है। अभी मोक्ष-कल्याणक तो कल होगा। अभी तो Previous हुआ है, Final शेष है। इस केवलज्ञान की प्राप्ति के लिये उन्हें किस प्रकार की प्रक्रिया करनी पड़ी यह भी जान लेना चाहिए। संसार-वर्धक भावों को दूर हटाने की विधि आचार्यों ने बताई है ताकि कोई भी संसारी प्राणी सुगमता से, सरलता से अपने लक्ष्य तक पहुँच सके। दो बातें पहले समझ लें। एक तो योग और दूसरा मोह। योग अर्थात् आत्मा के प्रदेशों का परिस्पंदन और मोह अर्थात् विकृत उपयोग। ज्ञेयभूत पदार्थों से जब उपयोग प्रभावित होता है और ज्ञेयभूत पदार्थ उपयोग पर प्रभाव डालते हैं तब उपयोग में विकृति आती है जिसमें पाप का आस्रव, अशुभ का आस्रव होता है। इसलिए सर्वप्रथम उपयोग को एकाग्र करना परमावश्यक है। वह उपयोग ज्ञेय पदार्थों से प्रभावित न हो ऐसी व्यवस्था करने की आवश्यकता पड़ती है। उपाय करना होता है। उपाय अलग है और उपादेय अलग। उपाय वह है जो उपादेय को प्राप्त करा सके। मुक्ति उपादेय है जो अनंत-काल तक रहने वाली है और विभाव-परिणति दुख देने वाली और संसार की कारण होने से हेय है। हेय का अभाव करने के लिये और उपादेय को प्राप्त करने के लिये उपाय की बड़ी आवश्यकता होती है। उपाय यही है कि उपयोग को एकाग्र किया जाये और उपयोग को एकाग्र करने के लिए संयम की आवश्यकता है। बारह प्रकार के तपों की आवश्यकता है। जब संयम और तप के माध्यम से उपयोग एकाग्र हो जाता है, ज्ञेय-पदार्थों से प्रभावित नहीं होता तब पाप-प्रकृतियाँ पूर्ण रूप से निकल पाती हैं।

एक बात ध्यान रखना कि पहले पाप को ही निकालना होगा। पुण्य को शुभ-भाव को आप पहले नहीं निकाल पायेंगे। क्योंकि शुभ-भाव योग को कहा है, वह योग बाद में जायेगा। सर्वप्रथम मोह जो उपयोग को आघात पहुँचा रहा है उसे निकालना होगा। तभी उस मोह के माध्यम से आई हुई पाप-प्रकृतियों का आस्रव रुक सकेगा। उदाहरण के लिये ऐसा समझें कि एक व्यक्ति गंदे वस्त्र को साफ करना चाहता है और वह वस्त्र इतना गंदा हो गया है कि उसकी सफेदी देखने में नहीं आ रही है। उस समय मैल को हटाने के लिए उसे सोड़ा/साबुन जो भी हो उससे साफ करना होगा। अब मैं पूछना चाहता हूँ कि वस्त्र के साफ हो जाने के बाद भी साबुन का अंश उस कपड़े में आ

गया, रह गया तो उसे भी निकालना होगा या नहीं? निकालना तो होगा लेकिन पहले साबुन का अंश निकले फिर मैल निकालें- ऐसा हो नहीं सकता। पहले तो साबुन के माध्यम से कपड़े का मैल निकलेगा, जिसे पाप कहें, उसके उपरांत साबुन का अंश निकलेगा। अंत में सफेदी लाने के लिये आप लोग कपड़ों को टिनोपाल में भी डालते हैं।

कोई व्यक्ति सोचे कि टिनोपाल में डालने से ही वस्त्र चमकदार हो जाते हैं इसलिए साबुन की जरूरत ही नहीं है तो उसका ऐसा सोचना व्यर्थ ही है। गंदे कपड़े टिनोपाल में कितना भी क्यों न डाले जायें, भले ही पूरी डिबिया समाप्त कर दें पर गंदापन नहीं जायेगा। गंदापन निकालने के लिये पहले साबुन का उपयोग करना होगा। साबुन का भी गंदापन है और कीचड़ का भी गंदापन है पर दोनों में बहुत अंतर है। कीचड़ का गंदापन पाप के समान है जो पहले हटेगा। और जैसे-जैसे पाप को हटायेंगे वैसे-वैसे पुण्य की वृद्धि नियम से होती जायेगी। जैसे-जैसे साबुन मलते जायेंगे वैसे-वैसे मैल का अंश निकलता जायेगा और साबुन का अंश बढ़ता जायेगा। जब तक मैल का अंश नहीं हट जाता तब तक साबुन आप रगड़ते ही जायेंगे, तभी काम बनेगा। जहाँ मात्र योग रहता है वहाँ मात्र पुण्य का आस्रव होता है इसलिए योग का अर्थ है मात्र पुण्य का आस्रव होना, परन्तु मोह के साथ पाप का भी आस्रव होगा। मोह को मैल की तरह पहले निकालना होगा। परन्तु अकेला योग साबुन के अंश की तरह आखिरी समय तक रहेगा और बढ़ता ही जायेगा।

सोचो जब आप स्नान करते हैं तो पहले साबुन लगाकर मैल हटाते हैं फिर पानी से धोते हैं तब कहीं जाकर तौलिये के माध्यम से उस पानी के अंश को भी सुखा देते हैं। तौलिया मैल निकालने के लिये नहीं है वह तो मैल निकालने के बाद पानी को हटाने के लिये है। मोह अर्थात् कीचड़ या मैल है जिसे निकालने के लिये योग अर्थात् पानी का योग जरूरी है। योग अपना काम करता जाता है, पुण्य आता जाता है और मोह के माध्यम से आने वाला कीचड़/पाप समाप्त होता जाता है। जब अकेला योग रह जायेगा अर्थात् जब बदन पर मात्र पानी की बूँदें रह जायेंगी तब आप योग-निग्रह कर लेते हैं अर्थात् तौलिये के माध्यम से शरीर को सुखा लेते हैं। तो वही प्रक्रिया है कि पहले पाप का अभाव होता है और बाद में पुण्य का भी अभाव हो जाता है। जो लोग पहले पुण्य को छोड़ने के लिये कहते हैं उनसे मैं पूछना चाहूँगा कि भाईयों! जब आपके पास पुण्य है ही नहीं तो छोड़ेंगे क्या? पास में जो पाप है उसे ही पहले छोड़ने की बात आचार्यों ने कही है।

पापों का त्याग करके संयम के माध्यम से पुण्य का अर्जन होता चला जाता है और जितना-जितना संयम बढ़ता है उतना-उतना पुण्य भी बढ़ता जाता है। जितना आप लोग जीवन में दान, पूजादि करके पुण्यार्जन करते हैं उतना और उससे भी ज्यादा पुण्य का अर्जन एक मुनिराज आहार लेते हुए भी कर लेते हैं क्योंकि उनके द्वारा कर्मों की निर्जरा के हेतु अपनाया गया संयम असंख्यात

गुणी निर्जरा में सहायक होता है। वे न चाहते हुए भी अधिक पुण्य का अर्जन कर लेते हैं और श्रावक चाहते हुए भी उतने पुण्य का अर्जन नहीं कर पाता। सबसे ज्यादा पुण्य का अर्जन करने वाला यदि कोई व्यक्ति है तो वह है संयमी। संयमी में भी यों कहिये यथाख्यात चारित्र को अपनाने वाला और उसमें भी केवली भगवान् के तो अकेला पुण्य का, साता का अर्जन होता है, जो पुण्य को नहीं चाहते हुए भी विशिष्ट पुण्य का अर्जन करते हैं। परंतु विशेषता संयमी की यही है कि उसने पुण्य के फल को ठुकराया है। ध्यान रखना, पुण्य के बंध को कोई ठुकरा नहीं सकता। पुण्य के फल को अवश्य ठुकराया जा सकता है। आप लोग पुण्य के फल को तो अपने पास रखना चाहते हैं, रख लेते हैं लेकिन पुण्य को हेय कहकर उसे छोड़ने की बात करते रहते हैं।

दौलतरामजी छहढाला में कहते हैं कि **पुण्य पाप फल माही हरख बिलखो मत भाई**! वे पुण्य-पाप के बंध की बात नहीं कहते बल्कि पुण्य और पाप के फल की बात कर रहे हैं कि पुण्य और पाप के शुभ-अशुभ फल में हर्ष-विषाद मत करो। पुण्य के फल को भोगने में ही संसारी प्राणी स्वाद का अनुभव करता है और लुब्ध हो जाता है। पुण्य का अर्जन करने वाला संयमी व्यक्ति अपनी आत्मा को नहीं भूलता जबकि पुण्य के फल को भोगने वाला असंयमी व्यक्ति स्वयं को भूल जाता है और पुण्य के फल में रच-पच जाता है। पुण्य का बंध करने वाला जीव आत्मा को भूल जाता है, यदि कोई ऐसा कहता है तो यह उसकी नासमझी ही होगी क्योंकि अरहंत/सर्वज्ञ भगवान् को सबसे अधिक पुण्य का आस्रव होता है लेकिन वे आत्मस्थ रहते हैं। पंचेन्द्रिय विषय रूप पुण्य के फल को भगवान् ने स्वयं ठुकराया और पाप के फल में उन्होंने विषाद नहीं किया। पुण्य के बंध को रोकने में वे भी अभी असमर्थ हैं। आज तक जो भी पाप आ रहा था उसे निकालने के लिए बारह तपों को वृषभनाथ ने अपनाया। पुण्य को हटाने के लिये कल प्रयास होगा तभी मोक्ष की प्राप्ति होगी। इसलिए बंधुओ! सर्व प्रथम पापरूप क्रिया को रोका जाता है और जैसे-जैसे उपयोग अशुभ से हटकर आत्मा में एकाग्र होने लगता है वैसे-वैसे पाप आना बंद हो जाता है, पाप की सत्ता भी नष्ट होती जाती है और अन्तर्मुहूर्त में कैवल्य की उपलब्धि हो जाती है। कैवल्य की उपलब्धि सहज नहीं है, वह ज्ञान की उपयोग की समीचीनता प्राप्त होने पर ही सम्भव है। विचार करो, ज्ञान आपके पास है तो ज्ञान भगवान् के पास भी है। परन्तु जहाँ आपका ज्ञान पूजनीय नहीं है, वहीं भगवान् का ज्ञान पूजनीय क्यों है? अथवा दोनों के ही ज्ञानों में पूज्यता क्यों नहीं है? इस पर विचार करने से ज्ञात होता है कि प्रभु का ज्ञान ही पूज्य है। हमारा ज्ञान कषाय से अनुरंजित है और वे कषाय से रहित हैं। वैसे आत्मा में अनन्त गुण विद्यमान हैं किन्तु उन गुणों में से एक गुण ही ऐसा है जिसके कारण उसे परेशानी हो रही है। वह गुण ज्ञानगुण है। इस चेतन गुण में ही ऐसी शक्ति है जो स्व और पर को जान लेता है, वस्तु को देखकर राग-द्वेष-कषाय से प्रभावित हो जाता है। हमारा-छद्‌मस्थों

का ज्ञान अपूर्ण है, वहीं सर्वज्ञ भगवान् का ज्ञान पूर्ण है, वे कषाय तथा राग-द्वेष से भी रहित हैं। यही हमारे एवं उनके ज्ञान की अपूज्यता-पूज्यता के लिये कारणभूत है।

कई सज्जन कहते हैं कि पाप के समान पुण्य भी हेय है। मैं उनसे पूछना चाहता हूँ कि पुण्य का अभाव कहाँ पर होता है? पाप कहाँ पर बाधक है? पुण्य का बंध मोक्षमार्ग में बाधक नहीं बनता किन्तु मोक्ष में बाधक है। पुण्य का बंध होता रहता है और मोक्षमार्ग अबाध रूप से चलता रहता है। मोक्षमार्ग तो चौदहवें गुणस्थान तक चलता है और तेरहवें गुणस्थान तक पुण्य का बंध होता रहता है, वह बाधक नहीं बनता। अगर पुण्य बाधक होता तो वहाँ पर पहुँचता ही कैसे? इसलिए अभी पुण्य बंध अपने लिए छोड़ने योग्य नहीं है लेकिन पुण्य का फल अवश्य छोड़ने योग्य है। मैंने अभी शुभ और अशुभ भावों की बात कही थी कि अशुभ-भाव से पाप का बंध होता है और शुभ भाव से पुण्य का बंध होता है। केवलज्ञान होने के उपरांत भी साता वेदनीय रूप गुण का आस्रव होता रहता है, उससे केवलज्ञान में कोई बाधा नहीं आती। इसे 'सर्वार्थसिद्धि' में 'पूज्यपाद स्वामी' ने स्पष्ट करते हुए लिखा है कि **पुनाति आत्मानं पवित्री करोति इति पुण्यं**- जो आत्मा को पावन बनाये वह पुण्य है। केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए 'केवल-पुण्य' की ही आवश्यकता है, पाप मिश्रित पुण्य की नहीं। जिसमें पाप का एक अंश भी नहीं है ऐसे केवल-पुण्य के द्वारा कैवल्य की प्राप्ति होती है और ऐसे पुण्य का आस्रव मात्र योग के माध्यम से होता है। योग भी भाव है और यह भाव किसी कर्म-कृत नहीं है किन्तु आत्मा का पारिणामिक भाव है। इस बात का उल्लेख वीरसेन स्वामी ने धवला-ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से किया है।

योग आत्मा की क्रियावती शक्ति है जिसके माध्यम से आत्मा में परिस्पंदन होता है जिसके फलस्वरूप कर्मवर्गणायें आती हैं और चली जाती हैं। यदि वहीं पर मोह हो तो वे चिपक जाती है लेकिन मोह के अभाव में मात्र योग होने से वे टकराकर वापिस चली जाती हैं। योग जब तक हैं तब तक कर्मों का आना रुकता नहीं है। इसलिए सर्वप्रथम पाप रूपी रेणु न आये इसका प्रयास किया जाना चाहिए। यदि अपनी आत्मा को शुद्ध बनाना चाहते हो तो यही क्रम अपनाना होगा। आत्म लक्ष्य हो जाने पर हेय क्या है? उपादेय क्या है? यह सहज ही समझ में आ जायेगा। अन्तर्दृष्टि हो जाने पर हेय का विमोचन होता जायेगा तथा उपादेय ग्रहण/उपलब्ध होता जायेगा।

क्या हो गया, समझ मैं मुझको न आता।
क्यों बार-बार मन बाहर दौड़ जाता॥
स्वाध्याय, ध्यान करके मन रोध पाता।
है श्वान सा मन सदा मल शोध लाता॥१॥

मन की चाल श्वान जैसी है, वह अन्दर अच्छी जगह टिकना नहीं चाहता। जैसे पालतू कुत्ता आपके घर में रहता है, जब तक आप उसे रस्सी से बाँधकर रखते हैं तब तक यह घर में रहता है। थोड़ा रस्सी छोड़ दो तो बाहर निकल जाता है और बाहर उसकी दृष्टि पहले मल की ओर ही जाती है। इसी प्रकार मन बाहर चला जाता है तो वह कषायों को, पाप को ही साथ लेकर आता है। इसलिए यदि पाप से बचना चाहते हो, उसे दूर हटाना चाहते हो तो मन को बाहर ही मत भेजो। मन को अपने भीतर ही एकाग्र करने की कोशिश करो। यह कार्य कठिन है लेकिन जैसे गर्म खीर को खाने के लिये पहले किनारे से फूँक-फूँककर खाना शुरू कर देते हैं, बीच में हाथ नहीं डालते इसी प्रकार मन को एकाग्र करने के लिये अपना प्रत्येक समय सावधानीपूर्वक धीरे-धीरे अपनी आत्मा को ही देखने में लगाना चाहिए।

एक बात और सुनने में आती है कि संसारी जीव के केवलज्ञान आत्मा में विद्यमान है और पूर्ण रूप से तो नहीं-मात्र किरण के रूप में सामने आता है अर्थात् हमारा जो ज्ञान है वह भी केवलज्ञान का ही अंश है। लेकिन ऐसा नहीं है क्योंकि ध्यान रखना, केवलज्ञान तो क्षायिक ज्ञान है और उस केवलज्ञान का अंश भी क्षायिक ही होगा, वह क्षायोपशमिक हो नहीं सकता जबकि हमारा ज्ञान अभी क्षायोपशमिक है। साथ ही केवलज्ञानावरण ये कर्म प्रकृति सर्वघाती प्रकृति है। सर्वघाती उसे कहते हैं जो आत्मा के विवक्षित गुण का एक अंश भी प्रकट नहीं होने देती। केवलज्ञान जब भी होगा वह पूर्ण ही होगा। एक समय के उपरांत होने वाला केवलज्ञान एक समय पूर्व भी नहीं हो सकता, एक अंश में भी उदय में नहीं आ सकता। क्योंकि केवलज्ञान की पूर्ण शक्ति को मिटाने वाला केवलज्ञानावरण कर्म विद्यमान है। कार्तिकेय स्वामी ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है-

का वि अपुव्वा दीसदि, पुग्गलदव्वस्स एरिसी सत्ती।
केवलणाणसहाओ, विणासिदो जाइ जीवस्स॥ २११॥

पुद्‌गल की कोई अमूर्तिक शक्ति ऐसी अवश्य है जिसने केवलज्ञान रूप आत्मा के गुण को समाप्त कर रखा है, जरा भी प्रकट नहीं होने दिया है। इसलिए हमारा जो वर्तमान ज्ञान है वह क्षायोपशमिक ज्ञान है, वह सामान्य कोटि का है। केवलज्ञान की कोटि का नहीं है। बंधुओ! केवलज्ञान तो असाधारण ज्ञान है जिस ज्ञान की महिमा अपरंपार है, वह ज्ञान पूज्य है। ऐसे केवलज्ञान की तुलना अपने क्षयोपशम ज्ञान के साथ करना उचित नहीं है। साथ ही यह करणानुयोग को नहीं समझना ही है। पुरुषार्थसिद्धियुपाय में अमृतचन्द्रसूरी ने लिखा है कि-

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनंत-पर्यायैः।
दर्पण तल इव सकला प्रतिफलति पदार्थ मालिका यत्र॥

केवलज्ञान में दुनिया के सारे पदार्थ झलक रहे हैं, सभी पर्यायें झलक रही है। प्रतिबिंबित हो रही है। केवलज्ञान का प्रकाश दर्पण के समान स्वच्छ निर्मल और आदर्श है। इसलिए पूजनीय है। हमारा ज्ञान पूज्य नहीं है क्योंकि वह कषाय से अनुरंजित है।

बंधुओ! दिव्य आत्मा बनने की शक्ति हमारे पास ही है। हम उसे दिव्य/आदर्श बना सकते हैं। अभी वह मोह के माध्यम से कलुषित हो रही है। इसी मोह को हटाने का पुरुषार्थ करना चाहिए। आदिनाथ स्वामी ने जिस प्रकार क्रमशः संयम और तप के माध्यम से शुद्धात्मानुभूति को प्राप्त किया है उसी प्रकार हमें भी प्रयास करना चाहिए। वे धन्य हैं जिन्होंने केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया है, वे भी धन्य हैं जो केवलज्ञान को प्राप्त करने में रत हैं और वे भी धन्य हैं जो केवलज्ञान प्राप्त करने के लिए साधना को अपनाने की रुचि रखते हैं।

❑ ❑ ❑

मोक्ष : संसार के पार

हे कुन्दकुन्द मुनि! भव्य सरोज बन्धु, मैं बार-बार तव पाद-सरोज वन्दूँ।
सम्यक्त्व के सदन हो समता सुधाम, है धर्मचक्र शुभ धार लिया ललाम॥

आज एक संसारी प्राणी ने किस प्रकार बंधन से मुक्ति पाई और किस प्रकार पतन के गर्त से ऊपर उठकर सिद्धालय की ऊँचाइयों तक अपने को पहुंचाया- ये देखने/समझने का सौभाग्य इस पंचकल्याणक के अवसर पर हमें मिला। यह मुक्त दशा इसे आज तक प्राप्त नहीं हुई थी, आज ही प्राप्त हुई और बिना प्रयास के प्राप्त नहीं हुई बल्कि परम पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्त हुई है। इससे यह भी ज्ञात हुआ कि संसारी जीव बंधन-बद्ध है और उसे बंधन से मुक्ति मिल सकती है, यदि वह पुरुषार्थ करें तो। वृषभनाथ का जीव अनादि-काल से संसार में भटक रहा था, उसे स्व-पद की प्राप्ति नहीं हुई थी। इसका कारण यही था कि इस भव्य जीव ने मोक्ष की प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ नहीं किया था। लेकिन आज जो शक्ति अभी तक अव्यक्त रूप से उसमें विद्यमान थी, वह पुरुषार्थ के बल पर व्यक्त हुई है।

कोई भी कार्य अपने आप नहीं होता। सोचो, जब बंधन अपने आप नहीं होता तो मुक्ति कैसे अपने-आप हो जायेगी। चोर जब चोरी करता है तभी जेल जाता है, बंधन में पड़ता है। इसी प्रकार यह आत्मा जब राग-द्वेष, मोह करता है 'पर-पदार्थों' को अपनाता है, उनसे सम्बन्ध जोड़ता है और उनमें सुख-दुख का अनुभव करने लगता है तभी उनसे बंध जाता है। सभी सांसारिक सुख-दुख संयोगज हैं। पदार्थों के संयोग से उत्पन्न होते हैं। पदार्थों के संयोग से राग-द्वेष होता है जो आत्मा को विकृत करता है और संसारी जीव अपने संसार का निर्माण स्वयं करता जाता है। आज इस

संसार रूपी जेल को तोड़कर छूट जाने का दिन है। ध्यान रखना, ये संसार रूपी जेल अपने आप नहीं टूटता, तोड़ा जाता है और जेल तोड़ने वाला, बंधन से छूटने वाला जेलर नहीं है, कैदी ही होता है। जेल को बनाने वाला भी कैदी ही है। जेलर तो मात्र देखता रहता है। इसी प्रकार संसारी प्राणी अपना संसार स्वयं निर्मित करता है, मुक्तात्मायें तो उनके बंधन को देखने-जानने वाला हो जाता है। हम भी यदि पुरुषार्थ करें तो नियम से इस संसार से मुक्त हो सकते हैं। यही आज हमें अपना ध्येय बनाना चाहिए।

प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, स्वतंत्र होना चाहता है किन्तु स्वतंत्रता के मार्ग को अपनाना नहीं चाहता। तब सोचो क्या यों ही बैठे-बैठे उसे आजादी/स्वतंत्रता मिल जायेगी? ऐसा कभी संभव नहीं है। एक राष्ट्र जब दूसरे राष्ट्र की सत्ता से मुक्त होना चाहता है तो उसे बहुत पुरुषार्थ करना होता है। आजादी की लड़ाई लड़नी होती है। उदाहरण के लिये भारतवर्ष को ही ले लें। आज से ३०-३२ साल पहले भारत के लोग परतंत्रता का अनुभव कर रहे थे। परतंत्रता के दुख को भोग रहे थे। तब धीरे-धीरे अहिंसा के बल पर अनेक नेताओं ने मिलकर देश को स्वतंत्रता दिलाई। लोकमान्य तिलक ने नारा लगाया कि ''स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है''। लोगों के मन में यह बात बैठ गयी और परिणामस्वरूप भारत को स्वतंत्रता मिली। ठीक इसी प्रकार पराधीनता हमारा जीवन नहीं है, स्वतंत्रता ही हमारा जीवन है- ऐसा विश्वास जाग्रत करके जब हम बंधन को तोड़ेंगे तभी मुक्ति मिलेगी।

जिस प्रकार दूध में घी अव्यक्त है। शक्ति-रूप में विद्यमान है उसी प्रकार आत्मा में शुद्ध होने की शक्ति विद्यमान है। उस शक्ति को अपने पुरुषार्थ के बल पर व्यक्त करना होगा। तभी हम सच्चे मुमुक्षु कहलायेंगे, भव्य कहलायेंगे। जो अभी वर्तमान में पुरुषार्थ नहीं करते वे भव्य होते हुए भी दूरान्दूर भव्य कहे जायेंगे। या दूर-भव्य कहे जायेंगे, आसन्न भव्य तो नहीं कहलायेंगे। एकाध पाषाण होता है जिसमें स्वर्ण शक्ति-रूप में तो रहता है लेकिन कभी भी उस पाषाण से स्वर्ण अलग नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार दूरान्दूर भव्य हैं जो भव्य होने पर भी वे अभव्य की कोटि में ही आते हैं क्यों कि शक्ति होते हुए भी कभी उसे व्यक्त नहीं कर पाते।

उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र में दसवें अध्याय में मोक्ष के स्वरूप का वर्णन किया है। उस मुक्त-अवस्था का क्या स्वरूप है - यह बतलाया है। उससे पूर्व नवें अध्याय में वह मुक्त-अवस्था कैसे प्राप्त होगी-यह बात कही है। जिस प्रकार तुंबी मिट्टी का संसर्ग पाकर अपना तैरने वाला स्वभाव छोड़कर डूब जाती है और मिट्टी का संसर्ग पानी में घुल जाने के बाद फिर से हल्की होकर ऊपर तैरने लग जाती है, ऐसे ही यह आत्मा राग-द्वेष और पर-पदार्थों के संसर्ग से संसार-सागर में डूबी हुई है। जो जीव पर-पदार्थों का त्याग कर देते हैं और राग-द्वेष हटाते हैं वे संसार

सागर से ऊपर, सबसे ऊपर उठकर अपने स्वभाव में स्थित हो जाते हैं। दूध में जो घी शक्ति-रूप में विद्यमान है उसे निकालना हो तो ऐसे ही मात्र हाथ डालकर उसे निकाला नहीं जा सकता। यथाविधि उस दूध का मंथन करना होता है। मंथन करने के उपरांत भी नवनीत का गोला ही प्राप्त होता है जो कि छाछ के नीचे-नीचे तैरता रहता है। अभी उस नवनीत में भी शुद्धता नहीं आयी इसलिए वह पूरी तरह ऊपर नहीं आता। भीतर ही भीतर रह जाता है और जैसे ही नवनीत को तपा करके घी बनाया जाता है तब कितना भी उसे दूध या पानी में डालो वह ऊपर ही तैरता रहता है। ऐसी ही स्थिति कल तक आदिनाथ स्वामी की थी। वे पूरी तरह मुक्त नहीं हुए थे। जिस प्रकार अंग्रेजों से पन्द्रह अगस्त १९४७ को भारत वर्ष को आजादी/स्वतंत्रता तो मिल गई थी किन्तु वह स्वतन्त्रता अधूरी ही थी। देश को सही/पूर्ण स्वतन्त्रता तो २६ जनवरी १९५० को मिली थी जब देश अपने ही नियम-कानूनों के अन्तर्गत शासित हुआ। वैसे ही आदिनाथ प्रभु की स्वतन्त्रता अपूर्ण थी क्योंकि वे शरीर रूपी जेल में थे। आज पूरी तरह संसार और शरीर दोनों से मुक्त हुए हैं। शरीर भी जेल ही तो है। शरीर को फारसी भाषा में बदमाश कहा जाता है। शरीर शरीफ नहीं है बदमाश है। यदि इस शरीर का मोह छूट जाये तो जीव को संसार में कोई बाँध नहीं सकता।

अतः बंधुओ! जितनी मात्रा में आप परिग्रह को कम करेंगे, शरीर के प्रति मोह को कम करेंगे, आपका जीवन उतना ही हल्का होता जायेगा, अपने स्वभाव को पाता जायेगा। जिस प्रकार नवनीत का गोला जब तक भारी था तभी तक अन्दर था, जैसे ही उसे तपा दिया तो वह हल्का हो गया। सुगंधित घी बन गया। अब नीचे नहीं जायेगा। अभी आप लोगों में से कुछ ऐसे भी हैं जो न घी रूप में है और न ही नवनीत के रूप में बल्कि दूध के रूप में ही हैं। संसारी जीव कुछ ऐसे होते हैं जो फटे हुए दूध के समान हैं जिसमें घी और नवनीत का निकलना ही मुश्किल होता है तो कुछ ऐसे जीव भी हैं जो कि भव्य जीव हैं, वे सुरक्षित नवनीत की तरह हैं जो समागम रूपी ताप के मिलने पर घी रूप में परिणत हो जायेंगे और संसार से पार हो जायेंगे। आप सभी को यदि अनन्त सुख को पाने की अभिलाषा हो तो परिग्रह रूपी भार को कम करते जाओ। जो पदार्थ जितना भारी होता है वह उतना ही नीचे जाता है। तराजू में भारी पलड़ा नीचे बैठ जाता है और हल्का ऊपर उठ जाता है। इसी प्रकार परिग्रह का भार संसारी प्राणी को नीचे ले जाने में कारण बना हुआ है। लौकिक दृष्टि से भारी चीज की कीमत भले ही ज्यादा मानी जाती हो लेकिन परमार्थ के क्षेत्र में तो हल्के होने का, पर-पदार्थों के भार से मुक्त होने का महत्त्व है। क्योंकि आत्मा का स्वभाव पर-पदार्थों से मुक्त होकर उर्ध्वगमन करने का है।

उमास्वामी आचार्य ने यह भी कहा है कि बहु-आरंभ और बहु-परिग्रह रखने वाला नरकगति का पात्र होता है। बहुत पुरुषार्थ से यह जीव मनुष्य जीवन पाता है लेकिन मनुष्य जीवन में पुनः

पदार्थों में मूर्च्छा, रागद्वेषादि करके नरकगति की ओर चला जाता है। नारकी जीव से तत्काल नारकी नहीं बन सकता। तिर्यञ्च भी पांचवें नरक तक ही जा सकता है लेकिन कर्मभूमि का मनुष्य और उसमें भी पुरुष सातवें नरक तक चला जाता है। यह सब बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह के कारण ही होता है। बड़ी विचित्र स्थिति है। पुरुष का पुरुषार्थ उसे नीचे की ओर भी ले जा सकता है और यदि वह चाहे तो मोक्ष-पुरुषार्थ के माध्यम से लोक के अग्रभाग तक जाने की क्षमता रखता है। वह मुक्ति का मार्ग भी अपना सकता है और संसार में भटक भी सकता है। यह सब जीव के पुरुषार्थ पर निर्भर है, केवल पढ़ लेने से या उनके जानने मात्र से नहीं।

पतन की ओर तो हम अनादि-काल से जा रहे हैं परन्तु उत्थान की ओर आज तक हमारी दृष्टि नहीं गयी। हम अपने स्वभाव से विपरीत परिणमन करते रहे हैं और अभी भी कर रहे हैं। इस विभाव या विपरीत परिणमन को दूर करने के लिये ही मोक्षमार्ग है। पाँच दिन तक आपने विभिन्न धार्मिक कार्यक्रम देखे, विद्वानों के प्रवचन सुने। ये सभी बातें विचार करके विवेकपूर्वक क्रिया में लाने की हैं। अपने जीवन को साधना में लगाना अनिवार्य है। जितना आप साधना को अपनायेंगे उतना ही कर्म से मुक्त होते जायेंगे। पापों से मुक्त होते जायेंगे। जैसे तुंबी मिट्टी का संसर्ग छोड़ते ही पानी के ऊपर आकर तैरने लगती है और उस पंक-रहित तुंबी का आलम्बन लेने वाला व्यक्ति भी पार हो जाता है वैसे ही हमारा जीवन यदि पापों से मुक्त हो जाता है तो स्वयं के साथ-साथ औरों को भी पार करा देता है। राग के साथ तो डूबना ही डूबना है। पार होने के लिये एकमात्र वीतरागता का सहारा लेना ही आवश्यक है। वर्तमान में सच्चे देव-गुरु-शास्त्र, जो छिद्र रहित और पंक रहित तुंबी के समान हैं उनका सहारा यदि हम ले लें तो एक दिन अवश्य पार हो जायेंगे।

स्वाधीनता, सरलता, समता स्वभाव, तो दीनता, कुटिलता, ममता विभाव।
जो भी विभाव धरता, तजता स्वभाव, तो डूबती उपल-नाव, नहीं बचाव ॥१॥

स्वाधीनता, सरलता और समता ही आत्मा का स्वभाव है और राग-द्वेष, क्रोध आदि विभाव है। जो इस विभाव का सहारा लेता है वह समझो पत्थर की नाव में बैठ रहा है जो स्वयं तो डूबती ही है साथ ही बैठने वाले को भी डुबा देती है। आपको वीतरागता की, स्वभाव की उपासना करनी चाहिए। यदि आप वीतरागता की उपासना कर रहे हैं तो ये निश्चित समझिये कि आपका भविष्य उज्ज्वल है। ये वीतरागता की उपासना कभी छूटनी नहीं चाहिए। भले ही आपके कदम आगे नहीं बढ़ पा रहे, पर पीछे भी नहीं हटना चाहिए। रागद्वेष के आँधी तूफान आयेंगे, बढ़ते कदम रुक जायेंगे लेकिन जैसे ही रागद्वेष की आँधी जरा धीमी हो, एक-एक कदम आगे रखते जाइये, रास्ता धीरे-धीरे पार हो जायेगा।

आज तो बड़े सौभाग्य का दिन है, भगवान् को निर्वाण की प्राप्ति हुई। एक दृष्टि से देखा जाये तो उसका जन्म भी हुआ। शरीर की अपेक्षा मरण कहो तो कोई बात नहीं, लेकिन जिसका अनंतकाल तक नाश नहीं होगा ऐसी मोक्ष अवस्था का जन्म भी आज ही हुआ है। अजर-अमर पद की प्राप्ति उन्हें हुई है। संसार छूट गया, वे मुक्त हो गये हैं। मैं भी ऐसी प्रार्थना/भावना करता हूँ कि मुझे भी अपनी ध्रुव-सत्ता की प्राप्ति हो। मैं भी पुरुषार्थ के बल पर अपने अजर-अमर आत्म-पद को प्राप्त करूँ।

समाधि दिवस आचार्य श्री ज्ञानसागरजी

कभी-कभी भावों की अभिव्यक्ति शब्दों के द्वारा अल्प समय में करना हो तो कठिनाई मालूम पड़ती है। मुनिपरिषन् मध्ये संनिषण्णं मूर्तमिव मोक्षमार्ग-मवाग्विसर्गं वपुषा निरूपयन्तं निर्ग्रन्थ आचार्य-वर्यम्- मुनियों की सभा में बैठे हुए, वचन बोले बिना ही मात्र अपने शरीर की आकृति से मानो मूर्तिमान मोक्षमार्ग का निरूपण कर रहे हों, ऐसे आचार्य महाराज को किसी भव्य ने प्राप्त किया और पूछा कि भगवन्! कनु खलु आत्मने हितं स्यादिति? अर्थात् हे भगवन्! आत्मा का हित क्या है। तब आचार्य महाराज ने कहा कि आत्मा का हित मोक्ष है। तब पुनः शिष्य ने पूछ लिया कि मोक्ष का स्वरूप क्या है? उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है?

इस बात का जवाब देने के लिए आचार्य पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि तत्त्वार्थ सूत्र का प्रारंभ हो जाता है और क्रमशः दस अध्यायों में जवाब मिलता है। ऐसा ही ये ग्रन्थ हमारे जीवन से जुड़ा है, जो निर्ग्रंथता का मूल स्रोत है।

क्या कहें और किस प्रकार कहें गुरुओं के बारे में क्योंकि जो भी कहा जायेगा वह सब सूरज को दीपक दिखाने के समान होगा। वह समुद्र इतना विशाल है कि अपनी दोनों भुजाओं को फैलाकर बताने का प्रयास भावाभिव्यक्ति, उसका पार नहीं पा सकती।

एक कवि ने गुरु की महिमा कहने का प्रयास किया और कहा कि जितने भी विश्व में समुद्र हैं उनको दवात बना लिया जाये, पूरा का पूरा पानी स्याही का रूप धारण कर ले और कल्पवृक्ष की लेखनी बनाकर सारी पृथ्वी को कागज बनाकर सरस्वती स्वयं लिखने बैठ जाये तो भी पृष्ठ कम पड़ जायेंगे, लेखनी और स्याही चुक जायेगी, पर गुरु की गुरुता-गरिमा का पार नहीं पाया जा सकता।

''गुरु कुम्हार, शिष्य कुंभ है गढ़-गढ़ काढ़त खोट। भीतर हाथ पसार के, ऊपर मारत चोट।'' कुम्हार की भाँति मिट्टी को, जो दल दल बन सकती है, बिखर सकती है, तूफान में धूल बनकर उड़ सकती है, घड़े को सुन्दर आकार देने वाले गुरु होते हैं। जो अपने शिष्य को घड़े के समान भीतर तो करुणा भरा हाथ पसार कर संभाले रहते हैं और ऊपर से निर्मम होकर चोट भी करते हैं।

बाहर से देखने वालों को लगता है कि घड़े के ऊपर प्रहार किया जा रहा है लेकिन भीतर झांक कर देखा जाये तो मालूम पड़ेगा कि कुछ और ही बात है। संभाला भी जा रहा है और चोट भी की जा रही है। दृष्टि में ऐसा विवेक, ऐसी जागरूकता और सावधानी है कि चोट, खोट के अलावा, अन्यत्र न पड़ जाये। भीतर हाथ वहीं है जहाँ खोट है और जहाँ चोट पड़ रही है। यह सब गुरु की महिमा है।

किसी कवि ने यह भी कहा है कि **''गुरु गोविन्द दोउ खड़े, काके लागूं पांय। बलिहारी गुरु आपकी गोविन्द दियो बताय॥''** हमें तो लगता है बताना क्या यहाँ तो बनाना शब्द होना चाहिए। गोविन्द दियो बनाय। वैसे बताना भी एक तरह से बनाना ही है। जब गणित की प्रक्रिया सामने आ जाती है तो उत्तर बताना आवश्यक नहीं रह जाता उत्तर स्वयं बन जाता है।

हम उन दिनों न तो उत्तर जानते थे, न प्रक्रिया जानते थे, हम तो नादान थे और उन्होंने (आचार्य ज्ञानसागरजी) हमें क्या-क्या दिया, हम कह नहीं सकते। बस! इतना ही कहना काफी है कि हमारे हाथ उनके प्रति भक्तिभाव से हमेशा जुड़े रहते हैं।

गुरु की महिमा आज तक कोई कह ही नहीं सका। कबीर का दोहा सुना था- **''यह तन विष की बेलड़ी, गुरु अमृत की खान। शीश दिये यदि गुरु मिलें, तो भी सस्ता जान॥''** कैसा अद्‌भुत भाव भर दिया। कितनी कीमत-आंकी है गुरु की। हम इतनी कीमत चुका पाये तो भी कम है। देने के लिये हमारे पास क्या है? यह तन तो विष की बेल है जिसके बदले अमृत की खान, आत्मा मिल जाती है। यदि यह जीवन गुरु की अमृत-खान में समर्पित हो जाए तो निश्चित है कि जीवन अमृतमय हो जाएगा।

सोचो, समझो, विचार करो, इधर-उधर की बातें छोड़ो, शीश भी यदि चला जाए तो भी समझना कि सस्ता सौदा है। शीश देने से तात्पर्य गुरु के चरणों में अपने शीश को हमेशा के लिए रख देना, शीश झुका देना, समर्पित हो जाना। गुरु का शिष्य के ऊपर उपकार होता है और शिष्य का भी गुरु के ऊपर उपकार होता है, ऐसे परस्पर उपकार की बात आचार्यों ने लिखी है। सो ठीक ही है। गुरु शिष्य से और कुछ नहीं चाहता, इतनी अपेक्षा अवश्य रहती है कि जो दिशाबोध दिया है उस दिशाबोध के अनुसार शिष्य भी भगवान् बन जाए। यही उपकार है शिष्य के द्वारा गुरु के ऊपर। कितनी करुणा है। कितना पवित्र भाव है।

'मैं' अर्थात् अहंकार को मिटाने का यदि कोई सीधा उपाय है तो गुरु के चरण-शरण। उनकी विशालता, मधुरता, गहराई और अमूल्य छवि का हम वर्णन भी नहीं कर सकते। गुरु ने हमें ऐसा मंत्र दिया कि यदि नीचे की गहराई और ऊपर की ऊँचाई नापना चाहो तो कभी ऊपर-नीचे मत देखना बल्कि अपने को देखना। तीन लोक की विशालता स्वयं प्रतिबिंबित हो जायेगी।

जो एग्गं जाणदि सो सव्वं जाणदिय अर्थात् जो एक को यानि आत्मा को जान लेता है वह सबको, सारे जगत् को जान लेता है। धन्य हैं ऐसे गुरु, जिन्होंने हम जैसे रागी-द्वेषी, मोही, अज्ञानी और नादान के लिए भगवान बनने का रास्ता प्रशस्त किया। आज कोई भी पिता अपने लड़के के लिए कुछ दे देता है तो बदले में कुछ चाहता भी है लेकिन गुरु की गरिमा देखो कि तीन लोक की

निधि दे दी और बदले में किसी चीज की आकांक्षा नहीं है।

जैसे माँ सुबह से लेकर दोपहर तक चूल्हे के सामने बैठी धुआँ सहती रसोई बनाती है और परिवार के सारे लोगों को अच्छे ढंग से खिला देती है और स्वयं के खाने की परवाह नहीं करती। आप जब भी माँ की ओर देखेंगे तब वह कार्य में व्यस्त ही दिखेगी और देखती रहेगी कि कहाँ क्या कमी है? क्या-क्या आवश्यक है? क्या कैसा परोसना है? जिससे संतुष्टि मिल सके। पर गुरुदेव तो उससे भी चार कदम आगे होते हैं। हमारे भीतर कैसे भाव उठ रहे हैं? कौन-सी अवस्था में, समय में, कौन से देश या क्षेत्र में आपके पैर लड़खड़ा सकते हैं यह पूरी की पूरी जानकारी गुरुदेव को रहती है। और उस सबसे बचाकर वे अपने शिष्य को मोक्षमार्ग पर आगे ले जाते हैं। युगों-युगों से पतित प्राणी के लिए यदि दिशाबोध और सहारा मिलता है तो वह गुरु के माध्यम से ही मिलता है। गुरु का हाथ और साथ जब तक नहीं मिलता तब तक कोई ऊपर नहीं उठ सकता।

जैसे वर्षा होने से कठोर भूमि भी द्रवीभूत हो जाती है उसी प्रकार गुरु की कृपा होते ही भीतरी सारी की सारी कठोरता समाप्त हो जाती है और नम्रता आ जाती है। इतना ही नहीं बल्कि अपने शिष्य के भीतर जो भी कमियाँ हैं उनको भी निकालने में तत्पर रहने वाले गुरुदेव ही हैं। जैसे कांटा निकालते समय दर्द होता है लेकिन कांटा निकल जाने पर दर्द गायब हो जाता है। उसी प्रकार कमियाँ निकालते समय शिष्य को दर्द होता है लेकिन कमियाँ निकल जाने पर शांति मिल जाती है। विषाक्तता बढ़ नहीं पाती। गुरुदेव की कृपा से अनंतकालीन विषाक्तता निकलती चली जाती है। हम स्वस्थ हो जाते हैं। आत्मस्थ हो जाते हैं, यही गुरु की महिमा है।

'मरुभूमि को हरा-भरा बनाने के समान जीवन को भी हरा-भरा बनाने का श्रेय गुरुदेव को है। आज आप लोगों के द्वारा गुरु की महिमा सुनते-सुनते मन भर आया है। कैसे कहूँ? अथाह सागर की थाह कौन कर सकता है। उनके ऋण को चुकाया नहीं जा सकता। इतना ही है कि हम उनके कदमों पर चलते जाए,उनके सच्चे प्रतिनिधि बनें और उनकी निधि को देख-देख कर उनकी सन्निधि का अहसास करते रहें। यह अपूर्ण जीवन उनकी स्मृति से पूर्ण हो जाये।

धन्य हैं गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, धन्य हैं आचार्य शांतिसागरजी महाराज और धन्य हैं पूर्वाचार्य कुन्दकुन्द स्वामी आदि महान् आत्माएँ जिन्होंने स्वयं दिगम्बरत्व को अंगीकार करके अपने जीवन को धन्य बनाया और साथ ही करुणा-पूर्वक धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया। जीवों को जीवन निर्माण में सहारा दिया।

गुरुदेव ने अपनी काया की जर्जर अवस्था में भी हम जैसे नादान को, ना-समझ को, हम ज्यादा पढ़े-लिखे तो थे नहीं, फिर भी मार्ग प्रशस्त किया। गुरु उसी को बोलते हैं जो कठोर को भी

नम्र बना दे। लोहा काला होता है लेकिन पारसमणि के संयोग से स्वर्ण बनकर उज्ज्वल हो जाता है। गुरुदेव हमारे हृदय में रहकर हमें हमेशा उज्ज्वल बनाते जायेंगे, यही उनका आशीर्वाद हमारे साथ है।

हम यही प्रार्थना भगवान् से करते हैं, भावना भाते हैं कि- हे भगवान्! उस पवित्र पारसमणि के समान गुरुदेव का सान्निध्य हमारे जीवन को उज्ज्वल बनाये। कल्याणमय बनाये, उसमें निखार लाये। अभी हम मझधार में हैं, हमें पार लगाये। अपने सुख को गौण करके अपने दुख की परवाह न करते हुए दूसरों के दुख को दूर करने में, दूसरों में सुख-शान्ति की प्रस्थापना करने में जिन्होंने अपने जीवन को समर्पित कर दिया ऐसे महान् कर्त्तव्यनिष्ठ और ज्ञान-निष्ठ व्यक्तित्व के धारी गुरुदेव का योग हमें हमेशा मिलता रहे। हम मन, वचन, तन से उनके चरणों में हमेशा नमन करते रहें। वे परोक्ष भले ही हैं लेकिन जो कुछ भी है यह सब उनका ही आशीर्वाद है।

गुरुदेव! अभी हमारी यात्रा पूरी नहीं हुई। आप स्वयं समय-समय पर आकर हमारा यात्रा-पथ प्रशस्त करते रहें, अभी स्वयं मोक्ष जाने के लिए जल्दी न करें, हमें भी साथ लेकर जायें- ऐसे भाव मन में आते हैं। विश्वास है कि गुरुदेव हमेशा हमारा मार्गदर्शन करते रहेंगे। उनका जो भाव रहा वह पूरा अपने जीवन में उतारने और उनकी भावना के अनुरूप आगे बढ़ने का प्रयास हम निरन्तर करते रहेंगे।

स्वयं मुक्ति के मार्ग पर चलकर हमें भी मुक्तिमार्गी बनाने वाले महान् गुरुदेव के चरणों में बार-बार नमस्कार करते हैं। इस जीवन में और आगे भी जीवन में उन्हीं जैसी शांत-समाधि, उन्हीं जैसी विशालता, उन्हीं जैसी कृतज्ञता, उन्हीं जैसी सहकारिता हमारे भीतर आये और हम उनके बताये मार्ग का अनुसरण करते हुए धन्यता का अनुभव करते रहें। इसी भावना के साथ-

अज्ञानतिमिराधानां, ज्ञानांजनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः॥

❑ ❑ ❑

रक्षाबंधन

भारत पर्वों, उत्सवों, त्यौहारों का देश है। यों तो जीवन का प्रत्येक दिवस एक पुनीत पर्व की तरह है तथापि किसी घटना विशेष के कारण कुछ दिवस पर्व के रूप में भी मनाए जाते हैं। दशलक्षण पर्व और अष्टाह्निक पर्व के समान ही रक्षा-बंधन पर्व का भी महत्त्व है। रक्षाबंधन अद्भुत पर्व है। बंधन का दिन होने पर भी आज का दिन पर्व माना जा रहा है। सहज ही मन में जिज्ञासा होती है कि पर्व या उत्सव में जो मुक्ति होती है, स्वतन्त्रता होती है, आज का दिन बंधन का दिन होकर भी क्यों इतना पवित्र माना गया है।

बात यह है कि आज का दिन सामान्य बंधन का दिन नहीं है, प्रेम के बंधन का दिन है। यह बंधन वात्सल्य का प्रतीक है। रक्षा-बंधन अर्थात् रक्षा के लिए बंधन, जो आजीवन चलता है बड़े उत्साह के साथ यह बंधन होकर भी मुक्ति में सहायक है क्योंकि यह प्राणी मात्र की रक्षा के लिए संकल्पित करने वाला बंधन है।

सभी जीवों पर संकट आते हैं और सभी अपनी शक्ति अनुसार उनका निवारण करते हैं, पर फिर भी मनुष्य एक ऐसा विवेकशील प्राणी है जो अपने और दूसरों के संकटों को आसानी से दूर करने में समर्थ है। मनुष्य चाहे तो अपनी बुद्धि और शारीरिक सामर्थ्य से अपनी और दूसरों की रक्षा कर सकता है जीव रक्षा उसका कर्त्तव्य है, उसका धर्म भी है।

आज के दिन की महत्ता इसीलिए भी है कि एक महान् आत्मा ने रक्षा का महान् कार्य सम्पन्न करके संसार के सामने रक्षा का वास्तविक स्वरूप रखा कि जीवों की रक्षा, अहिंसा की रक्षा और धर्म की रक्षा ही श्रेष्ठ है। किन्तु आज वह रक्षा उपेक्षित है। हम चाहते हैं सुरक्षा मात्र अपनी और अपनी भौतिक सम्पदा की। आज यह स्वार्थ-पूर्ण संकीर्णता ही सब अनर्थों की जड़ बन गई है। मैं दूसरों के लिए क्यों चिंता करूँ? मुझे बस मेरे जीवन की चिंता है। 'मैं और मेरा', आज का सारा व्यवहार यहीं तक सीमित हो गया है।

रक्षकपना लुप्त हो गया है और भक्षकपना बढ़ रहा है। रक्षाबंधन आदि पर्वों के वास्तविक रहस्य को बिना समझे-बूझे प्रतिवर्ष औपचारिकता के लिए इन्हें मनाकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। यह ठीक नहीं है। स्वयं की परवाह न करते हुए अन्य की रक्षा करना, यह है इस पर्व का वास्तविक रहस्य। विष्णुकुमार मुनिराज ने क्या किया? बंधन को अपनाया, अपने पद को छोड़कर मुनियों की रक्षार्थ गये। क्यों? वात्सल्य के वशीभूत होकर, धर्म की प्रभावना हेतु, यह है सच्चा रक्षा-बंधन। रक्षा हेतु जहाँ बंधन को अपना लिया गया। लेकिन आज हमारा लक्ष्य ऐसा नहीं रह गया है।

बाहर से मधुर और भीतर से कटु, ऐसा रक्षा-बंधन नहीं होना चाहिए। हमारे द्वारा संपादित कार्य बाहर और भीतर से एक समान होने चाहिए। रक्षा-बंधन को सच्चे अर्थों में मनाना है तो अपने भीतर करुणा को जाग्रत करें। अनुकम्पा, दया और वात्सल्य का अवलम्बन लेकर अषाढ़ और सावन के जल भरे बादलों की तरह करुणा भी जीवनदायिनी होती है। जो बादल मात्र गरजते हैं और बरसते नहीं हैं उनका कोई आदर नहीं करता। हमें भी जल भरे बादल बनना है, रीते बादल नहीं। आज इस पर्व के दिन हम में जो करुणा भाव है वह तन-मन-धन सभी प्रकार से अभिव्यक्त हो। इतना ही नहीं सदैव वह हमारा स्वभाव बन जाए, ऐसा प्रयास करना चाहिए।

''मैत्री भाव जगत् में मेरा सब जीवों से नित्य रहे''- प्रतिदिन यह पाठ उच्चारित करते हैं पर इस मेरी भावना को व्यवहार में नहीं लाते। व्यवहार में लाने वाले महान् बन जाते हैं। गाँधीजी की महानता का यही कारण रहा कि वे करुणावान थे। एक बार की घटना है-गाँधी जी सर्दी में अपने कमरे में रजाई ओढ़े अंगीठी ताप रहे थे। थोड़ी रात होने पर उन्हें कहीं से बच्चों के रोने की आवाज सुनाई पड़ी। बाहर आने पर उन्होंने कुत्तों के बच्चों को सर्दी के मारे रोते देखा। तब उनका हृदय भी रो पड़ा। वे उन बच्चों को उठाकर अपने कमरे में ले आये और उन्हें रजाई ओढ़ा दी। यह थी गाँधीजी की करुणा।

सभी के प्रति मैत्री भाव हो इसका नाम है रक्षा-बंधन। रक्षा-बंधन पर्व सिर्फ एक दिन के लिए ही नहीं है, हमारे वात्सल्य, करुणा और रक्षा के भाव जीवन भर बने रहें, इन शुभ संकल्पों को दोहराने का यह स्मृति दिवस है, अतः इस पुनीत पर्व पर हमारा कर्त्तव्य है कि हम आत्मस्वरूप का विचार करते हुए जीव मात्र के प्रति करुणा और मैत्री भाव धारण करें, तभी यह पर्व मनाना सार्थक होगा।

❑ ❑ ❑

दर्शन-प्रदर्शन

यदि हमें महावीर भगवान् बनना है तो पल-पल उनका चिन्तन करना आपेक्षित है। यह महावीर जयन्ती का आयोजन भले ही चौबीस घंटे के लिए हो, यदि यह महावीर बनने के लिए है तो सार्थक है। ऐसे ही यदि आप वर्ष का प्रत्येक दिन महावीर भगवान् के लिए समर्पित कर दें तो फिर महावीर बनने में देर नहीं लगेगी। अर्थ यह हुआ कि जितना-जितना समय आप भगवान के लिए, उनके गुण स्मरण के लिए निकालेंगे उतना ही, उनकी ओर बढ़ सकेंगे। मात्र उनका जय-जयकार ही पर्याप्त नहीं है।

भगवान् महावीर के दर्शन में प्रदर्शन के लिए कोई स्थान नहीं है।कारण यही है कि दर्शन अपने लिए है, अपनी आत्मा की उन्नति के लिए है, आत्मा की अनुभूति के लिए है। दर्शन का अर्थ है देखना लेकिन प्रदर्शन में तो मात्र दिखाना ही है देखना 'स्व' का होता है और दिखाने में कोई दूसरा होता है। आज तक संसारी प्राणी की सभी क्रियाएँ देखने के लिए न होकर दिखाने के लिए होती आयी हैं प्रत्येक व्यक्ति इसी में धर्म मान रहा है वह सोचता है कि मैं दूसरे को समझा दूँ यह प्रक्रिया अनादि काल से क्रमबद्ध तरीके से चली जा रही है यदि ऐसी क्रमबद्धता दर्शन के विषय में होती तो उद्धार हो जाता।

व्यक्ति जब दार्शनिक बन जाता है तो वह हजारों दार्शनिकों की उत्पत्ति में निमित्त कारण बन

जाता है और जब एक व्यक्ति प्रदर्शक बन जाता है तो सब ओर प्रदर्शन प्रारम्भ हो जाता है। प्रदर्शन की प्रक्रिया बहुत आसान है, देखा-देखी जल्दी होने लगती है, उसमें कोई विशेष आयाम की आवश्यकता नहीं है, प्रदर्शन के लिए शारीरिक, शाब्दिक या बौद्धिक प्रयास पर्याप्त है लेकिन दर्शन के लिए एकमात्र आत्मा की ओर आत्मा ही पर्याप्त है। दर्शन तो विशुद्ध अध्यात्म की बात है।

महावीर भगवान् ने कितनी साधना की, वर्षों तप किया लेकिन दिखावा नहीं किया, ढिंढोरा नहीं पीटा। जो कुछ किया अपने आत्म-दर्शन के लिए किया। सब कुछ पा लेने के बाद भी यह नहीं कहा कि मुझे बहुत कुछ मिला। प्रदर्शन करने से दर्शन का मूल्य कम हो जाता है, उसका सही मूल्यांकन तो यही है कि दर्शन को दर्शन ही रहने दिया जाये, जब प्रदर्शन के साथ दिग्दर्शन भी होने लगता है तो उसका मूल्य और भी कम हो जाता है, प्रदर्शन का मूल्य भी हो सकता है लेकिन उसके साथ दर्शन भी हो, जिसने स्वयं नहीं किया वह दूसरे को क्या करवा सकेगा।

आज खान-पान, रहन-सहन आदि सभी में प्रदर्शन बढ़ता जा रहा है, आपका शृंगार भी दूसरे पर आधारित है, दूसरा देखने वाला न हो तो शृंगार व्यर्थ मालूम पड़ता है। दर्पण देखते हैं तो दृष्टिकोण यही रहता है कि दूसरे की दृष्टि में अच्छा दिखाई पड़ सकें, इस तरह आपका जीवन अपने लिए नहीं दूसरे को दिखाने के लिए होता जा रहा है, सोचिये, अपने लिए आपका क्या है? आपकी कौन-सी क्रिया अपने लिए होती है? सारी दुनियाँ प्रदर्शन में बहती चली जा रही है। जीवन में आकुलता का यह भी एक कारण है।

महावीर भगवान् का दर्शन तो निराकुलता का दर्शन है, वह अनुभूतिमूलक है, प्रदर्शन में आकुलता है, वहाँ अनुभूति नहीं, कोरा ज्ञान है, महावीर भगवान्, उस ज्ञान को महत्त्वपूर्ण मानते हैं जो अनुभूत हो चुका है, पराया ज्ञान कार्यकारी नहीं है, अपना अनुभूत ज्ञान ही कार्यकारी है। हमारे लिए जो ज्ञान, कर्म के क्षयोपशम से मिला है, वही ज्ञान सब कुछ है। भगवान् का केवलज्ञान निमित्त बन सकता है लेकिन उस ज्ञान के साथ हमारे अनुभव का पुट नहीं है, उनका अनन्त ज्ञान क्षायिक ज्ञान है और हमारा क्षयोपशम ज्ञान है जो सीमित है। अनन्त ज्ञान हमारे लिए पूज्य है, हम उसे नमस्कार कर कह देते हैं कि '**वन्दे तद्गुण लब्धये**' आपके गुणों की प्राप्ति के लिए आपको प्रणाम करते हैं। गुणों की प्राप्ति स्वयं की अनुभूति से ही होगी।

स्वरूप का भान नहीं होने के कारण ऐसा हो रहा है कि अपने पास जो निधि है उसका दर्शन, उसका अनुभवन भी हमें नहीं हो पाता, सारा जीवन दूसरे के देखने-दिखाने में व्यतीत हो जाता है और हमारा ज्ञान अधूरा रह जाता है, जो व्यक्ति अपने जीवन को पूर्ण बनाना चाहता है वह दूसरे पर आधारित नहीं रहेगा, दूसरे का आलम्बन तो लेगा लेकिन लक्ष्य स्वावलम्बन का रखेगा। आज तक हमारा जीवन, हमारा ज्ञान अधूरा इसलिए रहा क्योंकि दूसरे के दर्शन करने और दूसरे के माध्यम से

ही सुख पाने का हमारा लक्ष्य रहा। अभी तो कोई बात नहीं है, जो होना था वह तो हो गया, लेकिन आगे के लिए कम से कम उस ओर न जायें।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा और अनुभव भी किया कि आत्मा वीतरागी है। हम रटने लगे कि आत्मा वीतरागी है, राग का अनुभव करते हुए मात्र आत्मा को वीतरागी कहने से काम नहीं चलेगा, हमारा यह ज्ञान ठोस नहीं माना जायेगा, वह उधार खाते का ज्ञान है, इसे अपनी अनुभूति बनाना होगा, वीतरागता को जीवन में अंगीकार करना होगा, वीतरागता प्रदर्शन की चीज नहीं है। कुन्दकुन्दाचार्य महाराज कहते हैं कि मैं जो कह रहा हूँ उसे शत प्रतिशत ठीक तभी मानना जब अपने अनुभव से तुलना कर लो क्योंकि मैं जो कह रहा हूँ वह अपने अनुभव की बात कह रहा हूँ।

रत्नाकर कवि दक्षिण भारत के कवियों में मुकुट-कवि माने जाते हैं। भरतेश वैभव उनका श्रेष्ठ महाकाव्य माना गया है, उनका कहना है कि जो व्यक्ति दूसरे के माध्यम से जीवन व्यतीत कर रहा है वह तभी तक प्रशंसा कर सकता है जब तक उसे स्वयं अनुभव नहीं हुआ, अनुभव होने के उपरान्त वह जो वास्तविकता है उसे ही कहेगा। लेकिन आज तो जो व्यक्ति अपनी ओर जाता ही नहीं, देखता ही नहीं, अनुभव भी नहीं करता वह व्यक्ति भी अपने आत्मा का प्रदर्शन करने में लगा है। एक उदाहरण दिया है उन्होंने, एक कौआ था, वह पके हुए अंगूर खा रहा था। इतने में एक सियार वहाँ आया, उसने पूछा कि तुम क्या खा रहे हो? कौए ने कहा कि क्या कहूँ- बड़ा स्वाद आ रहा है, तुम भी यहाँ ऊपर आ जाओ तो मजा आ जायेगा, अंगूर ऐसे पके कि बस कहने की फुरसत ही नहीं है, नीचे गिराऊँगा तो ठीक नहीं है, नीचे धूल है, ऊपर ही आ जाओ।

सियार ने अंगूर की प्रशंसा सुन ली, उसे खाने की इच्छा भी हो गयी, लेकिन वह ऊपर कैसे जाता, उसने तीन-चार बार छलाँग भी लगा ली, जब चौथी बार भी असफलता हाथ आयी तब उसने कह दिया कि अंगूर खट्टे हैं। यही हाल हमारा है, अनुभूति नहीं है, मात्र कहा जा रहा है, प्रदर्शन हो रहा है, सैकड़ों उदाहरण प्रदर्शन के हैं। सभा में फोटो खींची गयी हो और उसमें अपना फोटो नहीं हो तो उस सारी फोटोग्राफी का कोई मूल्य नहीं है। एक व्यक्ति कमीज का कालर इधर-उधर कर रहे थे, हमने सोचा, कोई कीड़ा वगैरह चला गया होगा, पर वहाँ कीड़ा नहीं था, वे गले में पहनी हुए चैन दिखाना चाह रहे थे, 'चैन' दिखाये बिना चैन नहीं आ रहा था। चैन के माध्यम से जो सुख-चैन ढूँढ़ रहा है वह पराश्रित है, उसे कभी सुख नहीं मिल सकता।

सुख की अनुभूति अपने ऊपर निर्धारित है, दूसरा कोई हमें सुख नहीं दे सकता। अनन्त चतुष्टय को धारण करने वाले भगवान् भी हमें अपना सुख नहीं दे सकते, स्व-पर का भेद-विज्ञान यही है। सम्यग्दृष्टि कम हैं, मिथ्यादृष्टि की संख्या अनन्त है। कोई कुछ भी कहे, हम अपने संसार के अभाव का प्रयत्न करें, सारे संसार की चिन्ता न करें। दिग्दर्शन वही कर सकता है जो स्वयं का

दर्शन करता है। कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा है कि '**चुकेज्ज छलं ण घेत्तत्वं**' समयसार का दिग्दर्शन मैं आप लोगों को करवा रहा हूँ यदि चूक जाऊँ तो छल ग्रहण मत करना, अपनी अनुभूति से उसका मिलान कर लेना। पंचास्तिकाय भी उनका ही प्राकृत ग्रन्थ है। जयसेनाचार्य ने उसकी टीका में उल्लेख किया है कि ''श्रुत का पार नहीं है, काल बहुत अल्प है और हम दुर्मति वाले हैं, अल्पज्ञ हैं, इसलिए वही उतना ही सीख लेना चाहिए जिसके माध्यम से हमारा जन्म-मरण का जो रोग है वह दूर किया जा सके।'' यही भाव कुन्दकुन्द स्वामी ने नियमसार के अन्त में भी दिया है। 'नाना कम्मा, नाना जीवा'- कि नाना जीव हैं, नाना प्रकार के कर्म हैं बहुत प्रकार की उपलब्धियाँ हैं, अनेक प्रकार के चिन्तन हैं, अनेकमत हैं इसलिए व्यर्थ वचन-विवाद में नहीं पड़ना चाहिए। अनुभूति और दर्शन को महत्त्व देना चाहिए, प्रदर्शन ठीक नहीं है। आचार्यों ने आत्म-कल्याण के ऐसे-ऐसे उदाहरण दिये हैं कि मैं कह नहीं सकता, उनकी उदारता का वर्णन वचनों में संभव नहीं है।

चुनाव करने वाले आप हैं, प्रदर्शन आपको बहुत अच्छा लग रहा है किन्तु ध्यान रखिये कि सारा प्रदर्शनमय जीवन निरर्थक है। प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र है, आप जैसा जीना चाहें जी सकते हैं, चूँकि आत्मोन्नति और आत्मोपलब्धि दर्शन से ही संभव है। इसलिए अपने जीवन को स्वयं संभालने का प्रयास करिये।

❑ ❑ ❑

व्यामोह की पराकाष्ठा

रात हो गयी। वर्षाकालीन मेघ-घटाएँ आसमान में छाई हैं, बीच-बीच में बिजली भी चमक जाती है, मेघ गर्जना के साथ मूसलाधार वर्षा होने लगी, किसने अनुमान किया था, किसने जाना था कि यह आने वाला कल, इस प्रकार खतरनाक सिद्ध हो सकता है। दुर्भाग्य का उदय था, वर्षा की रफ्तार तेज होती जा रही थी, जो नदी बहाव बढ़ने से तटों का उल्लंघन कर गयी वह नदी कहाँ तक बढ़ेगी, पानी कहाँ तक फैलेगा, कहा नहीं जा सकता। चारों ओर सुरक्षा की वार्ता पहुँचा दी गयी, लोग अपनी-अपनी सुरक्षा में लग गये, किन्तु एक परिवार इस पानी की चपेट में आ गया। समाचार मिलने के उपरांत भी वह सचेत नहीं हुआ।

जो बाँध बांधा था, वह नदी के प्रवाह में टूट गया, बाँध टूटते ही नदी का जल बेकाबू हो गया, बंधा हुआ जल फैलने लगा, मकान डूबने लगे। कुछ लोग जो सूचना मिलते ही घर छोड़कर चले गये थे, वे पार हो गये, जिसने समाचार सुनकर भी अनसुना कर दिया था वह चिंतित हो गया। वह पत्नी से कहता है कि अब हम इस स्थान को छोड़कर कहीं अन्यत्र चलें तो ठीक रहेगा क्योंकि पानी ज्यादा बढ़ रहा है। पत्नी कहती है कि ठीक है, मैं बच्चों को लेकर जाती हूँ, आप भी शीघ्रता करिये।

पत्नी बड़े साहस के साथ दोनों बच्चों को साथ लेकर पार हो जाती है और वह व्यक्ति सोचता है कि क्या करूँ? क्या-क्या सामान बाँध लूँ। कहाँ-कहाँ क्या-क्या रखा है वह उसे खोजने में लग जाता है और पानी की मात्रा बढ़ती जाती है। वह सोचता है कि सब सामान छोड़कर भाग जाऊँ तो इसके बिना रहूँगा कैसे? इसलिए इसे लेकर ही जाऊँगा। वह जान रहा है, देख रहा है कि पानी बढ़ रहा है, अँधेरा बढ़ रहा है, वह जानता हुआ भी अंधा बना हुआ है।

'जान बूझ कर अंध बने हैं आँखन बाँधी पाटी। जिया जग धोखे की है टाटी।' संसारी प्राणी की यही दशा है, काल के गाल में जाकर भी सुरक्षा का प्रबंध करना चाहता है। सच सामने खड़ा है और वह सोचता है कि सामान की सुरक्षा कर लूँ, धरती खिसक रही है और वह विषय सामग्री के संचय में लगा है, वह व्यक्ति धन सामग्री लेकर जैसे ही आगे बढ़ता है, नदी के प्रवाह में बहने लगता है, जो कुछ सामान साथ में लिये था वह भी बहने लगता था, देखते-देखते नदी के प्रवाह में उसका मरण हो जाता है, लेकिन मरणोपरांत भी उनके हाथ से पोटली नहीं छूटती जिसमें उसने सामान एकत्रित किया था, दूसरे दिन शव के साथ पोटली भी मिलती है, तो लोग दंग रह जाते हैं, यह तीव्र मोह का परिणाम है।

मोह को जीतना मानवता का एक दिव्य-अनुष्ठान है, इसके सामने महान् योद्धा भी अपना सिर टेक देते हैं। विश्व का कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है जो मोह की चपेट में न आया हो, लेकिन इसके रहस्य को जानकर इस मोह की शक्ति को पहचानकर, इस मोह की माया को जानकर, जो व्यक्ति इसके ऊपर प्रहार करता है वही इस संसार रूपी बाढ़ से पार हो जाता है। यह सन् १९५७ की घटना थी, महाराष्ट्र में पूना के पास एक बाँध था, वह ध्वस्त हो गया था, यह आश्चर्यजनक घटना उस समय अखबारों में पढ़ने में आयी थी, पत्नी और बच्चे सुरक्षित निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच गये लेकिन मोह के कारण वह व्यक्ति बह गया, मोह का प्रभाव जड़ के ऊपर नहीं, चेतन के ऊपर पड़ता है, जीवन के केन्द्र पर चोट करता है मोह। आदमी मोह की चपेट में आकर छोटी-छोटी बातों से प्रभावित हो जाता है और अपने आपको भूल जाता है।

प्रत्येक प्राणी जानता है कि मोह हमारा बहुत बड़ा शत्रु है लेकिन मोह से प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता। वह दूसरे को उपदेश दे देता है लेकिन खुद सचेत नहीं होता, यही तो खूबी है मोह की। उस घटना को पढ़कर लगा कि बढ़िया तो वही है कि बाढ़ आने से पूर्व ही वहाँ से दूर चले जायें, क्योंकि जब बाढ़ आयेगी तो प्रवाह इतना तीव्र रहेगा कि इसमें हम बच नहीं सकेंगे। जानते हुए भी वहीं रहे आना, इसे आप क्या कहेंगे? यह मोह से प्रभावित होना है, यह स्वयं की असावधानी भी है, **'जानबूझ कर अंध बने हैं'**, वाली बात है।

जो व्यक्ति मोह के बारे में जानते हुए भी, उससे बचने का प्रयास नहीं करता वह संसार सागर में डूबता है। वह व्यक्ति पार हो जाता है जो पार होने का संकल्प और विश्वास अपने अंदर रखता है और निरंतर मोह से बचने के लिए प्रयास करता है। वास्तव में, जिसने जो जोड़ा है उसे वह छोड़ना बहुत कठिन होता है, 'पर' पदार्थों की ओर से आँख मींच लेना आसान नहीं है, जबर्दस्ती कोई आँख मींच लें, ये अलग बात है, आप खेल-खेल में भी आँख मींच सकते हैं, यह भी आसान है लेकिन तब भी काम नहीं बनेगा। पदार्थों से दृष्टि हटाकर आत्मा की ओर ले जाना ही सच्चा पुरुषार्थ है।

मोह के ऊपर प्रहार करना, उसे जीतना, इसी का नाम है धर्म कहीं भी किसी भी जगह आप चले जायें, धर्म एक है और एक ही रहेगा। जो तैरना जानता है उसे तैरना आवश्यक होता है, जो तैरना नहीं जानता उसे सीखना आवश्यक होता है, तैरना जानते हुए भी, पार करना जानते हुए भी वह व्यक्ति पार नहीं हो पाया। एक पत्नी थी, दो बच्चे थे, मकान था और वह संग्रहित द्रव्य था, यही उसका जीवन था, संसार था, उसने पत्नी को छोड़ दिया, बच्चों को भी छोड़ दिया, पर धन को नहीं छोड़ सका। अकेला होता तो धन की भी कोई जरूरत नहीं थी किन्तु मन में तो परिवार का ख्याल था, इसलिए धन की आवश्यकता हो गई और मोह का जाल बिछता गया, वह स्वयं ही बिछाता गया और ऐसा बिछाता गया कि पैर रखते ही उसमें फँसता चला गया। यह है व्यामोह की पराकाष्ठा, जहाँ अपने जीवन से भी हाथ धोना पड़ा।

इससे बचने के लिए जाग्रति परम आवश्यक है। जाग्रति के अभाव में मोह की चपेट में आ जाने से हमारा आचार-विचार, हमारा दैनिक कार्यक्रम सारा का सारा पराधीन हो जाता है। स्वतंत्रता का एक अंश भी हमारे जीवन में नहीं आ पाता। जैसे मरण से पहले जाग्रति के साथ यदि मरण को पहचानने की कोशिश की जाए तो जन्म मरण से मुक्त हुआ जा सकता है, ऐसे ही मोह को समझने, मोह के परिणामों को पहचानने का प्रयास यदि कोई जागृत होकर करता है तो मोह से बच सकता है।

एक बार एक सेठ बीमार पड़ा, बीमार पड़ते ही फोन करके डॉक्टर को बुलाया गया। उसने आकर सेठ को देखा और मन में विचार आया कि बड़े सेठ हैं, सम्पत्ति की कोई कमी नहीं, जो पैसा मुझे अन्य लोगों से मिलना है उससे अधिक यहाँ मिल सकता है। विचार आते ही डॉक्टर साहब बोले कि ''सेठ जी जो रोग आपको हुआ है वह असाध्य रोग है और इलाज भी क्या करें, मेरी समझ में नहीं आता, रोग पर काबू पाना असंभव सा लगता है।'' सुन रहे हैं आप, वह डॉक्टर सब कुछ जानता है कि कौन सा रोग है और कितनी मात्रा में बढ़ा है लेकिन भीतर बैठा हुआ मोह यह सब कहलवा रहा है।

डॉक्टर की बात सुनकर सेठजी के लड़के ने कहा कि डॉक्टर साहब, आप निश्चिंत रहिए और जो इलाज सम्भव हो वह करिए, आप जितना चाहेंगे आपको मिलेगा। और रुपये का बंडल डॉक्टर को दिखा दिया, पर डॉक्टर का मोह और बढ़ गया, उसने कहा कि भारत में इस प्रकार की दवाई मिलना संभव नहीं है, विदेश से मंगानी पड़ेगी, उसके लिए अधिक खर्च होगा। सेठ के लड़के ने अबकी बार सौ-सौ का एक बंडल और दिखा दिया। यह सब देखकर डॉक्टर सोचने लगा कि देखें कहाँ तक रुपया बढ़ाता है, संभव है थोड़ा और कहे तो पचास साठ हजार तक बात पहुँच जाए और डॉक्टर ने ऑपरेशन की सलाह दे दी।

ऑपरेशन की बात से सभी चिंतित हो गये, सेठ के लड़के ने फौरन एक लाख रुपया डॉक्टर के सामने रख दिया और कहा कि आप ऑपरेशन करिये, पिताजी को किसी तरह बचा लीजिए। अब देखिए, यहाँ क्या होता है, एक लाख का नाम सुनते ही उस डॉक्टर को हार्ट अटैक हो गया। अब सोचिये यह कैसा ज्ञान है जो जीवन के लिए घातक सिद्ध हो गया, जड़ पदार्थ के द्वारा चेतन का विनाश हो गया, यह सब मोह का प्रभाव है-'**मोह महामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादी**' मोहरूपी मदिरा का नशा संसार के प्रत्येक प्राणी को चढ़ा है फिर चाहे वह इंजीनियर हो, चाहे डॉक्टर हो, चाहे और कोई हो।

जिसने इस मोह के रहस्य को पहचाना है उसने अपने जीवन को उज्ज्वल बनाया है, उससे बढ़ कर महान् व्यक्ति इस संसार में दूसरा नहीं है। दुखों की जड़ है मोह-मैं और मेरेपन का भाव। देखना और जानना आत्मा का स्वभाव है किन्तु मोह के वशीभूत होकर संसारी प्राणी शरीर और पर पदार्थों को भी अपना ही समझता है, आप कुछ भी करते हैं, तो क्या कहते हैं, यही कि, मैं बोल रहा हूँ, मैं बैठ रहा हूँ, मैं सो रहा हूँ। बताइये कौन-सी क्रिया के साथ-साथ अपने आपको पृथक् जानते हुए क्रिया करते हैं। सारी क्रियाएँ मैं ही कर रहा हूँ, सभी को यही अनुभव में आता है। कोई ऐसा व्यक्ति है जो यह कहे कि मैं खिला रहा हूँ, मैं सुला रहा हूँ, विरले ही लोग हैं जो शरीर से स्वयं को पृथक् अनुभव करते हैं। जितना-जितना शरीर से पृथक् आत्मा के अस्तित्व का अनुभव बढ़ता जाएगा, उतना-उतना मोह के ऊपर प्रहार होता चला जायेगा। मोह को यदि क्षीण करना चाहते हो तो आत्म-तत्त्व को पृथक् जान लो।

मरण के उपरान्त सब कुछ यहीं पर रखा रह जायेगा, मात्र आत्मा ही साथ जायेगा। ध्यानपूर्वक इस बात को देखो तो सही कि ऐसा कौन सा गठबंधन है जिससे दो पदार्थों में, शरीर और आत्मा में एकता का अनुभव होता है। शरीर को पड़ोसी समझना बड़ा कठिन काम है। जो सजग होकर वर्तमान का अनुभव करने का प्रयास करते हैं, वे शीघ्र ही समझ जाते हैं कि यह जो कुछ भी जुड़ाव

है वह मोह का परिणाम है। शरीर को पृथक् जानकर उसके प्रति मोह ममता घटनी चाहिए और चेतन के प्रति मोह-ममता निरन्तर बढ़ती जानी चाहिए। यही वास्तविक ज्ञान है, वीतराग-विज्ञान है।

आज के भौतिकविज्ञान की किसी भी पोथी में यह नहीं लिखा कि देह का अस्तित्व पृथक् है और आत्मा का अस्तित्व पृथक् है। इस प्रकार का भेद-विज्ञान धर्म ग्रन्थों की देन है, जो बताता है कि किस प्रकार शरीर से पृथक् आत्म-तत्त्व की अनुभूति करना संभव है, लेकिन आज तो जितना-जितना भौतिकता का ज्ञान बढ़ता जा रहा है, उतना-उतना शरीर के साथ सम्बन्ध और जुड़ता जा रहा है। पहले के लोग मोह को उत्पन्न करने वाले पदार्थों के साथ सम्बन्ध कम रखते थे, लेकिन आज का युग विकास के नाम पर मोह का विकास कर रहा है और आत्म-ज्ञान से वंचित होता जा रहा है।

दो दोस्त बहुत दिनों के बाद कहीं से आकर मिलते हैं तो चर्चा वार्ता होती है। परस्पर कह देते हैं कि अच्छा-अच्छा मैंने आपको पहचान लिया लेकिन यथार्थ में दोनों ने अपने आपको नहीं पहचाना, मात्र 'पर' का परिचय बढ़ रहा है। लेन-देन की बातें, आवागमन की बातें और अर्थ के विकास की बातें ये सब मोह की पुष्टि के लिए हैं। अर्थ का विकास मोह का विकास ही है, आज मोह को क्षीण करने के लिए कोई रसायन तैयार नहीं किया जा रहा है, ऐसी स्थिति में शान्ति प्राप्त करना कैसे संभव है? जिस त्याग-तपस्या के रसायन से शरीर और आत्मा को पृथक् किया जाता है उससे यदि आप दूर रहोगे तो शांति नहीं मिलेगी।

एक व्यक्ति यात्रा के लिए निकला, उसे पहाड़ के ऊपर चढ़ना था, उसने अपने पैरों में अच्छे जूते पहनकर चलना प्रारम्भ कर दिया, एकाध मील चला होगा कि उसे एक थैला पड़ा मिल गया, थोड़ा भारी था पर देखने में अच्छा था, उसने उठा लिया और इस तरह कंधे पर रख लिया कि जैसे थैले में स्वर्ण आदि श्रेष्ठ वस्तुएँ रखी हों, जैसे-जैसे चढ़ता गया, वैसे-वैसे उसे दिक्कत होने लगी, बोझ अधिक है ऐसा सोचकर उसने अपनी जो दूसरी थैली थी उसे रास्ते में ही छोड़ दिया, थोड़ी देर में जूते भी उतार कर अलग कर लिये और आगे बढ़ते-बढ़ते जब बहुत थक गया तो सोचा, थोड़ा विश्राम कर लूँ और देखूँ तो थैले में क्या है? ज्यों ही उसने उस थैले को खोला तो उसमें और कुछ नहीं था एक मात्र पाषाण का टुकड़ा था, चटनी वगैरह पीसने का पत्थर था।

यही दशा प्रत्येक संसारी प्राणी की है, जो वास्तव में अपना है, आत्म-तत्त्व है उसे छोड़कर बाह्य 'पर' पदार्थों को आप उठाकर आगे बढ़ रहे हैं और व्यर्थ बोझ सह रहे हैं। हम दुनियाँदारी की वस्तुओं को अपने ऊपर लादते चले जायें और चाहें कि मोक्ष मिल जाए, मोक्ष का पथ मिल जाय तो संभव नहीं है। ऐसा कोई पथ नहीं है और कोई उपदेश नहीं है जो आपका भार उतार दे। आप

संसार का संग्रह करते जायें और मोक्षमार्ग मिल जाये यह कैसे संभव होगा? मोह को समाप्त करना ही मोक्षमार्ग है।

मोक्षमार्ग पर चलने के लिए हल्का होना अनिवार्य है, आप यदि तुंबी पर मिट्टी का लेप कर दें तो वह तैरना भूल जायेगी और पानी के अंदर तल में चली जायेगी लेकिन ज्यों ही मिट्टी का लेप हट जाएगा त्यों ही वह पानी के ऊपरी भाग पर आकर तैरने लगेगी। यही स्थिति आत्मा की है। आत्मा संसार के महासमुद्र में डूब रही है और इसका एकमात्र कारण है मोह का बोझ, यदि वह छूट जाये तो हम नियम से ऊपर आ जायेंगे, हमारी यात्रा निर्बाध होगी, यदि आप ऊपर उठना चाहते हो, पीड़ा से छुटकारा पाना चाहते हो तो अपने आप पर स्वयं दया करके मोह को छोड़ने का प्रयास करो।

जहर दो तरह का होता है- एक मीठा जहर और एक कड़वा जहर। कड़वा जहर हो तो कोई भी पीते ही थूँक देगा लेकिन मीठा जहर ऐसा है कि पीते ही चले जाना आनंददायक लगता है। जब जीवन समाप्त होने लगता है तब मालूम पड़ता है कि यह तो जहर था। मोह ऐसा ही मीठा जहर है, जिसे संसारी प्राणी थूँकना नहीं चाहता, इसकी मिठास इतनी है कि मृत्यु होने तक यह नहीं छूटता और दूसरे जीवन में भी प्रारम्भ हो जाता है, भव-भव में रुलाने वाले इस मोह के प्रति सचेत हो जाना चाहिए, तभी मुक्ति की ओर जाने का रास्ता प्रारम्भ होगा, तभी अपने आत्मतत्त्व की प्राप्ति होगी, अपने-पराये को जानकर पराये के प्रति मोह छोड़ना ही हितकर है।

शरीर अपना नहीं है, अपना तो आत्मतत्त्व है, यदि यह ज्ञान हो जाये तो भी कार्य आसान हो जायेगा। 'स्व' को जानने की कला के माध्यम से 'पर' के प्रति उदासीनता आना संभव है। एक महिला थी और उसके छह बच्चे थे, उनका आग्रह था कि माँ, हमें मेला दिखाओ, उस महिला ने सोचा कि चलो बच्चों का आग्रह है तो दिखा लाते हैं किन्तु अभी बहुत छोटे हैं इसलिए उन्हें प्रशिक्षण देना आवश्यक है और वह उन्हें प्रशिक्षित कर देती है कि देखो, एक दूसरे का हाथ पकड़े रहना, मेले में भीड़ रहती है कहीं गुम न हो जाना अन्यथा हम नहीं ले जायेंगे।

सभी ने कह दिया कि आप जैसा कहोगी हम वैसा ही करेंगे, पर हमें मेला दिखा दो, वह महिला सब बच्चों के साथ मेला में जा पहुँची, सबको झूला झुलवाया, खिलौने खरीदे, मिठाई खरीदी, सारा मेला घुमा दिया, बच्चों को बहुत आनंद आया, शाम हो गई तो उसने सोचा अब घर लौटना चाहिए, उसने बच्चों को देखा कि कहीं कोई गुम तो नहीं गया, गिनकर देखा तो छह के स्थान पर पाँच ही थे, दुबारा गिना तो भी पाँच थे। अब वह महिला घबरा गयी। इतना बड़ा मेला और हमारा छोटा सा लड़का, कहाँ खोजें, समझ में नहीं आता, वह रोने लगी, तभी एक सहेली मिल

गयी और उसने पूछा कि क्यों बहिन क्या हो गया? तब वह महिला कहती है कि क्या बताऊँ, छह बच्चे लायी थी, पाँच ही बचे है, एक बच्चा भीड़ में खो गया, तब वह सहेली गिनकर देखती है तो सारी बात समझ जाती है और पाँच बच्चों को गिनने के बाद, उस महिला की गोद में सोये हुए बच्चे को थपथपाकर कहती है कि यह रहा छठवाँ लड़का।

यही स्थिति सभी की है, जो अत्यन्त निकट है, अपना आत्म-तत्त्व, उसे ही सब भूले हुए हैं। बाह्य भोग सामग्री की ओर दृष्टिपात कर रहे हैं, उसे ही गिन रहे हैं कि हमारे पास इतनी कारें हैं, इतनी सम्पदा है। सुबह से शाम तक जो भी क्रियाएँ हो रही है, यदि हम जान लें कि सारी की सारी शरीर के द्वारा हो रही हैं और मैं केवल करने का भाव कर रहा हूँ, मैं पृथक् हूँ तो पर के प्रति उदासीनता आने में देर नहीं लगेगी। कठपुतली के खेल के समान सारा खेल समझ में आ जायेगा। शरीर के साथ जब तक आत्मा की डोर बँधी है तब तक संसार का खेल चलता रहेगा और जैसे ही यह डोर टूट गयी तो कठपुतली के समान नाचने वाला शरीर एक दिन भी नहीं टिकेगा।

जो ज्ञानी हैं, मुमुक्षु हैं, आत्मार्थी हैं, वे इस रहस्य को जान लेते हैं। जो आस्तिक्य गुण से सम्पन्न हैं वे इस रहस्य को जान सकते हैं। आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास करके ही उस आत्मतत्त्व को पाया जा सकता है। शरीर को 'पर' मानना, इतना ही पर्याप्त नहीं है, उसके साथ-साथ शरीर से मोह भाव को कम करना भी अनिवार्य है, 'पर' वस्तु के प्रति मोह भाव होने के कारण ही हम उसे अपना लेते हैं लेकिन जिस दिन मालूम पड़ जाता है कि यह तो 'पर' है, तब हँसी आती है कि आज तक हम किसके पीछे पड़े थे।

बंधुओ! शरीर की गिनती तो कई बार हो चुकी, जो पर पदार्थ हैं उनकी गिनती भी कई बार हो चुकी लेकिन अपनी गिनती अभी करना बाकी है, मैं कौन हूँ? आज के वैज्ञानिक युग में इसकी खोज भी आवश्यक है, सांसारिक क्षेत्र में पदार्थों को जानने के लिए ज्ञान ही मुख्य माना जाता है लेकिन आध्यात्मिक क्षेत्र में साधना और अनुभूति ही मुख्य है, जिसने अपने आप का अनुभव कर लिया वह 'पर' के प्रति निर्मोही बनता चला जाएगा और एक दिन भगवान् राम के समान, भगवान् महावीर के समान मुक्ति को प्राप्त कर लेगा, संपूर्ण मोह के अभाव का नाम है मोक्ष और मोह के अभाव के लिए क्रम-क्रम से उसे कम करते हुए आगे बढ़ने का नाम है मोक्षमार्ग।

❑ ❑ ❑

आदर्श सम्बन्ध

अनंत जलराशि का वाष्पीकरण होता है सूर्य के प्रताप से और वह बादलों में ढल जाता है पुनः वर्षा के जल के रूप में नीचे आ जाता है, पर्वत के शिखर पर भी क्यों न गिरे, वहाँ से वह नीचे

की ओर ही बहता है। जल जब तक द्रव रूप में रहेगा तब तक वह नीचे की ओर ही बढ़ेगा, किन्तु जब हम उसे रोक देते हैं तो वह रुका हुआ मालूम पड़ता है किन्तु वह रुकता नहीं है।

अभी उड़ीसा की तरफ से हम आ रहे थे! वहाँ पर संबलपुर के पास एक गाँव है हीराकुण्ड, वहाँ महानदी को बाँधने का प्रयास इस युग के मानव ने किया है। उस जल को बाँधने के उपरांत भी वह गतिमान है, पहले वह नीचे की ओर जाता था अब ऊपर की ओर बढ़ रहा है। जितना-जितना पानी ऊपर की ओर बढ़ेगा उतना-उतना खतरा उत्पन्न होता जायेगा। बाँध एक प्रकार का बंधन है, जैसे बंधन में बंधा व्यक्ति उग्र हो जाये तो काम बिगड़ जाता है, ऐसा ही बाँध के पानी का है, इसलिए बाँध पर '**खतरा**' लिखा हुआ रहता है।

पहले जब पानी सहज गति से बहता था तो कोई खतरा नहीं था बल्कि देखने योग्य मनोरम दृश्य था, लेकिन अब खतरा हो गया। एक भी ईंट या पत्थर खिसक जाए तो क्या दशा होगी? जो जल ऊपर की ओर बढ़ रहा है उसे रोका नहीं गया है, मात्र रास्ता बंद किया है और जब किसी का रास्ता रोका जाता है तो वह अपने विकास के लिए प्रयत्न करता है, अपनी शक्ति का प्रयोग करता है और ऐसा होने से संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है, नदियों के साथ संघर्ष नहीं है पर बाँध के साथ संघर्ष है।

हम जब छोटे थे तब खेत में जाकर देखते थे, वहाँ पर किसान लोग चरस चलाते थे, पानी आता था और बने हुए रास्ते से गुजरता हुआ चला जाता था, गन्ने के खेत को पानी पिलाया जा रहा था, जहाँ वह जल मुड़ गया था उस मोड़ पर वह किसान बार-बार मिट्टी के ढेले डाल देता था, कभी-कभी गन्ने के छिलके भी लगाता था ताकि मजबूत बना रहे, क्योंकि वहाँ जल टकराता था इसलिए वहाँ संघर्ष था, मिट्टी रुक नहीं पाती थी, जब इतने से जल के साथ सावधानी रखनी पड़ती है तब जहाँ बाँध बनाया जाता है वहाँ कितना बड़ा काम है।

यह तो उदाहरण की बात है। ऐसी ही चारों गतियों के प्रवाह में जीव की स्थिति है, वहाँ उसकी शक्ति देखने में नहीं आती, लेकिन जब वह ऊर्ध्वगमन करने लगता है तब शक्ति देखने में आती है, आणविक शक्तियों से भी बढ़कर काम करने वाली यह शक्ति है, अपने उपयोग को ऐसा बाँध दिया जाए कि कर्म की चपेट से बच सकें तो जीवन का प्रवाह ऊर्ध्वगामी हो जाता है और धीरे-धीरे सिद्धालय की ऊँचाईयाँ छू लेता है। यह बड़ी मेहनत का काम है बड़े-बड़े इंजीनियर भी इसमें फेल हो जाते हैं। बहुत साधना के उपरांत भी सफलता मिले यह जरूरी नहीं है। बाँध बनाते समय सारी साधना, आत्मविश्वास और साहस के साथ इंजीनियर कार्य करता है लेकिन असाता कर्म का प्रवाह आते ही सारे के सारे खंभे गिर जाते हैं।

इस युग के अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी को भी इस प्रवाह को रोकने और आत्मा को ऊर्ध्वगामी करने के लिए पूरे बारह वर्ष लग गए थे। आदि ब्रह्मा आदिनाथ को एक हजार वर्ष लग गये थे। वे कितने बड़े इंजीनियर थे, उनकी उस यूनिवर्सिटी को देखने की आवश्यकता है। मैं बार-बार चिंतन करता हूँ कि उस यूनिवर्सिटी में हमारा नम्बर आ जाए तो बड़ा अच्छा रहे, वहाँ नंबर आये बिना काम बनने वाला नहीं है, उन्होंने अपने उपयोग रूपी बाँध का निर्माण कैसे किया, वह समझने की बात है।

यह जो आत्म-तत्त्व पानी के समान चारों गतियों में बह रहा है उसे नियंत्रित करना और ऊर्ध्वगामी बनाना बड़ा कठिन कार्य है। नदी पर बनने वाले बाँध में तो सीमेंट और पत्थर लगाये जाते हैं लेकिन उपयोग के प्रवाह में क्या लगायें, वह तो एक सेकेंड में बदल जाता है, बाँधते-बाँधते ही रास्ता बदल लेता है, इतने सूक्ष्म परिणमन वाले परिवर्तनशील उपयोग को बाँधना साधना के बिना संभव नहीं है। जब हम स्कूल में पढ़ते थे, तब एक पाठ पढ़ा था। एक ऐसी नदी चीन में है जो रातों रात पाट बदलती है। बहने की दिशा कई बार बदल लेती है, तो लोगों को बड़ी घबराहट हो जाती है, बड़ा खतरा उत्पन्न हो जाता है। मैं बार-बार सोचता हूँ कि इतने-इतने छोटे-छोटे प्रवाहों के लिए इतनी साधना की आवश्यकता होती है तब अपने आत्म प्रवाह को बाँधने के लिए कितना पुरुषार्थ करना होगा।

भारतीय संस्कृति का इतिहास उज्ज्वल रहा है, भारतीय संस्कृति के अनुरूप वैसे कोई भी कार्य कठिन नहीं है क्योंकि पराश्रित कार्य कठिन हो भी सकता है किन्तु स्वाश्रित कार्य बहुत आसानी के साथ होते देखे जाते हैं। इतना अवश्य है कि ऐसे कार्यों के लिये अपनी ओर देखें, अपनी आत्म-शक्ति को जाग्रत करें और श्रद्धा रखें तो सफलता आसानी से प्राप्त हो जाती है, हमारा जीवन जो भोग-विलास की ओर ढला हुआ है उसे योग की ओर कैसे लाया जाये? क्या पद्धति अपनायी जाये जिससे हमारा प्रवाह भोगों की ओर से हटकर योग की ओर आ जाए? रात-दिन खाने पीने की इच्छा, शरीर को आराम देने की इच्छा, सुनने की इच्छा, सूंघने की इच्छा, स्पर्श करने की इच्छा और मन में सभी भोगों का स्मरण चलता रहता है। ऐसी स्थिति में योग कैसे धारण करें? तो इतना ही करना है कि जिस प्रकार आप उस ओर जा रहे हैं, उसी प्रकार इस और आ जायें।

उपयोग की दिशा में बदलाव लाना होगा, बड़ा दृढ़ श्रद्धानी और धैर्य वाला उपयोग चाहिए, जो बदलाव के बोझ को सहन कर सके। जैसे आप सीढ़ियों के ऊपर चढ़ते जाते हैं और जरा सा घुमाव आ जाए तो आजू-बाजू सँभालकर चलना होता है उसी प्रकार उपयोग को भोग के धरातल से योग के शिखर तक लाना महान् कठिन कार्य है। सावधानी की बड़ी आवश्यकता है। श्रद्धान दृढ़ बनाना होगा, दिशा का सही चयन करना होगा और विदिशाओं को बंद करना होगा तभी ऊँचाईयों तक पहुँचना संभव है।

आज का भारतीय नागरिक भोग की ओर जा रहा है और भोग्य सामग्री को जोड़ता हुआ वह योग को पाना चाह रहा है। योग को पाने के लिए भोग का वियोग करना होगा, उसे एकदम विस्मृत करना होगा तभी योग को पाया जा सकता है। भोग मेरे लिए अहितकारी है, ऐसा सोचना होगा और अनुभव से ऐसी धारणा बनानी होगी कि भोग मेरा साथी नहीं है, उससे मेरा उद्धार अभी तक नहीं हुआ और कभी भी नहीं हो सकता। भोग मेरी दिशा और दशा बदलने वाला है, वह मेरे लक्ष्य में साधक नहीं बल्कि बाधक है। चारों ओर भोगों की ओर जाने वाला उपयोग यदि वहाँ जाना बंद कर दें तो उपयोग की धारा को योग की ओर ले जाना आसान हो जायेगा।

जैसे डॉक्टर क्रमशः इलाज करता है और रोगी को रोग-मुक्त कर देता है। ऐसा ही यदि आप चाहें तो क्रमशः भोगों को कम करते-करते उससे पूरी तरह मुक्त हो सकते हैं और अपनी चेतना की धारा योग की तरफ मोड़ सकते हैं, साधना की बात है, अभ्यास की बात है। घुड़सवार होते हैं, घोड़े के ऊपर बैठ जाते हैं, आपने कभी गौर से देखा हो तो मालूम पड़ जायेगा कि वे घोड़े के ऊपर बैठते नहीं हैं, जब घोड़ा दौड़ता है तो वे घोड़े की पीठ पर लटके पायदान पर पैर रखकर उसके ऊपर सारा वजन डाल देते हैं, लगभग खड़े हो जाते हैं, घोड़ों को काबू में रखने के लिए ऐसा करना अनिवार्य है। इसी प्रकार उपयोग को रोकने के लिए योगीजन प्रयास करते हैं, सतर्क होकर धीरे-धीरे नियंत्रण करते हैं।

भारत का प्रत्येक नागरिक भोगों को क्रमशः नियंत्रित करने के लिए ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है, विवाह करता है। विवाह की पद्धति के बारे में भारत की प्रथा एक अलग प्रथा है, यहाँ विवाह का अर्थ मात्र भोग का समर्थन करना नहीं है बल्कि भोग को नियंत्रित रखने की प्रक्रिया है। काम को क्रमशः जीतने का एक सीधा-सरल तरीका है विवाह। जो व्यक्ति विवाह के बिना रहना चाहता है उसके लिए योग की साधना अलग है, जिसके माध्यम से वह जीवन की ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी बनाता है, अपने जीवन में फिर पीछे मुड़कर नहीं देखता। लेकिन इस प्रकार के व्यक्तियों की संख्या अत्यल्प है।

बहुसंख्यक लोगों के लिए, जो विवाह की पद्धति अपनाते हैं, उन्हें भी पूर्व भूमिका का प्रशिक्षण लेना चाहिए, जीवन को किस प्रकार ढालना है, इस विषय में आज कोई नहीं सोचता। सोचना चाहिए। यदि माँ-पिता लड़की या लड़के को देखते हैं तो पहले धन नहीं बल्कि उनके चारित्र के बारे पूछताछ करनी चाहिए, भारतीय सभ्यता के अनुसार तो विवाह की यही प्रक्रिया है। इसके बाद ही सम्बन्ध होते हैं। सम्बन्ध का क्या अर्थ है? 'समीचीन रूपेण बंध इति'- समीचीन रूप से बंधने का नाम ही सम्बन्ध है।

आज अधिकतर सुनने में आता है कि सम्बन्ध बिगड़ गया, बिगड़ने का कारण क्या है? तो यही कि पूर्वापर विचार नहीं किया और सम्बन्ध तय कर दिया, यही तो मुश्किल है, जो सम्बन्ध होता है वह माता-पिता के द्वारा किया जाता है और वह वर-वधू को मंजूर होता है, वे जानते हैं कि माता-पिता ने हमारे हित के लिए किया है।

एक बार की बात है, मुसलमानों के यहाँ शादी थी, पंडाल में वर को बैठाया गया और वधू को बहुत दूर अंदर परदे की ओट में, दोनों पक्षों में मौलवी रखे गये थे, उनके द्वारा पूछा गया कि क्या यह सम्बन्ध दोनों को मंजूर है? तो वे कह देते हैं कि जी हाँ! मंजूर है। यह एक बार नहीं, तीन बार बोलना पड़ता है जैसे आप मन-शुद्धि, वचन-शुद्धि और काय-शुद्धि बोलते हैं। हमने सोचा कि यह तो शपथ हो गयी, सभी के सामने शपथ ले ली ताकि सम्बन्ध पूरी जानकारी के साथ हो।

आज तो भारत की क्या दुर्दशा हो गयी है? कभी आपने सोचा कि किस तरह भारतीय सभ्यता टूटती जा रही है विवाह के मामले में, यदि भारतीय सभ्यता से संस्कारित होकर शादी की जाए तो पति-पत्नी दोनों कुछ ही दिनों में भोगों से विरक्त होकर घर से निकलने का प्रयास करते हैं। भोगों को त्यागने की भावना उनके अंदर स्वतः ही आने लगती है और उसके उपरांत आत्मोद्धार करके वे अपने जीवन का निर्माण कर लेते हैं।

कुल-परम्परा और संस्कृति का ध्यान रखकर जो विवाह होते हैं उनमें भोग की मुख्यता नहीं रहती। विवाह के समय होने वाले विधि-विधान वर-वधू को सदाचार, विनय, परस्पर स्नेह और व्यसन मुक्त होकर जीने का संदेश देते हैं। सप्तपदी विवाह में सात प्रतिज्ञाएँ दी जाती हैं। जिनका पालन वर-वधू को जीवन-पर्यंत करना होता है। विवाह की सामग्री में अष्ट मंगल द्रव्य और विशेष रूप से स्वास्तिक को रखा जाता है। हमने सोचा कि सांथिया के बिना यहाँ भी काम नहीं चलता। स्वास्तिक का अर्थ है ''**स्वस्थ अस्तित्व द्योतयति इति स्वास्तिकं**'', अपने अस्तित्व को उद्योत करना, अपने आप को पा लेना।

उसका सीधा सा अर्थ यही हुआ कि विवाह के समय कह दिया जाता है कि देखो। तुम दोनों मिलने जा रहे हो लेकिन ध्यान रखना, सब कार्यों को मिल जुलकर करना, अपनी दिशा को नहीं भूलना और 'स्व' के अस्तित्व को भी कभी नहीं भूलना, यह आत्मा को उन्नत बनाने की प्रक्रिया है। यह एक मात्र अवलम्बन है। जिस प्रकार नदी को पार करते समय नाव की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार जंगल को पार करते समय मार्गदर्शक की आवश्यकता होती है, किसी सूचना या संकेत फलक की आवश्यकता होती है उसी प्रकार जीवन-साथी के माध्यम से दोनों पार हो जायें भवसागर से, यह परस्पर आलम्बन बनाया जाता है।

इतनी ही नहीं, सबसे बड़ा संकल्प तो इस बात का किया जाता है कि '**मातृवत् परदारेषु**' अर्थात् एकमात्र पत्नी को छोड़कर अब पति के लिए संसार में जितनी भी महिलाएँ हैं, उनमें अपने से बड़ी को माँ के समान, बराबर उम्र वाली को बहिन के समान और छोटी को पुत्री के समान समझना, ऐसा कह दिया जाता है। और वधू से कहा जाता है कि वर को छोड़कर सबको पिता के समान, भाई के समान या पुत्र के समान जानना, इसके अलावा और कोई राग भाव नहीं आना चाहिए।

देखो, कितना अनुशासन है, महानदी असीम क्षेत्र में फैली हुई थी, उसकी शक्ति को एकत्रित करके उस जल का उपयोग करने के लिए बाँध का निर्माण किया गया। जो काम इतनी बड़ी नदी नहीं कर पा रही थी, अब बाँध के द्वारा होने लगा, जहाँ तक वह पानी फैलाना चाहो, फैलाओ। सारा पानी काम आयेगा, क्योंकि बंधा हुआ बाँध है अनुशासित है, अभी नदी के बहते हुए जल से बिजली नहीं बनती थी, अब बाँध के माध्यम से बिजली का भी निर्माण होगा।

विवाह का सम्बन्ध भी ऐसा ही अनुशासित बंधन है, जिससे उत्पन्न शक्ति के द्वारा समाज का विकास होगा, वह समाज के उपयोग में आयेगी। प्रत्येक बंधन का उद्देश्य ऐसी शक्ति का निर्माण करना है जो विश्व को प्रकाश दे सके, आदर्श प्रस्तुत कर सके। सब कुछ भूल जाना लेकिन अपने आप को नहीं भूलना, इसी को बोलते हैं दाम्पत्य बंधन, अब दंपत्ति हो गये, अपनी अनंत इच्छाओं का दमन कर लिया, उनको सीमित कर लिया।

कभी आपने सोचा कि बाँध कब टूटता है? बाँध उस समय टूटता है जब बाँध बनाने वाले को लोभ आ जाता है, इसी प्रकार आज दाम्पत्य-बंधन के बीच में यदि धन सम्पत्ति का लोभ आ जाता है, लालसा बढ़ जाती है तो दुर्घटना घट जाती है। जिस जल राशि के द्वारा कल्याण होता था, उसी के द्वारा तबाही होने लगती है, परिवार और समाज की बदनामी हो जाती है, बाँध टूट जाने पर पुनः निर्माण उसी जगह संभव नहीं होता, बड़े-बड़े इंजीनियर लोग अपना दिमाग लगा देते हैं, तब भी जोड़ना मुश्किल पड़ता है, वस्त्र फट जाने पर आप जोड़ लगा देते हैं लेकिन पूरी की पूरी मजबूती रहे ऐसा जोड़ लगाना संभव नहीं होता, एक बार सम्बन्ध टूट जाने पर फिर बेमेल हो जाता है वह सम्बन्ध।

बंधुओ! भोग से बचकर योग की ओर जाने के लिए एक ऐसा सम्बन्ध विवाह के द्वारा बनाया जाता है कि जिसके उपरांत जीवन का प्रवाह अपने आप ही आगे बढ़ जाये। शरीर भिन्न-भिन्न रहते हुए भी आत्मिक सम्बन्ध ऐसा हो जाए कि जीवन बेजोड़, एक जैसा और अद्‌भुत महसूस होने लगे। एक गाड़ी में दो बैल जोते जाते हैं, एक बैल यदि पूर्व की ओर जाये और दूसरा पश्चिम की

ओर जाने लगे तो बैलगाड़ी का आगे बढ़ना मुश्किल हो जाता है। बैलगाड़ी चलाने वाला कितना भी होशियार क्यों न हो, वह भी परेशान हो जाता है। जब दोनों समान दिशा में चलेंगे तभी जीवन की गाड़ी चल पाती है, आचार-विचार में ऐक्य होना आवश्यक है, जहाँ ऐक्य है वहाँ जीवन में बहुत अच्छे-अच्छे कार्य हो सकते हैं, जीवन के खंड-खंड नहीं होने चाहिए, जीवन अखण्ड बने, ऐसा भाव बनाना चाहिए।

आज की विवाह प्रक्रिया को देखकर लगता है कि व्यक्ति प्राचीनकाल से चली जा रही सही पद्धति को छोड़ते चले जा रहे हैं, धन पैसे का लालच बढ़ता जा रहा है। आज बड़ी उम्र की कन्याएँ दहेज के कारण तकलीफ पाती हैं, उनका जीवन उनके घर में सुरक्षित नहीं रहता, उन पिताओं पर क्या गुजरती है जिनकी बेटियों के ऊपर आए दिन दुर्घटनाएँ घटती हैं? यह तो वही जानते हैं। अब तो विवाह न होकर यह तो व्यवसाय हो गया है, यह कैसी परम्परा, यह कौन सा आदर्श प्रस्तुत किया जा रहा है पढ़े लिखे आज के समाज द्वारा।

अगर कोई कन्या आगे जाकर ऐसा कह दे कि दहेज में हजारों रुपये देकर हमने लड़के को खरीद लिया तो क्या होगा? जीवन पर्यन्त के लिए जो एक ही रहे हैं, क्या इस तरह उनके जीवन में ऐक्य हो जाएगा? क्या जीवन पर्यंत वे सुखपूर्वक जी सकेंगे? जो प्रतिज्ञाएँ उन्हें दिलायी जाती हैं उनका कोई अर्थ जीवन में रह जाएगा? कोई अर्थ नहीं रहेगा। ऐसे सम्बन्ध आत्म-कल्याण के लिए बाधक ही बनते हैं।

पाणिग्रहण होता है, एक दूसरे का हाथ पकड़कर जीवन भर साथ चलने का संकल्प लिया जाता है, जीवन में कौन-कौन सी घाटियाँ आ सकती हैं, कैसी-कैसी बाधाएँ आ सकती हैं, उन सभी में दोनों मिल जुलकर संतोषपूर्वक आनंद के साथ रहें, दोनों परस्पर सहयोगी बनें, एकता के साथ जिएं, यही भावना होती है, लेकिन अर्थ के प्रलोभन के वशीभूत होकर आज अनर्थ हो रहा है, समाज के द्वारा इस पर अंकुश लगाया जाना चाहिए, मात्र धर्म की चर्चा करने से कुछ नहीं होगा, आचार-विचार में धर्म आना चाहिए।

आचार्य उमास्वामी ने लिखा है '**अदत्ता दानं स्तेयं**'- देने की भावना नहीं होने पर जो जबर्दस्ती दिलवाया जाये, वह सब चोरी है, पाप है, लड़की का पिता दहेज दे नहीं रहा है, उसे देना पड़ रहा है उसकी देने की इच्छा नहीं है लेकिन भरे पंडाल में उसे देने के लिए मजबूर किया जा रहा है तो यह क्या है? आप भले ही न मानें पर आगम ग्रन्थों में इसे चोरी कहा गया है, पाँच पापों में एक पाप है।

आज जिसे आचार्यों ने कन्यादान माना है वह व्यवसाय हो गया है, सौदा हो गया है, चेतना का मोल जड़ के द्वारा किया जा रहा है जो कि मानवता के महापतन का सूचक है। शादी के बाद

जब कन्या पति के घर आती है तब गृहलक्ष्मी मानी जाती है, देवी के समान मानी जाती है, कन्यादान देने वाला पिता श्रेष्ठ पात्र को देखकर यह दान देता है ताकि जीवन पर्यन्त उसकी उन्नति हो सुरक्षा हो, दोनों मिलकर आत्म-कल्याण करें, सांसारिक विषय भोगों में ही न फँसे रहें बल्कि आत्मोद्धार के लिए अग्रसर हों, आत्म-चिंतन के लिए समय निकाल सकें, धर्मध्यान पूर्वक सदाचारमय जीवन व्यतीत करें।

यह सारे संस्कार, आचार-विचार आज लुप्तप्राय: हो गये हैं, कोई भी आदर्शमय विवाह देखने में नहीं आता, इतना पैसा कमा करके आप कहाँ रखेंगे? कहाँ ले जायेंगे? यह लोभ धर्म को नष्ट-भ्रष्ट करता चला जा रहा है। सभ्य समाज पर इसका बुरा प्रभाव पड़ रहा है। समाज में यदि एक भी बुरा कार्य हो जाता है तो उसकी बुरी छाप पूरे समाज में पड़ती है, भाई! यह अर्थ प्रलोभन ठीक नहीं है, भोग सामग्री की लिप्सा आपको कभी योग का स्वाद नहीं लेने देगी। अपने जीवन को ऐसा बनाओ जिससे लोग अच्छी शिक्षा ले सकें। पुराणों में देखो, सद्गृहस्थ का जीवन कितना उज्ज्वल था, कैसी निर्मल साधना थी।

एक साधु गेरुआ रंग के वस्त्र पहने हुए थे, हाथ में रुद्राक्ष की माला लेकर प्रभु के ध्यान में तल्लीन थे, मौन साधना चल रही थी, कोई बिना मांगे कुछ दे देता, तो ठीक, नहीं तो मांगने का कोई सवाल नहीं, तभी एक घटना घटी कि आकाश में बादल छा गए और वर्षा होने लगी, तापसी ने ऊपर देखा तो देखते ही बादल फट गये, बरसात बंद हो गयी और आकाश स्वच्छ हो गया, उसे विश्वास हो गया कि साधना पूरी हो गयी है, साधना का फल दिखाई देने लगा।

दूसरे दिन की बात है कि वही महात्मा जी एक पेड़ के नीचे बैठे थे, पेड़ की शाखा पर बैठे कबूतर ने उनके ऊपर बीट कर दी, उन्होंने जैसे ही आँख उठाकर कबूतर की ओर देखा और वह कबूतर भस्मसात हो गया, अब उन्हें अपनी शक्ति पर अहंकार आ गया और सोचा कि धीरे-धीरे इसका प्रचार-प्रसार करना चाहिए, चमत्कार सभी को मालूम पड़ना चाहिए, आगे एक गाँव की ओर चल पड़े, वहाँ जब अपने चमत्कार की चर्चा की तो एक व्यक्ति ने कह दिया कि इसमें विशेष बात नहीं है, गाँव में ऐसे मौन साधक बहुत हैं जो घर गृहस्थी में रहकर भी ऐसे चमत्कार दिखा सकते हैं। साधु को आश्चर्य हुआ और सोचा कि चलकर देखा जाए।

एक घर के सामने पहुँचकर कहा कि 'भिक्षां देहि'- भिक्षा देओ। अंदर से आवाज आ गयी कि ठहरिये, ठहरिये, अभी थोड़ा काम कर रही हूँ, थोड़ी देर ठहरकर साधु से रहा नहीं गया और कहा कि जानती हो मैं कौन हूँ? अब की बार अंदर से धान कूटने का कार्य कर रही महिला ने कहा कि जानती हूँ, मुझे मालूम है आप कौन हैं, पर ध्यान रहे मैं कबूतर नहीं हूँ।

अब तो साधु आपे से बाहर हो गया पर ज्यों ही उसने घर के अंदर झाँककर देखा तो दंग रह गया। वह महिला धान कूटते-कूटते पति के लिए कुछ सामान देने उठी तो मूसल यूँ ही छोड़ दिया और चली गयी, मूसल जहाँ छोड़ा था वहीं हवा में स्थिर हो गया, जब वह पति की सेवा से निवृत्त हुई तो मूसल ठीक से संभालकर रखा और साधु के पास पहुँच गयी और कहा कि क्षमा करिएगा महाराज। मैं अपने पति की सेवा में व्यस्त थी इसलिए आपको भिक्षा देने में विलंब हुआ।

वह तपस्वी बहुत लज्जित हुआ, उसका क्रोध जाता रहा और उसने कहा कि ''माई! आपकी साधना अद्भुत है, आपका पतिधर्म श्रेष्ठ है,'' सतीत्व के प्रभाव से ही वह मूसल हवा में स्थिर रह गया, ऐसी पतिव्रता स्त्रियाँ होती थी, ऐसा परस्पर प्रेमभाव हुआ करता था, भोग-सामग्री के बीच रहकर भी योगी जैसा जीवन जीते थे और गृहस्थ धर्म के संकल्पों को, कर्त्तव्यों को भलीभाँति पूरा करते थे, आज भी कुछ भारतीय लोग इन संस्कारों से संस्कारित हैं किन्तु धीरे-धीरे पश्चिमी प्रभाव से सभी प्रभावित हो रहे हैं।

गृहस्थाश्रम को भी आदर्शमय बनाने का प्रयास गृहस्थ को करना चाहिए। गृहस्थाश्रम के बाद वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम की ओर गतिशील होना चाहिए, जीवन पर्यन्त जब तक सम्बन्ध रहे तब तक एक होकर रहना चाहिए, जीवन के अंतिम समय में महिलाएँ आर्यिका व्रत ले सकती हैं और पुरुष साधु बन सकते हैं, यदि इस प्रकार की साधना कोई करें तो संसार का अंत होने में देर नहीं है, यही भोग से योग की ओर जाने का एकमात्र यात्रा पथ है, जो इस पथ पर आरूढ़ होता है उसका नियम से इस जीवन में कल्याण होता है और दूसरे के लिए भी आदर्श प्रस्तुत होता है।

❑ ❑ ❑

सत्य की छवि में..

यदि कोई सिद्धान्त का गलत अर्थ निकालता है, तो उस समय बिना पूछे ही उसका निराकरण करना चाहिए। यदि उस समय वह समन्तभद्राचार्य जैसी गर्जना नहीं करता है तो उसका सम्यग्ज्ञान मिथ्याज्ञान में परिणत हो जाएगा।

जिस प्रकार माहौल के वातावरण से प्रभावित होकर के गिरगिट अपना रंग बदलता रहता है, उसी प्रकार आजकल के वक्ता भी स्वार्थ सिद्धि की वजह से आगम के अर्थ को बदलते रहते हैं।

लोभ के वशीभूत हुआ प्राणी सत्य धर्म को सही-सही उद्घाटित नहीं कर सकता। सत्य का अर्थ है अहिंसा। असत्य का अर्थ है हिंसा, सत्य का पक्ष कभी फालतू नहीं जाता।

लौकिक क्षेत्र में यह प्रसिद्ध है कि जिस रोग के आवागमन से शरीर का एक पक्ष विकल हो जाता है; शरीर का एक भाग काम नहीं करता, उसे वैद्य लोग पक्षाघात कहते हैं। मैं समझता हूँ कि

पक्षाघात स्वयं पक्षाघात से युक्त है, क्योंकि वह शरीर के मात्र आधे हिस्से को ही निष्क्रिय करता है, पूरे को नहीं। किन्तु! सही पक्षाघात में पक्षपात को मानता हूँ, पक्षपात के आने से उसकी चाल में, उसकी दृष्टि में, उसकी प्रत्येक क्रिया में अन्तर आ जाता है। जहाँ पक्षपात आ जाता है वहाँ भीतर की बात भीतर ही रह जाती है।

किसी व्यक्ति से पूछा जाए कि तुमने चोरी की है तो उसका मन पहले कहता है कि 'हूँ' फिर बाद में जब उसे बाध्य किया जाता है तो यह 'परावाक्' पश्यन्ति के रूप में परिवर्तित हो जाती है। उस समय भी परावाक् बिल्कुल शुद्ध रहती है, पश्यन्ति भी बिल्कुल ठीक रहती है किन्तु मध्यमा के ऊपर ज्यों ही चढ़ना प्रारम्भ कर देता है त्यों ही उसके लिए एक आशा आ जाती है और जिह्वा बोलना भी चाहती है, लेकिन उसका गला घुटकर-सा रह जाता है। वह कहती है कि-जैसा हुआ वैसा नहीं, जो मैं कह रहा हूँ वह बोलना है। क्यों तुमने चोरी की है तो वह कहता है कि हूँ.. हूँ .. नहीं, यह निकल गया। इसका अर्थ है 'है' हाँ फिर उसके उपरांत 'नहीं' करता है। आप कितनी भी पिटाई कीजिए, कड़ा से कड़ा दण्ड दीजिए वह सत्य को असत्य की ओट में छुपा देता है। यही विचार की बात है, आचार की बात है; कौन नहीं जानता कि चोरी करना गलत है, लेकिन वह चोर भी जानता हुआ डरता है, पीछे मुड़कर देखता है कि पुलिस आ रही है और मेरे लिए पकड़ेगी। इस प्रकार वह भयभीत होता हुआ, चोरी को अच्छा नहीं समझता, फिर भी लत पड़ गई है, इसलिए वह चोरी को छोड़ नहीं पा रहा है। विषयों की चपेट में आया हुआ प्राणी, विषयों को छोड़ नहीं पाता, यह अज्ञान है। अज्ञान का अर्थ यह नहीं कि वहाँ पर ज्ञान का अभाव है। ज्ञान तो है लेकिन पूरा नहीं है, और सही नहीं है। इसलिए येन केन प्रकारेण विषयों की पूर्ति के लिए कदम उठाता है।

पक्षपात!
यह एक ऐसा
जल प्रपात है
जहाँ पर
सत्य की सजीव माटी
टिक नहीं सकती
.... बह जाती
पता नहीं कहाँ?
वह जाती

असत्य के अनगढ़
विशाल पाषाण खण्ड
अधगढ़े टेढ़े-मेड़े
अपने धुन पर अड़े
शोभित होते (डुबो मत लगाओ डुबकी से)

पक्षपात एक ऐसा जल प्रपात है जो सत्य की माटी को टिकने नहीं देता। सिद्धक्षेत्र मुक्तागिरजी में हमने देखा था, तो वहाँ टेड़े/मेड़े विशाल पाखण्ड खण्ड ही मात्र मिले, माटी के दर्शन तो वहाँ पर हुए ही नहीं। असत्य जीवन के पास जाते ही घबराहट होने लगती है। कहीं ऐसा न हो कि सत्य, असत्य के रूप में परिणत हो जाए आज सुबह ही एक सूत्र में आया था-

'बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च' (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र ३७)

परिणमन कराने की शक्ति असत्य के पास बहुत है, सत्य के पैरों को भी वह हिला देता है क्योंकि सत्य आदि है, और असत्य अनन्तकाल से चला आ रहा है। सत्य की सुरक्षा आज अनिवार्य है और सत्य की सुरक्षा वहीं पर हो सकती है, जहाँ पर पक्षपात नहीं है। जहाँ शुद्ध आचार/विचार है, और यदि यह सब नहीं है तो वहाँ सत्य धीरे-धीरे फिसलता हुआ असत्य के रूप में बदलता जाता है। आज मुझे सत्य की बात कहना है असत्य की नहीं, असत्य से तो आप सभी लोग परिचित हैं।

सुदपरिचिदाणुभूदा, सव्वस्सवि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलम्भो, णवरि ण सुलहो विहत्तस्स॥

(समयसार/पीठाधिकार/गाथा ४)

आचार्य कुन्दकुन्ददेव समयसार में कहते हैं कि इस आत्मा ने भोग/काम/बन्ध की कथायें खूब सुनी हैं। यदि नहीं सुनी है तो, एकत्व की कथा नहीं सुनी। विषयों का इसे खूब अनुभव है। विषय भोग के बारे में कोई भी बालक नहीं है, सभी अनंतकाल के आसामी हैं और अनंत का कोई ओर-छोर नहीं होता। आत्मा का क्या इतिहास है? पहले ही हमने बताया था, कि आज मुझे सत्य की बात कहना है। सत्य क्या है? सत्य, अजर/अमर है। सत्य, अनादिकाल से चला आ रहा है। आज तक हमने सत्य का मूल्यांकन नहीं किया, आज तक हमने सत्य को संवेदन नहीं किया और मात्र असत्य का संवेदन, मनन/चिन्तन/किया है, स्वप्न में भी सत्य का संवेदन नहीं किया। जिसने सत्य का संवेदन किया उसे मार्ग मिला, मंजिल मिली और अनंतकाल के लिए वह अनंत/अव्याबाध सुख का भोक्ता बन गया। सत्य की महिमा कहने योग्य नहीं है, उसे हम शब्दों में बाँध नहीं सकते। वह लिखने की वस्तु नहीं लखने की वस्तु है। लिखनहारे तो बहुत हैं, लेकिन लखनहारा तो विरला

ही पाओगे, वस्तुतत्त्व का निरीक्षण करने वाला हृदय आज कहाँ है? इसलिए आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने लेखनी उठाते ही कह दिया **''सुदपरिचिदाणुभूदा''** सभी कार्य संसारी प्राणी ने अनंतों बार किए हैं।

पूर्व वक्ता ने अभी-अभी कहा था कि जिनवाणी को अपने जीवन में उतारना है। **''धम्मं भोगणिमित्तं''** यह गाथा जब मैं आगे जाकर उसी समयसार में देखता हूँ तो एक विचित्र सत्य के दर्शन होते हैं। एक मिथ्यादृष्टि जीव है, वह सच्चे देव/शास्त्र/गुरु पर श्रद्धा रखता है, लेकिन फिर भी उसके अन्दर कहाँ पर कमी रहती है? तो आचार्य कहते हैं कि भाव-भासन का अभाव है। भोगों की चपेट से वह अपने को छुड़ा नहीं पा रहा है। ज्ञान का समार्जन करने वाला व्यक्ति, यह सोचता है कि-मेरे भीतर भोग की लिप्सा कितनी मात्रा में घटी है। चाहे वह स्वाध्याय करने वाला हो या पूजन करने वाला, अन्दर ही अन्दर वे घड़ियाँ चलती रहती हैं। जिस प्रकार ब्लड-प्रेशर नापते समय काँटा यूँ-यूँ करता है उसी प्रकार मन की प्रणाली बार-बार विषयों की ओर आती जाती है। सत्य क्या है? असत्य क्या है वह सोचता रहता है।

एक दोस्त था। उसके घर के लोग तन्त्र/मन्त्र को बहुत मान्यता देते थे। और वह मात्र देव/शास्त्र/गुरु को मानता था। एक दिन वह कहता है कि मुझे एक ताबीज लेना है। मैंने कहा कि कहाँ से लाओगे? सुनार के यहाँ से लायेंगे। मैंने कहा कि चलो हम भी देखते हैं कैसे ताबीज बनती है। तब वह सुनार के पास जाकर कहता है कि फलाने व्यक्ति ने इस प्रकार की ताबीज लाने के लिए कहा था। जो कुछ भी पैसा लेना है ले लो, लेकिन! ताबीज अच्छी बनाना है। ताबीज बनाते समय ताँबे के ऊपर हथौड़े की सही चोट पड़ना चाहिए, झूठ नहीं पड़ना चाहिए। झूठ का मतलब मैं समझता रहा, देखता रहा। झूठ कौन-सी होती है जो कोई भी आभरण बनते हैं, उन पर हथौड़े की चोट करके यूं यूँ करते हैं। उसको बोलते हैं झूठा प्रहार, उसका कोई मतलब नहीं होता। इसका अर्थ होता है, कि ताबीज झूठा प्रहार सहन नहीं कर सकता। बाँधने वाला झूठ बोले यह बात अलग है, लेकिन! ताबीज कहता है कि मेरा निर्माण बिना झूठ के हुआ है। हमने सोचा क्या मामला है? तो मामला यह है कि सुनार की सावधानी वहाँ पर होगी।

आज तो ''धर्मयुग'' है। हाँ बात तो बिल्कुल ठीक है भैय्या आज तो धर्मयुग पत्रिका निकल रही है, और ''युगधर्म'' भी निकलता है। कभी धर्म आगे बढ़ जाता है, तो कभी युग आगे बढ़ जाता है। तो हम धर्म-युग की बात करें। आज युग इतने आगे बढ़ गया है, और धर्म इतने पीछे रह गया है कि क्या बताऊँ? इसलिए तो धर्म युग कहा गया। धर्म की बातें करने से धर्म नहीं आ सकता, धर्म तो तब आएगा जब युग धर्ममय बन जाए। पंक्तियाँ-प्रस्तुत हैं-

यह युग

अप्रत्याशित

आगे बढ़ चुका है बहुत दूर

और!

धर्म वह

बहुत ... दूर

पीछे रह चुका है

अन्यथा

पत्रिका का नाम

धर्म युग

क्यों पड़ा यह?

('चेतना के गहराव में' से)

सत्य का अर्थ है अहिंसा, और असत्य का अर्थ है हिंसा। हमारे उपास्य देवता सत्य और अहिंसा हैं। इन्हीं दो मन्त्रों को लेकर गाँधीजी ने ब्रिटिश गवर्नमेंट को प्रभावित किया था। इस शताब्दी में भी इस प्रकार के परिवर्तन हुए हैं। सत्य-अहिंसा कोई शाब्दिक व्याख्या नहीं है। यह एक प्रकार से भीतर की बात है। आज सत्य के कदम कहाँ तक उठ रहे हैं, अपने जीवन में सत्य का मूल्यांकन कहाँ तक हो रहा है? छोटी-छोटी बातों को लेकर झूठ बोलते हैं, लेकिन! यह विश्वास के साथ सोचना चाहिए, जो काम झूठ के द्वारा हो रहा है, क्या वह सत्य के द्वारा नहीं होगा? उससे बढ़कर ही होगा लेकिन! असत्य के ऊपर हमारा विश्वास जमा हुआ है। असत्य की ही ओर हमारी दृष्टि है।

सत्य का पक्ष वह है जो कभी फालतू नहीं होता। असत्य का पक्ष हमेशा फालतू ही हुआ करता है, उसकी कीमत तब तक ही रहती है जब तक हम समझते नहीं हैं। हमें असत्य/हिंसा का पक्ष नहीं लेना है, सत्य/अहिंसा का पक्ष ही लेना है। लेकिन! सत्य का पक्ष लेने वाला व्यक्ति, क्रोध/लोभ/भीरुता/हास्य का आलम्बन नहीं लेगा। लोभ के वशीभूत हुआ प्राणी सत्य धर्म को सही-सही उद्घाटित नहीं कर सकता। सत्य की सुरक्षा के लिए क्रोध/लोभ/भीरुता/हास्य को छोड़ना होगा। आचार्य शुभचन्द्र जी ने ज्ञानार्णव में एक बात कही है, जो मुझे बहुत अच्छी लगी, कि विद्वान् को अपनी गंभीरता नहीं छोड़ना चाहिए। यद्वा/तद्वा नहीं बोलना चाहिए, अपनी सीमा में रहना चाहिए,

यह बिल्कुल ठीक है। बार-बार पूछने के उपरान्त भी नहीं बोलना चाहिए, लेकिन यदि धर्म का नाश हो रहा हो तो?

धर्मनाशे क्रियाध्वंसे सुसिद्धान्तार्थविप्लवे।
अपृष्टैरपि वक्तव्यं तत्स्वरूप-प्रकाशने॥

(ज्ञानार्णव सर्ग ९, श्लोक १५)

जब धर्म का नाश होने लगता है, धार्मिक क्रियाओं का विध्वंस होने लगता है और यदि कोई व्यक्ति सिद्धान्त का गलत अर्थ निकालता है तो, उस समय बिना पूछे ही उसका निराकरण करना चाहिए। उस समय वह समन्तभद्राचार्य जैसी गर्जना नहीं करता है तो उसका सम्यग्ज्ञान मिथ्याज्ञान के रूप में परिणत हो जाएगा। क्योंकि उस समय उसने सत्य को ढँक दिया। यह बात मुमुक्षु को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए। आज महावीर भगवान के सिद्धान्त के अनुसार चलने वाले विरले ही रह गए हैं। मात्र साहित्य के माध्यम से ही महावीर भगवान का धर्म जीवित नहीं है, बल्कि! उस साहित्य के अनुरूप चर्या भी देखने मिल रही है, भले ही उसका पालन करने वाले अल्प संख्या में हैं।

साहित्य के अनुरूप आचरण करने वालों की कमी होने के कारण आज बौद्ध धर्म विश्व में रहते हुए भी किस रूप में है? हम जान नहीं सकते। वह मात्र पेटियों में बन्द हो गया है, बौद्ध धर्म के उपासक आज भारत में नहीं हैं। जबकि बौद्धधर्म भारत में ही स्थापित हुआ था, प्रचार-प्रसार हुआ था किन्तु उनके उपासक यहाँ पर नहीं टिक सके। फिर बाद में वह धर्म तिब्बत, लंका आदि में चला गया। यहाँ पर भगवान आदिनाथ से लेकर महावीर भगवान तक जैनधर्म अबाधगति से चला आ रहा है, इसमें कारण क्या है?

एक विदेशी लेखक ने एक पुस्तक में लिखा है कि बौद्ध धर्म का उद्‌गम भारत में हुआ और भारत में ही उसका वर्चस्व कायम नहीं रह पाया। जैन धर्म का उद्‌गम भी भारत में हुआ और जीवित रह गया। बौद्धधर्म जीवित क्यों नहीं रह पाया? इसमें कारण यही है कि उसके उपासकों की संख्या घटती गई इसलिए बौद्ध धर्म यहाँ से उठ गया। उपासकों के अभाव में वह धर्म लुप्त हो गया और उपासकों के सद्‌भाव में जैन धर्म आज भी जीवित है और आगे भी रहेगा।

यह बात अलग है कि धीरे-धीरे शिथिलता आ रही है। चलने वाला शिथिल भले हो, लेकिन धर्म जीवित रखने का श्रेय उपासकों को ही है। धर्म रूपी रथ के दो पहिए हैं-एक मुनि, दूसरा श्रावक। यह सत्य है कि यदि एक पहिया निकाल दिया जाए तो रथ नहीं चल सकता। इसी प्रकार श्रुतज्ञान को निकाल दिया जाए तो केवलज्ञान गूंगा हो जाएगा। केवलज्ञान और सर्वज्ञ को समाप्त कर दिया जाए तो श्रुतज्ञान नहीं रहेगा, इसलिए दोनों के सद्‌भाव में यह धर्म रहने वाला है।

अक्षर के पास ज्ञान भी नहीं है, पर अर्थ को व्यक्त करने की योग्यता उसके पास है। योग्यता का अधिकरण उसकी विवक्षा करने वाले वक्ता के ऊपर निर्धारित है सो आज उन लोगों के पास वह भी नहीं है। आज साहित्य क्या है? वस्तुतः जो वाच्यभूत पदार्थ है उसको हम शब्दों में व्यक्त करते हैं। शब्द वस्तुतः ज्ञान नहीं हैं, शब्द कोई वस्तु नहीं है किन्तु वस्तु के लिए मात्र संकेत है। भाषा (लेंग्वेज) यह नॉलेज नहीं है, मात्र साइनबोर्ड है। नॉलेज का अर्थ जानने की शक्ति और लेंग्वेज को जानने के लिए भी नॉलेज चाहिए। यदि वह विषयों में, कषायों में घुला हुआ है तो ध्यान रखना उसका कोई मूल्य नहीं है।

आज कई विदेशी आ जाते हैं, दिगम्बरत्व के दर्शन करते हैं, श्रावकों को देखते हैं तो ताज्जुब करते हैं कि इस प्रकार धर्म रह सकता है। गाँधीजी जब यहाँ से विदेश गए थे, वहाँ पर उनके स्वागत के लिए बहुत भीड़ एकत्रित थी। यह कैसी खोपड़ी है? यह कैसी विचारधारा है? जिसके माध्यम से हमारा साम्राज्य पलट गया। उस व्यक्ति को हम देखना चाहते हैं, जब वो निकल गए तो लोग इधर-उधर देखने लगे। कहाँ हैं गाँधीजी किसी ने कहा कि गाँधीजी यही हैं भैया! तो वे कहने लगे कि- अरे ये तो साधु जैसे हैं। तब गाँधीजी ने कहा कि ये तो साधु की पृष्ठभूमि है, साधु तो बहुत पहुँचे हुए लोग होते हैं। तब लोगों ने कहा कि जब आपका इतना प्रभाव है तो उनका कितना होगा? गाँधीजी बोले-वे अपना प्रभाव दिखाते नहीं हैं क्योंकि वे दुनियाँ से ऊपर उठे हुए हैं।

आचार्य उमास्वामी ने सप्तम अध्याय में कहा है कि चोरी से, झूठ से काम लेना यह असत्य है।। सत्य बोलना सत्य नहीं है। असत्य का विमोचन करना सत्य है। अभी पूर्व वक्ता ने आपके सामने कहा कि महाराज तो विमोचन करने में माहिर हो चुके हैं। (पं. पन्नालालजी साहित्याचार्य द्वारा लिखित सज्ज्ञानचन्द्रिका का विमोचन करते समय) हाँ.......परिग्रह का तो मैं विमोचन करता हूँ पर श्रुत का विमोचन नहीं करता। श्रुत का विमोचन तब तक नहीं होगा जब तक मुझे मुक्ति नहीं मिलेगी। श्रुत का विमोचन यह लौकिक पद्धति है लेकिन आज स्वाध्याय का मूल्यांकन घटता चला जा रहा है।

एक वक्ता ने अभी कहा कि आज बड़ी-बड़ी संस्थायें हैं, संस्थाओं से शास्त्र भी प्रकाशित हुए हैं लेकिन उनको कोई पढ़ने वाले नहीं हैं। यह कथंचित् ठीक है लेकिन! मैं भी यह बात उनसे कहता हूँ कि ग्रन्थ प्रकाशित करने वालों का क्या कर्त्तव्य है? जरा इस पर भी ध्यान दें। देखो! सुबह से लेकर मध्याह्न तक रसोई मन लगाकर बनाई जाती है। भीतर से यह मन कहता है कि मैं किसी भूखे-प्यासे की क्षुधा दूर करूँ। मेरी रसोई का मूल्यांकन पूर्ण रूप से हो और वह सार्थक हो जाए। जिस किसी व्यक्ति को आप श्रुत देकर अपने आपको कृत-कृत्य नहीं मानोगे। जिस प्रकार जिसको

भूख है उसी को आप खाना खिलायेंगे। जिसके लिए अध्ययन की रुचि है उसे ही आप श्रुत दान दीजिए, यदि आप सही दाता हैं, श्रुत का सही-सही प्रचार-प्रसार करना चाहते हैं तो।

बहुत सारे छात्र मेरे पास आ जाते हैं, बहुत सारे व्यक्ति मेरे पास आ जाते हैं और कहते हैं कि महाराज मुझे कुछ दिशा बोध दीजिए, जो व्यक्ति खरीद करके दिशा बोध देता है, उसका सामने वाला सही-सही मूल्यांकन नहीं करता। जिनवाणी की विनय ही हमारा परम धर्म है। यदि सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं, तो सम्यग्ज्ञान के भी आठ अंग हैं लेकिन सम्यग्ज्ञान के आठ अंगों से बहुत कम लोग परिचित हैं। जिनवाणी का दान जिस किसी व्यक्ति को नहीं दिया जाता। जिनवाणी सुनने का पात्र वही है जिसने मद्य/मांस/मधु और सप्तव्यसनों का त्याग कर दिया है। मद्य/मांस/मधु का सेवन आज समाज में बहुत हो रहा है। केवल स्वाध्याय करने मात्र से ही सम्यग्दर्शन नहीं होने वाला। बाह्याचरण का भी अन्तरंग परिणामों पर प्रभाव पड़ता है। विषय वासनाओं में लिप्त यह आपकी प्रवृत्ति अन्दर के सम्यग्दर्शन को भी धक्का लगा सकती है, दुश्चरित्र के माध्यम से सम्यग्दर्शन का टिकना भी मुश्किल हो जाएगा। आजकल प्रत्येक क्षेत्र में प्रवृत्तियाँ बदलती जा रही हैं। पहले जैन ग्रन्थों पर मूल्य नहीं डाले जाते थे। क्योंकि जिनवाणी का कोई मूल्य नहीं है वह अमूल्य है लेकिन आज ग्रन्थों पर मूल्य डाले जा रहे हैं जो कि ठीक नहीं हैं। मोक्ष सुख दिलाने वाली इस जिनवाणी माँ को आप व्यवसाय का साधन मत बनाइये। सभा में बैठे हुए विद्वानों को यह कथन रुचिकर नहीं लग रहा होगा लेकिन यह एक कटु सत्य है। सत्य चाहे कड़वा हो या मीठा, उसको उद्घाटित करना हमारा परम कर्त्तव्य है। एक बात ध्यान रखना दवा कड़वी ही हुआ करती है और कड़वी दवा के माध्यम से ही रोग का निष्कासन हुआ करता है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय संहारिका मेरे पास आई थी, मैंने उसे देखा तो उसमें एक स्थान पर आया जिनवाणी सुनने का वही पात्र है-जिसने सप्त व्यसन और मद का त्याग कर दिया हो। आज दिनों दिन सदाचरण मिटते चले जा रहे हैं। मद्य/मांस/मधु से हमारा परहेज प्रायः समाप्त होता चला जा रहा है। केवल समयसार मात्र पढ़ने से हमें सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होने वाला। आचार्य अमृतचन्द्रजी कहते हैं-वही व्यक्ति पात्र है जो सदाचार का पालन करता हो, इसके उपरान्त ही सम्यग्दर्शन सम्भव है। इसलिए उन्होंने पहले सुनने की पात्रता बताई। हमें इसी प्रकार सीखना है तो उत्तमपात्र के लिए बहुत खर्च करना पड़ता है। इसके उपरान्त आपका वित्त सार्थक होगा। पहले के लोग भी स्वाध्याय करते थे, मैंने पहले के कुछ ग्रन्थ देखे हैं जिन पर कीमत के रूप में स्वाध्याय लिखा जाता था। उन ग्रन्थों के ऊपर कीमत नहीं लिखी जाती थी, मैंने कई बार इस बात को कहा है। मैं स्वाध्याय का निषेध नहीं करता स्वाध्याय आप खूब करिये! लेकिन विनय के साथ करिये। पहले स्वाध्याय करने की पात्रता/योग्यता अपने आप में लाइये, तभी आप सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान को प्राप्त कर सकेंगे।

उसकी विनय के अभाव में वह सम्यग्ज्ञान तीनकाल में संभव नहीं है। श्रुत का दान आप उसे दीजिए जिसने उसका महत्त्व समझा हो। वह पवित्र जिनवाणी उसी के लिए भेंट कीजिए जो उसका सदुपयोग कर सके। जिस किसी के लिए आप दे देते हैं वह उसकी विनय नहीं रखता, कहीं भी ले जाकर रख देता है और यदि वह शास्त्र किसी बच्चे के हाथ में पड़ जाए तो वह उसे फाड़ देता है। ग्रन्थालयों में ग्रन्थ तो मिल जाते हैं, लेकिन खोलते ही ऊपर पद्मपुराण लिखा रहता है और बीच में हरिवंश पुराण के भी पृष्ठ मिल जाते हैं और अंत में उत्तरपुराण के भी दर्शन हो जाते हैं। किसी भी ग्रन्थालय में ग्रन्थ व्यवस्थित नहीं रखे मिलते। सारों की बात तो अलग ही है, समयसार में गोम्मटसार के दर्शन होते हैं और प्रवचनसार में धवला के दर्शन होते हैं, उन महान सिद्धान्त ग्रन्थों के पन्ने भी, अस्त व्यस्त रहते हैं। स्वाध्याय शील व्यक्ति भी उन्हें पढ़कर यथायोग्य नहीं रखते। जल्दी-जल्दी जैसे भी पढ़ लिया और अलमारी के किसी कोने में पटक दिया, यह कोई स्वाध्याय करने का तरीका नहीं है। महिलायें भी स्वाध्याय करने में कई कदम आगे हैं। शास्त्र स्वाध्याय के साथ-साथ उनकी पूजा भी चलती रहती है और यदि कोई बीच में पुरुष आ गया तो अभिषेक का अनुरोध भी कर लेती हैं। क्या मतलब है? पढ़ भी रहे हैं, पूजा भी कर रहे हैं, अभिषेक भी चल रहा है। यह तो हुई पड़ी-लिखी महिलाओं की बात, पर जो पड़ी लिखी नहीं हैं, वे वृद्धा किसी से भी कह देती हैं भैया सूत्रजी सुनाओ और बीच में शांतिधारा दिखा दो हमारा अभिषेक देखने का नियम है। उसी समय किसी तीसरे व्यक्ति से कह देती भैया! सहस्त्रनाम सुना दो। चौथे व्यक्ति से कहतीं भैया पद्मपुराण सुना दो। यह तो हमारी स्थिति है। (श्रोता समुदाय में भारी हँसी) यह क्या है? यह कोई स्वाध्याय करने का तरीका हुआ? यह क्या स्वाध्याय का मूल्यांकन हुआ? जिनवाणी की तो आज यह स्थिति हो रही है कि कहते हुए हृदय फटता है। आप यदि किसी सप्त व्यसनी को समयसार पकड़ा दोगे तो वह उसकी क्या विनय करेगा। उसके द्वारा जिनवाणी की अवहेलना ही होगी।

एक बात और मैं पुनः जोर देकर कहूँगा कि ग्रन्थ प्रकाशन समितियों को ग्रन्थों पर मूल्य नहीं रखना चाहिए। दानदाताओं से अभी यह धरती खाली नहीं हुई है। ध्यान रखना! श्रावक धनोपार्जन करता है तो कुछ ना कुछ दानादि कार्यों के लिए बचा कर अवश्य रखता है। दान दिया हुआ पैसा पुनः उपयोग में नहीं लाना चाहिए। उसको अच्छे कामों में लगाइये, सदुपयोग कीजिए।

मुझे अष्टसहस्त्री पढ़नी थी, प्रति उपलब्ध नहीं थी, मुझे बहुत चिंता थी। कहीं से भी खोजने पर एक प्रति आ गई जब उसको खोलकर देखा तो उसमें कहीं पर मूल्य नहीं पड़ा था। महाराज श्री (आ. गुरुवर ज्ञानसागर जी) बोले कि भैया! पहले पुस्तक के देने उपरान्त भी कोई नहीं लेता था। इसका अर्थ है कि पढ़ने की रुचि नहीं है, इसलिए प्रतियों का अकाल पड़ गया। पढ़ने की रुचि पहले जागृत कर दी जाए इसके उपरान्त ग्रन्थ भेंट किया जाए। भोजन आप उसको दीजिए जिसे भूख लगी

है। प्रकाशन करके यद्वा-तद्वा बाँटने से उसका दुरुपयोग होता है। आज कल तो शादी/विवाह में समयसार बाँटे जाते हैं। क्या समयसार का मूल्य इतना निम्न-स्तर पर पहुँच गया? जब समयसार ग्रंथ श्रीमद् रायचंद को मिला तो वे इतने खुश हुए कि ग्रन्थ भेंट करने वाले को उन्होंने थाली भरकर हीरा-मोती भेंट स्वरूप दिए थे। इतने सारे, हाँ इतने सारे। वह अमूल्य है, उसकी कोई कीमत नहीं। ले जाओ जितना चाहो उतना ले जाओ और आज हम उस समयसार की कीमत चाँदी के चंद सिक्कों में आक रहे हैं।

जो लेखक हैं, उनके लिए क्या आवश्यक है? उनके लिए कोई कीमत मत दीजिए। महापुराण पढ़ रहा था, उस समय उन्होंने यह व्यवस्था की है। जैन ब्राह्मण भी होते हैं जो अध्ययन कराने में अपना जीवन व्यतीत करते हैं। और उनकी आजीविका कैसे चलती है तो आप जो खा रहे हैं, पी रहे हैं, उसी के अनुसार आप कर दीजिए। यही उनके प्रति बहुमान है। तो पंडितजी के लिए हम वेतन दें, यह अच्छा नहीं लगता । बे..तन आत्मा) का काम करने वालों को आप वेतन (जड़) देते हैं। भेंट अलग वस्तु है। उसका मूल्य आँकना अलग होता है। सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र का कोई मूल्य नहीं है। जिनसे अनंत सुख मिलता है, उन रत्नों की कीमत क्या हम जड़ पदार्थों के माध्यम से आँक सकते हैं? नहीं, तीनकाल में भी यह संभव नहीं है।

इसी प्रकार गुरु महाराज की भी कोई कीमत नहीं होती, वे अनमोल वस्तु हैं। और भगवान की भी कोई कीमत नहीं होती। एक बार एक बात आई थी, रजिस्ट्री कराने की। जितनी आपके यहाँ मूर्तियाँ हैं उन सब मूर्तियों को गवर्मेन्ट को बताना होगा और उनका वेट (वजन) कितना है, यह भी बताना होगा। समस्या आ गई, जैनियों ने कह दिया हम सब कुछ बता सकते हैं, आपको खर्चा करने की आवश्यकता नहीं है लेकिन हम भगवान को तौल नहीं सकते। ये भी कितने आदर की बात है किन्तु जिनवाणी की बात है जैसा अभी (मूलचन्द्रजी लुहाड़िया किशनगढ़) पूर्व वक्ता ने कहा, ज्ञान की पिटाई ऐसी हो रही है। मैं तो यह कह रहा हूँ जिनवाणी की पिटाई भी होती चली जा रही है। किसी ने कहा है-

जिनवाणी जिनदेव से, रो-रो करत पुकार।
हमें छोड़ तुम शिव गए, कर कुपात्र आधार॥

आज वह जिनवाणी रो रही है, जिसे आप माता बोलते हैं, जिसे आप अपने सिर पर धारण करते हैं किन्तु वही जिनवाणी कहती है कि मुझे कुपात्रों के रहने के स्थान पर क्यों छोड़े जा रहे हो? हे भगवन्! आप कहाँ पर चले गए? जिनकी पूजा होती है उनकी सही-सही विनय होना चाहिए। आजकल इसमें बहुत कुछ शिथिलता आती जा रही है। मात्र स्वाध्याय करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होने वाला। सत्य वह है जो अर्थ को, भाव को सही-सही बताने वाला होता है। अभी किसी

वक्ता ने कहा था कि जो व्यक्ति लिख रहा है, पढ़ रहा है, उसका जहाँ कहीं से पढ़ना/लिखना प्रारम्भ हो गया। अभी वाचना चल रही थी धवला इत्यादि की तो धवला की आठवीं पुस्तक में यह बात लिखी है कि-

घरत्थेसु णत्थि चारित्तं

गृहस्थाश्रम में चारित्र नहीं है इसलिए वह रत्नत्रय का दाता नहीं हो सकता। जिसके पास जो चीज नहीं है वह देगा क्या? एक हेतु भी है कि जिसके पास सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र नहीं है, उसे रत्नत्रय दान करने का अधिकार नहीं है।

कम से कम उसे रत्नत्रय का उपदेश तो देना ही नहीं चाहिए। उपदेश देने का उसको अधिकार भी नहीं है। फिर क्या उपदेश छोड़ दें? नहीं......नहीं वहाँ पर भाव यह है कि चारित्र को लेकर जब हम आगे बढ़ेंगे तब यह बात हो सकती है। बार-बार वर्णी जी की चर्चा आती है। वर्णीजी कौन थे? वर्णीजी क्या गृहस्थ थे? नहीं। वर्णी का अर्थ मुनि/यति/अनगार/तपस्वी/त्यागी होता है। वे गृहस्थ नहीं ग्यारहवीं प्रतिमा धारक क्षुल्लक जी थे। इसलिए उनका प्रभाव जन मानस के ऊपर पड़ा। आप लोगों का प्रभाव क्यों नहीं पड़ रहा? इसका अर्थ है जो व्यक्ति विषय कषायों का विमोचन नहीं करता उस व्यक्ति को सत्य का उद्घाटन करने का अधिकार नहीं है और वह कर भी नहीं सकता। किसी ने कहा था निर्भीक के साथ-साथ निरीह भी होना चाहिए। मोक्षमार्ग प्रकाशक में पं. टोडरमलजी ने लिखा है कि जिस वक्ता की आजीविका श्रोताओं पर निर्धारित है, वह वक्ता तीन काल में सत्य का उद्घाटन नहीं कर सकेगा।

वक्ता के भी कुछ विशेषण होते हैं, दानदाताओं के भी कुछ विशेषण होते हैं, मुनि महाराज की परीक्षा की जाती है, उसी प्रकार जिनवाणी की भी आज परीक्षा हो रही है।

जो कोई भी व्यक्ति आज स्वाध्याय/प्रवचन यद्वा तद्वा करते जा रहे हैं और उसके फलस्वरूप अर्थ का अनर्थ भी खूब हो रहा है। कई समस्यायें आज समाज के समक्ष चली आ रही हैं। भाषा का बोध हो, उस विषय संबंधी जानकारी हो, गुरुओं के सान्निध्य में अध्ययन अनुभव प्राप्त किया हो तो बात अलग है। ज्ञानार्णवकार ने एक स्थान पर लिखा है-

न हि भवति निर्विगोपक्रमनुपासितगुरुकुलस्य विज्ञानम्।
प्रकटितपश्चिमभागं पश्यन्नृत्यं मयूरस्य॥ ज्ञानार्णव सर्ग १५, श्लोक ३४

देख लीजिए आज गुरुकुल की पद्धति समाप्त हो गई, स्वाध्याय का भी कोई क्रम नहीं रहा। दो दिन ही पढ़ा नहीं और वह लेख लिखना प्रारम्भ कर देता है। यह सब गलत है। स्वाध्याय अपने आप नहीं हो सकता। मयूर का नृत्य बहुत अच्छा लगता है लेकिन वह श्रृंगार रस के साथ-साथ

वीभत्स रस को भी प्रदर्शित कर देता है। यह नहीं होना चाहिए। वीरसेन स्वामी ने एक स्थान पर लिखा है कि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के लिए उपदेश देना या श्रवण करना आवश्यक होता है। नरकों में भी सम्यग्दर्शन होता है और वहाँ भी देव आकर सम्यग्दृष्टि बनाते हैं। हाँ....बिल्कुल ठीक है। तीसरे नरक तक जाकर उपदेश देते हैं, फिर इसके उपरांत क्यों नहीं देते? इसके उपरान्त देव नहीं जाते तो नहीं सही लेकिन सातों पृथ्वियों में सम्यग्दृष्टि जीव पहले से ही भरे हुए हैं, वे सब मिलकर जो मिथ्यादृष्टि नारकी हैं उन्हें सम्यग्दृष्टि बना देते?

तत्थतणसम्माइट्ठि धम्मसवणादो पढमसम्मत्तस्स उप्पत्ति किण्ण होदि त्ति वुत्ते, ण होदि, तेसि भवसंबंधेण पुव्ववैरसंबंधेण वा परोप्पर विरुद्धाणं अणुगेज्झणुग्गाहयभावाणमसं-भवादो।

वहाँ के सम्यग्दृष्टि नारकी मिथ्यादृष्टि नारकीयों को सम्यग्दर्शन उपलब्ध क्यों नहीं करा सकते? इसमें क्या कारण है?

पूर्ववैरसम्बन्धात्

पूर्व वैर का संबंध होने से सर्वप्रथम नारकी यही सोचेगा कि यह जो नवागन्तुक नारकी है, कहाँ से आया है? इस प्रकार सोचने के उपरान्त वह उससे लड़ना प्रारम्भ कर देगा। पूर्व वैर होने के कारण उसका उपदेश वहाँ पर कुछ काम नहीं करेगा। पूर्व वैर होने के कारण आपके वचनों से उसका क्रोध और भड़क उठेगा।

''परस्पर अनुगृह्य अनुग्राहक भावाभावात्''

आपस में नारकियों में अनुग्राह्य और अनुग्राहकभाव तीनकाल में नहीं बन सकता, क्योंकि वहाँ अनुकम्पा/दया का अभाव है। दया कब आ सकती है? जब सत्य धर्म का अनुपालन हो। हम स्वयं संयम का अनुपालन करें तब कहीं दूसरे के ऊपर हमारा प्रभाव पड़ सकता है। यदि आपका पुत्र स्मोकिंग () कर रहा है, और आप उसे रोकना चाहते हैं, तो सर्वप्रथम आपको यह देखना होगा कि मेरे पास तो यह दुर्गुण नहीं है। तब आप उसे कहेंगे तो वह मान जाएगा। सत्य का केवल व्याख्यान करने मात्र से समाज का कल्याण तीनकाल में संभव नहीं है, किन्तु! सत्य पर चलने से ही होगा। ज्ञानार्णवकार आचार्य शुभचन्द्र जी कहते हैं-

''अपृष्टैरपिवक्तव्यं''

बिना पूछे कहना आवश्यक है। यदि सत्य का लोप हो रहा हो, क्रियाओं में कमी आ रही हो तो बिना पूछे ही सत्य/तथ्य को रखना चाहिए। आज जो साहित्य हमारी समाज के सामने आ रहा है वह देखकर लगता है कि इनके माध्यम से यह समाज किस ओर जाएगी? ''जैनधर्म में भगवान की मूर्ति का अभिषेक करना कोई आवश्यक नहीं है'', इस प्रकार की पुस्तकें आज लिखी जा रही

हैं और उनमें कई मूर्धन्य विद्वानों की सम्मतियाँ भी छपी हुई हैं। आप आज की नई पीढ़ी को धर्म की ओर आकृष्ट भी करना चाहें तो कैसे करें? इस प्रकार का साहित्य उन्हें भ्रम में डाल देता है।

आज के स्वाध्याय का यही प्रतिफल है। सत्य को जानते हुए भी लोभ, भीरुता और विषयों के वशीभूत होकर स्वाध्यायप्रेमी उसे उद्घाटित नहीं कर पाते। जिनेन्द्र भगवान सच्चे देव-शास्त्र-गुरु यह व्यवहार से हैं, ये हमारे लिए कार्यकारी नहीं हैं। यह आज के विद्वानों के मुख से सुनने मिल रहा है कि ''पूजन/अभिषेक/दान/उपवास/शीलाचार इत्यादि क्रियायें मात्र पुण्य बंध के लिए कारण हैं, उनसे निर्जरा नहीं होती''। क्या यह सत्य है? यदि सत्य नहीं है तो क्या असत्य है? यह असत्य है तो इसके माध्यम से जिनवाणी विकृत नहीं होगी। जो सत्य पथ पर चल रहे हैं वे उससे भ्रमित नहीं होंगे क्या? अवश्य होंगे। आज यह कोई नहीं कहता कि भक्ति करना कितना आवश्यक है।

मैं यह बात एक बार नहीं बार-बार कहूँगा कि स्वाध्याय को मात्र धनोपार्जन का साधन न बनायें और जो अच्छे विद्वान् हैं, उन्हें वेतन नहीं देना चाहिए, उनको पुरस्कृत करके, उनके माध्यम से, अपने ज्ञानादि को विकसित करना चाहिए।

हमने उन विद्वानों को एक हजार, दो हजार रुपया मासिक वेतन दे दिया, यह कोई उनका मूल्य नहीं है। हजारों व्यक्ति जिसका वाचन करते/सुनते हैं, स्वाध्याय करते हैं। मात्र इतने में ही उसका काम हो जाएगा? नहीं वह अनमोल निधि है। आज ऐसे भी ग्रन्थ देखने को मिलते हैं जिनमें लिखा रहता है '**सर्वाधिकार सुरक्षित**'। अब आचार्य वीरसेन आचार्य गुणभद्र के धवला, जयधवला, महाधवला, आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार आदि और उमास्वामी महाराज का तत्त्वार्थसूत्र आदि जितने भी ग्रन्थ हैं वे सब सर्वाधिकार सुरक्षित हैं। यह कर्तृत्व बुद्धि का महान् मोह है, यह स्वामित्व का व्यामोह है। जब एक वस्तु का अधिकार दूसरी वस्तु पर नहीं रहता है, तो हम उनकी कृतियों पर अधिकार कैसे कर सकते हैं। दूसरा व्यक्ति यदि प्रकाशित करना चाहें तो वह कर नहीं सकता यह बात तो बिल्कुल गलत है ही। उस ग्रन्थ का सम्पादन/संशोधन कोई दूसरा व्यक्ति न करे यह तो फिर भी ठीक है लेकिन अधिकार वाली बात तो होना ही नहीं चाहिए। जब बड़े-बड़े आचार्यों ने उसके ऊपर अधिकार नहीं चलाया तो आप '**सर्वाधिकार सुरक्षित**' लिखने वाले कौन होते हैं? कुन्दकुन्द देव ने अनेक बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे उनमें कहीं भी अपने नाम तक का उल्लेख नहीं किया।

दान का महत्त्व वर्तमान में कम होता जा रहा है। पहले किसी दाता ने दान दिया तो उसका उपयोग दूसरी बार नहीं होता था। दूसरी बार के लिए कोई अन्य दाता दान देता था और आजकल ट्रस्ट पर ट्रस्ट खुलते चले जा रहे हैं और दाताओं का पैसा न्याय और न्यायालयों में जा रहा हा।

कुण्डलपुर में जब हमारा चातुर्मास चल रहा था। उस समय वर्णी ग्रन्थमाला के बारे में झगड़ा

चल रहा था। मैंने कहा कि वर्णीजी तो क्षुल्लकजी थे, उनको इससे कोई मतलब नहीं था। लेकिन उनके माध्यम से आज झगड़ा क्यों हो रहा है? तो जहाँ पर पैसा रहेगा वहाँ पर झगड़ा नियम से होगा तो स्वाध्याय कहाँ हुआ?

दक्षिण में बहुत अच्छी प्रथा है किसी मंदिर में पैसा नहीं मिलेगा। इसका क्या मतलब है? मतलब यह है कि वे आवश्यक कार्य कर लेते हैं, इसके उपरान्त समाप्त। मंदिरों के पीछे कोई धन सम्पत्ति की बात नहीं होना चाहिए। निस्परिग्रही भगवान् बैठे हैं। उस मंदिर के पीछे इतना वेतन, इतना किराया, इसी में झगड़ा होने लगता है। एक-एक मंदिर के पीछे आज लाखों का किराया आता है। भैया! यह सब किसके माध्यम से होता है? मंदिर के माध्यम से। फिर ट्रस्टी/मंत्री/अध्यक्ष/कोषाध्यक्ष आदि बनते हैं। इसलिए आचार्यों को लिखना पड़ा कि जो धर्म का खाता है वह सीधा नरक जाता है। जो दान का दिया हुआ द्रव्य है उसके प्रति तो निस्पृहवृत्ति होना चाहिए। दान में दिया हुआ धन अपने उपयोग में नहीं लेना चाहिए। किन्तु आज बहुत सी इस प्रकार की बातें जैन समाज में भी आ चुकी हैं। यह महान् रूढ़िवाद है, यह कोई छोटी-मोटी रूढ़ि नहीं है, इसको पहले निकालना चाहिए।

आज संस्थाओं को लेकर जितने झगड़े हो रहे हैं, उतने इतिहास में कभी नहीं मिलते। आज विद्यालयों, संस्थाओं, ग्रन्थालयों सबमें झगड़ा चल रहा है। और कुछ नहीं वहाँ केवल कुर्सी रहती है, डेकोरेशन रहता है और विद्यार्थियों की संख्या केवल ५-६ है। मास्टरों की संख्या कितनी है? यह सुनकर आपको हँसी आएगी। ५-६ विद्यार्थी और १० मास्टर। यूनिवर्सिटी में जैनधर्म के विषय रखे जा रहे हैं। वहाँ जैनधर्म पढ़ाया जाएगा, बहुत अच्छी बात है लेकिन जैनधर्म पढ़ने वाले विद्यार्थी हैं या नहीं? यह पहले देखना अनिवार्य है।

मूल कार्य जो आवश्यक था, वह तो नहीं होता और संस्थायें खुलती चली जा रहीं हैं। सत्य का प्रदर्शन आचरण से होता है मात्र बातों से नहीं। सत्य को उद्‌घाटित करने वाला कौन होता है ? असत्य का उद्‌घाटन करने वाला कौन होता है? बस! एक उदाहरण देकर मैं समाप्त कर रहा हूँ।

एक विद्वान् का पुत्र, उच्च शिक्षा प्राप्त करने कहीं गया था। इसके पिता किसी मंदिर में प्रवचन/पूजन आदि करते थे। एक दिन आवश्यक कार्य के आने वे से बाहर चले गए और उनका जो लड़का था, उससे कह गए कि ४-५ दिन के लिए मैं बाहर जा रहा हूँ। और जब तक मैं वापिस न आऊँ तब तक तुम प्रवचन आदि करते रहना। कोई बुलाने आए तभी जाना, अपने आप नहीं जाना। गाँव में लोग कहने लगे पंडित जी चले गए कोई बात नहीं, उनका लड़का भी बहुत होशियार है अभी-अभी पढ़कर आया है। यह विचार कर कुछ लोग उसके पास गए और उससे कहने लगे,

कोई बात नहीं, आपके पिताजी तो बाहर गए हैं और आपको आज नहीं तो कल यह कार्य करना ही है। आप ही प्रवचन करने चलिए। इस प्रकार लोगों की अनुनय/विनय देख वे प्रवचन करने चल दिए। शास्त्र में जहाँ से पढ़ना था, वहाँ से पढ़ना शुरू कर दिया, चार-पाँच पंक्तियाँ पढ़ने के उपरांत कहा कि देखो कण भर जो मांस खाता है वह सीधा नरक चला जाता है। सभा में हलचल मच गई। सब लोगों ने कहा-ये क्या पढ़ रहे हो? उसने पुनः दुहराया कण भर जो मांस खाता है। वह इतना कह ही नहीं पाता कि लोगों ने कहा कि गलत पढ़ रहे हो। उसने कहा गलत नहीं बिल्कुल सही पढ़ रहा हूँ, कण भर जो मांस खाता है वह सीधा नरक जाता है। तुम यहाँ से चले जाओ, तुम्हारा यहाँ कोई कार्य नहीं, तुम्हारे पिताजी को आने दो तभी दण्ड मिलेगा-समाज के प्रमुख व्यक्ति ने कहा और सबने उसे निकाल दिया।

पिताजी के आते ही सब लोग उनके ऊपर टूट पड़े। तुमने कैसे लड़के को तैयार किया। आपका लड़का था इसलिए हमने कुछ नहीं कहा, इतना पढ़कर आया फिर शास्त्र की छोटी सी बात नहीं समझा पाया। आपके संकोच से हमने कुछ नहीं कहा, नहीं तो सीधा जेल भेज देते। आज से आप ही शास्त्र बाँचिये, वे आगे का प्रसंग पढ़ते हैं कि कणभर जो मांस खाता है वह सीधा नरक जाता है। पं. जी क्या बात हो गई, आज आप चश्मा बदलकर आये हैं क्या? नहीं नहीं यह ठीक लिखा है लेकिन! इसका अर्थ क्या है? जो कण भर भी मांस खाता है कि वह नरक चला जाता है, किन्तु! जो मनभर खाता है वह स्वर्ग जाता है। आज इस प्रकार अर्थ का अनर्थ किया जा रहा है, इस प्रकार की व्याख्या सुनकर समन्तभद्र स्वामी की वह कारिका मेरे सामने तैरकर आ जाती है-

कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा
श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनाशयो वा।
त्वच्छासनैकाधिपतित्त्वलक्ष्मी-
प्रभुत्वशक्तेरपवादहेतुः॥ (युक्त्यानुशासन)

समन्तभद्र स्वामी ने बिल्कुल सही लिखा है कि है भगवन्! आपका अद्वितीय धर्म है। इसकी शरण में आने वाला आज तक ऐसा कोई भी नहीं है, जिसका उद्धार न हुआ हो। लेकिन! बात ऐसी है अपवाद किसका हुआ है? अपवाद उसे बात का है कि कलि काल का एक मात्र अपराध है जो महान् कलुष आशय वाला है। धर्म को भी जो अपने अनुरूप चलाना चाहता है। हंस की उपमा श्रोता को दी है। इस प्रकार की कलुषता होने के कारण ही वक्ता अर्थ बदलता है-

जिस वक्ता में

धन कंचन की आस

और पाद-पूजन की प्यास

जीवित है,
वह
जनता का जमघट देख
अवसरवादी बनता है
आगम के भाल पर
घूंघट लाता है
कथन का ढंग
बदल देता है
जैसे
झट से
अपना रंग
बदल लेता है
गिरगिट। (तोता क्यों रोता से)

जिस वक्ता में धन, कंचन, ऐश्वर्य, ख्याति, पूजा, लाभ की चाह लिप्सा रहती है वह आगम के यथार्थ अर्थ को परिवर्तित कर देता है। जिस प्रकार मौसम से प्रभावित होकर के गिरगिट अपना रंग बदलता रहता है। उसी प्रकार आजकल के वक्ता भी (असंयमी व्यक्ति) माहौल को देखकर आगम के अर्थ को बदलते रहते हैं। वह व्यक्ति तीनकाल में सत्य का उद्घाटन नहीं कर सकता है। वह जल्दी-जल्दी आगम के अर्थ को पलट देता है। इस प्रकार की वृत्ति देखकर मन ही मन जिनवाणी रोती रहती है। मेरे ऊपर तुमने घूंघट लाया है, मैं घूंघट में जीने वाली नहीं हूँ। मैं तो जन-जन तक पहुँचकर अपना संदेश देने वाली हूँ। लेकिन! आजकल कुछ पंक्तियां तो अण्डर लाइन की जाती हैं, और कुछ पंक्तियां अण्डर ग्राउन्ड की जाती हैं। यह क्या सत्य है? यह क्या सत्य का प्रदर्शन है? नहीं, यह इसलिए हो रहा है कि आज परमार्थ के स्थान पर अर्थ ने अपनी सत्ता जमा ली है। लोगों में राजनीति, अर्थनीति आ गई है, धर्मनीति के लिए स्थान नहीं बचा। नौजवानो! उठो!! जागो!!! यदि अपना हित चाहते हो, अपनी संस्कृति को जीवित रखना चाहते हो, अपने बाप दादाओं के आदर्शों को सुरक्षित रखना चाहते हो तो अर्थ के लोभ में आकर कोई कार्य नहीं करना यहाँ पर लोभ का सकलीकरण है, यहाँ पर त्याग का अंगीकरण है। यहाँ पर केवल आत्मबल की चर्चा है, परमार्थ की चर्चा है, अर्थ की चर्चा यहाँ पर नहीं है। आप लोग कहते हैं अर्थ तो हाथ का

मैल है यूँ-यूँ करने से वह निकल जाता है (हाथ मलते हुए) पुण्य की वह छाया है। पुण्य का उदय हुआ तो वह आ जाता है और पाप का उदय हुआ तो वह चला जाता है। आप धार्मिक अनुष्ठान कीजिए। लेकिन पुण्य ही हमारे जीवन का लक्ष्य नहीं है। हमें पुण्य पाप से अतीत होकर उस सत्य को प्राप्त करना है जिसे प्राप्त करने के लिए महापुरुष अहर्निश प्रयास करते रहते हैं। उस सत्य की झलक पाने के लिए वे अपनी आँखें बिल्कुल खोल के रखते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द देव प्रवचनसार में कहते हैं-

आगमचक्खू होंति साहूणं

आगम ही साधु की आँख है। साधुओं की आँख न तो धन-दौलत है और न ही ख्याति/पूजा/लाभ। मंजिल तक पहुँचाने वाली आगम की आँख ही है, उस आँख को बहुत अच्छे ढंग से सम्भालकर रखना चाहिए। उस दृष्टि में जब विकार या पक्षपात आ जाएगा तो जिनवाणी उस समय पिट जाएगी, जिनवाणी का मूल्यांकन समाप्त हो जाएगा। बंधुओ! यह वो रत्न है जिसको हम कहाँ रख सकते हैं? देखो! समन्तभद्र स्वामी ने जो कि महान् दार्शनिक थे, अध्यात्मवेत्ता थे, उन्होंने रत्नकण्डक श्रावकाचार के अंत में लिखा है-

येन स्वयं वीतकलङ्क-विद्या-दृष्टि-क्रिया-रत्नकरण्डभावं।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेव, सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु ॥१४९॥

यह कारिका कितनी अच्छी लगती है। रत्न कहाँ पर रखते हैं? ट्रेजरी में ही रखते हैं न, हाँ...हाँ...। तो उसमें बहुत से खाने होते हैं, उसके अन्दर एक ऐसी डिब्बी होती है, जिस डिब्बी को देखकर मुँह में पानी आ जाता है। उसके उपरांत उस डिब्बी के भीतर एक और डिबिया रहती है। उसकी बनावट ही अलग प्रकार की रहती है और उसके भीतर मखमल बिछा हुआ रहता है। लाल या हरा। उस हीरे के विपरीत रंग वाला ही होता है वह मखमल का कपड़ा और उस मखमल पर चमकता हुआ वह रत्न, हीरे का नग रहता है।

यह हुई रत्नों की बात। लेकिन श्रावकाचार किसमें रखा गया है? रत्नकरण्डक में। एक बात और ध्यान देने योग्य है कि रत्नकरण्डक का कई भाषाओं में अनुवाद हुआ लेकिन रत्नकरण्डक इस शब्द का अनुवाद नहीं हुआ। क्या मतलब? मतलब यह है कि हिन्दी में इसका अर्थ यह है 'रयण मञ्जूषा' रयण का अर्थ है रत्न मन्दता यानि पेटी/सन्दूकची। रत्न जैसे सन्दूकची में रखे रहते हैं उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूपी तीन रत्नों को उन्होंने 'रत्नकरण्डक' में रखा है।

आचार्य कहते हैं- ये बड़ी अनमोल निधि है जो कि बड़ी दुर्लभता से प्राप्त हुई है। छहढालाकार ने छहढाला की चतुर्थ ढाल में कहा है कि-

इह विधि गये न मिले सुमणि ज्यों उदधि-समानी।

जिस प्रकार समुद्र में मणि गिर गई तो पुनः मिलने वाली नहीं है, ऐसे ही मनुष्य जीवन की कीमत है। इने-गिने लोग ही इस श्रावकाचार को अपनाते हैं। तीन कम नौ करोड़ ही मुनिराज हैं जो मूलाचार के अनुसार चलने वाले हैं और श्रावकों की संख्या तो असंख्यात है लेकिन मनुष्यों में नहीं। अब सोचिये बहुत कम संख्या है। अनंतानंत जीवों में श्रावक बनने का सौभाग्य कुछ ही जीवों को होता है जो कि आप लोगों को उपलब्ध है। ऐसे श्रावकाचार को अपनाओ। दृश्यमान पदार्थों की कोई कीमत नहीं है। तो हमें दृश्यमान पदार्थों की कीमत नहीं करना, दृष्टा की कीमत करना है। आज हम दृश्य के ऊपर, ज्ञेय के ऊपर लेबिल लगाते जा रहे हैं। यह अध्यात्म नहीं है, यह सिद्धान्त नहीं है, यह सिद्धान्त का सही-सही उपयोग नहीं है। केवल हम ज्ञाता-दृष्टा उस आत्म-तत्त्व की चर्चा उसका मूल्यांकन करते हैं, इसका मूल्यांकन क्या करें? जो स्वाध्याय करके असंख्यातगुणी निर्जरा कर रहा है। स्व और पर के लिए एकस्थान पर चर्चा आई है कि जो व्यक्ति आचरण करने वाला है वह सब कुछ कर रहा है, हमारे लिए धरोहर के रूप में क्योंकि वह चलकर दिखा रहा है। इसका बड़ा महत्त्व है। मात्र श्रावक पंडित जी (पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर) सप्तम प्रतिमाधारी श्रावक हैं और आप लोग कहते हैं कि पं० इसी रूप में रहें और कोई नया ग्रन्थ लिखें । मैं तो कहता हूँ कि पंडित जी को इधर-उधर के काम छोड़ देना चाहिए। बिल्कुल पन्नालाल के आगे सागर लगना चाहिए 'पन्नालाल सागरजी' और ग्रन्थ को लिखकर समय का सदुपयोग कर आत्म कल्याण कर लेना चाहिए। इसके द्वारा पंडित जी समय ज्यादा मिलेगा और आपके लिए एक पंथ दो काज, दो ही नहीं दो सौ काज हो जाऐंगे। क्या कमी है? और बहुत काम होंगे, बहुत से लोग आकर्षित होंगे क्योंकि वर्णी जी की परम्परा को आप निभाना चाहते हैं।

वर्णी जी टोपी में नहीं थे, धोती/कमीज में नहीं थे। हमने कुण्डलपुर में आपको यही कहा था। आपने कहा था सम्यग्दर्शन की चर्चा हमने लिख दी है, आगे लिखने का कोई विचार नहीं है। तो हमने कहा नहीं पण्डित जी आगे और लिखना पर चारित्र के बारे में आप क्या लिखेंगे? हालांकि! पंडित जी का विकास अन्य विद्वानों की अपेक्षा चारित्र के क्षेत्र में बहुत हुआ है और आज समाज के लिए यह सौभाग्य की बात है। लेकिन! पंडित जी को मात्र सागर में ही रहने के कारण गड़बड़ हो जाता है। जहाँ पर रत्न, हीरा आदि निकलते हैं, वहीं पर उन्हें नहीं रखना चाहिए, उनको तो जौहरी बाजार में भेजना चाहिए और प्रत्येक व्यक्ति उनको देखे और सही-सही मूल्यांकन करें और सागर वालों को मान मिलेगा ऐसी बात नहीं। सागर ने कई रत्न दिए हैं, उनमें एक रत्न पंडित जी भी हैं। सागर वालों को कृतकृत्य मान लेना चाहिये कि पंडित जी इस बात को अपना रहे हैं। आपके लिए यह बात बिल्कुल नहीं सोचना है कि आगे बढ़कर हम क्या करेंगे। आपका नियम से शरीर साथ देगा और वातावरण भी साथ देगा और समाज तो साथ है ही। ज्यों ही वर्णी जी सप्तम प्रतिमा की ओर

बढ़े त्यों ही समाज की दृष्टि उनकी ओर चली गई, जब उन्होंने सवारी का त्याग किया तब तहलका मच गया, सवारी में अब वर्णी जी नहीं बैठेंगे तो क्या करेंगे? हम तो उन्हें पालकी में ले जाएंगे। ऐसे लोग आने लगे। यह त्याग का परिणाम है। अंत में जब तक घट में प्राण रहे तब तक वे सवारी में नहीं बैठे और क्षुल्लकजी बनकर उन्होंने जो कुछ किया वह सराहनीय है।

समन्तभद्रस्वामी ने यह ग्रन्थ बनाया है और उसका अनुकरण करना हमारा परम कर्त्तव्य है। पूर्वाचार्यों के ऊपर यदि हमारा उपकार होता है तो मात्र उसके अनुसार चलने से ही होता है, केवल कागजी घोड़े दौड़ाने से नहीं। बात ऐसी है कि जब सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान है तो ऐसी स्थिति में चारित्र की कोई बात ही नहीं उठती, वह तो अपने आप ही हो जाता है। सन्निपात का लक्षण उथल-पुथल ही रहता है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान हो और वह चारित्र की ओर न बढ़े यह तीन काल में सम्भव ही नहीं। शक्ति बहुत आ जाती है सन्निपात के समय, उसी प्रकार भीतर सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान होने से और देशचारित्र अंगीकार करने के उपरांत, मुनि कब बनूँ इस प्रकार मन में लगा रहता है। भीतर की बात कह रहा हूँ। अब हम और आगे बढ़ें लेकिन हमारा मार्ग अवरुद्ध हो चुका है। सप्तम गुणस्थान से ऊपर चढ़ नहीं सकते। ऐसी सीमा खींच दी अब हम क्या करें? हम और आगे बढ़ना चाहते हैं। कहाँ गए महावीर स्वामी? कहाँ गए वे महाश्रमण? जिनके पास जाकर हम अपनी बात कहें। आप लोगों को मात्र ज्ञान से ही मतलब नहीं रखना चाहिए। हमारी कितनी रुचि हो गई है हेय के प्रति और उपादेय के प्रति हमारी घृणा बढ़ती चली जा रही है और कितना उत्साह हमारे भीतर जागृत होना और अपेक्षित है। क्षेत्र के अनुसार सारी बातें ध्यान रखना चाहिए। इसलिए सत्य वह है जैसा वह कहता है कि इसमें लिखा है, कण मात्र खाने वाला नरक जाता है और मन भर खाने वाला स्वर्ग जाता है। इस प्रकार की वृत्ति इस प्रकार का वक्तव्य अपने को नहीं करना है।

चन्द दिनों के इस जीवन को चलाने के लिए इस प्रकार अर्थ हमें नहीं निकालना है। सत्य का जयघोष कोई सुने या नहीं सुने किन्तु सत्य का अनुकरण करते चले जाओ। सूर्य आगे-आगे बढ़ता चला जाता है और नीचे प्रकाश मिलता चला जाता है, इससे कोई मतलब नहीं। कोई अपनी खिड़की या कुटिया बन्द करके सो जाता है।

उसके लिए सूर्य कुछ कहता नहीं है कि तुम खिड़की खोलो। इसी प्रकार तीर्थ का संचालन करने वाले भी ऐसे ही चले गए। उनके पीछे-पीछे, जो हो गये वो भी उनके साथ चले गये। और रुकने वाले हम जैसे यहीं पर हैं। यह मात्र सत्य की बात है, उसको अपनाने के लिए कोई आता है तो ठीक, नहीं आता तो भी ठीक है। हमें सदा सत्य की छाँव में ही रहना है, सत्य वह है जो अजर/अमर/अविनाशी है। सत्य ही जीवन है, असत्य डर है, मौत है और उसमें आकुलताएँ भी अधिक हैं। जिस शाश्वत सत्य के अभाव में आज सारी दुनियाँ विकल त्रस्त है उस सत्य की प्राप्ति करके उस

सत्य की शीतल छाँव में बैठकर ही महावीर ने कैवल्य ज्योति प्रकट की थी, उसी सत्य की छाँव में बैठकर गाँधीजी ने भारत को परतन्त्रता रूपी जंजीरों से मुक्त किया था। उस सत्य को हमें जीवन में अपनाना है उस सत्य की छाँव को हमें कभी नहीं छोड़ना है चाहे हमारा सर्वस्व लुट जाए हमें कोई चिन्ता नहीं है पर सत्य की छाँव, सत्य का आलम्बन ना छूटे।

सत्य रूपी वरदान को आप छोड़िए मत और इस असत्य के ऊपर अपने जीवन का बलिदान करिये मत। सत्य के सामने अपना जीवन अर्पण हो जाये, तो वह मात्र अर्पण ही नहीं, एक दिन दर्पण बन जायेगा। आज तक संसारी प्राणी की दशा यही हुई है। अन्त में यही कहूँगा कि जो श्लोक पहले कहा गया है-

अवाक् विसर्गः वपुषैव मोक्षः मार्गप्रशस्तं विनयेव नित्यं।
ध्यानप्रधाना समतानिधाना आचार्यवर्यं सततं जयन्ति॥

आचार्य महोदय सतत् जयवंत रहें अर्थात् इस कामना के साथ अपने उन आचार्य को नमस्कार किया। केवल मोक्षमार्ग की प्ररूपणा शरीर के द्वारा इस दिगम्बर मुद्रा के द्वारा ही की है। बोलने के द्वारा मोक्षमार्ग का प्ररूपण नहीं होता, बिना बोले ही उस स्वर्ण या अनमोल हीरे की कीमत हो जाती है। बोलने से उसकी कीमत सही नहीं मानी जाती। यह हीरा ऐसा है जिसकी कीमत आज तक सही-सही नहीं लगाई गई क्योंकि उसको जो खरीदने वाला व्यक्ति मुँह माँगा दाम देकर खरीदता है। जब खान में से वह निकलता है तब उसकी कीमत हजार रुपये भी नहीं होती और बाजार में जाते ही उसकी कीमत लाखों की हो जाती है। बेचने वाला और खरीदने वाला दोनों मालामाल हो जाते हैं। इस पवित्र जिनवाणी की बात है। इसकी छाया में जो कोई भी आया उसका जीवन निहाल हो गया। हम भी यही चाहते हैं कि उस सत्य की छाँव में आकर के हमारा जीवन जो अनादिकाल से अतृप्त है उसे तृप्त करें, सुखमय बनायें।

॥ महावीर भगवान की जय॥

बोधमय क्रोध

ईंधन को पटकना बंद कर दो तो अग्नि धीरे-धीरे शान्त होती चली जाती है। इससे बोध का एक अवसर प्राप्त हो जाता है और यदि क्रोध बिल्कुल शान्त हो गया, तो बोध शोध में परिवर्तित हो जाता है। नहीं, तो शोध प्रतिशोध के रूप में भी सामने आकर खड़ा हो सकता है।

बहुत पहले की बात है, वर्षों पहले एक पुरानी कारिका अपने को सुनने मिली थी। वह कारिका बहुत ही प्रासंगिक है-

पुष्पकोटिसमं स्तोत्रं स्तोत्रकोटिसमं जपः।
जपः कोटिसमं ध्यानं ध्यानकोटिसमं क्षमा॥

इसी के माध्यम से व्याख्या प्रारम्भ कर दें, तो बहुत अच्छा हो। कोई भी कार्य करते हैं, तो हमारे आचार्यों ने यह ही कहा है, कि उसमें आरम्भ सारंभ कम हो और कार्य पूर्ण हो अर्थात् खर्चा कम और आमद ज्यादा, यह उन्नति का लक्षण है। इस कारिका में पूरा का पूरा यही भाव आया है। किसी पूज्य के चरणों में करोड़-करोड़ फूल चढ़ाने के उपरान्त जो फल मिलता है। वह एक बार पूज्य की स्तुति/स्तोत्र पाठ करने से प्राप्त होता है। हाँ महाराज। ऐसी ही कुछ बातें बताया करो, ताकि हमारा कुछ खर्च न हो और बढ़ता जरूर चला जाये। लेकिन इतना ध्यान रखना, मुक्ति की बात है यह। इससे भी आगे बढ़ना है। स्तोत्रकोटिसमं जपः जो करोड़ों बार स्तोत्र पाठ करता है और जो एक बार जप करता है, तो दोनों को ही समान फल मिलता है। और करोड़ों जाप करने का जो फल हो वह एक बार ध्यान करने से मिलता है, एक बार क्षमा करने से उसको उतना फल मिल जाता है। इसमें अहिंसा की धारा क्रमशः बढ़ती जा रही है।

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्ति-र्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥

संतों ने कहा–जो हिंसा बाहर होती है, वह हिंसा तब होती है, जब पहले भीतर हो चुकी होती है। तभी भीतर होकर बाहर आती है। बाहर हो या न हो, किन्तु भीतर हो गई, तो हो गई। उसका परिणाम कालान्तर में या निश्चित एक अवधि के बाद सामने आता है। कई व्यक्ति आकर पूछते हैं, कि महाराज। हमने अपने जीवन में किसका बुरा किया है ? जो हमारी यह स्थिति बन गई है, और हम धर्म करने के लिए आ रहे हैं या करने जा रहे हैं और उसमें यह फल मिल रहा है। इसमें हमें धर्म में ही उदासीनता आ रही है। एक बार आपसे पूछ लूँ–उदासीन होऊँ या नहीं होऊँ ? सुनो। केवल वर्तमान की दशा को मत देखो, कुछ इतिहास भी खोलो What is your history हिस्ट्री को सुनने से आप हिस्टीरिया रोग से ग्रसित हो जायेंगे। ऐसी प्रत्येक की हिस्ट्री है।

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्ति-हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥

अहिंसा या क्षमा तक पहुँचने के लिये हमें क्या करना चाहिए ? उस हिंसा को समाप्त करके अहिंसा पर हमें आरूढ़ होना है। उसके लिये क्या करना है ? क्षमा धर्म को प्राप्त करना चाहते हो, तो एक लाख का दान दे दो, दो लाख का दान दे दो, तीन लाख का दान दे दो, चार लाख का दान दे दो। महाराज। इससे हमारे पर विशेष कृपा कर देंगे, क्षमा कर देंगे। आपके या मेरे द्वारा क्षमा कर देने से सारे के सारे दोष निर्मूल हो जायें, तो मैं करने के लिये तैयार हूँ। इसमें कोई बाधा नहीं। किसी भी प्रकार से हो जाये। इससे स्व का कल्याण भी हो जाये और पर का भी कल्याण हो जावे। इस कारिका में कहा गया है कि जो व्यक्ति विषय सामग्री को पूजन सामग्री में परिवर्तित कर देता है, इस प्रकार बढ़ाता है, तो निश्चित है कि उसकी हिंसकवृत्ति कम होती चली जाती है।

प्रत्येक व्यक्ति की एक ही परिणति होती है, ऐसी बात नहीं है। अतः हमें उस राग-द्वेष की प्रणाली को समाप्त करना है। उसे किस ढंग से कम कर सकते हैं ? जिनके स्तोत्र पाठ करने से हमारा जीवन अपने आप ही शान्त होता चला जाता है। दहाड़ने वाला सिंह, फुंफकारने वाला सर्प, फन उठाये हुए सर्प, ये सब घातक हिंसक होते हुए भी क्षमा का रूप धारण कर लें। **उपल खाज खुजावते** वाली बात चरितार्थ हो जाती है। तुल्यावर्तितयोः **आचार्य शुभचन्द्र** ने अपने **ज्ञानार्णव** में यह लिखा है अर्थात् घातक और यजक दोनों में एक प्रकार से साम्य वृत्ति रखने से हनकवृत्ति में भी कमी आ जाती है और यजकवृत्ति में विकास भी हो जाता है। यह सारा का सारा बाहरी वातावरण भीतरी वातावरण के ऊपर आधारित होता है। भजन में कुछ लोग कहा करते हैं-

ऊपर वाला पाँशा फेंके नीचे चलते दाँव।

इसमें थोड़ा-सा सुधार कर लेना चाहिए-भीतर वाला पॉशा फेंके, बाहर चलते दांव। ऊपर और नीचे कहने से भगवान् के ऊपर निर्भर (डिपेंड) हो जायें और नीचे हम सारे के सारे उदासीन बैठ जायें। ऐसा नहीं। भीतर वाला जो पॉशा फेंकता है, वह हमने कब फेंका ? हमें स्वयं पता नहीं, किन्तु जब उदय में आ जाता है, तब बाहर पांव चलने लग जाते हैं। इन्होंने किया... इन्होंने किया। नहीं, जो कुछ भी कार्य हो रहा है, वह हमारे अतीत की ही घटना की एक फलश्रुति के रूप में सामने आ रहा है। हमने क्या-क्या कार्य किये हैं अतीत में ? उसको छुपाने की कोई आवश्यकता नहीं। **कर्म एक ऐसा निष्पक्ष न्यायकर्त्ता है, जिससे कोई यदि छिपाना चाहे भी तो छिप नहीं सकता।** देखो, ज्यादा छिपाना चाहोगे तो और हमारी अवधि बढ़ जावेगी। संक्रमण हो जायेगा। हमारी बात मान लो, अज्ञान दशा में कर लिया, कर लिया। एक बार कान पकड़ लो, तो बार-बार उठक-बैठक

करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। नहीं, कैसे करूँ ? ऐसा करोगे तो और मुश्किल हो जायेगी। वह सब पर्दाफाश कर देता है। बाहर लाकर रख देता है, कि तुमने ऐसा इतिहास रचा था। एक सैकेण्ड के भीतर ही इतिहास बन जाता है और बाहर आकर खड़ा हो जाता है। आप उसको किसी भी प्रकार से इंकार नहीं कर सकते। ज्ञानसागर महाराज जी कहा करते थे–बिना कान फड़ फड़ाये सुनलो। इसको यूँ (हाथ से इशारा करते हुए) करोगे, तो कोई छुट्टी नहीं मिलने वाली है। सुनिये, इतिहास बहुत बुरा है। अच्छा तो किसी का इतिहास है ही नहीं। इतिहास अच्छा नहीं, तो भविष्य भी अच्छा नहीं होगा – ऐसा नहीं समझो। यही बात कही जा रही है, कि अतीत के इतने बुरे कर्मों को जब हम देखते हैं, तब आज यह अवसर है, कर्मों के ऊपर क्षमा नहीं करना। किन्तु नूतन भावों में ही इस प्रकार का कार्य करना है।

जिन्होंने कषायों को छोड़ दिया और साम्य मुद्रा में बैठ गये हैं। उनके स्तोत्र यदि आप पढ़ते चले जाओ, तो निश्चित रूप से आपकी क्रोध रूपी अग्नि शान्त होती चली जायेगी। क्योंकि नोकर्म मिलना समाप्त हो गया। भगवान् की जब स्तुति करेंगे, उस समय क्रोध के जो नोकर्म हैं, वे नहीं मिलेंगे। जैसे ईंधन पटकते चले जाते हैं, तो अग्नि धधकती चली जाती है ऊपर की ओर। लेकिन ईंधन बन्द कर दें तो बस। पारा उतर जाता है। मूकमाटी में यही कहा गया है– **ईंधन को पटकना बंद कर दो तो अग्नि धीरे-धीरे शान्त होती चली जाती है। इससे बोध का एक अवसर प्राप्त हो जाता है और यदि क्रोध बिल्कुल शान्त हो गया** तो बोध, शोध में परिवर्तित हो जाता है नहीं तो शोध, प्रतिशोध के रूप में भी सामने आकर खड़ा हो सकता है। प्रतिशोध किसको कहते हैं ? प्रतिशोध का अर्थ होता है, बदले के भाव। और बदले के भाव क्रोध के बिना नहीं हो सकते। **बोध और क्रोध एक म्यान में दो तलवार वाली बात नहीं हो सकती।** और बोध तो घटता चला जाय, तब शोध तो कहीं आ ही नहीं सकता। वहाँ प्रतिशोध ही खड़ा होता है।

जिन्होंने शोध किया और बोध में लीन हो गये, तो उनके क्रोध का अभाव हो गया। उनके पास जाकर खड़े होकर स्तोत्र पाठ प्रारम्भ हो जाता है। इससे ज्यादा फल नहीं मिल रहा है, अर्थात् हमें आमदनी बढ़ाना है, जाप करो। अब ज्यादा बार-बार कण्ठ दुखाने की कोई आवश्यकता नहीं है। कम काम हो जाता है और फल ज्यादा मिल जाता है। सिद्धचक्र मण्डल विधान जब होता है, तब सिद्धचक्र मण्डल विधान होते हुए भी स्तोत्र पाठ क्यों नहीं किया जाता ? जाप क्यों किया जाता है ? एक-एक विधान के अपने-अपने जाप की संख्या नियत है। जाप क्यों ? स्तोत्र पाठ कर लें मण्डल विधान में तो ? स्तोत्र पाठ तो भी सिद्धों का गुणगान ही है, लेकिन जाप के माध्यम से उसका फल विशेष रूप से निखरकर के सामने आ जाता है। और अन्तिम दिन यही काम आता है। विधान में जाप की संख्या जितनी बढ़ेगी उतना ही वह सफलीभूत विधान माना जाता है।

अब जाप से भी आगे बढ़ना चाहते हैं। बढ़ना ही चाहिए। जितनी सीढ़ियां हैं, उतनी सीढ़ियाँ तो चढ़ना चाहिए। नीचे ही क्यों ? तट पर बैठकर ही क्यों ? अपितु भीतर पहुँचना चाहिए। निखार और आना चाहिए। जाप भी आपके लिये परेशानी पैदा कर सकता है। जाप जपते-जपते जीभ फिसल सकती है। जाप जपते जपते कंठ सूख सकता है। जिह्वा और तालु के बिना भी जाप किया जा सकता है, लेकिन उसमें भी कठिनाई का अनुभव हो सकता है। उसके उपरांत मानसिक जाप भी किया जा सकता है। क्या करें ? करोड़ जाप करने की अपेक्षा एक बार ध्यान करो। बहुत सस्ता है महाराज! कौन आपको रोक रहा है, महंगे की बात ही नहीं। सस्ता होता चला जा रहा है और फल ज्यादा मिलता जा रहा है। और नीचे जितने भी हैं वह महंगा होता चला जा रहा है और फल कम मिलता है। और क्या करना चाहिए आपको ? महाराज! ऊपर का चाहिए। तो धीरे-धीरे ऊपर खिसकते आ जाओ। ध्यान की ओर आ जाओ। ध्यान नहीं लगता है, तो जाप में बैठा दो। जाप में नहीं बैठता है, तो स्तोत्र पाठ करो। स्तोत्रपाठ नहीं करते तो स्वाहा बोलो। बस जाप वह देता है और आप लोग बोलो स्वाहा, पुष्प चढ़ाओ। **पुष्पकोटि का मतलब पुष्पकोटिसमं स्तोत्रं**। बस स्वाहा, बस लोग कुछ करना नहीं चाहते। बस हमें तो फल मिलना चाहिए। करोड़ों-करोड़ों बादाम चढ़ाओ, गोले चढ़ाओ इसमें क्या बाधा है। लेकिन ध्यान रखो, बहुत देर तक काम करोगे तो भी उतना काम नहीं होता। सही बनिया तो वही होता है कि जो ऐसा व्यापार करना चाहता है कि पसीना भी ना आये और सीना भी फूलता जाये। समझ में बात आ जाती है, तो समझ जाते हैं आप लोग। बिल्कुल पसीना न आये और सीना भी फूलता जाए। भैया। क्या कहें? अरबों के आसामी हैं, खरबों का माल है। करोड़पति उनके नौकर-चाकर हैं। नौकरों के भी नौकर हैं। और नौकरों के भी चाकर हैं। कारोबार क्या है ? कहाँ तक है ? उसका कोई भी हिसाब-किताब नहीं है। कितने मुनीम जी हैं, पता नहीं ? मुनीम जी भी सेठ-साहूकारों से कम नहीं लगते।

सोचने की बात है, जब हम उपयुक्त साधना को अपना लेते हैं तो यही बात हमेशा-हमेशा मोक्षमार्ग में होती चली जाती है। **हिंसा की मात्रा जितनी कम होगी, चारों ओर उतनी हरियाली छाती चली जायेगी। और जितनी हिंसा बढ़ती चली जाती है, तो बाहर भी उसकी लपटें आना प्रारम्भ हो जाती हैं।** जब ध्यान के पास आप आ गये, तब करोड़ जाप करने की भी कोई आवश्यकता नहीं। यदि ध्यान सुरक्षित है तो वह मोक्ष का हेतु है। वह दो प्रकार का ध्यान अर्थात् धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये ही मोक्षमार्ग के हेतु हैं। मोक्ष देने वाले हैं।

अपरे संसारस्य हेतू करोड़ों रुपये खर्च होते हुए भी आप आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान ही करते रहते हैं, इससे संसार का ही संपादन होता चला जा रहा है। सबसे सस्ता धर्मध्यान है। पैसा दान करो और घर भी बैठे रहो। कई लोग तो विधान करवाते हैं, करते नहीं। उनके संविधान में तो यही लिखा

है कि भैया। दस-बीस हजार दे दो और हम तो उसी दुकान में बैठेंगे। वहाँ पर बैठकर वे काम करेंगे। इधर जो हैं विधान करवायें, लेकिन संविधान कहता है कि भैया। ऐसा करने से आपको इतना लाभ नहीं मिल रहा है, क्योंकि यह नौकरों के द्वारा धर्मध्यान कराने की बात हुई। दुकानदारी तो आप नौकर-चाकर या मुनीम इत्यादि के माध्यम से चला सकते हैं। लेकिन मन्दिर में तो आपको स्वयं ही कमर कसनी होगी। यह बात इसलिए कही जा रही है कि धर्मध्यान दूसरे के माध्यम से नहीं होता। धर्मध्यान के लिये स्वयं ही कटिबद्ध होना अनिवार्य है। जो व्यक्ति ध्यान के उपायों को अपना लेता है उसको करोड़ों स्तोत्र पाठ, करोड़ों जप और करोड़ों पुष्पों का त्याग, यह सारा का सारा निचले स्तर पर रह जाता है। और हमेशा-हमेशा ध्यान करने वाला व्यक्ति स्थूल नहीं होता। वह सूक्ष्म होता है, क्योंकि वह बाहर से भीतर की ओर आ जाता है। ध्यान लगाता है और ध्यान जब बिगड़ने लग जाता है तो सूक्ष्म से स्थूल की ओर चला जाता है।

आज का युग कौन-सा है? परमाणु युग। हाँ। आणविक युग है। इसीलिये सूक्ष्मता की ओर आ रहा है। सूक्ष्म से सूक्ष्म ऐसे यन्त्रों का निर्माण कर रहा है, जिसके माध्यम से बहुत कम समय में वध हो सके। यह है आणविक युग। ध्यान भी आणविक युग का ही एक रूप है। वह अन्तर्जगत् का रूप है, और वह बहिर्जगत् का। त्याग की अपेक्षा से, जाप की अपेक्षा से, स्तोत्र की अपेक्षा से ध्यान में बहुत ज्यादा पोटेन्सी हैं। **मन को शुद्ध करके सात्त्विक भावों के साथ सब जीवों के भले के लिये धर्मध्यान कर लेना चाहिए।** महाराज! न हमने अपने जीवन में सिद्धचक्र मण्डल विधान किया। महाराज! हमने तो जम्बूद्वीप विधान भी नहीं किया। कल्पद्रुम की तो कल्पना भी नहीं की। ऐसे-ऐसे विधान हैं, हमें ज्ञात ही नहीं। जी! हम क्या कर सकते हैं ? हम तो थोड़े बहुत पशुओं का पालन कर लेते हैं। और बड़े-बड़े सेठ-साहूकार जो धर्मध्यान करते हैं, उनकी सराहना करते हैं। धन्य है, धन्य है, धन्य है भगवन्! ऐसे धर्मात्माओं के लिये धन्य हैं। ऐसा कह देते हैं ताकि इतना-सा भी धर्मात्मा नहीं बन पा रहे हैं। जो बढ़े तो बड़े बने। बढ़े सो पावे। ऐसा कहकर उनकी प्रशंसा कर जाते हैं। महाराज! ठीक हो रहा है। बहुत अच्छा हो रहा है, क्योंकि अपायविचय धर्मध्यान कर सकता है। कर्म के बारे में वही सोच सकता है जो संयम को धारण करेगा, वही इस प्रकार का ध्यान कर सकेगा। और अपायविचय धर्मध्यान स्वयं के लिये होता है, ऐसा नहीं है। देखो! वह संसारी प्राणी स्वार्थी है। महाराज! मेरे दुखों का अभाव कैसे हो ? कुछ न कुछ धर्मध्यान करो, मेरे नाम से। हमारे तो बहुत सारे काम हैं, हम कर नहीं पाते। और आपको तो कोई काम है ही नहीं। सब कुछ छोड़ रखा है आपने। इसीलिये कम से कम मेरा ध्यान रखिये महाराज। इस प्रकार के कई व्यक्ति आ जाते हैं। हाँ भैया! **ज्ञान तो सभी का रखता हूँ। परन्तु ध्यान तो आत्मा का रखता हूँ। वह आत्मा मेरी आत्मा है। ऐसी बात नहीं कि आपकी आत्मा की बात करता हूँ।**

आपका ध्यान नहीं करूँगा मैं। हे भगवन्! इसकी बुद्धि पलट जाये सुलट जाये और अपनी चिंता कर ले। इस प्रकार का मैं ध्यान करता हूँ। और कोई ध्यान नहीं। अतः आप लोगों को भी अपना अब ध्यान करना चाहिए।

साधु हमेशा-हमेशा स्व एवं पर, दोनों का ध्यान करता है। मन में ऐसी भावना करना - सब जीव सुख का अनुभव करें, यह भी ध्यान हुआ। करोड़ों जाप का भी उतना फल नहीं, जितना इसका है। करोड़ों बार स्तोत्र पढ़ने के बाद, भक्तामर का अखण्ड पाठ जीवन पर्यन्त भी करोगे, तो भी उतना फल नहीं मिलेगा, जितना कि आप पाँच मिनट बैठकर धर्मध्यान करने से पा सकते हैं। **सब जीवों का कल्याण हो वहाँ अपने आप ही स्वार्थ मिट जाते हैं। ध्यान में एक काम बहुत अच्छा हो जाता है कि स्वार्थ समाप्त हो जाता है।** भगवान् का ध्यान करना या संसारी प्राणियों का ध्यान करना, महाराज कौन-सा करना बताओ ? किसका करना चाहिए ? मैं तो आप लोगों से पहले यह कहूँगा - जो भगवान् बनने के योग्य हैं, उनका ध्यान करना चाहिए। जो भगवान् बन चुके हैं, उनका क्या ? उन्होंने तो यह कहा है जीवों का ध्यान करो। जड़ का ध्यान छोड़ दो। जीव का ध्यान करेंगे तो भगवान् दिखते हैं। और नहीं भी दिखते। सब जगह नहीं दिखते भगवान्। लेकिन होने योग्य भगवान् तो जहाँ जाओ वहाँ पर आपको मिलेंगे। यद्यपि वे होने वाले भगवान् हैं, किन्तु उनका वर्तमान कर्म सहित होने के कारण दिक्कत पूर्ण हो रहा है। उनके बारे में यह सोचो, विचार करो और कुछ तन से, धन से, मन से, वचन से ऐसी भावना करो, ताकि उनका दुख दूर हो जाये। उनके कर्म कट जायें। उनका सुभिक्ष हो जाये। यह भावना अपने ही सुभिक्ष के लिये, अपने ही कर्म काटने के लिए हो रही है। **हमारे यहाँ दो प्रकार के साधन बताये गये हैं— एक, उपादान रूप साधन और एक, निमित्त रूप साधन। अर्थात् दो मार्ग हैं— एक निश्चयमार्ग और दूसरा व्यवहारमार्ग। इसी तरह ध्येय दो हैं— स्व और पर। पर में भी दो ध्येय हैं— जीव और अजीव। अजीव हेय है। जीव उपादेय व ध्येय है।** उसको यदि दृष्टि में रखोगे, तो पहचान हो जायेगी। आदर्श से देखोगे, जीव तत्त्व को सामने देखोगे तो अपनी पहचान होगी, दुख का संवेदन होगा। उसी प्रकार ध्यान के माध्यम से हमारी तड़फ या संवेदन रूप जो बहिर्मुखीपना है, वह समाप्त होता चला जाता है। और आणविक युग का अर्थ बहिर्जगत से सम्बन्ध छूट जाना है।

आज के आणविक युग का बहिर्जगत से सम्बन्ध छूटा, इसीलिये नहीं है कि, उनका ध्येय तो यह है कि मेरा स्वार्थ कैसे पूर्ण हो ? धर्म ध्यान और इस ध्यान में यही अन्तर है। यह आब्जेक्ट (Object) को लेकर चलता है। मोक्षमार्ग में ध्यान सब्जेक्ट को लेकर चलता है। इसका विषय जड़ है, तो उसका विषय चेतन। चेतन को तकलीफ होती है, जड़ को कभी तकलीफ नहीं होती। अब

वह कब तक ? जब तक तकलीफ होती है। जड़ सामग्री के अभाव को प्राप्त हो जाने से तकलीफ होती है। उसमें भी ये जितने भी जीव हैं उन जीवों के बारे में आप ध्यान लगाना प्रारम्भ कर दोगे, तो आपका विकास निश्चित है। इसमें असंख्यातगुणी कर्म की निर्जरा ज्यादा होती है। महाराज! यह विषय थोड़ा कठिन जैसा लग रहा है। सो कोई बाधा नहीं, यदि इसमें पसीना भी आ रहा है, तो भी कोई बाधा नहीं।

आज क्षमा का दिन है, तो कहते हैं भैया–

पुष्पकोटिसमं स्तोत्रं, स्तोत्रकोटिसमं जपः।
जपः कोटिसमं ध्यानं ध्यानकोटिसमं क्षमा॥

केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है, तो अनन्त जीवों के लिये अभय प्रदान करने वाले केवली हो जाते हैं, तब कोई भी जीव उनसे भयभीत नहीं होंगे। अब आप लोगों को यह भी देखना है कि कौन-कौन से व्यक्ति हमको देखकर भयभीत हो रहे हैं ? **जिस व्यक्ति के मन में कषाय जितनी मात्रा में है, वह व्यक्ति आगम के अनुसार स्व की उतनी हिंसा करता जा रहा है। इस बात की ओर हमारी दृष्टि बहुत कम जाती है। कषाय की घुटन में जीना, जीना नहीं है। जीना अर्थात् उन्नति की ओर जाना है।** जीना बोलते हैं न आप लोग। जीना अर्थात् सीढ़ी। जीना चाहते हो ? जीना तो चाहते हैं महाराज! तो जीने पर चढ़ जाओ। धरती पर मौत है और जीने पर जीना। कैसे चढ़े महाराज ? तो वही चढ़ सकता है जो गुणस्थान में चढ़ता है। वह भी कषायों का अभाव करके चढ़ता है, मोह को समाप्त करके चढ़ता है। और यदि चढ़ने की तैयारी करता है तो अपने आपकी, अपने आप ही उन्नति देखने में आने लग जाती है। अन्तर्मुहूर्त नहीं लगता, वह सत्तर कोड़ाकोड़ी का स्थितिबन्ध अन्तःकोड़ाकोड़ी की स्थिति में आ जाता है। मिथ्यात्व दशा में इतना कम कर सकता है। बहिर्जगत् का सम्बन्ध छूटा नहीं और भीतरी जगत् की ओर दृष्टिपात नहीं किया कि यह हो जाता है। इसे भव्य भी कर सकता है और अभव्य भी कर सकता है। **भव्वाभव्वेसु सामण्णा** अन्तर्जगत् की बात है। यहाँ स्थूल से सूक्ष्मता की ओर आने से ऐसी बात बन जाती है इसका कोई भी बाहर से सम्बन्ध नहीं रहता। तत्त्व क्या है ? तत्त्व भाव परक स्थूल नहीं, सूक्ष्म है। द्रव्य नहीं भाव है। भाव के माध्यम से द्रव्य का एक प्रकार से लाभ हम ले सकते हैं। दुनियाँ में द्रव्य के कारण नहीं, माल के कारण नहीं, अपितु भाव के कारण मालदार बनते हैं। क्यों भैया ? मानलो, गुड़ का भाव नीचे आ गया और भेलियां बहुत सारी गोदाम में भरी हुई हैं तो क्या होगा ? घाटा। अरे! इतना भरा हुआ है फिर भी ? घाटा हो जायेगा महाराज। यदि माल कम भी हो और भाव बढ़ जायें तो फिर क्या कहना! माल कम है इसलिए पैसा कम आता है, ऐसा नहीं है। भाव बढ़ गया तो दुगुना-तिगुना होता चला

जाता है। उसी भाव की प्रतीक्षा में हम प्रतिदिन अखबार देखते रहते हैं। भाव यानि तत्त्व। किसका यह तत्त्व है ? **आत्म तत्त्व की बात करो तो अपने आप भाव बढ़ने लग जाते हैं।** भाव बढ़ा नहीं कि अपने आप ही सत्तर कोड़ाकोड़ी के स्थान पर अन्तःकोड़ाकोड़ी आ जाता है। यह अन्तर्मुहूर्त का काम है। अनन्तकाल में जो काम नहीं हुआ वह अन्तर्मुहूर्त में हो सकता है।

ऐसा भाव अपने भीतर आ जाय, हम दूसरों की रक्षा नहीं कर रहे हैं, किन्तु हम इन भावों के माध्यम से अपनी रक्षा करते हैं। अपनी रक्षा करते जाते हैं, तो दूसरों की रक्षा अपने आप हो जाती है। करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। करते समय हम दूसरे को निमित्त बनाकर कर सकते हैं। लेकिन करना तो अपने को ही है। पुरुषार्थ का क्षेत्र भले ही भिन्न हो, लेकिन यदि उद्देश्य भीतर का रहता है तो उसको उतना ही फल मिल जाता है। ध्यान के मामले में आचार्यों ने पाबन्दी लगा दी है। ध्येय के विषय में पाबन्दी नहीं लगाई। ध्यान होना चाहिए धर्मध्यान। लेकिन धर्मध्यान की सामग्री के लिये छः द्रव्यों में से किसी भी द्रव्य को विषय करो और अच्छा है। **यदि जीव अपने लिये नहीं दुनियाँ में जो कुछ भी है वह सभी।** इससे स्पष्ट हो जाता है कि ध्येय कुछ भी हो किन्तु ध्यान का उद्देश्य यदि ठीक है, तो काम चाहे निमित्त का करो, चाहे उपादान को पकड़ो, काम आपका निश्चय रूप से होगा। आज क्षमा की विराटता आपके सामने आ रही है। क्या पशुओं का पालन करने वाला, जीवों को संरक्षण करने वाला पर्व नहीं माना जा रहा है ? क्या पशु दशलक्षण पर्व नहीं मना सकता है ? और जिनका पालन किया जा रहा है क्या वह पर्व नहीं मना रहे हैं ? मना सकते हैं। अपने यहाँ कछुआ, मगरमच्छ, मेंढक, गाय, भैंस आदि सारे के सारे पर्व मनाने वाले होते हैं। इतना अवश्य है, उनके सामने कोई टी.व्ही. नहीं होती, वीडियो कैसेट उनकी कोई नहीं बनाता। मैं अब यह कहना चाहता हूँ, कि यहाँ पर वीडियो कैसेट न बनाकर के जहाँ कहीं भी इस प्रकार का प्रायोगिक कार्य, रचनात्मक कार्य हो रहा है उसको लाइट में लाने की आवश्यकता है। लाइट जलाने की कोई आवश्यकता नहीं है। हाँ! लाइट में लाने की आवश्यकता है।

वस्तुतः धर्म क्या है ? इसको हमें समझना है – प्रकृति कितनी शान्त रहती है? कोई किसी के लिये मारकाट नहीं करते, ऐसा नहीं। लेकिन वे हमेशा-हमेशा एक सीमा बनाये रहते हैं। क्या इस प्रकार की क्षमा हम नहीं अपना सकते ? जो निरपराध हैं, उनको यदि परेशानी या दुख दिया जा रहा है तो इस समय क्रोध करना भी क्षमा से कम नहीं। इस समय आप क्षमा छोड़ भी दोगे, तो क्षमा को एक बहुत विराट रूप मिल जाता है। सामने वाले व्यक्ति की कषाय को समाप्त करने के लिये यदि कषाय करें, तो इसमें कोई अधर्म नहीं। कषाय को मिटाने के लिये यदि कषाय की जाती है तो वह ठीक है। लेकिन ध्यान रखो, आज ऐसा धर्म बहुत कम मात्रा में देखने को मिलता है।

राम का हाथ पर हाथ रखकर न बैठना और रावण के ऊपर प्रहार करना भी धर्मध्यान का प्रतीक है। क्योंकि बार-बार क्षमा करने के उपरान्त भी रावण नहीं मान रहा है। तो कुछ अकल आ जाय, इसलिए धनुष व तीर लेकर सामने राम खड़े हो जाते हैं। फिर भी अन्तिम समय तक यही कहते हैं—संभल जा रावण। मेरी सीता को दे दे। वह कहता है—इस बात को बन्द करो। दूसरी बात करो। दुबारा तो मैं बात कर सकता हूँ, लेकिन दूसरी बात नहीं कर सकता। दुबारा कह देता हूँ—रावण अब तो छोड़ दे। कैसे छोड़ दे ? क्षत्रियता मिटाना थोड़े ही है। यह धर्म नहीं है तुम्हारा। मांगना क्षत्रिय का धर्म नहीं होता। मैं आ रहा हूँ, रावण फिर भी मान ले, बार-बार यह कहते चले जा रहे हैं क्षमा, क्षमा, क्षमा। फिर तीर और कमान रख रखे हैं। उसके बिना रावण नहीं मानता, इसलिए ये आवश्यक हैं। तीर और कमान में जादू है।

कोई माँ गुस्सा कर दे। आँखें लाल कर दे। क्योंकि उसके बिना बदमाश बच्चा मानता नहीं तो क्या करें। कभी-कभी करुणा की आँखों में भी धधकती हुई ज्वाला देखी जा सकती है। लेकिन क्षणिक। उसमें वह एकदम डर जायेगा, तो वह करुणा के रूप में परिवर्तित हो जायेगा। इसलिए आप क्रोधाविष्ट होकर के यदि किसी को समझा रहे हैं तो भी आपका उद्देश्य उनकी रक्षा भाव का है। उसमें किसी प्रकार का दुर्ध्यान नहीं माना जा सकता। ध्यान की कोई सींग, पूंछ नहीं है। **ध्यान वही है जिसका उद्देश्य अच्छा है, ध्येय अच्छा है।** परन्तु क्षेत्र कुछ भी हो। क्योंकि किसान किसानी करता हुआ ही पर्व मनायेगा। नौकरी छोड़कर पर्व थोड़े ही होते हैं। नौकरी अपने आप में पर्व का रूप धारण कर सकती है। **अन्याय, अत्याचार से बचकर अपनी ड्यूटी, अपना कर्त्तव्य यदि कर रहा है, तो वहाँ पर भी पर्व मनाया जा रहा है।** उसका प्रवाह, उसकी सुगन्धी चारों ओर फैलती चली जायेगी।

Duty is the beauty of right knowlege आप Beauiful तो होना चाह रहे हैं लेकिन Dutyfull होना नहीं चाह रहे हैं। क्या करें ? ड्यूटी का अर्थ धर्मध्यान या कर्त्तव्यपरायणता है। यह धर्मध्यान का चिह्न है। कर्त्तव्य को छोड़कर आप यदि धर्मध्यान करना चाहते हैं, तो वह धर्मध्यान नहीं माना जाता है। और उसके द्वारा ज्ञान की शोभा नहीं होती। **ज्ञान की शोभा तो संयम है। ज्ञान की शोभा तो अहिंसा है। ज्ञान की शोभा तो क्षमा है। ज्ञान की शोभा तो कषाय का अभाव है।** यह निश्चित बात है इसलिए धीरे-धीरे धर्मात्मा उस साधन को अपनाते चले जाते हैं, जिसके माध्यम से चारों ओर हरियाली छा जाती है। ऐसा क्षमा धर्म आप लोगों के द्वारा आज किया जा रहा है, सुना जा रहा है, पाठ किया जा रहा है। सुबह से ही प्रारम्भ हो गया था। आज क्षमाधर्म का पूजन करके बाद में यहाँ आये हैं। तत्त्वार्थसूत्र का वाचन होगा, एक अध्याय का पूर्ण वाचन सुनेंगे। तत्त्वार्थसूत्र का पाठ भी होगा। इसके उपरान्त क्षमा समाप्त। क्योंकि बन्द कर दें ? क्षमा तो समाप्त

हो ही गयी। अब तो मार्दव आ रहा है सामने। मार्दव क्या है मशीनवत् काम हो रहा है। हम सुनते थे विदेश में मशीनरी ज्यादा है। प्रभाव तो भारत के ऊपर भी पड़ गया। इसी प्रकार के आपके कार्यक्रम भी होते हैं। भीतर की बात क्यों ? महाराज, जो भीतर हो रहा है, वही बाहर हो रहा है। यह बात नहीं, क्योंकि मैं यह नहीं कह सकता, कि भीतर इसी के अनुरूप हो रहा है। उद्देश्य क्या है ? लक्ष्य क्या है ? लक्ष्य यदि नहीं है तो लक्षण भी घटित नहीं होता लक्षण के माध्यम से लक्ष्य की ओर तो यात्रा हो सकती है, लेकिन यदि लक्ष्य ही नहीं है तो कौन-सा लक्षण बनाओगे आप ? इस धर्मध्यान में आपका यदि लक्ष्य या ध्येय दयाधर्म के प्रति है, क्षमाभाव के प्रति है, संरक्षण भाव के प्रति है, स्व व पर कल्याण का लक्ष्य है, तो आपके पास वह लक्षण आ सकता है। ये जितने भी साधन हैं वे उस साध्य तक पहुँचने के लिये कार्यकारी हो सकते हैं। लेकिन कब हो सकते हैं ? जबकि आपका लक्ष्य बहुत बढ़िया हो। यह कमाल की बात है कि निशाना क्या है ? इसकी क्या आवश्यकता है ? शब्दभेदी शास्त्र को पढ़कर शब्दभेदी नहीं होता, अपितु शब्द को भी आप तभी छेद सकोगे, जब शब्द को अच्छी ढंग से सुन सकोगे। शब्द किधर से आ रहा है, यदि लक्ष्य नहीं है तो आप कमान व तीर रख लो चाहे, वे नये हों या पुराने, परन्तु काम नहीं आवेंगे। यदि आपका लक्ष्य ठीक है तो वह टूटा-फूटा भी काम कर सकता है। निश्चित रूप से वह निशाना भेद देगा। कोई शस्त्र के बिना भी, तीन-कमान के बिना भी, शब्द के बिना भी, भाव के माध्यम से निशाना साध सकता है। जिसके पास मन्त्रसिद्धि है वह यहीं पर एक बार णमोकार मन्त्र पढ़ ले, एक बार जाप कर ले, जिसकी उसके पास सिद्धी है, उस दिशा में मुख करने की भी कोई आवश्यकता नहीं, उच्चारण करने की भी कोई आवश्यकता नहीं। मन्त्र का एक मात्र स्मरण पर्याप्त हो जाता है। कभी-कभी कहा जाता है–एक माला फेर लो काम हो जायेगा। किसी-किसी को आधी माला फेरते ही काम हो जाता है। किसी-किसी को एक बार ही मन्त्र जाप करते काम हो जाता है। क्योंकि उसकी एकाग्रता उसका लक्ष्य, उसकी साधना अनूठी होने के कारण उसे लक्ष्य मिल जाता है। कार्य हो गया। ऐसा कह देता है–आपको पुनः इधर आने की कोई जरूरत नहीं। आपके पहुँचते-पहुँचते ही आपका कार्य हो गया, यह ध्यान रखना।

मन में जितना बल है, वचनों के बल से वह बहुत असीम है। वचनों में जितना बल है तन के बल से वह भी असीम है। तन का बल धन के बल से असीम है। इसलिए धन से जो काम होता है वह बहुत कमजोर होता है। तन से जो काम होता है, उससे बलजोर वचन वाला होता है। फिर मन से होता है। बैठे-बैठे भी हजारों व्यक्तियों से काम कराया जा सकता है। **फिर वचनों से जो कार्य होता है, उससे भी बहुत-बहुत दूर तक मन अपना काम कर सकता है। और मन यदि संयत होकर कार्य करता है, तो फिर केवलज्ञान होने में देर नहीं।** एक भी नियन्त्रित मन चाहे तो

वह सब कुछ काम कर सकता है। आपके पास मन है कि नहीं ? सोच लो। है कि नहीं है, कहाँ है बताओ ? मन वहीं है महाराज, जहाँ हम छोड़ कर आये थे। इस प्रकार मन, वचन, काय और धन ये चार साधन आपके पास हैं। ज्यादा से ज्यादा आप धन का प्रयोग करना चाहते हैं। जबकि आप सात्त्विक भावना जगाइये। मन को प्रौढ़ बना दीजिए। तन नहीं है, कमजोर है तो भी चल जायेगा।

झुकाने वाला चाहिए, झुकने को दुनियाँ तैयार है। लेकिन जबरदस्ती नहीं। परमार्थ यदि है, तब झुको ऐसा भी कहने की आवश्यकता नहीं है। रुको कहने की कोई आवश्यकता नहीं। टिको कहने की कोई आवश्यकता नहीं। वह व्यक्ति अपने आप ही संभव जायेगा। क्योंकि भीतरी जो जगत् है उसका प्रभाव बाहर आये बिना नहीं रह सकता।

कस्तूरी के लिये शपथ देने की कोई आवश्यकता नहीं। यह कस्तूरी है, मैं सही कर रहा हूँ, सुन लेना। सामने वाला कहता है कि, भाई यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि आपको विश्वास नहीं हो रहा है, तो समझो अब विश्वास उठ गया है। क्योंकि आप कह क्यों रहे हैं ? कहते हुए भी इसकी गन्ध तो आ नहीं रही है। इससे स्पष्ट है कि दस बार बोलकर हमसे बुलवाना चाह रहे हो। किन्तु यह कस्तूरी नहीं है। कस्तूरी को तो डिब्बे में भी बन्द कर ताला लगा दो, दरवाजा बन्द कर दो और बाहर हो जाओ आप। फिर भी उससे पहले वह बाहर आती हुई दिखने में आ जाती है। कस्तूरी कोई मूर्ति है क्या ? तो क्या है ? कोई ठोस है, वह तो गन्धमात्र है। इसीलिये दरवाजा बन्द भी कर दो, तो भी आपसे पहले वह बाहर आ जायेगी। भावना भाइये, मन को प्रौढ़ बनाइये। मन को नियन्त्रण में रखिये। ध्यान लगाये। कैसे काम नहीं होता है देखें। दिखाने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि आप हैं तो दिखने में आ जायेंगे, यह निश्चित बात है। इसलिए **धर्म की ओर जैसे-जैसे हम बढ़ेंगे, वैसे-वैसे स्व का तो विकास या उत्थान होगा, साथ ही पर का भी होगा।** जो बिल्कुल पतन की ओर, गर्त की ओर जा रहा है, वह भी खड़ा होकर देखेगा और अपनी यात्रा की दिशा को बदल देगा और बाहर की ओर अपने आप ही आ जायेगा। गर्त में से निकालने की कोई आवश्यकता नहीं। यह गर्त है और तुम ऊपर आना चाहते हो तो आ सकते हो, डरने की कोई बात नहीं, कह सकते हो। लेकिन यह केवल बाहर ही बाहर रह गया है।

आणविक युग होते हुए भी एक वह युग है जो धर्म से सम्बन्ध रखता है। बाहर होते हुए भी वह भीतर ही रहता है। क्योंकि उसका लक्ष्य, उसका ध्येय हमेशा-हमेशा चेतन तत्त्व रहता है। और उसको मांजने में वह हमेशा-हमेशा लगा हुआ रहता है। उसको ठीक करना है। उसको जो ठीक करता है वह प्रत्येक क्षेत्र में कार्यकारी हो सकता है। जिसका वह ठीक नहीं है, तब बाहर से कुछ भी करो, कुछ नहीं होता। बाहर से जिसकी छाती जितनी बड़ी है, उतनी यदि भीतर से हो जाय तो

गड़बड़ हो जाये। हार्ट जिसको बोलते हैं, वह छोटा होता है। यदि ऊपर से बढ़ने लगा तो यह कायबल में आ जाता है। भीतर में आप जो हैं, वही रहो। उसको ज्यादा बढ़ाओ नहीं। उसको बढ़ावा देना गड़बड़ है। वह कब बढ़ जाता है, जब कि धुकधुकी ज्यादा हो जाती है। डर लगने लग जाता है। रक्तचाप बढ़ जाता है। चिन्ताएं बढ़ जाती हैं। तब हार्ट बढ़ने लगता है। जिसका हार्ट बढ़ रहा है उसको उदार नहीं कहते।

विशाल हृदय का अर्थ बड़ा हृदय नहीं। किन्तु जिसके विचारों में, अभिप्रायों में, उद्देश्यों में विशालता आ जाती है, वही विशाल हृदयी माना जाता है। इसलिए यह ध्यान रखना कि काया की जो मात्रा है अर्थात् हाइट (ऊँचाई) और विट्‌थ बढ़ जाये, लेकिन भीतर का पार्ट तो ठीक होना चाहिए। चेतन न बढ़ता है और न घटता है। चेतन क्या करता है ? चेतन जो है, पतित हो जाता है। चेतन का पतन भावों के ऊपर डिपेंड है। **चेतन का उत्थान भावों की सीढ़ियों पर चढ़ने से ही ज्ञात होता है।** इसके लिये कोई बाहरी परिश्रम की आवश्यकता नहीं होती। समय आपका हो गया।

आज क्षमा का दिन रहा। आप लोगों ने यह सुना था, या एक दिन अर्थात् आज पूजन आदि कार्यक्रम सम्पन्न किये। बहुत अच्छे-से किये हैं। यदि यह बीजारोपण बहुत अच्छा हुआ तो कुछ ही दिन लगेंगे, अंकुर फूटेंगे। बल्कि यूँ कहना चाहिए कि खाद डाली है, पानी का सिंचन हुआ है, मिट्टी बहुत अच्छी है, भाव बहुत अच्छे हैं और पवन का योग भी बहुत अच्छा है। भीतर से अंकुर फूटना प्रारम्भ हो गये हैं। ऐसा नहीं समझ लेना कि अंकुरण में २-३ दिन लग जाते हैं। वह लगता तो जरूर है पर देखने में नहीं आता। एक-एक समय में उसका प्रभाव रहता है। यदि एक समय का प्रभाव उस पर नहीं पड़ा, तो फिर दूसरे समय का भी नहीं पड़ेगा। तो इस प्रकार समय-समय करते हुए एक घण्टा भी यूँ ही चला जायेगा। जब घण्टा चला जायेगा तो एक दिन भी चला जायेगा। तीन दिन के उपरान्त एक साथ वह अंकुरित नहीं हो सकता। यदि आप लोगों ने एक घंटे तक सुना तो अंकुर का प्रारम्भ होना हो गया, मैं ऐसा मान लेता हूँ। मान लें। ऊपर से ही कह रहे हो कि भीतर से कह रहे हो ? महाराज, भीतर से कह रहे हैं। निश्चित है कि हम अब जो पशु-पालक हैं, उनमें भी पर्व के दर्शन करना चाहेंगे। जो कर रहे हैं वह भी धर्मात्मा है, ऐसा समझेंगे और उनके बारे में संरक्षण करने के लिये भले ही क्रोधाग्नि हमारी भड़क जाय, कोई बाधा नहीं, हम कह देते हैं। आपकी क्षमा बिल्कुल सुरक्षित है, ऐसा समझकर के क्रोध कीजिये। इसमें कोई भी बाधा नहीं है।

अहिंसा परमो धर्म की जय

❑ ❑ ❑

मन की खुराक : मान

सबसे ज्यादा अनर्थ होते हैं, तो मान-प्रतिष्ठा के कारण होते हैं। इसी के कारण आज बड़े-बड़े राष्ट्रों के बीच में संघर्ष छिड़ा हुआ है।

मानी व्यक्ति अपनी पत्नी को छोड़ सकता है। मानी व्यक्ति अपनी प्रजा को छोड़ सकता है। मानी व्यक्ति अपने भ्राता को छोड़ सकता है। लेकिन अपने मान को नहीं छोड़ सकता।

आज यह पर्व का द्वितीय दिन है। **जो व्यक्ति दूसरे को नहीं देखना चाहता है वह एक प्रकार से मानी कहलाता है।** बिल्कुल ठीक। भगवान् को आप देखते हैं। भगवान् किसी को देखते हैं क्या? नहीं। आप लोग प्रतिदिन भगवान् को देखकर के आ जाते हैं। क्या भगवान् ने किसी को देखा? नहीं देखते। और जो किसी को नहीं देखना चाहे, उनको क्या कहा जाय ? मानी। बिल्कुल ठीक।

दुनियाँ को देखते-देखते अनन्तकाल व्यतीत हो गया। और उसी का यह परिणाम है कि हमने अपने आप का महत्त्व खो दिया। भगवान् के दर्शन करने से हमें यही तो ज्ञात होता है। इस दुनियाँ को देखने से ही हमारे भीतर कषाय उत्पन्न होती चली जाती है। दुनियाँ को देखने से कभी भी अभिमान नहीं होता। किन्तु अपने स्वरूप से च्युत होकर के जब हम भिन्न पदार्थों के संयोग से अपने आपको बड़ा समझते हैं, उस समय यदि कोई हमारे इक्वल, बराबर मिल जाते हैं, तो कषाय के भाव जागृत हो जाते हैं।

विधर्मी से इतनी लड़ाई, इतना संघर्ष नहीं होता, जितना कि साधर्मी भाई से होता है। कोई भी व्यक्ति विदेश से यहाँ आ जाय, तो उससे आप कभी भी अभिमान नहीं करेंगे। अन्य प्रान्त से आ जाता है, तो उससे भी नहीं करेंगे। अन्य संभाग से आ जाता है, तो उससे भी कोई लेनदेन नहीं। अन्य जिला से भी आता है तो बनती कोशिश उससे भी नहीं होगा। अब बात आ जाती है अपनी तहसील की। वह भी कभी कभार मिल जाते हैं तो बात अलग है। नहीं तो वह भी यूँ ही निकल जाते हैं। अब बात आती है अपने गाँव की। उसमें भी कोई दूर रहता है। अन्य किसी मुहल्ले में और उसके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है, तो उससे भी कोई मान-अभिमान की बात नहीं होगी। अब बात आ जाती है अड़ोस-पड़ोस की। बस, एक दुकान भी बीच में हो, तो दूसरी दुकान से भी अभिमान ज्यादा नहीं होगा। कषाय नहीं होगी। साथ-साथ रहते हैं, तो वहाँ पर अभिमान उत्पन्न होने लग जाता है। जितना निकट हो, उतना परिचय प्राप्त हो, उन्हीं के साथ हम लोगों का इस प्रकार का संघर्ष चलता रहता है। इससे शान्ति पाने के लिये और अपने स्वभाव की कीमत

देखकर विश्व को देखना ही बंद कर दिया, स्वभावनिष्ठ हो गये, ऐसे भगवान् की मूर्ति देखते हैं, तो हमको कभी भी अभिमान उत्पन्न नहीं होता है। अभिमान तो दूसरे के ऊपर से होता है। इसलिए वह महामानी सिद्ध होते हैं। **और मान का अर्थ भी एक प्रकार से ज्ञान वाचक है।** क्योंकि प्रमाण की उत्पत्ति होती है, तो मान को प्र उपसर्ग लगाने से ही होती है। जिसको स्व व पर का सही मूल्य ज्ञात नहीं है, वही व्यक्ति प्रत्येक द्रव्य के पास अपने उपयोग को भेजकर उसका आदर करना प्रारम्भ करता है। दुनियाँ की छोटी से छोटी वस्तु भी हमारे आकर्षण का केन्द्र बन जाती है। और तीन लोक की सम्पदा से भरा हुआ वह व्यक्तित्व भी जो छिपा हुआ है, उसके बारे में हम कभी भी सोचते तक नहीं।

यह ध्यान रखो, दश खण्ड का प्रासाद, भवन भी अपने काम में नहीं आने वाला और अपनी कुटिया भी बहुत अच्छी छायादार नजर आयेगी। **स्वाभिमान वाला जो व्यक्ति होता है, वह सोचता है कि महान प्रासाद में अपने को नहीं रहना है। अपने को अपनी कुटिया में ही रहना है, अर्थात् स्वतन्त्रता यहीं पर है। वहाँ पर स्वतन्त्रता नहीं।** एक-एक पाई के लिये एक-एक मांग की पूर्ति के लिये दुनियाँ का यह प्राणी कहाँ-कहाँ पर नहीं गया ? जैसे कि कल उदाहरण दिया था, मान का। व्यक्ति जब दूसरे पदार्थ की इच्छा रखता है, तो वह क्या-क्या नहीं करता ? सब कुछ करने के लिये तैयार रहता है।

पाँचों इन्द्रियों के भिन्न-भिन्न विषय हैं। यह मान-प्रतिष्ठा कौन-सी इन्द्रिय का विषय है? खुराक है ? थोड़ा सा देख लें, तो बहुत अच्छा है। किसका पेट भरता है, मान को खाने से ? स्पर्शन इन्द्रिय की भी खुराक यह नहीं है। इसकी खुराक क्या है ? आठ प्रकार के स्पर्श हैं। मान प्रतिष्ठा उसकी खुराक नहीं। रसना इन्द्रिय का विषय अनेक प्रकार के रस हैं। पाँच प्रकार के रस हैं। रसना इन्द्रिय की भूख भी मान प्रतिष्ठा के माध्यम से मिटती नहीं। तीसरे नम्बर की है नासिका। उसकी क्या आशा है ? वह भी कभी मान-प्रतिष्ठा नहीं चाहती। गन्ध चाहती है। सुगन्ध हो या दुर्गन्ध हो, कोई भी हो, वह पसन्द करती है। चक्षु इन्द्रिय अर्थात् आँख, यह भी मान-प्रतिष्ठा नहीं चाहती है। चाहती है क्या ? महाराज! जब अपमान हो जाता है तो आँखों में से पानी आ जाता है। है ना ? हाँ, इसीलिये आँख की खुराक मान है। यदि मान नहीं मिले तो पानी आ जाता है। अन्यथा आँखें फूल जाती हैं, खिल जाती हैं। इससे स्पष्ट है कि आँख की खुराक मान है। नहीं, आँख की खुराक रूप है। अब रही कान की बात। अपनी प्रशंसा सुन लेते हैं, तो कान उठकर ही खड़े हो जाते हैं। पैर आ जाते हैं उनके पास। वह भी नहीं। क्यों इसलिए सुबह कहा था ना, संज्ञी वही होता है जो संकेत को समझकर के काम कर लेता है। इस तरह पाँचों इन्द्रियाँ गायब हो गईं। किन्तु प्रतिष्ठा किसकी खुराक है ? एक मात्र मन रह जाता है, वही एक मात्र इसकी भूख रखता है। किन्तु वह

हमेशा रखे, यह नियम नहीं। जब व्यक्ति दरिद्र रहता है, उस समय वह मान की ओर प्रायः नहीं देखता। तब सब तरह से दरिद्रता रहती है। जब एक-एक विषय की पूर्ति होती चली जाती है, तो धीरे-धीरे मन को एक प्रकार से जीवन मिल जाता है। जिसका पेट ही नहीं भरता, वह चक्रवर्ती बनना नहीं चाहेगा। स्वप्न तक नहीं देखेगा वह। क्योंकि यह संभव नहीं, थोड़े से ऊपर खड़े हो जाते हैं तो फिर भागने की बात आ जाती है। जो उठकर देख भी नहीं पा रहा है, पैर ही नहीं हैं, तो फिर भागने की बात ही नहीं होती। एक-एक विषयों की पूर्ति होती चली जाती है तो मान-प्रतिष्ठा की ओर भी चला जाता है। **मन का विषय मान है, क्योंकि छोटा व्यक्ति बड़े के पास जाना नहीं चाहता। वह मुझे खरीद लेगा। बड़ा व्यक्ति छोटे के पास जाना चाहता है। क्यों ? उसकी पूर्ति उन्हीं के माध्यम से होगी।** अब देखो! मान की भूख किसको हो गई। बड़ों को हो गई। अब उसकी पूर्ति किससे करेंगे ? एक बड़े व्यक्ति की भूख को मिटाने वाला छोटा व्यक्ति बड़ा है या वह बड़ा है। नहीं समझे। कि एक बड़ा व्यक्ति चक्रवर्ती भी अपनी भूख को मिटाने के लिये दरिद्र के पास चला जाता है। उसकी भूख वह मिटा देता है, तो बड़ा कौन हो गया ? चक्रवर्ती सोचता है, बड़े साहूकार सोचते हैं-मेरी वजह से इसका कार्य हो रहा है। सही पूछा जाय तो ज्ञान के द्वारा सोच लेना चाहिए कि इसके द्वारा मेरा काम चल रहा है। यदि यह नहीं चलेगा तो ब्लडप्रेशर में कमी-वेशी होने लगेगी, यह निश्चित बात है। अब मुझे कौन पूछेगा ? पूछ लगा लो, तो पूछेगा ही। किससे आप पूंछ लगवा रहे हैं ? मनुष्य होकर पूंछ चाहते हो। वाह! तब वह जागृत हो जाता है।

सबसे ज्यादा अनर्थ होते हैं, तो मान-प्रतिष्ठा के कारण होते हैं। इसी के कारण आज बड़े-बड़े राष्ट्रों के बीच में संघर्ष छिड़ा हुआ है। हमने खोज की, हम वहाँ पर गये, हमने यह किया, वह किया, यह सब बातें केवल प्रतिष्ठा की अपेक्षा से आ जाती हैं। एक व्यक्ति ने कहा था—आज सौरमंडल के बारे में जितनी भी छानबीन हो रही है, उसमें जितना पैसा खर्च हो गया, आगे की जो योजनायें हैं, उसका खर्च भी निकालकर रख जाय, तो उससे तीन वर्ष तक विश्व की आबादी के लिये अनाज की पूर्ति की जा सकती है। हमें समझ में नहीं आता—इन राष्ट्रों के उद्देश्य क्या हैं ? तीन वर्ष तो बहुत हो गया। इतना खर्च किया जा रहा है, वहाँ जाने के लिये। इससे क्या सिद्ध करना चाहते हैं ? इससे कुछ सिद्ध नहीं होने वाला। इससे कोई ज्ञान का विकास होने वाला नहीं। फिर कहाँ गये, इस पर भी एकमत नहीं है। कोई दरिद्र हैं, कोई अकाल में पड़े हैं। कोई ईति से ग्रसित हैं, बहुत ही हीन दशा में पहुँच गये हैं। उनके लिये थोड़ा प्रबन्ध किया जाता है, तो बहुत बड़ा कार्य हो सकता था। लेकिन उसके बारे में नहीं सोचते।

यह व्यक्ति मान-प्रतिष्ठा का ऐसा शिकार बन चुका है कि उसका सोच ही नहीं रहा। यह क्यों नहीं सोचता ? आचार्य कहते हैं—कि अफसोस की बात यही है। दुनियाँ के बारे में सोच रहा

है। इसलिए ऐसा हो रहा है। **जहाँ मान कषाय आ रही है, तो उसका कारण बस एक ही है कि वह दुनियाँ के बारे में छानबीन करता चला आ रहा है। यदि अपने बारे में सोच ले या स्वभाव के बारे में सोच ले, तो यह नहीं हो सकता।** दूसरी बात यदि दूसरे के बारे में सोचता भी है तो, दीन व्यक्तियों की बात अलग है। मानी से मानी व्यक्ति भी किसी दीन-दुखी व्यक्ति को देख लेगा तो उसको नीचे से ऊपर उठाने का प्रयास भी करेगा। कुछ बातें पूछने के लिए बात करेगा। यद्यपि और किसी से वह बातचीत नहीं करता। लेकिन रोते हुए व्यक्ति को देखकर, भयभीत व्यक्ति को देखकर, वह बड़ा है, यह अपने आप ही भूलकर उसका सुख-दुख सुनने को तैयार हो सकता है। ये दो बातें हैं। पर को देखने से, दीन दरिद्र को देखने से अपना मान कम हो सकता है, और स्वभाव की ओर देख लें, तो मान समाप्त ही हो सकता है, हो जाता है।

महाभारत कब हुआ, और क्यों हुआ ? इसकी जड़ क्या है ? क्या खाने के लिये नहीं था या रहने के लिये जगह नहीं थी ? जंगल में मंगल हो सकता है। दस-दस खण्ड के मकान में रहने वाले यहाँ पर, क्षेत्र पर एक भी मकान नहीं मिल रहा। महाराज! इतनी जगह मिल गई, बहुत पर्याप्त है। पर्याप्त है, मान कहाँ चला गया ? वहाँ न पंखा है, न कूलर है, न फ्रिज है, न कुकर। क्या है ? कुछ भी तो नहीं है। बस इतना ही पर्याप्त है, महाराज! कैसे दिन निकल रहे हैं ? महाराज! पता नहीं चलता। ऐसा लगता है दिन आता है तो रात सामने है। रात आती है तो दिन सामने है। यानि सुबह-शाम निकल रहे हैं। और आनन्द मंगल है।

हमें पहले यह देखना है कि हमारी ऐसी दशा कैसे हुई ? मान-प्रतिष्ठा के कारण हमने बहुत सारे गुणों का अनादर किया। महाभारत इसीलिये हुआ। मान-प्रतिष्ठा के कारण हुआ। इतनी यातनायें, ये सभी मान-प्रतिष्ठा के कारण और अन्त में **मान की चरम सीमा है। अपमान करने की एक चरम सीमा है। दूसरे को अपमान करके अपना पेट भरने की चरम सीमा है।** दुर्योधन और दु:शासन ने यह निश्चित कर लिया कि द्रौपदी के वस्त्र का हरण कर लेना। उसमें कौन-सी बात छिपी हुई थी, मुझे बताओ ? उसमें एक मात्र यही बात बनेगी कि हमारे देखते ही देखते मान-प्रतिष्ठा समाप्त हो गई। इस प्रकार उनको नीचा दिखने का एकमात्र उद्देश्य था। यह कौन-सी भूख है ? यह किसकी भूख है? यह राक्षसी भूख है। शीलवती स्त्री के ऊपर भी इस प्रकार का कार्य हो सकता है। जब मान खड़ा हो जाता है, तब यह महान अनर्थ का कार्य भी कर सकता है।

योद्धा कहना तो फिर भी ठीक है, लेकिन इन दोनों के साथ दुर् ही लगा है। हमारी समझ में नहीं आता। योद्धा अच्छा हो तो सद्योद्धा, सुयोद्धा और योद्धा कह सकते हैं। अयोद्धा कह सकते हैं। लेकिन इन दोनों भाईयों के पीछे एक ही नाम दुर्योधन, दु:शासन और एक नाम दुष्यन्त में दु क्यों लगा? यह समझ में नहीं आता। जिनकी बुद्धि ही दुष्ट है, जिनका शासन ही दुष्ट है। क्या सोचता

है मन? पाँच इन्द्रियाँ सोचतीं नहीं और यह मन सोचता है। इनको दुखित बनाने का मात्र एक ही उपाय है–इनकी पत्नि को नग्न कर देना। बहुत बड़ा अनर्थकारी निर्णय। और वह कौन ? भीष्म पितामह। कैसे देखते रह गये, जो महाभारत की सभा में सिरमौर जैसे, और देखते रह गये वह कौन-सी भीतर की इच्छा है ? लोभ, ललक है। यह कौन सी खुराक है ? क्या नीति ही डूब गई? **मानी व्यक्ति के सामने सब कुछ डूब जाता है।**

रावण आखिर नरक क्यों गया ? इसका भी उत्तर यही है। मैंने पुरुषार्थ किया है, तो तुमको भी पुरुषार्थ करना है। सामने दिख रहा है, स्पष्ट दिख रहा है, इसमें मेरी मृत्यु निश्चित है। मृत्यु तो हमेशा होती है, किन्तु क्षत्रिय का कर्त्तव्य होता है कि मान-प्रतिष्ठा बढ़ाकर चलना चाहिए। अब प्राण प्यारी मन्दोदरी से रावण कहता है– मेरी बात मंजूर है, तो ठीक है, नहीं तो यहाँ पर आने की जरूरत नहीं है। रावण स्वयं नीतिज्ञ है। उसके सामने नीति सिखाने का यह प्रयास ठीक नहीं। **मानी व्यक्ति अपनी पत्नि को छोड़ सकता है। मानी व्यक्ति अपनी प्रजा को छोड़ सकता है। मानी व्यक्ति अपने भ्राता को छोड़ सकता है। लेकिन अपने मान को नहीं छोड़ सकता।** सबको छोड़ सकता है वह मानी व्यक्ति, प्राण प्यारे जीवन को भी छोड़ सकता है। लेकिन मान को नहीं छोड़ सकता। नरक जाना मंजूर है, लेकिन मान को कभी भी, किसी के सामने बेचूँगा नहीं। यही क्षत्रियता के लिये कलंक है। मैं अपने परिवार में व राज्य में राजा होकर कभी अपने जीवन को कलंकित नहीं करूँगा। ध्यान रखो, मैं क्षत्रिय मर जाऊँ, मैं कभी मर नहीं सकता। यह शरीर आज नहीं तो कल मरना ही है। मुझे अपने जीवन की अमरगाथा बनाकर के ही जाना है। रावण का नाम युगों-युगों तक यह जग याद करता रहेगा। मैं राम बनना नहीं चाहता, रावण बनना चाहता हूँ। ऐसा सबको बता देता है। समझे। इस चीज की प्राप्ति के लिये कितने अनर्थ किये जा सकते हैं। पुराण ग्रन्थ उनके लिये साक्षी हैं। एक भी पुराण ऐसा नहीं है, जिसमें मान के कारण कोई नरक नहीं गया हो। एक भी युग ऐसा नहीं है, जहाँ पर इस प्रकार मान-प्रतिष्ठा को धक्का लगने से व्यक्ति भीतर ही भीतर घुटकर नहीं मरा हो। बहुत दयनीय स्थिति है। इतिहास को देखिये। उनमें हमारा भी नम्बर अवश्य होगा, शायद।

आज तक मान कषाय पनप रही है। उसका क्या कारण है? **मान का परिवेश क्रोध से कम नहीं है। ये दोनों द्वेष के प्रतीक हैं।** सभा में यदि विप्लव हो सकता है तो दो व्यक्तियों के माध्यम से हो सकता है। एक क्रोधी या एक मानी के माध्यम से। किसी को क्रोध आ जाय, तो वह सभा में विप्लव कर दे। एक मानी व्यक्ति आकर के सबसे सामने बैठ जाय। आपकी आँखों के सामने बैठ जाये। पीछे वालों को देखो, आगे वालों को भी देखो। क्या बात है ? जो सामने है उसी को देखो। आपको सामने देखना है। मैं उनको ही सामने देख रहा हूँ। **मान-प्रतिष्ठा के लिए यह संसारी**

प्राणी बहुत अनर्थ करता है। पेट भरता नहीं। पेट कहता है– भैया! मैं तो भूखा हूँ, और मेरे लिये आधा पाव आटा आवश्यक है। भैया! आटो ढूंढ़ रहे हो आप लोग। समझ में नहीं आता, आप आटो में घुमा दोगे तो मेरा कुछ होगा नहीं और किसको क्या भर रहा है ? हमें समझ में नहीं आ रहा है। मन पूरा भी नहीं समझता। क्योंकि हम तो घूम आये और ऐसी कार में बैठकर घूम आये जो किसी के पास नहीं थी। ऐसी कार। सब बेकार बैठे हैं। ऐसी कार में घूमकर सबके सामने से आ गया हूँ। पेट कहता– मेरे लिये क्या मिला ? कुछ तो खिलाते। कुछ तो पिलाते। उसकी ओर कोई नहीं देखता। प्रयोजनभूत तत्त्व के बारे में जब हम सोचते हैं, तब मान-प्रतिष्ठा अप्रयोजनीय सिद्ध हो जाती है। और जिस व्यक्ति की दृष्टि में तत्त्वचर्चा करने के उपरान्त भी मान-प्रतिष्ठा की भूख रहती है, तो इस तत्त्वज्ञान का कोई मूल्य नहीं है। क्योंकि यह प्रयोजनभूत ही नहीं है। इसीलिये कथंचित् आचार्यों ने कहा है, कि तुम्हारे लिये प्राणों की रक्षा करना है। सुन रहे या नहीं। सुनाने की सामग्री तो अब सुन ही लो, कानों से सुन लो, तो अच्छा है। उसमें क्या इनडायरेक्ट दिखता है ?

यहाँ जो हमारे लिये मोक्षमार्ग में कार्यकारी है, ऐसी पाँचों इन्द्रियों को प्राण के रूप में स्वीकार किया है। आयु को भी प्राण के रूप में स्वीकार किया है। लेकिन मान को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं किया। **मोक्षमार्ग में मान का क्या महत्त्व है ? पूछा जाये, तो कोई महत्त्व नहीं है। एक सेकेंड के लिये भी वह कार्यकारी नहीं है। बल्कि मान के कारण मोक्षमार्ग में दूषण लगते हैं।** मान को मिटाने के लिये पुरुषार्थ बताया है। इसलिए प्राण के स्थान पर होने वालीं इन्द्रियाँ, जिसके माध्यम से ज्ञान प्राप्त कर हम मोक्षमार्ग पर चल सकते हैं, वे तो हमारे लिये कार्यकारी हैं। किन्तु मान-प्रतिष्ठा नहीं। **यदि आप मान की प्रतिष्ठा बढ़ाना चाहते हो, तो मान कषाय की प्रतिष्ठा मत बढ़ाओ। प्रमाण की प्रतिष्ठा बढ़ाना चाहिए। सही ज्ञान की प्रतिष्ठा वह है जिसके माध्यम से तत्त्वज्ञान से हीन व्यक्ति भी तत्त्वज्ञान की ओर आकृष्ट हो जाये।** तत्त्वज्ञान की संभाल करो यानि सम्यग्ज्ञानी का सम्मान करो और सम्मान करो अर्थात् उसको मान नहीं दो। **मान और सम्मान में बहुत अन्तर है। क्योंकि ज्ञानी का सम्मान करने से अनेक अज्ञानी भी ज्ञान की ओर आ जायेंगे और मान देने से वही विपरीत चलने लग जाता है।** उसको मान कभी न दें, क्योंकि वह सोचेगा, मैं जो कार्य कर रहा हूँ, मैं जो सोच रहा हूँ, वह समीचीन है और बहुत अच्छा है। इसलिए एक प्रकार से आपके माध्यम से उसका पतन हो जायेगा।

मान सम्मान अनिवार्य है लोक में। पर प्रयोजनभूत तत्त्व की ओर लाने के लिये उसको क्षय कर देना चाहिए। **प्रयोजनभूत तत्त्व क्या है ? मान प्रयोजनभूत तत्त्व नहीं है, यह पहले समझें।** महाभारत, रामायण और भी पुराणों को देखने से ऐसा लगता है, कि बड़े-बड़े क्षत्रियों में भी मान की बातें थी। **मान का आधार क्या है ? किन-किन चीजों को लेकर मन में मान जागृत हो जाता**

है ? मान का अधिकृत स्थान मन है। और मन क्या चाहता है ? किन-किन चीजों के लेकर मान करता है ? आचार्य समन्तभद्र जी महाराज ने कहा, उनकी यह कारिका बहुत अच्छी लगती है। इस कारिका को पढ़ने, सुनने और अध्ययन करने से लगता है कि यह एक मात्र कारिका ही पर्याप्त है, दुनियाँ में सम्यग्ज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए, अध्यात्म के प्रचार-प्रसार के लिये। पहले क्या रखा? पहले ज्ञान रखा-

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयः॥

(रत्नकरण्डक श्रावकाचार-२५)

गतस्मयः यह विस्मय की बात है। किसके ऊपर यह मद करता है। मय यानि मद होता है। ज्ञान को लेकर व्यक्ति मद करता है, किन्तु यह विपरीत हो गया। ज्ञान तो दीपक का काम करता है। विज्ञान अपने को भी बचाता है और उसकी छाया में जो आता है वह भी बच जाता है। लेकिन ज्ञान के माध्यम से सम्यग्दर्शन समाप्त हो जाता है। यह तो समझ में नहीं आता। ज्ञान के माध्यम से नहीं, ज्ञान का मद करने से। **ज्ञान के माध्यम से तो स्व-पर प्रकाशन हो जाता है। ज्ञान का मद करने से स्व का भी ज्ञान और पर का भी ज्ञान, दोनों ही पतित हो जाते हैं** और मान करते-करते कहाँ पर चले जाते हैं ? पता नहीं लगता और अनर्थ हो जाता है। दो व्यक्ति आये और कहा- महाराज! हम दोनों मिलकर काम कर रहे हैं, हमारे लिए आशीर्वाद दे दो, ताकि हम दोनों के बीच कोई मतभेद न हो। घबराते क्यों हो ? दोनों व्यक्तियों में से एक व्यक्ति ने कहा - हमारा सामंजस्य बना रहे, महाराज! हमें विश्वास है, कि सामंजस्य बना रहेगा, क्योंकि तुम देनों में से एक ही विद्वान् है। दो विद्वानों के बीच में ही मतभेद होते हैं। और मतभेद होते-होते मनभेद भी हो जाते हैं। घबराओ नहीं। दो विद्वानों के मिलने से ही झगड़े शुरू होते हैं। ऐसा बड़ा तूफान भी हो जायेगा। किन्तु एक विद्वान् के पीछे नहीं। हमारी बात क्यों नहीं मानी जा रही ? इसीलिये झगड़ा होता है। मेरी बात नहीं मानी जा रही है। हमें क्या कम समझते हो ? तो ज्यादा कौन है ? कम तो कोई नहीं है। मैं भी नहीं। तू ही है मैं कहने से तो दोनों व्यक्ति आ सकते हैं। मैं कहने की अपेक्षा से ही तब वह कहेगा आपको तुम कहो। और तुम उनको कह दो। दोनों ही आ जायेंगे। वह होना चाहिए। पर ऐसा होता नहीं। इसलिए पहले ज्ञान को रखा।

ज्ञान चूँकि राग-द्वेष का अभाव करने के लिये था, किन्तु उसके कारण मद कर लिया, तो ज्ञान का ही दम निकल गया। मद का विलोम परिणमन हो जाता है। दम निकल गया। जिसके द्वारा जीवन बनना था, उसी से जीवन बिगड़ गया। जिसके माध्यम से विकास होना

था, विकास समाप्त हो गया। **मद आने के उपरान्त आचार्यों ने कहा है—अन्धकार फैल जाता है। मद वाले अन्धे होते हैं। मदान्ध जिसको कहते हैं। मद हो जाता है तो अन्धा हो जाता है। और यदि मद नहीं है तो अन्धा भी ज्ञानी हो जाता है।** यही एकमात्र कारण है, जिसके करने से सम्यग्दर्शन समाप्त हो जाता है।

कुल का मद, जाति का मद, ऐश्वर्य का मद, शारीरिक बल का मद आदि ये सारे के सारे मद के स्रोत हैं। जिस ज्ञान के माध्यम से मद आता है, तो वह दूसरों को समाप्त करना चाहता है। **जो व्यक्ति मद के कारण दूसरों को समाप्त कर देता है, वह अपने आत्मधर्म को ही मिटा देता है और कुछ नहीं कर रहा है।** एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को इसी मद के कारण मिटाने पर तुले हुए हैं। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को गिराने के लिये बल का प्रयोग करता है। यदि उस बल का प्रयोग विकास के लिये करता है तो क्या कहना ? यह नहीं हो रहा है। **''न धर्मो धार्मिकैर्बिना''** धर्म कभी भी हम देख नहीं सकते, इस दुनियाँ में धर्मात्माओं के अभाव में। और धर्म का पालन करने वाला व्यक्ति यदि अपने मद के कारण धर्मात्माओं को अपमानित करता है, उनको नीचा गिराने का प्रयास करता है, तो यथार्थतया वह व्यक्ति क्या कर रहा है ? धर्म को ही निर्मूल समाप्त कर रहा है। मान की एक ऐसी गर्मी है, जिसके द्वारा ठण्ड के दिनों में भी पसीना आ जाता है। नहीं आता क्या ? हाँ। मान के कारण बाहर ही बैठ जाता है, उनको वहाँ भी कुछ नहीं होगा। मान के कारण भीतर भी नहीं आते, क्योंकि हमें बुलाया नहीं गया। उन्हें ठण्ड नहीं लगेगी, इतनी गर्मी है, सर्दी कहाँ से लगेगी ? उनको तो लग ही नहीं सकती। जब तक वह उतरेगा नहीं मान के शिखर से, तब तक उन पर ठण्ड की कोई अनुभूति नहीं। न चादर की आवश्यकता, न कमरे की आवश्यकता, न पाटे की आवश्यकता, न चटाई की आवश्यकता, किसी की आवश्यकता नहीं। जब तक यह गर्मी रहेगी, तब तक तो वहाँ बिल्कुल हीटर जल रहा है।

निश्चित बात है, **यदि हम लोग प्रयोजनभूत तत्त्व को देख लें तो बहुत बड़े-बड़े लाभ कर सकते हैं। और हम उस प्रयोजन को गौण कर लें तो बहुत बड़े-बड़े अनर्थ भी हो सकते हैं।** तुम्हारा यह मौलिक जीवन धूल में मिल सकता है। मिलता आया है। गुस्सा से हम बहुत कुछ काम कर सकते हैं। मान से हम बहुत कुछ कर सकते हैं। लेकिन धार्मिक भाव से, आज तो धर्म युग नहीं है, महाराज! क्यों? पंचमकाल है। और पंचमकाल में धर्म-कर्म नहीं होता है। स्ववश धर्म होना आज दुर्लभ है। परवश बहुत कुछ हो सकता है। इससे तो बढ़िया यहीं-कहीं उपवास करके रह जायें। बस वह ४-५ दिन तक खायेगा नहीं। एक व्रत करना भी मुश्किल था, उसके लिये और इस तरह डॉट दिया, तो वह पाँच दिनों तक उपवास कर सकता है। हम आयेंगे नहीं, बुलायेंगे। छह दिन तक आप बुलाते रहोगे, फिर हम आयेंगे। यह अत्यधिक तीव्र होता है। अब कहें क्या ? दिखता

तो है नहीं, महाराज। मान इतने बड़े व्यक्तित्व को भी क्यों हिला देता है ? समझ में नहीं आता। कल ही कहा था–

परं परं सूक्ष्मम्॥

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात्॥

अनन्तगुणे परे॥ तत्त्वार्थसूत्र - २/३७, ३८, ३९

हाँ, अनन्तगुण भरे हैं। अनन्तानन्त पुद्‌गल परमाणुओं के माध्यम से मान का निष्पादन होता है। वह गोली का काम करता है उसके पास ऐसी शक्ति है। बल्कि वह शब्द तो निकल जाता है। लेकिन जब कभी याद आ जाय तब भी वह जैसे अभी गोली लगी हो, ऐसा अनुभव होता है। इसी को बोलते हैं प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ स्थान यानि फल देने की शक्तियाँ। चौदहवें गुणस्थानवर्ती के लिये भी यह संभव है। क्यों होता है ऐसा ? इसके पास उसकी शक्ति रहती है। मनोभाव के साथ अच्छे भाव के बारे में हम सोच लेते हैं तो उसी प्रकार अचेतन को लेकर भी कार्य हो सकता है। बुराई को लेकर कर सकते हैं तो बुरे कार्य भी हो सकते हैं। तो अच्छे भावों के साथ प्रथम स्थान, द्वितीय स्थान, तृतीय स्थानगत बन्ध होता था, परन्तु ज्यों ही सम्यग्दर्शन की भूमिका आ जाती है, आचार्यों का उल्लेख है - प्रशस्त प्रकृतियों में चतुर्थ स्थानीय बंध होना प्रारम्भ हो जाता है। हम कषायों के द्वारा चतुर्थ स्थानीय को द्वितीय स्थान तक ले जाते हैं। और यदि धार्मिक कार्यों की ओर झुकाव हो जाता है, सात्त्विक जीवन की ओर चला जाता है उपयोग, तो निश्चित रूप से वह चतुर्थ स्थानीय बंध करना प्रारम्भ कर देता है। वह ऐसी पोटेंसी होती है, जिसका बिना बोले ही मात्र भावों के माध्यम से उस व्यक्ति के ऊपर प्रभाव पड़ जाता है। सम्मान के ऐसे कार्य भी आप कर सकते हैं, जिसके माध्यम से बड़े-बड़े कार्य जो रुके हुए हैं, वह भी यूँ ही खेल-खेल में हो जाते हैं।

ज्ञान का सदुपयोग आप करना चाहें तो अवसर है। इस समय उस ज्ञान को वितरित करो, फैला दो, जिसके द्वारा मानी व्यक्ति भी इस ओर घूमना चाहे तो घूम सके। आज मान-प्रतिष्ठा के लिये ही कुछ जीवों का वध किया जा रहा है। और आपके मान को और बढ़ाने का संकल्प लिया गया है। आज पचास वर्ष हो गए आपकी उन्नति के लिये। राष्ट्र ने संकल्प लिया है, भारतवासियों को विश्व के सामने लाकर के खड़ा कर देना है। अरे! हम तो संकल्प लेते हैं। रात-दिन एक करके, आपके जीवन की उन्नति के लिये, आपकी शान को बढ़ाने के लिए, कितने ही जीवों का वध हो जाय, कोई बाधा नहीं, यह वध जो हो रहा है, भुखमरी है, इसलिए नहीं हो रहा है। ध्यान रखो, आप लोगों के पेट भरने के उपरान्त अब आपका मान और भर जाय। विश्व के सामने स्टेण्डर्ड कायम हो जाय, इसके लिये यह काम किया जा रहा है। आपकी मंजूरी है। हाँ, आप मान बढ़ाना चाह रहे हैं।

पशुओं का वध कर यहाँ से मांस और खून का निर्यात करके, वहाँ से विदेशी मुद्रा लाकर

राष्ट्र को उन्नत बनाने का संकल्प ठीक नहीं है। यदि ठीक नहीं है, तो फिर पचास साल से आपने सोचा क्यों नहीं ? राष्ट्र को इस प्रकार उन्नत बनाने का संकल्प ठीक नहीं है। जिस समय राष्ट्र को स्वाधीनता मिली, उस समय एक-एक व्यक्ति के पास कुछ न कुछ धन था। किन्तु आज प्रत्येक नागरिक पर हजार रुपये का कर्ज है। कर्ज के साथ ही भारतीय व्यक्ति का जन्म हो रहा है। पेट में आया नहीं कि वह कर्जदार हो गया। अब पहले कर्ज को मिटाओ। क्या कर्जदार व्यक्ति बाजार में सूटेड-बूटेड जा सकता है ? शाम को जल्दी-जल्दी जाकर काम निकाल दो, भैया। मेन रोड से मत चलो, वायपास से चलो। बाजार में मुख दिखाने लायक नहीं, भारत के ऊपर कर्ज होकर भी भारत कहता है - कि हम उन्नति की ओर अग्रसर हैं। विकासशील राष्ट्रों में भारत का भी नम्बर है। मतलब कर्ज लेने में वह विकासशील है। खूबी की बात तो यह है कि किसी को करुणा नहीं आ रही है। इस कर्ज को यदि समाप्त करना चाहें, तो कर सकते हैं। यदि कोई भारतीय सोच ले कि भारत के धन को जो बाहर रखा गया है, वह आ जाय, तो पूरा कर्ज समाप्त हो सकता है। पशुओं को काटने की क्या आवश्यकता है ? लेकिन मान-प्रतिष्ठा की बात आ जाती है।

समन्तभद्र महाराज कहते हैं - मान-प्रतिष्ठा की पूर्ति के लिये हम कौन-कौन से अनर्थ नहीं करते ? सब कुछ कर सकते हैं।

सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्बिना।

हम दूसरों को समाप्त करने के लिये तुले हैं। स्वामी समन्तभद्र कहते हैं- **धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं हो सकता।** यदि धर्मात्मा यहाँ पर हैं तो धर्म की रक्षा करना चाहिए। **यह परम कर्त्तव्य है, संस्कृति को सुरक्षित रखना, अहिंसा को सुरक्षित रखना।**

भारत की संस्कृति अहिंसा है। इस अहिंसा में सारी संस्कृतियां अपने आप समाहित हो जाती हैं। सभी कलायें, सभी ज्ञान की विधायें सारा का सारा साहित्य सुरक्षित रह जाता है। **इस साहित्य को तो सुरक्षित आप रखो और जो जीवित प्राणी हैं, उनको मौत के घात उतारकर संस्कृति की रक्षा करना चाहो, तो यह कभी भी नहीं हो सकता। प्राणियों के प्रति जिस व्यक्ति के हृदय में वात्सल्य/प्रेम/करुणा/दया नहीं है, वह व्यक्ति भी नहीं है। उसके कदम किस ओर हैं ? हम कह नहीं सकते।** अच्छाई की ओर तो वह नहीं ही है। इसलिए कि पचास वर्ष के उपरान्त भी आप लोगों ने यह नहीं सोचा कि सही उन्नति किसमें निहित है। हमारा हित किसमें निहित है ? ज्यादा शास्त्रों को रखने से, ज्यादा वस्तुओं के संकलन करने से, अच्छे-अच्छे बिल्डिंग बनाने से हमारी संस्कृति का संरक्षण नहीं है। अपितु हमारे विचार, हमारे आचार जितने सात्त्विक बनेंगे, उतना ही आने वाली पीढ़ी के लिए कुछ आत्मोन्मुखी होने का सौभाग्य प्राप्त हो सकता है।

विषय सामग्री जितनी फैलती चली जायेगी इस धरती पर, उतना ही व्यक्ति परोन्मुखी ही होता चला जायेगा, आत्मोन्मुखी तो हो ही नहीं सकता। बहिर्मुखी होना इस युग का सबसे बड़ा अभिशाप माना जायेगा। पहले अन्तर्मुखी और ऊर्ध्वमुखी हुआ करते थे। हमारा लक्ष्य ऊर्ध्वमुखी होना था, किन्तु आज दूरमुखी बहिर्मुखी हो रहा है। **और दूरदृष्टि की आवश्यकता है, दूरदर्शन की नहीं। क्योंकि दूरदर्शन को देखने से आँखों की ज्योति खराब होती है, और दूरदृष्टि रखने से हमारा मानसिक स्तर बढ़ता चला जाता है।** जितनी दूरदृष्टि रखोगे, चिन्तन की धारा उतनी ही डीप तक पहुँच जायेगी और जितनी गहराई में आप पहुँचोगे उतने ही माणिक-मोतियों का खजाना आपको मिलेगा। उसी के बारे में आप क्या सोच रहे हैं। छोटी-छोटी बातों के ऊपर शोध चल रहे हैं। आत्मा की खोज के बारे में, वस्तुतः जीवन के विकास के बारे में क्या सोचा जा रहा है ? कुछ नहीं। यही अकर्मण्यता है। सही उद्योग करने से जीवन उन्नत हो सकता है, लेकिन आज बिना उद्यम का व्यवसाय माना जाता है। पहले के व्यक्ति इस प्रकार के कार्य की सोचते तक नहीं थे।

सही व्यवसाय के माध्यम से यदि धन का अर्जन होता है, तो कोई बाधा नहीं। सुनते हैं कि जैन समाज में पहले चूने का काम नहीं करते थे। जैन समाज में ईंटों का काम नहीं करते थे। जैन समाज में और भी कुछ ऐसे कार्य हैं, जिनको नहीं करते थे। कुछ ऐसे व्यापार, धन-धान्य भी जिनमें वर्षा के दिनों में ज्यादा कीड़े/लटें पड़ जाती हैं, स्वीकृत नहीं करते थे। उनको दो महीने तक लाना बिल्कुल बंद कर दिया जाता था। किन्तु आज किसी भी प्रकार से आये, जैसा-तैसा आवे, पैसा आवे। बस ये तुकबंदी अच्छी लग रही है आप लोगों को, किन्तु यह अच्छा नहीं है। ज्यादा पैसा लाने से पैसा वाले थोड़े ही होते हैं। लेकिन पैसे का भी अपना महत्त्व रहता है। सात्त्विक पैसा अलग काम करता है। राजसता पूर्ण पैसा अलग काम करता है। खानदानी और नया पैसा इनमें क्या अन्तर है ? ओल्ड को गोल्ड माना जाता है। और नया बोल्ड माना जाता है। आप कितना भी करो उसके द्वारा कभी भी शक्ति नहीं मिलती, **क्योंकि प्राणों में शान्ति जब आती है, जब अन्न अच्छा मिलता है। अन्न अच्छा तभी माना जाता है, जब धन अच्छा होता है।** इसलिए नया पैसा अच्छा नहीं है। पैसा तो पुराना ही अच्छा है, क्योंकि पुरानी की ही कीमत का आज पैसा है, यह भी ध्यान रखना। एक व्यक्ति ने आकर कहा-महाराज! पहले में और आज में कुछ अन्तर नहीं। हाँ, बिल्कुल अन्तर नहीं। आपको कितना वेतन मिलता है ? मैंने पूछा। महाराज! पाँच हजार मिलता है। पहले कितना मिलता था? पहले तीस वर्ष पूर्व सौ रुपये मिलते थे। बहुत उन्नति हो गई, पचास गुना हो गया। नहीं! महाराज, उस में भी उतने में एक तोला सोना आता था और भी वही है। कहाँ है वह उन्नति बताओ ? तेली के बैल की भांति आप पचास वर्ष की उन्नति के बाद भी वहीं के वहीं हैं। इस समय एक जीरो और आ गया। पाँच हजार में हम कैसे काम चलायें ? सूंघ-सूंघ कर रखना पड़ता

है। पहले शक्कर के लिये मुंह में पानी आता था, आज शक्कर का नाम सुनकर आँखों में पानी आ जाता है।

सोचिये, विचार करिये। क्या जमाना आ गया ? वह ठीक था, कि यह ठीक है ? महाराज, क्या दोनों एक ही हैं सूखापना आ गया है। सौ रुपया कहीं भी बांध बूंध कर रख जाते थे। पाँच हजार रखने के लिये स्थान ही नहीं। अब नोट के बंडल बहुत हो गये हैं, कहाँ रखें। आज जमाना आ गया टोकरे में तो नोट ले जाओ और दुकान से सामान खरीदकर पाकेट में ले आओ। अब पैकिट में कोई भी देखता नहीं, भैया। यह क्या है जेब में ? यह देखलो, बहुत मंहगाई है। वस्तुस्थिति देखते हैं तो कुछ हुआ ही नहीं है। हुआ है, ऐसा कहा जा रहा है या धारण बनाई जा रही है। आपका जीवन वहीं पर और ज्यों का त्यों है। विकास कहाँ है बता दीजिये ? अपितु हमारे देश का ह्रास हुआ है।

आज सात्त्विकता समाप्त होने के कारण से ऐसी दशा हो रही है। मान-प्रतिष्ठा के कारण से हम चमक-दमक में फँसते जा रहे हैं। मान-प्रतिष्ठा को बढ़ाने में प्रत्येक व्यक्ति लगा हुआ है। सब अपनी चिन्ता में है, देश की चिन्ता किसी को नहीं। भगवान् के स्वरूप को उनके दर्शन से लाखों व्यक्तियों में परिवर्तन आ जाता है। आज भारत की इस धरती पर ऐसे व्यक्तित्व की आवश्यकता है, जो चारों तरफ शान्ति का वातावरण ला सके। आज हमें ऐसे दीपक की आवश्यकता है, जो इस अन्धकार को दूर कर सके, ऐसे रत्नदीपक की बहुत आवश्यकता है।

कषाय छोड़ने से शान्ति मिलती है। अपनी प्रतिष्ठा के लिये दूसरे को क्यों अपमानित किया जाता है ? वह मूक पशु जो स्वयं पीड़ित रहता है, तुम क्यों अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये उसे पीड़ित कर रहे हो ? वह पशु तो रूखा-सूखा घास ही तो खाता है, लेकिन आपको क्या देता है ? इसके बारे में विचार करो।

पशु सीमा में रहकर कभी भी प्रकृति विरुद्ध नहीं होता। नारकी और देव भी विरुद्ध नहीं होते। अगर होते हैं तो मानव। मनु यानि मानी नहीं। वही मान करना सिखाते हैं। मनु चले गये पर ये महामना बन गये, जो मान रखते हैं। मान का भूखा है यह मानव। पेट भरते हैं जीवन चलाने के लिये और पेटी भरते हैं जीवन को चढ़ाने के लिये। पेट आधा घंटे में भर जाता है और पेटी जीवन भर में नहीं भरेगी। संकल्प करें - कषाय कम करने का। मूल्य को बढ़ाने के लिये सद्धर्म का आश्रय लेना आवश्यक होता है।

अब भारत को मान-प्रतिष्ठा की दौड़ को छोड़कर आत्मनिष्ठा की ओर आना चाहिए। भारत की धरती पर जो दुष्कृत्य बढ़ रहे हैं, उन्हें मिटाने की बात करना चाहिए। मांस का निर्यात करना भारत जैसे राष्ट्र को शोभा नहीं देता। इस कार्य को अविलम्ब रुकवाने के लिये आवाज उठाना चाहिए, और भारत में मांस निर्यात बन्द होना चाहिए। इसी में राष्ट्र का हित है। इसी भावना के साथ

उत्तम मार्दवधर्म की जय... ❑ ❑ ❑

भव्यत्व का प्रतीक : आर्जव

रास्ता सीधा ही होता है, लेकिन चलने वाला सीधा नहीं हो पाता है। मोक्षमार्ग टेढ़ा नहीं है। मार्ग हमेशा सीधा ही रहता है।

भव्य के पास शान्त होने की योग्यता है। अब कम से कम सादि-अनन्त और अनादि-सान्त पर्याय को प्राप्त करें, यही आर्जव धर्म का मन्तव्य है।

सीधे सीझे शीत है, शरीर बिन जीवन्त।
सिद्धों को शुभ नमन हो, सिद्ध बनूँ श्रीमन्त॥

जो सीधे हो गये हैं, उनको मैं बार-बार नमन करता हूँ। जो सीधे नहीं हुए हैं वे सीधे हो जाएं, इस प्रकार की भावना करता हूँ। भावना तो करना ही चाहिए। क्योंकि उसमें मेरा भी नम्बर आ जाता है। भावना तो यह होना चाहिए कि हम सब सीधे बन जायें। सूर्योदय शतक के मंगलाचरण में लिखा, यह दोहा बहुत प्यारा है। संसार में कोई भी व्यक्तित्व ऐसा नहीं दिखता जो इस दोहे के योग्य भाव लाने का प्रयास करता हो। बिन सीझे इसका अर्थ है, यहाँ विद्यमान हैं। और शीत नहीं, इसका अर्थ गर्म है। यहाँ पर विद्यमान हैं। इसलिए सशरीरी हैं, अशरीरी नहीं हैं, यह निश्चित किया जाता है।

उन सिद्धों को बार-बार नमस्कार करता हूँ, जिनको कि अरिहन्त परमेष्ठी प्रत्यक्ष-परोक्ष ध्यान का विषय बनाये रहते हैं, और तीर्थंकर भी जब तक घर में रहते हैं, सम्पूर्ण छद्मस्थ काल में नमः सिद्धेभ्यः कहते हैं। जिन्होंने साध्य को सिद्ध किया है, वस्तुतः वही पूज्य माने जाते हैं। पूज्य बनने हेतु जो साधन अपनाए जाते हैं, वे भी पूज्य माने जाते हैं। और कथंचित् धन्यवाद के पात्र होते हैं। क्योंकि इन सारे के सारे व्यक्तियों की दिशा एक है। भले ही आगे-पीछे हो, फिर भी रास्ता वही है।

कोई व्यक्ति विमान के माध्यम से जाता है, उसके लिये बहुत दाम चाहिए, तब वह विमान में बैठने का सौभाग्य प्राप्त करता है। बहुत जल्दी मंजिल तक पहुँच जाता है। यदि इतना पैसा नहीं है तो कोई एक्सप्रेस ट्रेन से चला जाता है। सुनते हैं आजकल विमान और ट्रेन के चार्ज एक जैसे हो गए हैं। उसका कारण यह है कि विमान ऊपर चला जाने पर हृदय धक्-धक् करने लग जाता है, किन्तु रेल में ऐसा नहीं होता। यदि यह भी नहीं है तो उससे कम दाम में चलने वाला वाहन ले लेते हैं। ऐसा करते-करते कोई व्यक्ति साइकिल भी लेता है। वह भी नहीं है तो पैदल यात्रा करना शुरू कर देता है। पैदल में भी कोई चलता है, कोई दौड़ता है, कोई कूदता है। कूदने का मतलब उसी दिशा में कूदने वाला। मेंढक का भी तो नम्बर आता है, वह पंचम गुणस्थानवर्ती होता है और कमाल का काम करता है। बहुत सीधा रहता है, आप भी उसे देखने और जानने का प्रयास कीजिये। स्वामी

समन्तभद्र महाराज ने ऐसे व्यक्तित्व को हमारे सामने रखने का प्रयास इसलिए किया है, क्योंकि वह भी उसे ओर जा रहा है, जिस ओर महावीर भगवान् पहुँच गये हैं।

रास्ता सीधा ही होता है, लेकिन चलने वाला सीधा नहीं हो पाता है। मोक्षमार्ग टेढ़ा नहीं है। मार्ग हमेशा सीधा ही रहता है।

आर्जवधर्म की क्या बात है ? आर्जव बनने की बात सोच लेना चाहिए। **आर्जव का कथन नहीं आर्जव का जतन होना चाहिए। वस्तुतः आर्जव होना निकट भव्यत्व का प्रतीक लगता है।** दूसरे के ऊपर यह निर्भर नहीं है, किन्तु दूसरे को देखकर किया जा सकता है। दूसरा सीधा है, इसलिए हम भी सीधे हो सकते हैं। प्रयोजन के अनुसार वह व्यक्तित्व अपनाया जा सकता है। प्रयोजन के बिना यह संभव नहीं है। आज तक कितने जीवों ने इस आर्जव धर्म की शरण लेकर अपने आपको सीधा बनाया है ? इसकी गिनती नहीं कर सकते, केवलज्ञानी ही जान सकते हैं, किन्तु वे भी बता नहीं सकते। कब से यह मोक्षमार्ग प्रारम्भ हुआ ? इसको भी वे कह नहीं पायेंगे, क्योंकि अनादिकाल से यह मार्ग खुला है, किन्तु कहने पर अनन्त ही कहेंगे। जब उन्होंने कैवल्य को उपलब्ध कर लिया, उस समय दिखा तो भी अनन्त दिखा। केवलज्ञान से पूर्व संज्ञी अवस्था में इस तत्त्व पर श्रद्धान करके भी मार्ग को अनन्त माना था।

मंजिल या मार्ग को जानना इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना अनुभूत करना। जानना शब्दों के माध्यम से होता है। मानना आस्था के माध्यम से होता है और अनुभव करना चेतना के माध्यम से हुआ करता है। जिस समय अनुभव करते हैं, उस समय जानते भी हैं और मानते भी हैं, पर कथन नहीं करते। जिस समय कथन की प्रणाली आरम्भ करते हैं, उस समय हम उससे हटकर बाहर आ जाते हैं। अध्यात्म का यह मूल तथ्य है, और आचार्य कुन्दकुन्द जैसे महान् आचार्य अध्यात्म के अनुभव या अहसास को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनके यहाँ विश्वास और श्रद्धान भी अनुभूति परख है। बात बड़ी विचित्र जैसी लगती है कि जानना भी उनके यहाँ अनुभूति है और श्रद्धान करना भी अनुभूति है।

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि जं पुणो वि फासेदि।

ज्ञान का अर्थ वहाँ पर संचेतना है। एकमेक होना है। महसूस करना है। जिस समय हम महसूस करते हैं, तब शब्द चूक जाते हैं। वाणी मूक हो जाती है और बाहरी संकेत भी अचेत हो जाते हैं। आधार भी निराधार हो जाते हैं। सब प्रवृत्तियां शान्त होती हैं, जब निवृत्तिपरक कार्य होने लगते हैं।

जल पीऊँ, जल पीऊँ, जल पीऊँ इस प्रकार कहते हुए एक दो माला फेर लो, तो मुंह और

सूख जायेगा, और सूखने के उपरान्त जल पीऊँ, जल पीऊँ यह वाणी भी बंद हो जायेगी। अगर जल नहीं पिया तो कंठ और सूखता नजर आयेगा। किन्तु जब जल पीता है, उस समय जल पी रहा हूँ ऐसा नहीं कह सकता। ऐसा कहते ही उसको जल लग जाता है, जल बाहर आ जाता है। आज प्रायः जल पीते हैं या नहीं, पर ठसका बहुत लगते हैं। **आध्यात्मिक ठहाके देखने हों तो आज की संगोष्ठियों में देख सकते हैं। चर्चायें, संगोष्ठियां, ये, वे बहुत सारे हो रहे हैं, लेकिन वह दृष्टि बहुत कम देखने को उपलब्ध हो रही है। जिसमें भीतर की भी आँख बंद करके और बाहर के भी कान बंद करके आत्मतत्त्व का सीधा दर्शन हुआ करता है।** आचार्य कुन्दकुन्द इस प्रकार के व्यक्तित्व को बार-बार नमस्कार करते हैं। द्रव्यश्रुत केवली को तो वह कह जाते हैं - न जानाति आत्मतत्त्वं। किन्तु भावश्रुतकेवली को बार-बार नमस्कार करते हैं। क्यों करते हैं ? क्योंकि द्रव्यश्रुत के मनन/अध्ययन/चिन्तन का प्रयोजन यही है, कि वह अपने आपमें लीन हो जाए। चलने वाला व्यक्ति चलता जाता है, उसके आजू-बाजू वाले व्यक्ति या पीछे वाले व्यक्ति सोचने लग जाते हैं कि भैया इसका यह मार्ग अलग क्यों ? बिना पूछे या बिना कहे ही पूछने लग जाते हैं। और पूछने के उपरान्त यदि वह नहीं बताता है तो यह सोचकर कि यही मार्ग सही है। उसके पीछे-पीछे लग जाते हैं। कौन पीछे लगे? उसे यह पता नहीं। लेकिन यदि वह व्यक्ति सही मार्ग पर है, तो उसके पीछे लग जाते हैं।

आर्जव धर्म के बारे में यही कहा जाता है। तीर्थंकरों ने धर्म का उपदेश दीक्षित होने के उपरान्त नहीं दिया। उपदेश क्या दे दें ? पहले **भावेण होई णग्गो सर्वप्रथम भाव लिंगी होना ही आवश्यक कहा जाता है। क्योंकि उसका अनुभव करने के उपरान्त, द्रव्य का प्रदर्शन करना चाहिए। भाव यदि ज्ञात नहीं है और दुकान में द्रव्य को दिखाओ तो क्या होगा ? चौपट हो जायेगा। मुफ्त में ही लेकर चले जायेंगे। भाव बड़े ही महत्त्वपूर्ण होते हैं। लेकिन वह पकड़ में नहीं आते। लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्** वह सीमा को लेकर चलते हैं। द्रव्य इन्द्रिय जीवन के अन्त तक चलती है, अर्थात् उनकी निवृत्ति और उपकरण बना रहता है। भाव इन्द्रिय कई बार परिवर्तित हो जाती है। उपयोग में अन्तर्मुहूर्त के उपरान्त परिवर्तन अनिवार्य हो जाता है। एक अन्तर्मुहूर्त के लिए भावश्रुतकेवली सीधे हो जाते हैं, और अन्तर्मुहूर्त के लिये वे सीधे नहीं। एक प्रकार से वे टेढ़े हो जाते हैं। घड़ी में पेंडुलम होता है, वह सीधा लम्ब रूप में कब रहता है ? छह पर रहता है। वह बारह की ओर तो नहीं जाता। ऊपर की ओर तो जाता ही नहीं। ज्यादा से ज्यादा सात तक या इधर पाँच तक। छह पर कब आता है ? बहुत कम समय के लिए आता है। इतना ही स्पर्श हो जाय तो काफी है। यह अप्रमत्त दशा है। सीधापन इसी को बोलते हैं। कभी ऊपर से नीचे आता है, और पुनः ऊपर चला जाता है। यह उसका कार्यक्रम चलता रहता है।

जो व्यक्ति एक-एक क्षण के लिये, एक-एक अन्तर्मुहूर्त के लिए शुद्धत्व का, सिद्धत्व का, पारिणामिक तत्त्व का सीधा स्पर्श करता है, आह्लाद का अनुभव करता है, वह कथन नहीं करना चाहता है। क्योंकि कथन करने से उस तत्त्व का भान किसी को होगा नहीं। उसका संवेदन किसी को होगा नहीं। और जिस समय उसका कथन करेगा, उस समय जो देने वाला है, वह भी उससे वंचित हो जायेगा। जब भोजन करते हैं उस समय श्वांस नली में एक बूंद पानी चला जाय तो ठसका लग जाता है।

दो नलियाँ रहती हैं - एक भोजन नली व एक श्वांस नली। श्वांस नली में भोजन का एक दाना भी चला जाय तो ठसका लग जायेगा। और इधर दूसरी नली में जाने पर ठसका नहीं लगता। ऐसा क्यों ? मोक्षमार्ग में परिग्रह वृत्ति का एक दाना भी पहुँच जाय तो ठसका लग जायेगा। लेकिन वह परिग्रह किस नली में भर रहे हैं हम नहीं कह सकते ? समझ में नहीं आता और वह तो भरता ही चला जायेगा।

परिग्रह यह अपने आपको टेढ़ा बनाने वाला पदार्थ है। वह व्यक्ति कुछ भी नहीं कर सकता जो स्मृति रखता है, यह आगम का कथन है। यह कथन कहाँ है महाराज ? भविष्य के बारे में सोचना एवं अतीत के बारे में सोचना भी टेढ़ा है। बिल्कुल टेढ़ा है। प्रथम अध्याय के अन्तिम सूत्र में यह आया था। ऋजुसूत्र व वक्रसूत्र आया था या नहीं? सुना हो, तो वक्रसूत्र भी आया था। एक स्थूल ऋजुसूत्र होता है अथवा अशुद्ध ऋजुसूत्र। अशुद्धऋजुसूत्र अनेक समयवर्ती पर्याय को ग्रहण करता है। स्थूल ऋजुसूत्र भी अनेक समयवर्ती पर्याय को ग्रहण करता है। लेकिन सूक्ष्म व शुद्ध ऋजुसूत्र एक समयवर्ती पर्याय को ग्रहण करता है। उसकी दृष्टि में न अतीत है, न अनागत है। यह ध्यान रखना, **आचार्य कुन्दकुन्द ने सोच-विचार कर कहा है कि संसार में समय की विवक्षा से केवल ऋजुसूत्र ही कार्य करता है। अन्य जितने भी कार्य हैं सब व्यवहार के कार्य हैं। और व्यवहार एक प्रकार से उपचार ही माना जाता है।** क्योंकि भविष्यकाल है ही नहीं और भूतकाल भी नहीं। अर्थात् जो परिणमन करेगा, वह आज नहीं और जो परिणमन कर चुका है वह भी आज नहीं। इसलिए अर्थ यानि ज्ञान का विषय यदि अर्थ के रूप में आता है, तो केवल वर्तमान आता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने अनागत पर्याय को अव्यक्त पर्याय माना है। व्यक्त पर्याय का संवेदन होता है। जबकि अव्यक्त पर्याय की आशा और स्मृति रह सकती है। आशा भी जो नहीं है उसी की की जाती है, और स्मृति जो वर्तमान में है ही नहीं, घटित हो गई है, उसकी ही की जाती है। **यदि वर्तमान को विषय कर लें, तो स्मरण समाप्त हो जाता है। वर्तमान में स्मरण का मरण हो जाता है। अगर वर्तमान से खिसक जायें तो वर्धमान भी पकड़ में नहीं आयेंगे।**

हमेशा-हमेशा वर्तमान में जीने का प्रयास जो करता है, वह ऋजुसूत्र के विषय को धारण करता है। वह आर्जव धर्मी माना जाता है। कितना सूक्ष्म है यह ? अन्तिम समय भी यदि शेष है, यानि रविवार आने वाला है, तब भी शनिवार चल रहा है। जब तक बारह बजने में एक सेकेण्ड भी कम है, तब तक शनिवार चल रहा है। टेढ़ापन चल रहा है। रविवार नहीं है। रविवार जिस समय आया, उस समय शनिवार नहीं है। कितना अन्तर है ? आचार्य कहते हैं—जब तक वह अपने क्षेत्र से नहीं खिसकता शनिवार ही माना जाता है। वर्तमान पर्याय के अलावा हम तो कुछ भी सोचते हैं, वह वास्तव में है ही नहीं। अव्यक्त है। वह ऐसा अव्यक्त है जिसका व्यंजनावग्रह भी नहीं होता। व्यंजनावग्रह के लिये भी अन्तर्मुहूर्तवर्ती पर्याय अपेक्षित है। तब कहीं आप व्यंजनावग्रह को पकड़ सकते हैं। भले ही आप ईहा नहीं कर सकते, धारणा नहीं कर सकते, लेकिन व्यंजनावग्रह की पर्याय भी अन्तर्मुहूर्तवर्ती है। एक समयवर्ती पर्याय ऋजुसूत्रनय का विषय है। उसमें कार्य-कारण की व्यवस्था नहीं। आधार-आधेय की व्यवस्था नहीं। गुण-गुणी की व्यवस्था नहीं। यहाँ पर कोई कल्पना नहीं चलती।

जो क्षणक्षायी हुआ करता है, उसमें कार्य-कारण की व्यवस्था नहीं होती है। अनेक प्रकार के जो विकल्प उत्पन्न होते हैं, संकल्प उत्पन्न होते हैं, वह सारे के सारे कार्य-कारण की व्यवस्था को लेकर, या पूर्वोत्तर पर्यायवर्ती व्यवस्था को लेकर, या आधार-आधेय व्यवस्था को लेकर होते हैं। जिस समय आपने जिसको आधार स्वीकार किया, उस समय आधेय की ओर दृष्टि नहीं गई। जिस समय आधेय की ओर दृष्टि गई आधार गायब हो गया। और यह व्यवस्था नहीं बन पाती है। इस प्रकार सीधापन प्राप्त करने के लिये हमें भूत और भविष्य को विस्मृत करने की आवश्यकता है। वस्तुतः काल की इकाई समय है। चूंकि पुद्‌गल के आश्रित होकर ही व्यवहार काल की व्यवस्था की जा सकती है। यह पचास वर्ष का हो गया, यह चालीस वर्ष का हो गया और यह दस वर्ष का हो गया, ये सारी पर्यायें व्यवहार काल के साथ जुड़ी हुई हैं। और व्यवहार काल स्वयं आश्रित नहीं है। व्यवहार काल पुद्गल और जीव पदार्थों के परिणमन पर आधारित है। संग्रह करके, समूह करके या एकत्रित करके जैसे पुद्गल को अस्तिकाय की संज्ञा दी जाती है, उसी प्रकार काल की इकाई को संग्रह करके हम एक मिनिट, एक घड़ी, एक अन्तर्मुहूर्त, एक मुहूर्त और दिन आदि कहते चले जाते हैं। काल की इकाई को देख लो, तो वहाँ कोई विकल्प नहीं है। ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से आप लोगों को सोचना है कि हमारा स्वभाव क्या है ?

ऋजो र्भाव: आर्जव:। अ कहाँ से आ गया ? ऋ में से। आ कैसे पैदा हो गया ? बिल्कुल ठीक है, आ की उत्पत्ति ऋ की वृद्धिमूलक हुआ करती है। ऋजोर्भावः आर्जवः। ऋषि से सम्बन्ध रखने वाला मार्ग आर्षमार्ग माना जाता है। ऋजु के साथ सम्बन्ध रखने वाला आर्जव होता है। उसका

भाव आर्जव होता है। इसलिए भाव परक यह धर्म है, न कि द्रव्य परक। इसमें द्रव्यपरक धर्म की कल्पना की जाती है। इसमें वृद्धि होती है और वृद्धि होती तो ऋ गायब हो जाता है। उसी प्रकार जब हम वर्तमान में आ जाते हैं तो अतीत और अनागत दोनों गायब हो जाते हैं। गायब क्या ? कल्पना के विषय थे, मौजूद तो थे ही नहीं।

आप लोगों के यहाँ चलता है। दुकानदार हैं न आप लोग। प्रायः करके सब लोग दुकानदार हैं। दुकानदारी करते हैं। दुकान में एक बोर्ड लिखा हुआ रहता है। क्या लिखा रहता है उस पर ? क्यों हंसने लगे ? अव्यक्त पर्याय को भी पकड़ने की क्षमता इन लोगों में है। जो कहा ही नहीं उसको भी पकड़ लिया। दुकान में बोर्ड लगा रहता है, इतना ज्ञान है, और कहते हैं कि–महाराज! हमें कुछ नहीं आता। फिर कैसे भविष्य की बात सोचने लगे। समझ में आ गया कि आज नकद कल उधार। ये ग्राहकों को फंसाने के लिये है। सही बताओ ? महाराज! आज सत्य धर्म थोड़े ही है, सत्य धर्म आने दो तब बता देंगे। आज तो आर्जव धर्म है। आप सुना दीजिये। इस प्रकार कहे बिना और वहाँ पर बोर्ड लगाये बिना कोई ग्राहक नहीं आ सकता। लेकिन यह बोर्ड भी कम से कम एक दिन तो चरितार्थ होना चाहिए। यह ऐसा बोर्ड है कि हमेशा आश, जिज्ञासा, भरोसा रखकर ग्राहक आपके पास आता है। और आप उसे लूटते रहते हैं। समझ में नहीं आता। आपको भी कोई इसी प्रकार लूटे तो बताओ ? महाराज! हम ऐसे चतुर हैं, हम लूट तो सकते हैं, लेकिन स्वयं को नहीं। संसारी प्राणी बहुत चतुर लगता है। यह संसार भी मृग-मरीचिका के समान है। कल आता जैसे लगता है, लेकिन कल कभी भी आता नहीं। और कभी-कभी आज भी जब बारह घंटों का हो जाता है तो उस समय आप लोग क्या कहते हैं–कल करें सो आज कर, आज करे सो अब। यानि वर्तमान रूप आज स्थूलऋजुसूत्र नय का विषय है। आज कहने से बारह घंटा हो जायेगा, इसलिए आप अब की ओर चले जाते हैं, उसमें आश्वासन नहीं चाहते। भविष्य में, उधार में आप काम करना नहीं चाहते, नकद लाओ। नकद यानि हाटकेस। हाटकेस क्या कोई सूटकेस जैसा है ? हाटकेस तो बात ही अलग है। वस्तुतः संसारी प्राणी जिस दशा में पुरुषार्थ करता है, सोच-समझ कर करता है। पूरा समय लगा देता है। पूरी मेहनत करता है, पूरा जीवन लगा देता है। आहार, पानी आदि से वंचित रहकर भी वह कार्य करता है। वस्तु का परिणमन था, है, रहेगा। उसे भी तीन कालों में बांटना नहीं चाहिए। वस्तु परिणमनशील है। वस्तु परिणत हो गई, अथवा वस्तु परिणत होगी। यह भी गड़बड़ है। वस्तु परिणमन कर रही है यह कहने से भी कार्य की ओर दृष्टि चली जाती है। कन्टीन्यू वस्तु परिणमनशील है। यह धर्म की ओर आ जाता है।

चार बातें हो गई। वस्तु परिणमन कर रही है, यह कहने से क्या होता है ? काल सापेक्षित होता है। यह भी जानना ठीक नहीं। क्योंकि इसमें निमित्तपरक अर्थ निकल जाता है। इसमें वर्तमान

कहने पर आप वस्तु को न ग्रहण करके काल की ओर चले जाते हैं। परिणत था, कहने से अतीत की ओर चले जाते हैं। परिणत होगी, ऐसा कहने से भविष्य की ओर चले जाते हैं। परिणमन कर रही है, ऐसा कहने से काल के द्वारा परिणमन कर रही है, काल की ओर दृष्टि चली जाती है। परिणमनशील है कहने से ऋजुसूत्रनय आ जाता है। वस्तु हमेशा परिणमनशील रहती है, इसमें हमेशा कहने से तीनों काल आ जाते हैं। लेकिन परिणमन कर चुकी है, कर रही है, करेगी। यह कहने से तीनों काल की ओर दृष्टि चली जाती है। और परिणमनशील कहने से It is nature of trade thinks. वह स्वभाव है। एक वस्तु दूसरे के ऊपर आधारित नहीं। यह वस्तु का सीधापन माना जाता है। Independed शील, स्वभाव, धर्म ये सब अपने ही अपेक्षा को लेकर के चलते हैं। इसका अभाव पर सापेक्ष होता है। शील का अभाव पर चतुष्टय की अपेक्षा से, किन्तु शील का सद्भाव पर की अपेक्षा से नहीं, स्व की अपेक्षा है। जो कि आर्जव धर्म यानि सीधापन स्व सापेक्ष है। सीधापन या आर्जवधर्म सिद्धों में भी पाया जाता है।

आप लोग चरखा के माध्यम से या तकली के माध्यम से सूत कातते हैं, निकालते हैं, रुई की पोनी बनाते हैं और चरखा या तकली से जोड़ कर घुमाते हैं। नीचे तकली को घुमाते हैं, पोनी को नहीं। हाँ, तकली। नहीं समझ में आया ? तसल्ली रखो, सब समझ में आ जायेगा। नीचे एक हाथ से घुमाते हैं, और ऊपर से पोनी लगाते हैं, त्यों ही पोनी में से सूत यूँ खींचने से प्रसूत होने लग जाता है। लेकिन यह ध्यान रखना, नीचे की तकली **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्** न उत्पाद हुआ न व्यय हुआ, ज्यों का त्यों ध्रुव रहेगा, तो पोनी पोनी में रहेगी। और हाथ में तकली रहेगी। कोई सूत नहीं निकलेगा। अब देखो, डोर तो निकलती चली जाती है, लेकिन बार-बार टूटने लग जाती है। इसका कारण क्या है ? इसका कारण है, तकली में जो डंडी होती है, वह भले थोड़ी-सी टेढ़ी हो स्थूल ऋजुसूत्रनय का विषय हो तो डोरी बार-बार टूटने लग जाती है। और उसकी गति बिगड़ती चली जाती है। जैसे ही तकली की गति बिगड़ती चली जाती है, वैसे ही जो सूत को निकालने वाला रहता है, उसका भी दिमाग खराब होने लग जाता है। उसको गति देते चले जाइये। और निकालते चले जाइये। नीचे देखने की कोई आवश्यकता नहीं। गति देते चले जाते हैं एक हाथ से और ऊपर से वह खेंचते चले जाते हैं। उसमें भी नम्बर होते हैं। जितने चाहें, उतने नम्बर निकाल लें।यदि बहुत वेग से घुमाओगे, तो सूत टूट जायेगा। और बहुत कम गति से घुमाओगे तो भी उसमें नम्बर ठीक नहीं जायेंगे। इसलिए **उत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्** रूप जो द्रव्य में से प्रतिसमय सूत की भांति पर्यायें निकलती चलीं जा रही हैं, अटूट हैं, कभी भी नहीं टूटतीं। वे पर्यायें सीधी होना चाहिए, तो आनन्द का अवसर हम लोगों को प्राप्त होता है। थोड़ी-सी भी गति बिगड़ गई तो वह आनन्द का स्रोत टूट जाता है।

द्रव्य त्रैकालिक है। परिणमन द्रव्य का स्वभाव है। वह सदा निकल रहा है, व्यतीत हो रहा है। निकलना उसका स्वभाव है। कल जैसा सुख चाहते हो, मिलना भी चाहिए। आने वाले कल के लिए भी ऐसा ही चाहिए। अरे! यदि द्रव्य परिणमन आज कर रहा है, तो कल भी ऐसा ही करेगा, चिन्ता क्यों करते हो ? इस अतीत की चिन्ता, स्मृति और अनागत की जिज्ञासा, आशा संसारी प्राणी को मिटाती है।

भगवान् नासा पर दृष्टि रखते हैं। और आप आशा पर दृष्टि रखते हैं। बस इतना ही अन्तर है। भविष्य की प्रतीक्षा में नहीं, अपितु निरीक्षण में उनका प्रतिक्षण गुजर रहा है। प्रतीक्षा अन्य समय की इच्छा है और निरीक्षण प्रत्येक समय में देखने-जानने रूप स्वभाव है। जब हमारी दृष्टि सामने चली जाती है, तो भविष्य दिखता है। हमारी दृष्टि पीछे चली जाती है, तो पीछे की घटना सामने आ जाती है।

कार चलाते हैं। एक सामने की ओर काँच होता है। वहीं पर अर्थात् बगल में एक दर्पण और लगा है। उस काँच में भी देखना पड़ता है और सामने के काँच में भी देखना पड़ता है। एक काँच सामने आने वाले पदार्थों को दिखा देता है और वहीं पर लगाया हुआ दूसरा काँच पीछे कौन आ रहा है, उसको दिखाता है। इसी तरह आप अपने उपयोग को कभी भविष्य की ओर, कभी अतीत की ओर ले जाते हैं। बैठे तो रहते हैं वर्तमान में। आप सीधे से लगते हैं। लेकिन सीझे नहीं हैं। इसलिए निश्चित है कि सीधे नहीं है हम। सीझने का अर्थ है पक जाना, निष्पन्न दशा का अनुभव करना। उसे कौन कर सकता है ? जिसका स्वभाव होगा वही पक सकता है। जिसके पास स्वभाव नहीं है तो वह पक नहीं सकता। जो ऋजु होगा, जो जायेगा, नहीं तो नहीं।

एक व्यक्ति निशाना साधकर बैठा है। वह धनुर्विद्या में निष्णात है। बाण धनुष पर चढ़ा रहा है और छोड़ रहा है। किन्तु निशाना चूक जाता है तो पुनः एक बाण निकालता है और वह निशाना साधकर छोड़ देता है। पुनः वह चूक जाता है। बार-बार वह ऐसा करता है। विश्वास नहीं होता अपनी कला के ऊपर। बात क्या हो गई ? बात कुछ भी नहीं। किन्तु क्या ? इसी को बोलते हैं-इषुगति। इषु माने बाण की गति। बाण की गति बिल्कुल सीधी होती है। फिर निशाना क्यों नहीं बन रहा ? बाण में निशाना नहीं। निशाना आँख में होता है। और दूसरी बात यह है, निशाने के लिये आँख ठीक देख रही है कि नहीं। फिर भी बाण वहाँ पर क्यों नहीं जा रहा है ? वह इषु नहीं था बाण। उसमें थोड़ी-सी वक्रता थी। उसके कारण वहाँ तक जाकर भी सफल नहीं हुआ।

जब हम वस्तु को देखना चाहें तो उस दृष्टि में सरलता पाने का प्रयास करना चाहिए। हम कोण को बना लेते हैं। इसके कारण हमें वस्तु दिख नहीं पाती। दो दोस्त जंगल में चले जा रहे

हैं। घूमते-घूमते वहाँ पर एक हाथी चरता हुआ दिखा। वह पेड़ की हरी-हरी टहनियों और डाल को तोड़कर खा रहा था। तोड़ लेता है, खा लेता है, आगे बढ़ जाता है। ऊपर, नीचे, आजू-बाजू वह देखता ही नहीं। दोस्त ने अपने दोस्त को कहा—यह हाथी एक आँख से अंधा है। कैसे देखा आपने? देखने की कोई आवश्यकता नहीं। नजदीक जाकर देखते हैं तो सचमुच ही हाथी एक आँख से अंधा है। तुम्हें तो अब केवलज्ञान होने वाला है। मनःपर्ययज्ञान हो गया क्या ? परमावधि तो नहीं ? क्या बात है ? तुम्हीं बताओ। तुम सोचो, एक आँख से अंधा है इसलिए इसकी दृष्टि तो ठीक है। लेकिन एक ही ठीक है। दूसरी दृष्टि ठीक नहीं है। क्योंकि दाहिनी आँख के पास जो हरी-हरी डाल आदि हैं उन्हें इसने खाया नहीं। ऊपर वाली डाल की ओर ही अपनी सूंड को ले जा रहा है। यह तो पास ही है। लेकिन इस आँख के द्वारा यह डाल देखने में नहीं आ रही। **इस आँख के पास ज्योति नहीं होने के कारण वस्तु होते हुए भी गायब जैसी लगने लग जाती है। वस्तु में अनेक पहलू होने के कारण हमारी दृष्टि उन सभी पहलुओं को नहीं ग्रहण कर पाती है। और सही-सही निर्णय नहीं ले पाते। अनुभूति में वह नहीं आ पाती। यदि हमारे पास ऐसी शक्ति आ जाय, तो वह इधर और उधर भी होता चला जाए।**

सुनते हैं, पता तो नहीं कि कौवे की दो आँखें नहीं हुआ करतीं। सुना आप लोगों ने भी। अच्छा, अनुभव भी किया है। अब मैं यही कहना चाह रहा हूँ कि सुनना, देखना और अनुभव करना इनमें बहुत अन्तर है। जैसे कौआ इतना जल्दी इधर की गोलक को उधर भेज देता है और उधर की गोलक को इधर भेज देता है। वहाँ दो सांचे हैं आँख के। लेकिन गोलक एक है। इसी तरह **हम लोग भी बहुत जल्दी अपने उपयोग को दोनों तरफ ले जायें तो वस्तु की सही परख हो सकती है। इसमें जितने भी पहलू हैं, समझ में आ सकते हैं। और इसके लिए आर्जवधर्म की शरण में जाना अनिवार्य है। भले ही पदार्थ टेढ़ा बना हो। लेकिन स्वभाव की अपेक्षा से सीधा ही है।**

यहाँ पर स्वभाव का दिग्दर्शन है, और विभाव का गौणीकरण। जैसे जो करिया है वह गैया है। श्यामा, श्यामा ... बोलते हैं ना। किन्तु काली गाय का दूध काला होता है क्या ? नहीं होता ना। अरे होना तो चाहिए था। ध्यान रखो, घी पीला हो जाय यह बात अलग है। क्योंकि वह पर्यायान्तर हो गया। लेकिन दूध तो सफेद ही रहेगा, काला नहीं हो सकता। क्योंकि काली तो उसकी त्वचा का स्वभाव है, दूध का स्वभाव नहीं। उसी प्रकार सभी पदार्थ स्वभाव की अपेक्षा से सीधे हैं। सभी पदार्थ आर्जवधर्म की अपेक्षा से आर्जव युक्त हैं। किन्तु वहीं पर पदार्थ से प्रभावित होकर विभाव में आ जाते हैं। इसलिए उनको हम टेढ़ा कह सकते हैं। कैसा भी हो, लेकिन उसका शील या स्वभाव आर्जव ही रहेगा। आज तक कोई भी पदार्थ टेढ़ा न हुआ है, न आगे होगा। क्योंकि उसका परिणमनशील स्वभाव टेढ़ा नहीं है। शरीर टेढ़ा हो जाय, हाथ टेढ़ा हो जाय, और हुंडक संस्थान

वाला भी क्यों न हो, वह १४वें गुणस्थान को पार करके चला जाता है। सिद्ध परमेष्ठी को कभी भी विग्रह वाला नहीं माना जाता। क्योंकि उनका शरीर उस समय ऋजु नहीं था। टेढ़ा था इसलिए टेढ़े शरीर के साथ जायेगा। उसे अब विग्रह तो नहीं लेना पड़ेगा। जब कभी भी यह प्रश्न पूछा गया, उस समय हमने तो यही उत्तर दिया—हुंडकसंस्थान भले ही हो और उसके माध्यम से वह मुक्त हो जाता है। मानलो उसके हाथ-पैर कहीं टूट जायें, तो भी उसका संस्थान यानि आत्मा के प्रदेशों का संस्थान जो रहता है वह मनुष्य के आकार वाला ही रहता है। न कि ऊपर का शरीर टेढ़ा होने के कारण उसमें भी टेढ़ापन रह जाता है। और संस्थान में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। हाथ-पैर टूट जाय और उसी अवधि में केवलज्ञान प्राप्त हो जाय और मुक्त हो जाय। शरीर छूट जाय यह बात अलग होती है। लेकिन उसका संस्थान ज्यों का त्यों रहता है। इसमें परिवर्तन नहीं। संहनन और संस्थान एक ही रहते हैं। मान लो, बदल जाय, तो १४ वें गुणस्थान में जाकर के समचतुरस्र संस्थान होना चाहिए। परम औदारिक शरीर बन जाना अलग है। परमौदारिक अर्थात् स्थूल नोकर्म रूप शरीर से निगोदिया राशि का निकल जाना। इसकी अपेक्षा से संस्थान में कोई परिवर्तन नहीं आता। **१४ वें गुणस्थान को भी पार करने वाले के, चूंकि रत्नत्रय में टेढ़ापन नहीं है। रत्नत्रयधारी के शरीर में टेढ़ापन रह सकता है। उसमें आठों अंग-उपांग टेढ़े हो सकते हैं, लेकिन रत्नत्रय तो सीधा ही रहता है।** क्योंकि स्वभाव में कभी भी किसी भी प्रकार से वक्रता नहीं आती। नयों में वक्रता कब आ जाती है ? जब भिन्न-भिन्न काल का आधार लिया जाता है। जो कि काल्पनिक माने जाते हैं। इसलिए नयों में भी वक्रता आ गई। ऋजुसूत्र और अनऋजुसूत्र। ऋजुता का अभाव हो गया। यानि एक प्रकार से उस नयपन का उसमें विपरीतपना आ गया। अतीत और अनागत काल की विवक्षा में ऋजुता का गौणीकरण होने के कारण स्थूलता आ जाती है या अशुद्धता आ जाती है।

आपकी हिस्ट्री में कितनी वक्रता है, इसे प्रयोग के माध्यम से देख सकते हैं। कौन से प्रयोग के माध्यम से देख सकते हैं ? आपके हाथ में सुई है। सुई के सिर में छेद है। उस छेद में से एक डोर को पोना है। आपकी आँखों में कोई नम्बर नहीं, बहुत अच्छी आँखें, ज्योतिःपुंज। आपके एक हाथ में डोर दी गई और एक हाथ में सुई है। आप सुई की ओर देख रहे हैं। देखकर भी आप यूँ कर देते हैं। इसके उपरान्त आप अंगूठा व तर्जनी के माध्यम से डाल रहे हैं, किन्तु वह नहीं गया। वह आगे चला गया। आपने सोचा धागा चला गया है, अतः उसको यूँ खींच लिया। और सुई नीचे गिर गई। ऐसा क्यों हुआ ? ऐसा इसलिए हुआ, लगता है हम बहुत सीधे हैं। बिल्कुल सीधे हैं। सिद्ध परमेष्ठी जैसे सीधे हैं क्या ? हमारी दृष्टि, हमारी आस्था, हमारी धारणा यह निर्णय लेती है कि हमने उसको पो दिया। लेकिन पोने में नहीं आया। क्योंकि छेद इतना छोटा है और डोर बहुत मोटी है। तो क्या किया जाय ? वहीं अंगूठी और तर्जनी यूँ-यूँ (हाथ का इशारा) करो। फिर से पानी लगाओ।

थूंक नहीं लगाओ। पानी लगाओ। अशुद्धि से भी नहीं होना चाहिए। देखो सूत को आप उस छेद से पार करा रहे हैं, तो अशुद्धि नहीं होना चाहिए। **कई लोगों की यह आदत होती है, नोट गिनते-गिनते थूक लगाते हैं। लेकिन उनको सावधान रहना चाहिए। कभी भी शास्त्र के पन्ने इस तरह से नहीं पलटने चाहिए। सावधानी के साथ करना चाहिए।** कई लोगों को हमने देखा है यूँ लगाकर यूँ-यूँ कर देते हैं। यह गलत है। असावधानी है। अब देखो, हमें उसको पो देने में बहुत समय लग जाता है। छेद सामने दिख रहा है और डोर भी बहुत पतली को गई है। लेकिन फिर भी देर लगती है। डोर में टाइटनेस होना चाहिए, है ना। हाँ। कल मृदुता की बात थी, किन्तु यहाँ मृदुता नहीं चाहिए। आज आर्जव धर्म है। है ना! कल का धर्म छोड़ दें क्या ? छेद से यदि डोरा पार करना चाहते हो तो मुलायमपने के साथ तो वह रुक जायेगा। टिक जायेगा। टकरा जायेगा। उसको थोड़ा टाइट करना पड़ेगा। और यदि अग्रभाग को पतला कर दे, तो फिर निकालना और आसान होगा। बहुत देर नहीं लगेगी।

आर्जव धर्म बहुत कठिन है, पसीना आ जाता है। कई लोगों को डोर पोते समय भी पसीना आ जाता है। इतना सीधा काम नहीं है। सीधा होने में बहुत मेहनत होती है। दूसरा कौन सा उदाहरण दे दें ? हम भी नहीं थकते। और आप भी सुनते-सुनते नहीं थकते। हाँ, बिल्कुल ठीक, बिल्कुल ठीक। देखो, एक लुहार है। उसके यहाँ कोई व्यक्ति सलाई लेकर आया। उसकी रॉड टेढ़ी है। अब क्या करना पड़ेगा ? वह तो बड़ी है। **लेकिन सीधी तभी हो सकती है जब वह पहले मार्दव धर्म की अग्नि में जाये। उसको पहले अच्छे ढंग से तपाओ।** तपा देने के उपरान्त घन के प्रहार किये जाते हैं। घन के प्रहार किये जाते हैं, उसको सीधा करने के लिये। वह मुलायम हुए बिना घन के प्रहार को सहन नहीं कर सकती। बल्कि यूँ कहना चाहिए कि वह प्रहार को सहन कर सकती थी, किन्तु मुलायम हुए बिना वह सीधी नहीं हो सकती। **अणिग्गिपक्कं** अग्नि के द्वारा जब तक नहीं पकाया जायेगा, अग्नि परीक्षा जब तक नहीं की जायेगी, तब तक उस रॉड में आया हुआ वक्र पन सीधा नहीं होगा। और वैसे के वैसे रख दें, तो पुनः टेढ़ा हो जायेगा। ज्यों का त्यों वह बन रहेगा। जिस समय वह तप जाता है, उस समय मुलायम होने के कारण, उसके ऊपर जहाँ पर वक्रता है, घन का प्रहार देते हैं तो वह सीधा हो जाता है। और इसके लिये बहुत सारा कोयला खर्च किया जाता है। अग्नि के सामने लुहार को भी तपना पड़ता है। जो रॉड लेकर बैठ जाता है, उसको भी तपना पड़ता है। और कुछ प्रहार को भी सहन करना पड़ता है। किन्तु तब तक वह उसके ऊपर प्रहार करता चला जाता है, जब तक कि वह सीधी नहीं होती। कभी-कभी देखने में ऐसा आता है कि एक बार के तपन में वह पूर्ण सीधी नहीं हो पाती। तो पुनः उस रॉड को एक बार, दो बार या तीन बार तक अग्नि में डाल देते हैं। तब कहीं जाकर के वह सीधी हो पाती है। और लुहार कहता है- भैया

५० रुपये निकालो। इसके लिये पचास रुपये ? जरा-सा तो टेढ़ा था। ऐसा नहीं था, उंगली का टेढ़ापन बहुत जल्दी सीधा हो जायेगा। लेकिन उसका ऐसा नहीं होता। यहाँ पर कितना कोयला जल गया, पहले यह देखो। फिर बाद में पैसा दे देना।

अनेक प्रवचनों के माध्यम से सीधा करने का प्रयास किया। अभी भी सीधे नहीं हुये तो कब होंगे ? पर्व तक देख लें। एक-एक करके धर्म चले गये। संभव है तप-त्याग धर्म के दिन तक हो जाये। यह सोचें कि अपने परिणामों को सीधा करने का संकल्प है, कि नहीं। अगर है, तो कभी भी कर सकते हैं, उसके लिये मुहूर्त की आवश्यकता नहीं। दिन कभी टेढ़ा-सीधा नहीं होता। चार द्रव्यों में हमेशा अर्थपर्याय होने के कारण सीधे हैं। ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से दो ही द्रव्य टेढ़े हैं—जीव और पुद्गल। जीव दिखता नहीं, पुद्गल दिखता है। उसका स्वभाव भी टेढ़ा नहीं, पर अनेक के संयोग से टेढ़ापन आ जाता है। उसमें अनादि से वक्रता आ रही है और जिसके अनन्तकाल तक रहेगी, वह अभव्य है। अनेक सिद्ध सीझ जाये, तो भी वह सीधा नहीं होगा। जब तक स्वभाव में नहीं जायेगा तब तक ऋजुता नहीं आयेगी। भव्य के पास शान्त होने की योग्यता है। अब कम से कम सादि-अनन्त और अनादि-सान्त पर्याय को प्राप्त करें, यही आर्जव धर्म का मन्तव्य है।

आचार्यों ने इसी की आराधना गुफाओं में बैठकर की है। सीधेपन का मनन-चिन्तन किया है।
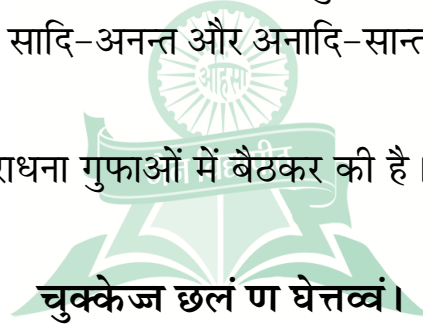
चुक्केज्ज छलं ण घेत्तव्वं।

छल वक्रता है। आचार्य कहते समय अगर कुछ चूक गये तो तुम धारणा बनाते समय न चूक जाना। चूक हो सकती है, पर ग्रहण न करें। सन्तों ने आराधना की, कर रहे हैं। तप कर रहे हैं, उस अग्नि से अपने को सीधा कर रहे हैं। **मन के चलायमान होने पर भी आस्था के बल पर सीधा किया जा सकता है। गिरते तभी हैं, जब दृष्टि में टेढ़ापन हो। पुनः गिरकर, उठकर मंजिल की ओर जो बढ़ता है वह आर्जवधर्म का उपासक है। हमारे कदम भी आर्जव धर्म की ओर बढ़े, इसी भावना के साथ महावीर भगवान् की जय.....।**

❑ ❑ ❑

देख स्वभाव की ओर

यह किसका है ? यह क्या है ? यह क्यों है ? किससे है ? कहाँ है ? इस प्रकार बाहरी पदार्थों के बारे में प्रश्न मत करो। इस प्रकार जो विचार श्रेणी बहिर्मुखी है, उसे अन्तर्मुखी करो।

भावना के माध्यम से अपना जो आत्मतत्त्व दूषित है, एक प्रकार से धूमिल है, हम उसे उज्ज्वलता/निर्मलता दे सकते हैं।

कुछ दिन पहले एक शोधपरक लेख पढ़ रहा था। वहाँ पातंजलि भाष्य की प्रशंसा के रूप में एक श्लोक उपलब्ध हुआ। लगा इस श्लोक के तीन चरणों को, ज्यों का त्यों रखा जाए और अन्तिम चरण में पूज्यपाद स्वामी को याद कर लिया जाय। पातंजलि के नाम से वह श्लोक उपसंहार को प्राप्त हुआ है। वहाँ पर **सुपूज्यपादं शिरसा नमोऽस्तु** यह चरण जोड़कर के समस्या पूर्ति के भाव आ गये। क्योंकि पूज्यपाद स्वामी ने भी यही कार्य अपने जीवन में किया है। इस श्लोक में बहुत अच्छा भाव दिया गया है। आज प्रसंग शौच धर्म का है। मल कितने प्रकार के हैं ? किस-किस के माध्यम से वह मल दूर किया जा सकता है ? यह भाव ही तीन चरणों में है। उसमें प्रथम है-

शरीरस्य मलं वैद्यकेन अपाकरोत्।

शरीर का मल रोग माना जाता है। वैसे आप नीर के माध्यम से स्नान कर लेते हैं। नीर के माध्यम से आप मुख शुद्धि कर लेते हैं। स्नान बाद में भी किया जा सकता है। किया क्या जा सकता है, आप करते ही हैं। मैंने आज तक कहीं देखा न पढ़ा, न ही सुना, संभव है आप पढ़े भी होंगे, सुने भी होंगे और देखे भी होंगे। पूछना चाहता हूँ आप लोगों से-सुबह उठते ही मुखशुद्धि के लिये पानी में मीठा मिला करके कुल्ला किया हो ? मीठा खाना चाहते हैं, तो मीठे के द्वारा ही मुखशुद्धि भी कर लें। लेकिन इसके विपरीत सुना, देखा, पढ़ा व आपने भी अनुभव किया होगा। और वह बहुत अच्छा लगा। नीम की जो दातौन होती है, उसे खूब चबा रहे हैं, खूब चबा रहे हैं। किन्तु एक बूँद भी भीतर नहीं जाती। फिर भी उसे खूब चबा रहे हैं। पूछा कि भैया मुखशुद्धि कर रहे हो या कड़वा कर रहे हो ? इसमें रहस्य छिपा हुआ है। भीतर की कड़वाहट को बाहर निकालने में वह सक्षम है। मीठे के पास तो वह गुण है जो मुख को कड़वा बना दे। और नीम के पास वह क्षमता है जो मुख को शुद्ध बना दे। आप लोगों के मुख मीठा खा-खाकर कड़वे हो गये हैं। इसलिए आप लोगों को मीठा नहीं खाना चाहिए।

शरीरस्य मलं वैद्यकेन

वैद्यक ग्रन्थों का निर्माण पूज्यपाद स्वामी ने किया। जिसके माध्यम से वे समस्त संसारी प्राणी जो आरोग्यमय बनाना चाहते हैं, जिसके अध्ययन करने से वैद्य लोगों का जीवन बना रहा और उनकी सेवा से यह निरोगता का अनुभव करता रहा। ऐसे पूज्यपाद को मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ।

वाणी की भी अशुद्धि हुआ करती है। मुख की अशुद्धि अलग है एवं वाणी की अशुद्धि अलग है। वाणी की अशुद्धि दूर करने में भी सक्षम ऐसी पूज्यपाद की लेखनी व कृतियां

हैं। व्याकरण की रचना करके उन्होंने बड़ा उपकार किया है। जैनेन्द्रव्याकरण इनकी मौलिक कृति मानी जाती है। इसकी विशेषतायें वैय्याकरण जानते हैं, शोध छात्र जानते हैं और उसको अवश्य ही कोड करने का प्रयास करते हैं। जैसे अभी पूर्व वक्ता, जो दक्षिण से पधारे हैं, ने कहा–कि यह दिगम्बर जैन समाज का दुर्भाग्य है कि दिगम्बर जैन समाज में ऐसे बड़े-बड़े आचार्य हुए हैं। किन्तु उनका प्रकाश आज के विज्ञान युग में नहीं आ पाया है। उन्होंने तो प्रकाशन करके रख दिया वर्षों पूर्व। **जिन्होंने भवन का निर्माण कर दिया, महाप्रासाद खड़ा कर दिया है, यदि वर्षा के कारण ऊपर की कलई निकल जाती है, तब कर्त्तव्य होता है कि दीपावली या दशहरा या किसी अन्य त्यौहार के निमित्त से उसको पुनः ठीक किया जाये। यह हमारा दुर्भाग्य या प्रमाद समझो कि हम उसे इस रूप में लाकर समाज के सामने नहीं रख पाये।**

उन्होंने हजारों वर्ष पहले जगत् में जैनेन्द्र व्याकरण की रचना कर आदर्श प्रस्तुत किया। उनकी जितनी भी कृतियां हैं, सभी मौलिक हैं। उनकी सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थसूत्र की टीका वर्तमान में आर्ष कृति मानी जाती है। उसको पढ़ने-सुनने से यह मन कभी भी संतोष को प्राप्त नहीं होता। अर्थात् कभी तृप्त नहीं होता। बार-बार उसको पढ़ने और उसके बारे में चिन्तन करने का, सोचने का मन करता है। और ऐसा लगता है कि उसकी गहराई बहुत है। वहाँ तक शायद ही हम जा पायेंगे। लेकिन जाने की भावना तो अवश्य रखना चाहिए। वह वाणी के मल को दूर करने में सक्षम है, ऐसे **व्याकरणकार पूज्यपाद** को मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ।

इतने ही मल नहीं हुआ करते। **तन के मल को दूर किया जा सकता है। वाणी के मल को दूर किया जा सकता है। लेकिन मानसिक मल भी है, जो बहुत कठिन हुआ करता है।** उसके लिए साबुन सोड़ा कहाँ से लायें ? यह भी एक समस्या है, पर इस समस्या का हल आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने किया है।

योग के माध्यम से चित्त के मल को दूर करने में सक्षम ऐसे पूज्यपाद आचार्य को मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ। **सुपूज्यपादं शिरसा नमोऽस्तु** मैं उनके प्रति शिर झुकाकर यानि नतमस्तक हूँ। जिनकी कृतियों के अवलोकन करने से मालूम होता है कि इन कृतियों पर आचार्य कुन्दकुन्द का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। पूज्यपाद स्वामी की परिभाषाओं की पूरी की पूरी छवियाँ सब आचार्यों ने अनुकरण के रूप में रख रखी हैं। चाहे अवग्रह हो या अवाय। चाहे ईहा हो या धारणा। चाहे पर्याप्ति की परिभाषा हो। न्याय के भी कुछ ऐसे ही प्रसंग हैं। धवला जैसा महान् ग्रन्थ यद्यपि टीका ग्रन्थ माना जाता है, किन्तु उसमें राजवार्तिक और सर्वार्थसिद्धि को एक मूल सूत्र का ही रूप धारण करके अपनी टीका में इस ढंग से समाविष्ट कर दिया है, जैसे ताने-बाने के द्वारा वस्त्र का निर्माण होता है। ढूंढने से भी नहीं मिल पाते। ऐसे पूज्यपाद स्वामी ने मात्र इतना ही नहीं लिखा, उन्होंने और

क्या लिखा है–

योगेन चित्तस्य मलं अपाकरोत्

ऐसे अध्यात्म की रचना उन्होंने की है जो प्राकृत में तो नहीं, लेकिन संस्कृत में यूँ मानना चाहिए कि कुन्दकुन्द के बाद ऐसी अध्यात्म की रचना विरल उपलब्ध होती है। ऐसा कहते हैं–चित्त का मल क्या है ? उसको समझने का प्रयास करो। **एक मात्र अध्यात्म ऐसा साधन है जिसके द्वारा चित्तगत सारा का सारा मल दूर हो जाता है। आप सागर के जल से भी शुचि करना चाहो तो शुद्ध न हो। सागर के जल को सारा का सारा हम अपने शरीर पर ले लें तो शरीर भले ही शुद्ध हो जाय, किन्तु हमारा चित्त कभी भी शुद्ध नहीं हो सकता।** अध्यात्मनिष्ठ पूज्यपाद स्वामी अपनी कृतियों में ऐसे (चुटकी बजाते हुए) योग के प्रत्यय, ध्यान के प्रत्यय, समाधि-साधना की पद्धति बताते चले जाते हैं। अनुष्टुप् श्लोक के रूप में बहुत सरलता के साथ गंभीर अर्थ को स्थापित करने का एक महान् प्रयास उनके द्वारा सम्पन्न हुआ है।

चित्त मल क्या है ? यह पहचानना ही कठिन है। और वह कहते हैं कि उसमें क्या बाधा है? वर्तमान में हम यह जो देख रहे हैं वह सारी की सारी चित्तगत मलिनतायें, अशुचितायें ही हैं।

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते।

रत्नकरण्डक श्रावकाचार -१३

यह सूत्र तो रत्नकरण्डश्रावकाचार में दिया गया है। आज का युग शरीर को शुद्ध बनाने में क्या काम नहीं करता ? सारे के सारे काम कर रहा है। इस शरीर की निरोगता के लिये इतने सारे के सारे काम कर डाले। लेकिन इसका मूल स्रोत क्या है ? चित्त है। उसकी ओर देखने का प्रयास नहीं किया। वैज्ञानिकों ने इस बात को स्वीकार कर लिया है, कि मन की चिकित्सा पहले अनिवार्य है, तन की चिकित्सा करें, न भी करें तो चल सकता है। मन की चिकित्सा करने में आचार्यों का जो योगदान मिला, उसका वर्णन शायद ही हम कर सकें। हमें वह कार्य नहीं करना चिकित्सा का। लेकिन उस चिकित्सा को मन में उतारने का काम करना है। हम वैद्यक कार्य करने में सक्षम तो नहीं, लेकिन हम उसका अनुसरण तो कर सकते हैं। यानि उनका प्रयोग हम अपने जीवन में कर सकते हैं। पूज्यपाद स्वामी अनेक स्थानों पर आत्मा की बात सहज रूप में लिख जाते हैं कि हम जिसको समझ भी नहीं पाते।

किमिदं कीदृशं कस्य कस्मात्क्वे त्यविशेषयन्।
स्वदेहमपि नावैति योगी योगपरायणः॥

(इष्टोपदेश-४२)

जैसे वक्ता ने कहा– जैनदर्शन में **मैं** को भूलने के लिए कहा गया है। और जैनदर्शन में **मैं**

को पहचानने के लिए भी कहा गया है। दोनों बातें हैं। ख्याति, पूजा का जहाँ पर प्रसंग आ जाता है, वहाँ तो मैं को भूलने के लिए कहा है। और एक बार जब मैं को भुला दिया तब बाद में यह पूछना आवश्यक हो जाता है कि– **मैं कौन हूँ ? दूसरे के सामने जब मैं को भूलेंगे, तभी सेवा हो सकती है। तभी दूसरों के गुणों को हम पहचान सकते हैं। तभी दोष-गुण के बारे में छानबीन कर सकते हैं। यदि मैं रहेगा तो सारा का सारा कार्यक्रम ठप्प हो सकता है।** उनकी यह दृष्टि बहुत अच्छी लगी। लेकिन अब उनको यह चाहिए कि मैं कौन हूँ ? यह पहचाना जाए। **मैं को भुलाने से बहुत बड़ा काम हो सकता है।**

मैं कौन हूँ ? यह जानकर, जैनदर्शन क्या है ? इसको प्रस्तुत करना है। और पूर्वाचार्यों के द्वारा जो बड़े-बड़े उपकार हुए हैं, उनको हम इसी ढंग से, उस भार को थोड़ा-सा कम कर सकते हैं। यह हमारा दायित्व है। **संसार में सबसे बड़ा कार्य है दायित्व को अपने हाथ में लेना। कोई व्यक्ति उपदेश देता है, उस उपदेश के अनुसार चलना, यह विशेष दायित्व नहीं माना जाता। यह कर्त्तव्य है। लेकिन दायित्व रूप कर्त्तव्य यह सबसे महत्त्वपूर्ण माना जाता है।** जिसके पास तन की, मन की, वचन की, क्षमता होती है, स्व व पर का जिसे अर्थबोध हुआ है, उनका यह कर्त्तव्य व दायित्व होता है कि आगे बढ़कर/आकर जिनको इसका परिचय नहीं है, उनको परिचय करायें।

गुफा में रहकर हमारे आचार्यों ने आत्मानुभूति करली। ध्यान लगाया और ध्यान के प्रत्ययों को कम्पोज्ड कर दिया। वह जीवन कैसा है ? क्या है ? किस प्रकार का है ? किसका है ? कहाँ से है ? क्यों है ? कहाँ पर है ? सांसारिक विषयों से यदि ऊपर उठना चाहते हो, तो इस प्रकार की जिज्ञासायें होनी चाहिए। एक तरफ वैज्ञानिक युग है जो जिज्ञासा को प्रमुख बनाकर चलता है। आज व्यक्ति जिस किसी भी पदार्थ के बारे में, जितने प्रश्न खड़ा कर देगा वह पदार्थ उतनी लाइट में आ जायेगा। इसलिए ध्यान रहे युगों-युगों बीत गये इसके द्वारा आज तक कुछ हासिल नहीं हुआ। और हो भी नहीं सकता। समुद्र मंथन हुआ, सागर मंथन के बाद भी नवनीत का वह लाभ नहीं हुआ। और हो भी नहीं सकता। जिसका मंथन करना आवश्यक है वह नहीं करते।

क्या नीर के मंथन से नवनीत पाते।

नवनीत के लाभ के लिये दही का मंथन आवश्यक है। दूध के मंथन से नवनीत की प्राप्ति नहीं होती। यह ध्यान रखिये, आज का युग नवनीत का लाभ नहीं लेता। लोनी रूप घी का लाभ लेता है। लेकिन लोनी आज प्राप्त नहीं होती। लोनी के लिये कुछ चक्कर है, और चक्कर के लिये फुरसत है ही नहीं, इस युग को। वह सीधा निकालना चाहता है। घी कच्चा होता है। इसलिए

माइण्ड के ऊपर उसका प्रभाव नहीं पड़ रहा है। कच्चा घी पाचक नहीं हुआ करता। कच्चे घी से दीपक नहीं जलाये जा सकते। कच्चा घी नासिका को सुगन्ध नहीं पहुँचाता है। कच्चा घी माइण्ड को कच्चा ही रखता है। वह पक्का नहीं बना सकता।

नवनीत की मालिश कर दें तो वह भीतर नहीं जाता। अग्निपरीक्षा के बिना घी भीतर प्रविष्ट नहीं होता। और सात चमड़ियों को पार करने की क्षमता, जैसे बड़े-बड़े बनियों के पास सात समुद्रों को पार करने की क्षमता रहती है, उसी प्रकार उस घी के पास रहती है। और किसी भी तेल के पास यह हिम्मत नहीं कि वह भीतर पहुँच जाये। घी पतला माना जाता है। वह अग्नि से साक्षात्कार करके आया है। अत: भीतर हड्डी तक पहुँच जाता है। वह मल का संशोधन कर लेता है। आचार्यों ने तपस्या के माध्यम से हमें ऐसे सूत्र दिये हैं जो घृतवान हैं। वे हमारे जीवन को पूरा का पूरा संशोधित कर देते हैं। भीतरी विकार को बाहर निकालकर फेंक देते हैं। और उसकी एक चम्मच भी दस रोटी के साथ तुल सकती हैं। दस रोटी के माध्यम से जो शक्ति आ सकती है वह एक छटाक भर से आ सकती है। वह कहता है बड़ी काया को लेकर क्यों बैठे हो, हमारे सामने ? छोटी काया वाला व्यक्ति भी बहुत बड़े-बड़े काम कर सकता है, यह ध्यान रखना चाहिए। यह एक ही पर्याप्त है। इतना ही आप लोगों को सोचना चाहिए कि ज्यादा मेहनत न करके ही बड़ा कार्य हो जाय, सफलता जल्दी मिले, इस ओर दृष्टि करना चाहिए। उसके लिये आचार्यों ने ऐसे-ऐसे सूत्र दिये हैं, जिन सूत्रों के माध्यम से एक घंटा चिन्तन करके ही वर्षों की पढ़ाई, अध्ययन, विशेष साहित्य के अवलोकन या सपरिग्रही होकर साहित्य का अम्बार पढ़ने से अधिक है। एक सूत्र को उठा लीजिये, पूरा का पूरा जीवन ही आह्लादित हो जाएगा। ध्यान अपने आप ही लग जाता है। ध्यान के सूत्र को पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं। सूत्र बहुत ही अधिक अर्थ को लिए हुए रहते हैं।

यह किसका है ? यह क्या है ? यह क्यों है ? किससे है ? कहाँ है ? इस प्रकार बाहरी पदार्थों के बारे में प्रश्न मत करो। इस प्रकार जो विचार श्रेणी बहिर्मुखी है, उसे अन्तर्मुखी करो। एकाग्र मन हो आप सुन रहे हैं। बाहर क्या हो रहा है ? आजू-बाजू में क्या हो रहा है ? पीछे क्या हो रहा है ? ज्ञान होते हुए भी उस ओर का सम्बन्ध टूट गया है। एक दायित्व ऐसा भी जरूरी है। पूर्वाचार्यों ने हम लोगों के लिये क्या दिया है ? व्यक्ति यह समझना नहीं चाहता। और दीर्घकाल का जीवन यों ही खो देता है। तो पूज्यपाद का नाम लेने से कोई भी प्रयोजन सिद्ध होने वाला नहीं। उन्होंने यूँ कहा कि इसका प्रयोग करो अपने आप ही **स्वदेहमपि न जानाति** अपने शरीर को भी नहीं देखना, नहीं जानना और शरीर को जानने से, देखने से छानबीन करने से आत्मा भुलावे में आ गई।

आज का विज्ञान पर को विषय बनाता है। उसमें ही शोध करता है और सम्यग्ज्ञान पर को

विषय बनाना छुड़ा देता है। उसका शोध तो हो ही नहीं सकता। क्योंकि उसका शोध किसी भी प्रकार से हमारे जीवन की उन्नति का कारण नहीं है। और यदि स्व का शोध होता है तो वहाँ पर संस्कृत में मैं नहीं कहा जाता। अपितु अहम् कहा जाता है। संस्कृत में अहम् तो कहा जाता है, लेकिन पूज्यपाद कहते हैं– **अहंकार से दूर रहना। विज्ञान इस अहम् का, जिसको शरीर भी बोलते हैं, तो ज्ञान करा देता है। लेकिन रोग की जड़ शरीर नहीं अहंकार है, को भुलावे में नहीं ला सकता।**

बड़े-बड़े चोटी के विद्वान्, विदेश में तो चोटी के विद्वान् नहीं होते, लेकिन फिर भी कहने में आता है, वह कभी स्व को विषय नहीं बनाते। अपने ऊपर प्रयोग करने की एकमात्र पद्धति है तो वह दिगम्बर आचार्यों की है। जब तक अपने ऊपर प्रयोग नहीं किया जा सकता, तब तक तनगत, मनगत और वचनगत मल को दूर नहीं किया जा सकता। **जिसके मन, वचन, काय शुद्ध नहीं है, वह युग को कभी भी शुद्धि का बोध या उपदेश नहीं दे सकता। स्वयं तो मलीन है और दूसरे के लिये वह निर्मलता का बोध करा दे, यह बात कैसे हो सकती है ?**

आज का युग शोध का युग माना जाता है। सब व्यक्ति शोध-शोध करके रख रहे हैं। समझ में नहीं आता वस्तु क्या है ? वस्तु का धर्म क्या है ? मैं कौन हूँ ? मेरा कर्त्तव्य क्या है ? इतना ही बोध नहीं हुआ और हमने वर्षों जीवन यापन किया। यह तेल, नोन, लकड़ी की बात युगों-युगों से आयी है। इसकी कोई आवश्यकता नहीं। अर्थ विकास के लिये कोई विशेष मेहनत, पुरुषार्थ और पसीना बहाने की कोई आवश्यकता नहीं। किन्तु निरोग बनने के लिए तन से, मन से और वचन से कुछ बातें सोचना अभी और आवश्यक है। **जिस व्यक्ति का मन शुद्ध नहीं है, वह व्यक्ति वचन कितने भी शुद्ध बोले, वस्त्र कितने भी साफ रखे और वस्त्रों को और साफ भी कर ले, तो भी उसका मन साफ नहीं हो सकता।** तृप्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। तृप्ति का शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता।

जो स्नान नहीं भी करते, वे मन शुद्ध होने के कारण हमेशा-हमेशा शुद्ध तत्त्व का अनुभव होने के कारण, अपने आप में शुचिता का अनुभव करते हैं। तन को शुद्ध कर ही नहीं सकते। यह भी एक सूत्र दिया गया है। **स्वभावतः अशुचौ काये** काय में हमेशा-हमेशा अशुचिता बहती रहती है।

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगन्धिबीभत्सम्।
पश्यन्नंगमनंगाद् विरमति यो ब्रह्मचारी सः॥

रत्नकरण्डकश्रावकाचार की यह कारिका है। कैसा अंग है ? कई लोगों की यह धारणा है, वह स्त्रियों से बचने के लिए कहा गया है। नहीं, जिस-जिसने अनंग को धारण कर लिया है, उस-उससे बचने के लिए कहा गया है। महिलाओं के लिए यह बात है तो पुरुषों के लिए भी है। **मल-**

योनिं, मलबीजं यह अंग मल की योनि है। यह मल का बीज है। बीज बोने से मल ही पैदा होगा। क्योंकि यह शरीर मल का बीज है। मल को बहाता है। **गलन्मलं पूति** यह घिनावना है। **बीभत्सं** यह देखने लायक नहीं है। अरे! उस व्यक्ति को देखने से ऐसा लगता है कि बहुत बीभत्स रूप देखकर आया हूँ। अरे! व्यक्ति को देखकर नहीं। यह पंचेन्द्रिय के विषय देखकर सोचो। **विरमति अंग** से विराम लेता है। ऐसा कहा जा रहा है। कोई भी मानव है, ऐसा कहा जा रहा है। अंग को आप भोग बना रहे हैं, यह गलत है।

हमने मूकमाटी में कुछ ऐसे शब्दों को लेकर के चिन्तन करने का प्रयास किया है। उसमें सामने एक अंगना को रखा है। अंगना अर्थात् स्त्री या महिला। अंगना यह शब्द स्वयं बता रहा है–अंग ना। मुझे तुम अंग के रूप में देख रहे हो। सोचो, विचार करो। मैं अंग नहीं। **अंग से हटकर अन्तरंग में भी जाने का प्रयास करो। मेरी आत्मा और तुम्हारी आत्मा में कोई अन्तर नहीं है।** जो अनादि से आत्म तत्त्व चला आ रहा है, हमारा भी वही है और तुम्हारा भी वही। चाहे एकेन्द्रिय हो या पंचेन्द्रिय। चाहे नारकी हो चाहे देव। चाहे मनुष्य हो या तिर्यंच। महिला हो या पुरुष। पुरुष कहने से आत्म तत्त्व का बोध होता है। जीव और पुद्‌गल यह जैनदर्शन के अन्तर्गत कहा जाता है। और सांख्यदर्शन में प्रकृति और पुरुष कहा जाता है।

आज के युग में कुछ ऐसे-ऐसे शोध होते चले गये, जिसके परिणाम स्वरूप किसी ने व्यवहार को पकड़ा, किसी ने निश्चय को पकड़ा, किसी ने नीति को पकड़ा, किसी ने पुरुषार्थ को पकड़ा। महाराज, आपका इसके बारे में क्या आशय है, अभिप्राय है ? मैं सुनना चाहता हूँ। किसके बारे में? नीति के बारे में। अच्छी बात है, हम नीति को बता देते हैं आपके सामने। पसंद आ जाय तो रख लो, नहीं तो नहीं। नि अर्थात् निश्चय इति अर्थात् विश्राम या प्रयत्न इसी का नाम नीति है। महाराज! आपने सारा का सारा घुमा दिया हम लोगों को। आप घूमते क्यों हो ? सुनो, यही निश्चय बात है, अपने में ही पुरुषार्थ हो सकता है। पर द्रव्य के ऊपर पुरुषार्थ करना हमारे वश की बात नहीं। विज्ञान स्व को विषय बनाना नहीं चाहता, और पर के ऊपर ही प्रयोग करता है। प्रत्येक रोग का निदान पर के ऊपर प्रयोग करके होता है। कहा जाता है–अनुभूत दवाई है टी.वी. की। डायबिटीज की दवाई भी अनुभूत है। क्षय की दवाई भी अनुभूत है। और कोई भी रोग है उन सबकी दवाई भी अनुभूत है। अनुभूत कैसे ? कौन सा भूत आ गया ? अनुभूत का अर्थ क्या होता है ? रिलाइज। कैसे रिलाइज हो सकता है ? कुछ समझ में नहीं आता। दूसरे का अनुभव आप कैसे कर सकते हैं ? इसका का नाम युग है। कब तक चलता है ? जब तक पेट्रोल है, जब तक चल रहा है। स्वयं के ऊपर प्रयोग करेंगे तभी ज्ञान होगा।

जैनाचार्यों ने पर के ऊपर प्रयोग करने को नहीं कहा। स्वयं के ऊपर प्रयोग करने को कहा

है। प्रकृति के इस बोध को ले लो। गर्मी को भी ले लो। सर्दी को भी ले लो। और वर्षा को भी ले लो। सूर्य प्रकाश को भी ले लो। सबको ले लो। सारे के सारे तत्त्व प्रकृति में है। प्रकृतिकृत हैं। यह भी प्रकृति है कि हमारे आत्मा में ये कभी भी प्रविष्ट नहीं होंगे। और प्रकृति से जैसे-जैसे हम परिचित होते चले जायेंगे, वैसे वैसे रोगों का आना बंद हो जायेगा।

पूज्यपाद स्वामी कहते हैं—मन में जो राग आया है, मन में जो मल पैदा हुआ है, बाहर से पैदा नहीं हुआ, यह ध्यान रखना। वह अपना ही परिणमन है। यदि बाहर से आया होता तो खाली हो सकता है। यदि कहीं से आया हो तो वह पदार्थ भी खाली हो गया होगा।

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः॥

तत्त्वार्थसूत्र - ५/४१

कल सामने आने वाला है। शायद राग, द्वेष, मद व मत्सर बाहर को निमित्त बनाने से आते हैं। यह हमारे दिमाग की फितूरी है। भ्रमणा है। यह हमारी उल्टी चाल है। उस राग-द्वेष-मोह को उस पदार्थ के निमित्त से यदि पैदा कर दिया तो ध्यान रखना, **कर्त्ता का महत्त्व हुआ करता है, कर्म का नहीं। कर्त्ता हमेशा स्वतन्त्र हुआ करता है। कर्म हमेशा कर्त्ता के अधीन हुआ करता है।** यदि कर्त्ता चाहे तो कर्म का निर्माण कर सकता है, नहीं तो नहीं। कर्म यह नहीं कह सकता कि मुझे पैदा कर दो। स्वतन्त्र सत्ता का अनुभव निमित्त-उपादान का चिन्तन-मनन वहाँ बैठकर करते थे, जहाँ कोई कालेज नहीं, यूनिवर्सिटी नहीं, अध्यापक नहीं, स्पीकर नहीं, यह नहीं, वह नहीं। आज एक-एक वाक्य के ऊपर बड़े-बड़े चोटी के विद्वान् शोध करते बैठे हैं। फिर भी पूरा नहीं हो रहा है। ऐसा जैन साहित्य आप लोगों के लिए उपलब्ध है। जैनाचार्यों की यह कृपा है।

जिनवाणी का अध्ययन करने से मैं कौन हूँ ? पर क्या है ? मेरा क्या है ? मुक्ति क्या है ? पाप क्या है ? पुण्य क्या है ? भला क्या है ? बुरा क्या है ? मैं क्या कर सकता हूँ ? इन सब बातों का विश्लेषण अर्थात् अकार से हकार पर्यन्त वर्णन मिलता है। अर्थात् सब कुछ अच्छी तरह मिलता है। अ से लेकर ह तक कोई नहीं कहता, जबकि बात एक ही है। अ से लेकर ह तक कहने में एक विशेष बात आ जाती है। **पूज्यपाद स्वामी कहते हैं अहम् का ज्ञान हो जाता है। और ए टू जेड कहने से अहंकार आ सकता है। कितना अन्तर है ? कितना समझा आपने ?** स्व का ज्ञान हुआ, तो पर का ज्ञान निश्चित हो जाता है। **य एकं जानाति सः सर्वं जानाति** जो एक को जान लेता है वह सबको जानता है। क्योंकि एक के बिना सब का अस्तित्व ज्ञात नहीं हो सकता। जैसे-जैसे एक के सामने शून्य रखते चले जाओ, संख्या बढ़ती चली जाती है। एक को हटा दो तो शून्य का कोई महत्त्व नहीं। उसका मूल्य एक मात्र जीरो में आ जाता है। स्व के ज्ञान के अभाव में पर को आप

कितना भी जानते चले जाओ, संख्या के अभाव में संख्या न कहके अंक कह दो तो बहुत अच्छा होगा, अंक के अभाव में शून्य का कोई महत्त्व नहीं। इसी प्रकार स्व के अभाव में पर का कोई महत्त्व नहीं।

प्रत्येक पदार्थ पर आज मूल्य लिखा जाता हे। लेकिन मूल्यांकन करने वालों का मूल्य सुनने व देखने में नहीं आता। स्वर्णकार का महत्त्व नहीं, स्वर्ण का महत्त्व है। यही एकमात्र हम लोगों का अज्ञान माना जाता है। अपने पदार्थ का ज्ञान तब तक नहीं होता, जब तक कि बाहरी पदार्थों को विषय बनाता है।

बात समझ में नहीं आई। क्या उपयोगी है ? मान लो किसी पुस्तक के ऊपर लिखा हुआ है–पाँच सौ रुपये। अर्थात् पुस्तक का मूल्य पाँच सौ रुपये है। यहाँ तुम्हारे समय की कोई कीमत नहीं। पाँच सौ रुपये की कीमत वाली किताब तुम पढ़ोगे। मान लो उसे पढ़ने में एक माह लग गया, तो एक माह को ही आपने पाँच सौ रुपये के पीछे समाप्त कर दिया। यहीं सबसे ज्यादा सावधान होना चाहिए। आप लोगों को मुफ्त में जो साहित्य मिलता है, उसे वैसे ही रख देना चाहिए। वह थोड़ी सी कीमत खर्च करके आपके पास जो मौलिक समय है उसको खरीद रहा है। आपके विचारों को दूषित बनाने के लिए ऐसा कोई भी साहित्य दिया जा सकता है। प्रवचन और स्वाध्याय तो कुछ प्रतिशत में प्रभावी होते हैं। जबकि सस्ते साहित्य का मन के ऊपर प्रभाव अधिक व शीघ्र होता है। इसीलिये आचार्यों ने कहा–क्या पढ़ना चाहिए ? कब पढ़ना चाहिए ? कितना पढ़ना चाहिए ? जिसको पढ़ने से आनन्द का अनुभव हो उसे ही पढ़ना चाहिए। आनन्द का अभाव हो, तो चाहे समयसार पढ़ो, प्रवचनसार या पंचास्तिकाय, कोई अर्थ नहीं। **आनन्द का अनुभव दिमाग से, अपनी चेतना से हुआ करता है।**

प्रयास करना चाहिए खाते जायें, खाते जायें तो क्या पुष्टि हो जायेगी। ऐसा नहीं, फिर दवाई भी खानी पड़ेगी। एक बार या दो बार भोजन किया जाता है। इसका तात्पर्य यह कि, शब्द से अर्थ व अर्थ से भाव की ओर यात्रा का प्रयास हम कर सकते हैं। सत्साहित्य का अवलोकन करने से ही हमें यह उपलब्ध हो सकता है। हमारी जो दूषित मानसिकता है, उसको सत्साहित्य के माध्यम से परिमार्जित किया जा सकता है। हम राग को, द्वेष को, कषाय को, मद को व मात्सर्य को अज्ञान के कारण करते आ रहे हैं। उसका परिमार्जन सत्साहित्य के द्वारा ही हो सकता है। आचार्यों के माध्यम से ही हमें जिनवाणी उपलब्ध हो पा रही है।

समय आपका हो गया है। आज शौच धर्म है। शुचिता प्राप्त करना है। पाँच बज गये हैं। पाँच मिनट और ले सकता हूँ। पाँच-पाँच घंटे भी ले लें तो भी मन की शुचिता होने वाली नहीं है।

उसका प्रयोजन सिद्ध होने वाला नहीं है। हमें उस मन को साफ-सुथरा बनाने के लिए क्या करना चाहिए ? स्वयं का स्वभाव ज्ञात करना आवश्यक है। **राग करना मेरा स्वभाव नहीं है। और राग के द्वारा लाभ क्या है ? हानि क्या है ? यह देखने का प्रयास करना चाहिए। राग करने से हमें कोई लाभ नहीं। हमें कोई उपलब्धि होने वाली नहीं। उससे हानि क्या है ? लाभ क्या है ? यह देखना चाहिए।** वैश्य-वृत्ति जब तक हम नहीं अपनायेंगे तब तक हमारी दुकान चलने वाली नहीं। हानि-लाभ पहले सोचना चाहिए। बच्चों को यदि सिखाओ कौन सा ज्यादा है, कौन सा कम है, तो अपने आप कहने लगते हैं-ये मत लो, ये ले लो।

दो मिनट का उदाहरण दे देता हूँ। जीवन के अन्त तक अनुभव करता रहता है वह बालक। छोटा बालक रेंगता रहता है, अपनी कलाई के माध्यम से, पेट से, पीठ से सरकता-सरकता आगे जाता है। दीपक रखा है, मना करने के उपरान्त भी हाथ से छू लेता है। माँ ने कई बार मना किया था। बेटा, दूर से देख लेना, छूना नहीं। छूना नहीं, छूना नहीं। संकेतों के माध्यम से समझा दिया जाता है। इसका अर्थ पकड़ना नहीं। अग्नि का ज्ञान कराया जा रहा है, और अग्नि सामने दिख रही है। बहुत अच्छा लग रहा है, ऊपर तक जल रही है, बहुत ही अच्छी लग रही है। लेकिन कोई भी बूढ़ा व्यक्ति उसे कभी नहीं छुयेगा। वह वृद्ध है और वह बालक है। बालक को देखने में तो आ रहा है लेकिन बालक को अनुभव नहीं। वृद्ध ने अनुभव कर लिया। जिस समय वह बालक था अंगुली जल गई थी। पहले की जली हुई है और दाग है। उसी अंगुली द्वारा माँ कह रही है, संकेत कर रही है, पर वह मानता नहीं। और उसको पकड़ लेता है। और तब उं उं उं करने लग जाता है। माँ कहती है—पकड़ ले, और पकड़ ले। दीपक उठाकर के पकड़ ले, पकड़ ले। लेकिन अब वह दूर भागता है। दूर करो। अर्थात् प्रकाश के द्वारा काम लेना चाहिए। दीपक का उपयोग यही है। अन्यथा उसके बारे में रिसर्च करने का कोई भी प्रयोजन नहीं। दीपक से प्रयोजन हम भी यही जान सकते हैं, जो वह तीन साल का लड़का जानता है।

मूरुवर्षद बुद्धि नूरुवर्षद वरिगे...

तीन साल में जो कोई भी संस्कार डाले जाते हैं माता-पिता, भाई-बहिन गुरुओं के माध्यम से, वह जब तक वृद्ध होकर मृत्यु को प्राप्त नहीं होता, तब तक के लिये जीवित रहते हैं। ऐसे संस्कारों के दिनों में पढ़ा, पला हुआ आपका जीवन है। किन्तु अर्थ का चक्कर ऐसा चक्कर हो गया जो विदेश के साथ भी सम्बन्ध रखने लगा। विदेश से भी अन्यत्र जाने का प्रयास कर रहा है। **भारत में जो है, वह अन्यत्र कहीं भी नहीं। ऐसा होते हुए भी देश का बहुमान बहुत कम हो गया है। विदेश जायें, लेकिन देश की चीजें/संस्कार देकर के आयें।** देशी चीज अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण है। अपने देश का कोई ज्ञान नहीं है। क्या देश की कोई संस्कृति नहीं है ? क्या देश का

कोई मूल्य नहीं है ? इसमें क्या कमी है ? किस बात की कमी है? **वह देश क्या ? स्वदेश तो आत्मतत्त्व है। किसकी कमी है। किसकी कमी है आत्मतत्त्व में** ? पूरी की पूरी भरी हुई है। दुनियाँ में क्या है ? इसे दिखाने की क्षमता आत्मतत्त्व में है। उस कर्त्ता के पास है। उस उपभोक्ता के पास है। उस स्वामी के पास है। किन्तु वह बहुत पास होने के कारण दूर की ओर बालकवत् जाता है। बालक को आज, कल या मरते वक्त अनुभव आता है। यदि मनुष्य जीवन में प्रयोजनभूत तत्त्व के मंथन के लिये कुछ क्षण उपलब्ध नहीं होते हैं, तो यही हुआ जैसे सागर से निकलकर आये गंगोत्री में और गंगोत्री से बंगाल सागर में। इस यात्रा का क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? कुछ नहीं। इस प्रकार दीर्घकाल को भी आप गवां देते हैं, अर्थ के पीछे।

मेरा तो यह कहना है कि स्वाध्याय करना बड़ा कठिन है। लोग स्वाध्याय कर रहे हैं। लेकिन फिर भी स्वाध्याय करते हुए भी २०-२२ घंटे अर्थ उपार्जन को दे रहे हैं। उनसे हमारा निवेदन है कि वे पूरा का पूरा समय इस ओर देने का प्रयास करें। उनके द्वारा बहुत बड़ा काम हो सकता है। एक तो तैयार हो गये हैं। वह क्यों हो गये हैं ? यह तो वही जाने। पर तैयार हो तो गये हैं। लेकिन उनके साथ-साथ अभी जो आद्य वक्तव्य दे रहे थे। बड़े-बड़े विशेषणों के साथ विशेष्य का वर्णन किया जा रहा था। उनसे भी हमारा कहना है—वह किसी के कहने को मानते तो हैं नहीं, और मैं भी जानता हूँ। वे माने या न माने लेकिन कहने से सभा में थोड़ा-सा प्रभाव तो पड़ ही जायेगा। आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज जब थे, तब से वह हैं। बहुत पुराने आसामी हैं। तब से शास्त्र स्वाध्याय करते हैं। इस स्वाध्याय के अलावा जो दैनंदिनी कार्य कर रहे हैं, उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं आ रही है। यदि आ रही है तो बहुत अच्छी बात है। महाराज ही कहते-कहते चले गये। मैं ब्रह्मचर्य अवस्था में था, उस समय वे कहते थे। अब मैं कह रहा हूँ। आज उनको अपना समय उस कार्य को छोड़कर इसमें लगाना चाहिए। हम स्व का कल्याण तो करते ही हैं। लेकिन उसके साथ और भी दस-बीस व्यक्तियों का जीवन सुधर जाता है, मुड़ जाता है, तो यह श्रेय आपको ही मिलेगा। हमें देना भी नहीं। कम से कम इस लाभ से तो आपको वंचित नहीं रहना चाहिए। वैसे तो सेठ वही माना जाता है जो अपनी दुकान को बहुत बढ़िया चलाना जानता है। जितनी पर की दुकान अच्छी चलेगी, उतनी ही हमारी दुकान भी अच्छी चलेगी। इस नीति को नहीं भूलना चाहिए। एक से, एक सौ एक तक बनाना चाहिए। ग्यारह से एक नहीं। जैन धर्म की प्रभावना तो होगी ही।

भावना के माध्यम से अपना जो आत्मतत्त्व दूषित है, इस प्रकार से धूमिल है, हम उसे उज्ज्वलता/निर्मलता दे सकते हैं। इन्हीं भावों के साथ शौचधर्म की जय हो...

❑ ❑ ❑

प्रतिकार नहीं करने की साधना : सत्य

झूठ नहीं बोलने का नाम सत्य है, न कि सत्य बोलने का नाम सत्य है। इसलिए सत्यधर्म बहुत ही कठिन है।

कर्मों के उदय का प्रतिकार न करने की जो इच्छा/साधना होती है, उसका नाम सत्य है।

चार दिन तक उत्तम क्षमा आदि चार धर्मों का विश्लेषण हुआ। इन चार धर्मों के विश्लेषण के लिए प्रतिपक्ष का सहारा लिया गया, प्रथम दिन क्रोध का, दूसरे दिन मान का, तीसरे तीन माया का और चौथे दिन लोभ का। अब आज सत्य का प्रतिपक्षी कौन ? असत्य। क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों का ही आधार लेकर असत्य बोला जाता है।

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पंच॥

तत्त्वार्थसूत्र - ७/५

कभी क्रोध के आवेश में असत्य बोलते हैं, कभी लोभ के कारण असत्य बोलते हैं। और आप असत्य बोलें या न बोले जब तक सत्य का संकल्प नहीं लेते, तब तक वह असत्य की कोटि में ही आता है। सता युतं सत्यं जो सत के साथ जुड़ा रहता है वह सत्य माना जाता है।

लोक व्यवहार में सत्य की परिभाषा असत्य नहीं बोलना मानी जाती है। बोलना और नहीं बोलना यह सत्य की कोटि में नहीं आता है। जो असत्य नहीं बोल रहा है, इसलिए वह सत्यवान् माना जाये, ऐसा नहीं है। और जो सत्य बोल रहा है, वह भी कथंचित् सत्य में ही आता हो, ऐसा नहीं है। आचार्यों ने बोलने के लिए नहीं कहा। किन्तु असत्य नहीं बोलने के लिए कहा है।

अर्थ यह निकाल लिया जाता है कि असत्य नहीं बोलना अर्थात् सत्य बोलना। नहीं, किन्तु सत्य की परिभाषा, सत्य की पहचान बहुत ही कठिन, बहुत दूर और बहुत गहराई में छिपी है। हम जैसा देखते हैं, वैसा वह पदार्थ नहीं रहता। हम जैसा सुन भी लें, वैसा भी पदार्थ नहीं रहता। नहीं रहता, यह एकान्त से नहीं, पर वैसा रहता ही हो ऐसा भी कोई आग्रह नहीं कर सकता। क्योंकि बाहर ही सुहावना लगता है। दूर के ढोल सुहावने समझ में आ गई। अपने यहाँ दूर का ढोल सुहावना। ढोल कभी सुहावना नहीं होता। दूर का पहाड़ भी सुहावना लगता है, किन्तु पास में जाकर के देखो, तो चलना मुश्किल होता है। यह कहावत है। देश-देश की बात है। पास जाकर चलना मुश्किल हो जाता है। तब यद्वा-तद्वा चलना तो सही हो ही नहीं सकता। इसलिए सत्य के बारे में बहुत सोचकर निर्णय लेना पड़ता है। और असत्य के बारे में भी बहुत सोचकर निर्णय लेना पड़ता है। असत्य वक्ता को असत्यवान् कहना, यह और गलत हो जाता है।

सत्यमपि विपदे न ब्रूयात्।

जिसके बोलने से किसी के ऊपर विपत्ति आती हो, वह सत्य सत्य नहीं है। यह अणुव्रती के लिये कहा है। महाव्रती के लिये तो बहुत ही कठिन बात हो गई।

किसी को एक आँख से देखने में नहीं आता, तो उसको काना नहीं कहा जाता। काना कहने से उसको बहुत गुस्सा आता है, उसको पीड़ा होती है। इसलिए आप उसको घुमाकर के पूछ सकते हैं–भाई साहब आँखों को क्या हो गया ? बीमारी हुई या लकड़ी चुभ गई थी या और कुछ हुआ? ऐसा क्या कुछ हुआ, जो एक आँख में कमी आ गई ? ऐसा पूछोंगे तो बहुत अच्छे ढंग से उत्तर दे देगा। इसलिए कि जिसके माध्यम से हिंसा की बात सामने आ जाती है, वह बात भी हिंसा से बोली हुई मानी जाती है।

यद्यपि सत्यं लोकविरुद्धं न करणीयं न चरणीयम्।

यद्यपि सत्य है, लेकिन लोकविरुद्ध बात सत्य होते हुए भी असत्य मानी जाती है। सत्य क्या है ? इसको देखना चाहिए, पहचानना चाहिए, उसके उपरान्त भी एकदम निर्णय नहीं लेना चाहिए। इससे बहुत ही बड़ी-बड़ी हानियां हो सकती हैं। निर्णय लेना बहुत ही कठिन होता है। **इसलिए जल्दबाजी का सत्य भी असत्य में आ जाता है।** इसलिए सत्य महाव्रत के बारे में जब कभी भी उल्लेख मिलता है, तब असत्य से विरति लेना ही सत्य है। सत्य बोलने को उन्होंने सत्य कहा ही नहीं है। किन्तु हिंसा से, अनृत से, चोरी से, कुशील से और परिग्रह से विरति का नाम व्रत है। **तो झूठ नहीं बोलने का नाम सत्य है, न कि सत्य बोलने का नाम सत्य है। इसलिए सत्यधर्म बहुत ही कठिन है।** इसकी पहचान क्रोध से बचे तो, मान से बचे तो, माया से बचे तो, लोभ से बचे तो हो सकती है। एक भवन के चारों तरफ यदि दरवाजे हों, तो चोर कहीं से भी आ सकता है। इसलिए वास्तुशिल्प के अनुसार तीन तरफ तो दरवाजा हो और एक तरफ दरवाजा नहीं। सबसे अच्छा तो यही है कि सामने से दरवाजा हो और तीनों तरफ दरवाजा न हो। भगवान् का मन्दिर ही एक ऐसा है, जिसमें कथंचित् चारों तरफ से दरवाजा होते हैं। समवसरण में दरवाजे नहीं होते हैं। अपितु चारों तरफ से रास्ते रहते हैं, प्रवेश करने के लिए। कहीं से भी आओ, कहीं से भी जाओ। इसीलिये भगवान् के चारों तरफ मुख भी रहते हैं। किसी भी तरफ से आकर बैठो और दर्शन करो।

सत्य को प्राप्त करने के लिये चारों कषायों के ऊपर नियन्त्रण रखना आवश्यक है। नहीं बोलें, तो बहुत अच्छा। और बोलें तो हित-मित-मिष्ट वचन ही बोलें। नहीं तो सामने वाला कुछ भी अर्थ निकाल सकता है। उस वक्ता का भाव कुछ भी हो, लेकिन सामने व्यक्ति को उल्टा भी नजर आ सकता है। यदि वह नहीं भी निकाले तो भी मुख से गलत शब्द निकल सकता है। और व्यक्ति पूर्ण हो यह भी कोई नियम नहीं है। इसलिए नहीं बोलना ही ठीक है। भगवान्

केवलज्ञान होने के बाद क्यों बोलते हैं ? केवलज्ञान होने के उपरान्त सत्य और अनुभयवचन योग ही रहते हैं। इसलिए उनके बोलने में कोई बाधा नहीं है। फिर भी इसके उपरान्त भगवान् की वाणी सुनकर ३६३ मतों का निष्पादन हो ही गया। उन्हीं वचनों का यह परिणाम है, जो ३६३ मत बन गए। लेकिन उनके मन ने कभी किसी प्रकार से यह भाव नहीं किया कि असत्य का प्रचार-प्रसार हो।

अर्थ का अनर्थ निकालने से ३६३ मत बने। अर्थान्तर गति मानी व्यक्ति के माध्यम से हुआ करती है। अर्थ समझ में नहीं आता और वह उसे यद्वा-तद्वा लगा लेता है। उसी का परिणाम यह निकलता है। अनुभवयवचन संशय का भी कारण हो सकता है। **सत्य के लिए साक्षात् पदार्थ का निर्णय हम नहीं कर सकते।** इसलिए

कन्निद नोडिदरु किविन्दि केडिदरु वायिन्द नुडिवारढु

आँखों से देख लिया, कानों से सुन लिया, फिर भी मुख से उच्चारित न करें। क्योंकि उसमें It may be possible वहाँ पर भी असत्य होने की संभावना बनी रह सकती है, रहती है। इसलिए **सत्य का आचरण किया जा सकता है। सत्य का प्रदर्शन एक प्रकार के शब्दों से संभव नहीं।** नहीं बोलते हुए भी हम सत्य का दिग्दर्शन करा सकते हैं।

अवाग्विसर्गं वपुषा मोक्षमार्गं निरूपयन्तम्।

आचार्यों ने कहा है कि बिना बोले भी वह अपनी मुद्रा के माध्यम से मोक्षमार्ग का निरूपण कर रहे हैं। सामने वाला व्यक्ति यदि अर्थ निकालता है तो मानो, नहीं तो मत मानो। इसका यह अर्थ है। ऐसे सत्य का पालन हमें करना है, जिसके द्वारा किसी भी प्रकार से स्व और पर को बाधा उत्पन्न न हो। स्व और पर में स्व पहले और मुख्य है। पर गौण है। कहीं-कहीं पर पर मुख्य हो जाता है और स्व गौण। सत्य धर्म में यही एक बात कही गई है।

शब्दों के माध्यम से सत्य का उद्‌घाटन करने के लिये साधुओं में ही उसका बार-बार प्रयोग करें। **समिति का प्रयोग एक बार करो। हित-मित मिष्ठ वचनों से करो। व समिति का प्रयोग साधु व असाधु दोनों से किया जाता है।** इसलिए प्रवचन में कभी प्रश्न नहीं पूछा करते। सुना है, जब तत्त्वचर्चा, संगोष्ठियां वगैरह होती हैं, उस समय बार-बार पूछा जाता है। और बार-बार उसे समझाया भी जाता है। जब एक बार सुन लिया, दो बार सुन लिया और तीसरी बार वह पुनः पूछता है तो उससे प्रतिप्रश्न भी पूछा जा सकता है। तुम्हें समझाने के उपरान्त भी समझ में नहीं आया है, तो बात कहाँ पर अटकी है मुझे बताओ ? ऐसा कहा जाता है। इसकी ध्वनि में कुछ अन्तर आ गया है। क्या बात है ? कल रात में ऐसी ही बात सुनने में मिली। तो हमने कहा—किसी ने बार-बार पूछ लिया होगा। इसलिए स्वर में थोड़ा-सा अन्तर आ गया। समझ में यह भी आ सकता है, कि मेरे ही

सुनने में थोड़ी-सी गड़बड़ हो गई हो, संभव है। **प्रायः प्रश्नसहः** इसलिए कहा है। सामने वाला यदि प्रश्नोत्तर करता है तो प्रश्न सहन करने की क्षमता भी रहना चाहिए। लेकिन यदि कोई आकर यद्वा-तद्वा बोलने लग जाय, तो वह प्रश्न नहीं माना जाता और उसका कोई उत्तर भी नहीं होता। क्योंकि वहाँ पढ़ाई नहीं हो रही है।

आचार्यों ने साधुओं के लिए सत्यधर्म कहने के लिए भी कहा है। जिस व्यक्ति का क्षयोपशम कमजोर है, विस्मरणशील है, अधूरा समझ में आ जाता है अथवा आधा छोड़ देता है, उसके लिए दोबारा इसी ढंग से कहना आवश्यक हो जाता है, तब सत्य के उद्‌घाटन के लिये बहुत सारे द्वार हैं। व्रत जो लिया जाता है, वह स्व के लिये लिया जाता है। **सत्य धर्म कथंचित् पर के लिये है। पर के साथ ही उसका प्रयोग किया जाता है। और भाषासमिति भी पर के सामने ही है। स्व का भी उसमें हित है। लेकिन स्व का हित बहुत कम रहता है, पर का हित विशेष रूप से या ज्यादा रहता है।**

सत्यधर्म, भाषासमिति, वाक् गुप्ति और सत्य महाव्रत इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के प्रसंग के अनुसार इनके प्रयोग किये जाते हैं। वचन का एक बल हुआ करता है। वचन का बल क्या काम करता है ? दोनों तरफ से काम करता है। हित के बारे में भी और अहित के बारे में भी। **वचन बोलने में स्व का हित कम रहता है, पर का हित ज्यादा।** क्योंकि वचन बोलने में एक प्रकार से व्यवहार होता है। वचन का प्रयोग करने में यदि प्रमाद नहीं है, तो हिंसा गौण है और यदि प्रमाद है, तो हिंसा को हम गौण नहीं कर सकते। बोलते हुए आप अहिंसक रह ही नहीं सकते। इन सब बातों को देखकर ही तीर्थंकरों ने दीक्षित होते ही मौन व्रत को अंगीकार कर लिया था। और मौन व्रत का अर्थ आचार्यों ने यह कहा है कि वहाँ पर उत्तम अथवा सम्यक् शब्द भी लगा हो।

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः॥

तत्त्वार्थसूत्र - ९/४

गुप्ति और उत्तम सत्य इस प्रकार प्रयोग किया। इसका अर्थ ख्याति, पूजा, लाभ इत्यादि से रहित होकर संवर और कर्म की निर्जरा की विवक्षा में लेना, ये महानतम साधन होते हैं। इसी प्रकार सत्य धर्म को भी हमें अपनाना पड़ता है। क्योंकि जिस समय सत्य धर्म का अवलम्बन लिया जाता है, वह परीषहविजय के साथ है। उसके बिना नहीं किया जा सकता। और परीषहविजय चारित्र के साथ ही किया जा सकता है। जब तक सप्तम गुणस्थान या छठवां गुणस्थान प्राप्त नहीं होता, तब तक परीषह के माध्यम से संवर और निर्जरा का कोई प्रावधान नहीं रखा। एकान्त से नहीं कहें, फिर भी महाव्रतों के साथ परीषहजय होता है। अणुव्रत के साथ परीषहजय का कोई प्रकरण नहीं। नवम

अध्याय में आपके लिए उपलब्ध होता है–

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्या परीषहाः॥

तत्त्वार्थसूत्र - ९/८

इस सूत्र की व्याख्या करते हुए आगे कहा गया है–मुनियों को परीषह सहन कर लेना चाहिए। अन्यथा वह निर्जरा के लिए कारण नहीं होता, संवर के लिए भी कारण नहीं होता। और परीषहविजय के साथ ही सत्य धर्म का आलम्बन लिया जाता है। अनुप्रेक्षा के साथ ही ये सब कार्यक्रम होते हैं। इस प्रकार कार्यकारण की व्यवस्था के साथ ही यह सूत्र निष्पादित होता है। पहले एक बात कही थी–बोलना कब होता है ? और उसका कारण क्या है ? आकुलता के बिना बोलना नहीं होता। भीतर के भावों की अभिव्यक्ति के लिए बोलना होता है। कई लोग मन को मुदित करने के लिए खूब बोल लेते हैं। ताकि मन हल्का हो जाय। किसी को दुख की घुटन हो रही हो तो रो लेता है। बड़ी शान्ति मिलती है महाराज। रोने दो न, आपको क्या हो रहा है ? लेकिन सोचो, विचार करो, रोयेंगे तो संभव है हमें भी असाता का बंध हो और तुमको भी। संभव क्या ? तत्त्वार्थसूत्र तो चल ही रहा है। भगवान् के सामने भी रोते हैं, महाराज।

वाणीं गद्गद्यन्वपुः पुलकयन् नेत्रद्वयं स्त्रावयन्...

ईर्यापथ भक्ति - १५

आज तक हमने किसी भी व्यक्ति को नहीं देखा कि भगवान् के सामने रो रहा हो। और स्वयं पश्चाताप करने से भगवान् को असाता का बंध हो। महाराज, उनको असाता का बंध कभी भी नहीं हो सकता। क्योंकि असाता व साता की उदीरणा के साथ ही यह कार्यक्रम हो सकता है। साता की उदीरणा हो, फिर भी साता का बंध हो सकता है। अप्रमत्त अवस्था में साता का ही बंध होता है। और साता की उदीरणा पीछे रह गई। भगवान् के सामने स्तुति करते समय, आलोचना करते समय खूब रो लेना चाहिए। लेकिन दूसरों को डिस्टर्ब नहीं होना चाहिए। कोई पूजा कर रहा हो और आप अच्छे ढंग से रोने लग जायें, तो वह ठीक नहीं माना जायेगा। जब कोई नहीं है, भगवान् अकेले मिल जायें, तो अच्छे ढंग से रो लें। असाता का बंध हो चुका और होता है। **इसलिए असाता के बंध से बचने के लिए अपने को हमेशा-हमेशा असत्य से भी बचना चाहिए।** क्या भगवान् को भी जो छद्मस्थ अवस्था में हैं, छटवाँ गुणस्थान होता है ? असाता का बंध हो सकता है ? हाँ हो सकता है। वह बहुत गूढ़ बात जैसी लगती है। लेकिन अस्थिर, अशुभ, असातावेदनीय, अरति और शोक ये प्रकृतियाँ छठवें गुणस्थान तक बंध के योग्य मानी गई हैं। बंध हो यह नियम नहीं। लेकिन बंध होगा तो छठवें गुणस्थान तक ही होगा। जब हमने सोचा कि असत्य बोलते नहीं किन्तु प्रमाद में तो

आ रहे हैं। विपदा में इनको असाता का बंध क्यों संभव है ? **भोजन के समय प्रमाद की एक विशेष भूमिका बनती है। उससे असाता का बंध हो सकता है।**

इसलिए असत्य से बचने के लिए प्रमाद से भी बचना चाहिए। और बोलना जहाँ से प्रारम्भ होता है वहाँ पर निश्चित रूप से प्रमाद है। यह समझ कर चलना चाहिए। क्योंकि बोलने की आकुलता के बिना हम वचन बल का प्रयोग कर ही नहीं सकते। और प्रमाद एक ऐसा रास्ता है, ऐसा गुणस्थान है, उस गुणस्थान से चढ़ने पर एक ही सातवां गुणस्थान है और उतरने को कितने ही गुणस्थान हैं। इसका ज्ञान यदि कर लें तो भयभीत होने लगते हैं। छठे से पंचम में आ सकता है, छठे से चतुर्थ में आ सकता है, छठे से तृतीय और द्वितीय में आ सकता है। यदि उसको औपशमिक सम्यग्दर्शन है, तो छठे से सारे गुणस्थान नीचे की ओर खुल गये। सप्तम गुणस्थान तक पहुँचना बन्धुओं। बहुत कठिन होता है। सत्य बात यह है कि कषायों से बचना बहुत कठिन होता है। कषायों को जानना यह और कठिन है। और कषायों से बचना इसलिए सरल हो सकता है, क्योंकि **कषायों से बचने का एकमात्र रास्ता है कषायों को जानना।** चाहे सप्तम में जाओ, चाहे छठवें में जाओ। कषाय तो रहेगी ही, वह कहीं नहीं जा सकती। कषायमय ही गुणस्थान हैं, उसका उपशमन तो ऊपर के गुणस्थान में होता है। अतः बच नहीं सकते। स्वमुख से कोई भी कषाय नहीं आ रही है। एकमात्र संज्वलन रह सकती है, इस अपेक्षा से छठवें-सातवें में बहुत सावधानी के साथ रहना पड़ता है, यह सत्य बात है। इसमें थोड़ा-सा स्खलन हुआ कि छठवें में आ गये, फिसल गये। सप्तम से छठवें में आ गये। सीढ़ी से कोई भी फिसल जाता है, गिर जाता है, तो एक सीढ़ी नीचे आएगा ही, यह निश्चित बात है। उस सीढ़ी पर कोई नहीं गिर सकता। हाँ, ऊपर नहीं चढ़ेगा, उछलेगा नहीं। गेंद के समान। अब लुढ़क गये, एक सीढ़ी लुढ़क गया, दूसरी लुढ़क गया, तीसरी और चौथी लुढ़क गया। इस प्रकार लुढ़कता-लुढ़कता अन्तिम सीढ़ी यानि जमीन के पास आ गया। छठे गुणस्थान से कहाँ जा रहा है ? जमीन में। और दूसरे में भी जायेगा तो निश्चित रूप से मिथ्यात्व में ही जायेगा। यह भी सिद्धान्त है।

धर्मात्मा जब भीतर के परम आनन्द को जानता है, उस समय वह सत्य का सही-सही पालन करता है। सत्य का पालन बाहर देखते हुए नहीं होता। ध्यान रखो, दुनियाँ को देखने से यह सत्य सिद्ध नहीं होंगे। सत्य का रक्षण नहीं कर सकेंगे। किन्तु परिणामों को देखने से ही सत्य का संरक्षण हो सकता है। अन्यथा नहीं। यदि तीर्थंकर छद्मस्थावस्था में बोलने लग जायें तो, उनके हजारों-लाखों शिष्य और बन/बढ़ सकते हैं। लेकिन नहीं। क्योंकि यदि बोलेंगे तो उसमें निश्चित रूप से राग होगा। इसलिए वे प्रणय या स्नेह रूप प्रमाद से भी बचना चाहते हैं। प्रमाद से बचने के बहुत तरीके ढूँढ़े हुए हैं। लेकिन उनका प्रमाद कभी भी २८ मूलगुणों में दोष नहीं लगाता। उनका

प्रमाद उत्तरगुणों में कभी भी दोष नहीं लगाता। उनका हमेशा वर्धमानचारित्र रहता है। सत्य की रक्षा के लिए उन्होंने हजारो वर्षों तक संकल्प पूर्वक मौन धारण कर लिया। सत्य बोलने से असत्य का निषेध नहीं होता। उनके सत्य महाव्रत का पालन सत्यधर्म के माध्यम से ही है। वे सत्य धर्म के रक्षक हैं। सत्यधर्म, सत्य महाव्रत का रक्षक है। इसके माध्यम से दूसरा भी सत्य महाव्रत का संरक्षण कर सकता है। और अपने सत्य महाव्रत का तो संरक्षण होता ही है। भूमिका के अनुसार यह सब काम चल सकता है। बोलने रूप समिति को सत्य महाव्रत नहीं माना गया है। शुद्धोपयोग की भूमिका के लिए समिति डायरेक्ट कारण नहीं है। किन्तु सत्य महाव्रत डायरेक्ट पथ माना गया है। सत्य महाव्रती ज्यों ही यह प्रवृत्ति छोड़ देता है, तो शुद्धोपयोग की ओर चला जाएगा। और धर्म की व्याख्या करते-करते एक घंटा भी निकाल दे, तो शुद्धोपयोग का लाभ नहीं होगा। प्रवृत्ति मात्र बंधक है। धर्म और समिति में बोलना क्यों होता है? यह पूछा था। आकुलता को हम सहन नहीं कर पाते इसलिए बोल जाते हैं। दो प्रकार की आकुलताएँ होती हैं। मानलो-कोई किसी को अनोखी बात, अच्छी बात मिल गई तो वह घूमने लग जाता है कि कब जाकर इसको सबके सामने रख दूं। और कोई नहीं आता तो आकुलता होने लग जाती है। ठीक है कि नहीं ? बिल्कुल ठीक है। इस आकुलता को सहन करने की क्षमता रखने वाले मौन धारण कर लेते हैं। रागद्वेष के कारण नहीं।

पहले ही उत्तम शब्द लगाया था। सम्यक् शब्द लगाया था। जो राग-द्वेष के कारण मौन धारण कर लेते हैं, वह मौन नहीं माना जायेगा। हाँ, यदि प्रायश्चित के रूप में मौन धारण कर लेते हैं तो वह मौन माना जाता है।

सत्य के उद्घाटन के लिए जो आकुलता होती है वह भी असत्य की ओर ले जाती है। भीतर की अभिव्यक्ति को रोकने के लिए, मौन धारण करने के लिए बहुत सशक्त व्यक्ति की आवश्यकता होती है। मन से भी मौन न तोड़ें, मुख से तो तोड़े ही नहीं। अब देखो, यह समझ में नहीं आता अपने को, कि कोई एक शब्द बोले तो फिर भी ठीक है। उसके द्वारा वह उल्टा अर्थ ले लेगा। तो क्या करें? हमारा भाव तो था नहीं, आपके भाव कुछ भी हों। लेकिन सामने वाला व्यक्ति उसको कुछ भी ले सकता है। इसलिए जहाँ पर मन से, वचन से और काय से कुछ भी प्रवृत्ति न हो और बोलने के भाव हो जायें तो भी मौन में दूषण आ गया। कठिन तो है, वचन को किस ढंग से ढाला जाय ? सत्य कैसे पलता है ? इसके बारे में सोचना चाहिए। कोई क्या कहेगा ? इसके बारे में नहीं सोचना चाहिए। यदि सोच लें तो सत्य का पालन नहीं हो सकता।

महाराज, आपको सत्य के बारे में बताना है। कब तक बताते चले जायें ? और बताने के उपरांत भी यदि असत्य सिद्ध हो गया तो वचनों को पकड़ कर सत्य को असत्य और असत्य को सत्य भी किया जा सकता है। इस जंजाल से ऊपर उठने का एक ही तरीका है, सत्य का पालन।

अपने आप में एक अनूठा साधन है। **कर्मों के उदय का प्रतिकार न करने की जो इच्छा/साधना होती है, उसका नाम सत्य है। क्योंकि बोलने की तो इच्छा होती है। या कोई भी घटना घट जाती है तो उसको सिद्ध करने के लिये या सोचने के लिए बैठ जाते हैं।** यह सोचने के लिए बाध्य कब किया जा रहा है ? किसको बाध्य किया जा रहा है ? कौन बाध्य कर रहा है ? कर्म का उदय बाध्य करता है, लेकिन धन्य हैं तीर्थंकर जो हजारों वर्षों मौन धारण कर सत्य का पालन करते हुए अपने जीवन को व्यतीत करते हैं। और कोई ऐसे भी मुनि महाराज रहते हैं जो सत्य का पालन करने के लिए, महाव्रत का पालन करने के लिए आठ वर्ष कम पूर्वकोटी तक मौन धारण कर सकते हैं। इसमें कोई बाधा नहीं। उपवास के लिए भले ही ६ महीने का नियम बनाया हो, पर मौन के लिए कोई ६ महीने का नियम नहीं बनाया। तो उतनी ही सुनेंगे, जितनी भीतर से आकुलता है। तरंग तो उत्पन्न होते होंगे, लेकिन सत्य यही देखा जा रहा है। कर्म के उदय आ रहे हैं, बोलने की इच्छा होती होगी, लेकिन इच्छा के अनुसार काम करना नहीं है। इच्छा के निरोध करने का नाम तप बतलाया गया है। **इच्छानिरोधस्तपः**। बोलने की इच्छा हुई तो बोल लिया। नहीं, संयम रखो। महाराज, कल के लिए संयम है, आज क्यों रखें ? तो बोलो। यदि आकुलता सहन नहीं होती है, तो अपने आप ही बोलते-बोलते रोने भी लग जाओगे।

जहाँ पर रोने के लिए कहा गया है, वहाँ पर संसारी प्राणी रोता नहीं। जहाँ पर बोलने के लिए कहा गया, वहाँ पर बोलता नहीं। जहाँ पर जैसा कहा गया है उसके अनुसार वह नहीं करता। कर्म के उदय में वह अपनी इच्छा के अनुरूप करना चाहता है। इच्छा के अनुरूप संयम नहीं पलता। मोक्षमार्ग आगम के अनुरूप ही संयम के साथ चलता है। कई बार कई लोग कहते हैं- महाराज! जब सामने ही किसी के दोष हम देख रहे हैं, और उनको कुछ संकेत न दें, यह कैसी बात है? हाँ, बिल्कुल सामने-सामने देखना चाहिए। लेकिन अपने ही औदयिक भाव हैं, जो सामने ही हैं उनको देखना चाहिए। है तो बात यही, फिर तो क्यों लगा रहे हो ? यह आक्षेप पर के ऊपर करना चाहता है और यहीं असत्य का समर्थन हो गया। असत्य का समर्थन बहुत जल्दी हो जाता है। **निमित्त के ऊपर टूटने वाला सत्य का पालन नहीं कर सकता। निमित्त की ओर दृष्टि रखी नहीं कि सत्य कथंचित् गायब हो गया। निमित्त ज्ञेय भी बन सकता है।** लेकिन ज्ञेय की परिधि में निमित्त बहुत कम समय के लिए रुकता है। बाद में वह हेय या उपादेय, साधन या उपाय के रूप में सामने आ जाता है। परन्तु सब अपने आप को भूल जाते हैं। **सत्य के लिए बहुत कठिनाई के साथ साधना करनी पड़ती है। सत्य के लिए सब कुछ न्यौछावर करना पड़ता है। सत्य की रक्षा के लिए कषायों के गुण-धर्मों को भी सही-सही समझ लेना चाहिए?** क्या आप असत्य बोलकर सिद्ध कर सकते हैं। क्या आप सत्य बोलकर सत्य सिद्ध कर सकते हैं।

आज न्यायालय में देख रहे हैं। कोई एक घटना हुई। उसका केस चला। केस की स्वर्ण जयन्ती नहीं, हीरक जयन्ती होती हैं। उसका भी उल्लंघन करके शताब्दी भी पूर्ण होने को होती है। फिर भी केस अभी तक चल रहा है। सत्य और असत्य का निर्णय नहीं हुआ। निर्णय नहीं हुआ, ऐसा नहीं। वह तो निर्णीत है। लेकिन घोषणा नहीं हुई। यह कौन से सत्य में गिना जायेगा ? इसलिए सबसे अच्छा तो यह है कि आये हुए कर्मों की चिकित्सा न करें। निर्विचिकित्सा किसी को हुई है। निश्चयमोक्षमार्ग/निश्चय सम्यग्दर्शन के अंगों के बारे में कुन्दकुन्द स्वामी ने निर्जरा अधिकार के उपसंहार में कुछ ऐसी गाथाएँ रखी हैं, जिन गाथाओं के अर्थ की ओर देखने में समन्तभद्र जी के रत्नकरण्डकश्रावकाचारगत आठ अंग का प्रकरण बहुत ही नीचे की ओर चला जाता है। गृहस्थों का सद्धर्म, गृहस्थों का सम्यग्दर्शन, गृहस्थों के आठ अंग से, मोक्षमार्ग या रत्नत्रयलीन मुनि के सम्यग्दर्शन के आठ अंग बहुत ही सरल है। उसमें कुछ करना नहीं है। सबमें निश्चय लगा दिया गया है। और भले ही नामोल्लेख किया है। लेकिन नामोल्लेख में कषाय के बिना जो कुछ भी परिणाम बनते हैं, वे सारे के सारे निश्चय सम्यग्दर्शन के आठ अंगों के साथ घटित होते चले जाते हैं। निर्विचिकित्सा अंग के विषय में क्या बोलते हैं–

जो ण करेदि दुगुंछं, चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं।
सो खलु णिव्विदिगिंछो, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो॥

(समयसार–२४६)

निश्चय सम्यग्दर्शन का सत्य अंग क्या है ? इसे कुन्दकुन्द भगवान् ने अपने अध्यात्म में लिख दिया। किसी प्रकार की आकांक्षा नहीं करता, ग्लानि नहीं करता। कहाँ नहीं करता ग्लानि ? सभी धर्मों के ऊपर ग्लानि नहीं करता। चाहे वह पदार्थ अच्छा हो, या बुरा, खट्टा हो या मीठा, या चरपरा हो, चाहे दुर्गन्ध या सुगन्ध हो। ऐसा तो वहाँ पर नहीं लिखा ? रत्नत्रय के बारे में कहा है। सभी धर्मों के ऊपर कहा है। सभी धर्मों के ऊपर कहने से चाहे वह सराग धर्म हो, चाहे वह वीतराग धर्म हो। किसी को अच्छा-बुरा नहीं कहेगा। वह जो समझेगा वह ज्ञान की परिणति समझी जाएगी। किन्तु रत्नत्रय के प्रति भी आकांक्षा नहीं करता और सराग धर्म के प्रति भी चिकित्सा भाव नहीं करना।

वह सभी के प्रति निर्विचिकित्सक होता है। चाहे वह अपना हो या पराया। ये तो प्रवृत्ति की भूमिका में है। ऊपर की भूमिका में अपना और पराया, इन सबका सफाया हो जाता है। कोई मतलब नहीं, कोई विकल्प नहीं, न अच्छा कर रहा है, न बुरा कह रहा है, न स्वीकार कर रहा है, न त्याग। न त्याग, न आदान, कुछ भी नहीं है। ऐसी दृष्टि में ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध होना बड़ा सहज हो जाता है।

धर्मोपदेश करने वाले भी सबके प्रति एक-सा भाव रखते हैं। एक के प्रति अलग परिणाम रखना और दूसरे के प्रति अलग यह प्रवृत्ति के काल में तो ठीक है। लेकिन निवृत्ति के काल में सत्य आ सकता है, जिसे सार्वभौम सत्य या त्रैकालिक सत्य बोलना चाहिए। उसका अनुपालन करते समय आनन्द आता है, साक्षात् मोक्षमार्ग का। यह अन्य दूसरे मार्ग में नहीं मिल सकता। ऐसा सत्य है। सत्य क्या है ?

सता युतं सत्यम्।

अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त सत् है और सत्य से जो प्रभावित होता है, उसका भाव सत्य होता है। जिसको महासत्ता भी बोलते हैं। उस सत्य के विषय में क्या कहें हम ? वही साक्षात् मोक्षमार्ग माना जाता है। ज्ञान सत्य नहीं है। ज्ञान का फल उपेक्षा जो है, वह सत्य है। जिस ज्ञान के साथ चयन है, जिस ज्ञान के साथ छोड़ना और ग्रहण करना है, सही पूछा जाय तो वह सत्य नहीं माना जाता। वह उपेक्षा है। उपेक्षा का अर्थ द्वेष नहीं। उपेक्षा का अर्थ दोनों के ऊपर उठ जाना है। सही पूछा जाय, तो ज्ञान का मुख्य लक्षण क्या है ? यान। एक जलयान और एक वायुयान होता है।

याति इति यानम्।

जो जाता है, चलता है, उसका नाम यान है। यान जल में चलता नहीं, तैरता है। किन्तु रास्ते के ऊपर, धरती के ऊपर तो वह भागता है। और जब वह यान इन दोनों की उपेक्षा कर जाता है, तो ऊपर उठता है, तो तीनों दृश्य देख सकते हैं हम यान के, एक ही यान तीन काम करता है। जल के ऊपर चला जाता है, तो वह स्टीमर का काम करता है। और यदि उसे पट्टी के ऊपर चलना होता है, तो उसमें चाक लग जाते हैं और वह भागने लग जाता है। और जब इन दोनों से वह ऊपर उठ जाता है, तब वह सही यान कहलाता है। वायुयान कहलाता है। जल में तैरने की अपेक्षा से उसे स्टीमर की संज्ञा देते हैं या जलयान कहा गया है। धरती पर भाग रहा है, इसलिए उसको गाड़ी कह सकते हैं। भले ही विमान है, पर भागते समय तो उसको गाड़ी ही कहेंगे। जब वह ऊपर उठ जाता है तो किसकी उपेक्षा हो गई ? धरती की भी उपेक्षा हो गई और जल की भी। ज्यों ही दोनों की उपेक्षा हो गई, त्यों ही उसके चाक अपने आप छुप जाते हैं। भीतर की ओर हो जाते हैं। नीचे की ओर बाद में आते हैं, जब वह उतरना प्रारम्भ कर देता है। उतरना प्रारम्भ करते ही, नहीं आते हैं, अपितु धरती पर आने के समय वे चाक उसमें आ जाते हैं। आपके पास पैर हैं कि नहीं ? देख लेते हैं, महाराज! हैं, कि नहीं। क्योंकि चलने की प्रक्रिया अभी गौण हो गयी है। एक घंटे अपने को चलना नहीं है। इसलिए एक घंटे तक अपने पास पैर नहीं हैं। फिर बैठे कैसे हैं ? पालथी मारकर बैठे हैं। फिर भी पैर महसूस नहीं होते हैं। इस प्रकार पैर की उपेक्षा आपने की। हमेशा-हमेशा उपेक्षा करें, तो भागा-

दौड़ी नहीं होगी। इसी प्रकार ज्ञान का प्रयोग करते समय सत्य नहीं होता। **लेकिन ज्ञान का जो विषय है, उसकी उपेक्षा करने से सत्य उद्घाटित होता है।** इसलिए ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध के साथ, उपेक्षा संयम की बात नहीं कही है। किन्तु उपेक्षा संयम तो यह है कि–

णाणस्स फलमुवेक्खा...।

जब फल की ओर, कार्य की ओर देखते हैं, तो ज्ञान की डेफिनेशन सामने आ जाती है। प्रयोजन, संज्ञा, लक्षण या संख्या की ओर जाते हैं, तो ज्ञान की सारी की सारी प्रवृत्ति चलने लग जाती है। और जब ज्ञान के फल की ओर देखते हैं, तो ये चारों गौण हो जाते हैं। न्याय के ग्रन्थों में इस ज्ञान के चार लक्षण बना लेते हैं, जो चार प्रयोजन सिद्ध करते हैं। लेकिन सत्य बात तो यह है, जो कुन्दकुन्द महाराज कहते हैं–ज्ञान का सही लक्षण तो वही है, जब वह उपेक्षा में ढल जाता है। फल की ओर जब तक नहीं देखते तब तक उसका कोई प्रयोजन नहीं होता। फल ही प्रयोजन है, और ज्ञान का सही फल उपेक्षा माना गया है। ज्ञान के माध्यम से ही छोड़ा जाता है और ज्ञान के माध्यम से ग्रहण होता है। यह भी ज्ञान के लिये ग्रहण है। ग्रहण का अर्थ क्या होता है ? ग्रहण का अर्थ एक से अभिप्राय है। यह वरदान नहीं, घाटा है। क्योंकि इसमें परिश्रम है और ज्ञान का फल परिश्रम रूप नहीं होता है। संसारी प्राणी कभी भी फल का सेवन नहीं करते। क्योंकि सत्य क्या है ? यह उद्घाटित ही नहीं हो पाता, उन्हें।

धन्य हैं, उस सत्य में जो तैर रहे हैं। धन्य हैं, जो उस सत्य में डुबकी लगा रहे हैं। धन्य हैं, उस सत्य में जो अनुभूत कर रहे हैं। तरंग दो प्रकार के होते हैं। तरंग जब आती है, जबकि पानी में स्पन्दन हो। स्पन्दन यद्यपि समग्र जल में है, फिर भी तरंग ऊपर उठती है। पानी नीचे रहते हुए भी लहर देखने के लिये ऊपर ही मिलती है। जितने डीप (Deep) में आप पहुँचेंगे तो वहाँ जल तरंगरहित ही मिलेगा और शीतल भी। बहुत ठण्डा लगेगा। वहाँ पर दूसरे पदार्थों का कोई प्रभाव देखने को नहीं मिलेगा।

वस्तुतः छठवां गुणस्थान कोई विकासोन्मुखी मार्ग रूप नहीं है। **बोलना प्रमादमूलक ही होता है, इसलिए वह कभी भी धर्म की ओर नहीं ले जाता। और जो असत्य है, पाप है, उन्मार्ग है, उससे बचने के लिए एक ही रास्ता है।** इसलिए गिरते समय ही इसका दर्शन होता है। चढ़ते समय कभी भी छठवें गुणस्थान का दर्शन नहीं होता। जब हीयमान लेश्या होती है, तभी छठवां गुणस्थान देखने को मिलता है, वर्धमान लेश्या के साथ नहीं। क्योंकि वह गिरते समय ही होता है, गिरते समय ही आता है। जैसे आप सर्वप्रथम टिकट लेकर के ही चित्रगृह इत्यादि में चले जाते हैं। कोई काम करने के लिए यदि बाहर आना पड़ता है, तो टिकट नहीं मिलता। क्या मिलता है ? पास

मिलता है। पास लेकर पास हो जाओ। अब टिकट नहीं मिलेगा। भीतर पहुँचने के लिए ही टिकट माध्यम है। इसी तरह पहले सप्तम गुणस्थान में ही प्रवेश होता है, बाद में नीचे आना पड़ता है। भगवान् कुन्दकुन्द कहते हैं–उपेक्षा संयम, जो सत्यमय है, उसको अनुभव करने का सौभाग्य मुनि महाराजों को ही होता है।

जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह य सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो॥

जो किसी धर्म में आकांक्षा नहीं करता है। यही सत्य, निश्चय सम्यग्दर्शन का अंग है। उसका पान करना सौभाग्य का विषय है और उसी को प्राप्त करने के लिये सत्य का आलम्बन लिया जाता है। व्यवहार से सत्य का आलम्बन लिया जाता है।

सर्वप्रथम सत्यधर्म नहीं होता, सत्य महाव्रत आता है। बाद में सत्यधर्म आता है। अथवा भाषा समिति आती है, अथवा सत्य मनोयोग आ जाता है। सत्य मनोयोग के माध्यम से भक्ति के माध्यम से, वह भीतर पहुँच जाता है। **अनुभयवचन और सत्यवचन बोलने के लिए छुट्टी दी गई है। बोलने की आवश्यकता पड़ जाये, तो सत्य बोलो और अनुभयवचन बोलो। लेकिन यह मार्ग नहीं है।** आकुलता को कम करना चाहो, तो करो। कई व्यक्ति इस आकुलता से बचने के लिए बोलना प्रारम्भ करते हैं। किन्तु इस आकुलता से जो ऊपर उठना चाहता है, वह अपने आपको यान के समान रत्नत्रय को भी आत्मोन्मुखी बना लेता है। रत्नत्रय के माध्यम से ही चलना होता है।

यान जब चलता है, सो ऐसा चलता है कि उस यान को देखना पसन्द करेंगे। हम उस यान को देखना चाहते हैं, जो चलता नहीं, अपितु जो चढ़ता है। जो चढ़ता है, उस समय भेद रत्नत्रय नहीं रहता। कहाँ पर चले गये तीनों पहिया ? गायब। अब गिर जाय तो क्या हो ? पैर तो समाप्त हो गये, पैरों से चलते समय ही गिर सकते हैं। चढ़ते समय गिर नहीं सकते।

आचार्यों के द्वारा एक प्रसंग बहुत अच्छा कहा गया है–जिस समय श्रेणी चढ़ता है, तो उस समय प्रथम भाग में मरण नहीं होता। चढ़ता है, चढ़ता चला जाता है, वेग बढ़ जाता है। और वेग बढ़ने के कारण अपने आप बैलेंस हो जाता है। वेग बढ़ाओ, आवेग नहीं। वेग बढ़ाओ, उद्वेग नहीं। वेग बढ़ाओ, निर्वेग बढ़ाओ। वेग बढ़ाओ और संवेग बढ़ाओ। संवेग और निर्वेग का विकास यदि होता है, तो अपने आप ही वह अपने आप में लीन हो जाता है। उस समय कितनी रफ्तार से वह जा रहा है, इसका भी अनुभव नहीं होता। यहाँ तक कि बाहर जो आवाज उमड़-घुमड़ करके बादलों के समान होती रहती है, वह भीतर बैठे हुए विमानयात्रियों को नहीं आती। ऐसी यात्रा होती रहती है, महाराज। आपने देखी है क्या ? आप बैठे हैं क्या ? बैठे नहीं हैं, तो क्या हुआ, जो बैठे हैं, उनसे

सुन नहीं सकते क्या ? दूसरी बात यह है, कि हम बैठते और चलते हैं, प्रवृत्ति के समय। समाधि के समय पर चढ़ते हैं। बस, वहाँ ऐसा हो जाता है, कि पता नहीं चलता, कि देह है कि नहीं? बैठे हैं कि खड़े हैं ? यह भी पता नहीं रहता।

सत्य का आलम्बन लेने का एक मात्र फल है, उस ज्ञान का आलम्बन लेकर आपको, उस सत्य को महसूस करना चाहिए। शरीर के आश्रित सत्य होने पर प्रवृत्तिमूलक धर्मकाण्ड ही करायेगा। किन्तु जब उसके ऊपर उठ जाते हैं, तो आनन्द का कोई पार नहीं रहता। अभी आनन्द की शुरूआत देखी है। जब बिल्कुल ही सत्य हो जायेगा, तो इन्द्रियातीत, देहातीत भवातीत और सबसे अतीत होकर वह रहता है। दुनियाँ में रहते हुए भी, दुनियाँ का नहीं है। जल में होते हुए भी कभी कमल के समान वह सड़ता नहीं, गलता नहीं। यही एक मात्र सत्य होता है। किसी प्रकार से चिकित्सा करना, प्रतिकार करना सत्य नहीं है। इसलिए निश्चयसम्यग्दर्शन में जो अंगों की व्यवस्था की गई है, वह बहुत ही अनोखी व्यवस्था है और प्रवृत्तिमूलक भेदरत्नत्रय के साथ जो व्यवस्था की गई है, वह आठ अंग, जो रत्नकरण्डकश्रावकाचार में भी उपलब्ध होते हैं।

भेदरत्नत्रय से अभेदरत्नत्रय को पाने वाले मुनिराज कभी बाहर आना ही नहीं चाहते हैं। जैसे आप लोग एयरकंडीशन में से बाहर नहीं आना चाहते। वैसे ही वे मुनि अपने अभेदरत्नत्रय रूपी एयरकंडीशन से बाहर नहीं आना चाहते। अपने स्वरूप के दर्शन, अपने शाश्वत सत्य को पाने में लीन होते हैं। वे सत्यधर्म के बारे में कहते नहीं, अनुभव करते हैं। इसी भावना के साथ उत्तम सत्यधर्म की जय...

देवावि तस्स पणमंति...

आज्ञा संयम के लिए परम अनिवार्य है। संयम का बंधन बिना आज्ञा के संभव नहीं हो सकता। जब तक आज्ञा-सम्यक्त्व नहीं होगा, हमारा चारित्र चारित्र की संज्ञा नहीं पा सकता।

हमारे ये पर्व जीवरक्षा के पर्व होना चाहिए। मात्र गाने बजाने तक सीमित नहीं रहना चाहिए। पाँच पापों को रोकने का कार्य इन पर्व के माध्यम से होता है। अपना इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम रखते हुए जीवरक्षा की भी बात करना चाहिए। प्रयास करना चाहिए कि कोई भी जीव दुखी न रहे।

पर्व प्रारम्भ हो चुका है। यहाँ के लिए नहीं कहा जा रहा है। पर्व प्रारम्भ हो चुका और पर्व आने से पूर्व में ही सबको निर्दिष्ट किया गया था। सबके लिए एक प्रकार से संयम से बांध दिया गया था। सबके मन-वचन-काय की प्रवृत्ति, जो उस पाप को करने की होती है, उसको बिल्कुल नियन्त्रण में लाकर रख दिया गया था। और यह कह दिया गया था कि यह इतने दिन के लिए जो

नियम दिया जा रहा है, उसमें किसी प्रकार की कमी न हो जाए। क्योंकि राजा की आज्ञा होने के कारण इसमें यदि कमी आती है, तो ध्यान रहे, चाहे वह कोई भी हो, उसका मरण निश्चित है, ऐसी आज्ञा है।

आज के विधान/संविधान ऐसे होते हैं, जिनमें संविधानसूत्र लिखने के पूर्व में ही उसके उल्लंघन के सूत्र प्राप्त हो जाते हैं। आज की राजनीति और उस समय की राजनीति, इन दोनों की तुलना करना अभी से प्रारम्भ कर देनी चाहिए।

आज वैसे संयम का दिन है। आप लोगों को भी तो सबको इन दिनों की बड़ी प्रतीक्षा थी। यह जो राजा ने आज्ञा दी है, इससे कोई मतलब नहीं। क्योंकि यह तो हमारे लिए पहले से ही स्वीकृत हैं। इसके प्रति हमारा आदर है और इस पर्वराज के प्रति क्या कहें ? **देव लोग भी इसके लिए तरसते रहते हैं। यह पर्व केवल मनुष्य और तिर्यंच तक ही सीमित नहीं रहता है। विलासिता में हमेशा डूबा रहने वाला देवों का समूह भी इन घड़ियों की प्रतीक्षा में रहता है।** यह ध्यान रखना, कि वहाँ पर न तिथि है, न मिति और न वार। सूर्य नहीं, चन्द्रमा नहीं, कुछ भी नहीं है। लेकिन वे हमेशा एस.टी.डी. से सम्पर्क बनाए रखते हैं, कि यहाँ कौन सी मिति चल रही है। हम हमेशा असंयम में व्यस्त रहने वाले हैं, हमारा जीवन असंयम से नियंत्रित रहता है। यानि नियंत्रण से बाहर नहीं होते हैं हम। **असंयम ही हमारे लिए एकमात्र बंधन है। कई लोग संयम को बंधन मानते हैं और हम असंयम को एक बंधन मानते हैं। इस बंधन में अपने आप को गति नामकर्म व आयुकर्म के उदय से ऐसा बांध रखा है कि हम भीतर ही भीतर पिंजड़े के पंछी के समान छटपटाते रहते हैं।** जैसे एक व्यक्ति को सीमा में बंद कर दिया जाता है। वह घटाकूप में रहता है लेकिन फिर भी कुछ ऐसे समय दिए जाते हैं वह अपने सम्बन्धियों से, अपने मित्रों से और कोई अन्य व्यक्तियों से मिलकर थोड़ी बहुत राहत का अनुभव करता है।

आप लोग मेले-ठेले में जिस प्रकार उत्साह के साथ जाते हैं। कितने उत्साह के साथ जाते हैं? क्या बतायें, फूले नहीं समाते। और जब पैसा हजम तो मेला खतम। यही बात है। तो आठ दिन तक ऐसे रहते हैं। कैसे रहते हैं ? सबको भूल जाते हैं। और कुछ भी नहीं बीच में, अष्टाह्निका पर्व का वह अवसर है।

देवावि तस्स पणमंति, जस्स धम्मे सया मणो।

वीर भक्ति - ८

अहिंसा धर्म में जिसका चित्त लीन रहता है। इस धरती पर वह मानव देवों से भी पूज्य है। वे सपरिवार- **दिव्वेण गंधेण, दिव्वेण पुप्फेण, दिव्वेण धूवेण दिव्वेण ण्हाणेण... इत्यादि।**

भवनवासी, ज्योतिष, व्यन्तर और वैमानिक सपरिवार आ रहे हैं। अपने परिवार के साथ दिव्य गन्ध, दिव्य पुष्प, दिव्य वस्त्र, दिव्य फलफूल आदि सभी दिव्य-दिव्य लेकर इस भव्य धरती पर उतर आते हैं। वे गये तो इधर भी प्रतीक्षा थी। आठ दिन तक वह पर्व है। आप लोगों का तो यह दस दिनों का है। आठ दिन का वहाँ के लिए कहा जा रहा है। वे सभी के सभी व्यस्त हो जाते हैं। कुछ लोगों को, जैसे यह चन्द्रमा खटकता है, चोर को चन्द्रमा की चांदनी परेशान कर देती है। उसी प्रकार ये आठ दिन आठ वर्ष से भी ज्यादा लग रहे थे।

कई प्रकार के व्यक्ति हुआ करते हैं। सागरोपम आयु भी आठ दिन जैसे नहीं लगती। और आठ दिन भी इनको आठ वर्ष जैसे लग रहे हैं। बीच में रहा नहीं गया। एक व्यक्ति राजा की आज्ञा का उल्लंघन करता है। उसने सोचा होगा राजा तो दूसरों के लिए हुआ करते हैं, हमारे लिए थोड़े ही राजा हैं। यही सोचकर उसने आज्ञा का उल्लंघन किया। लेकिन कौन आज्ञा का उल्लंघन करता है ? यह केवल मन्दिरों में ही नहीं देखा जा रहा था। इस आज्ञा का अनुपालन करने वाले व्यक्ति कितने हैं और उसमें कमी रखने वाला कौन है ? कहाँ पर कमी रखता है? सारे के सारे सी.आई.डी. के माध्यम से देखते हैं। उस अपराधी को पकड़ लिया गया। अपराधी ने कहा-जाकर कह देना, हम तुम्हारे साथ नहीं आते। शायद डर गया हो, यह बात तो बिल्कुल ठीक है। जब पहचान में आ गया तो सही बात है। लेकिन पूछताछ की जाती है, कोई भी प्वाइंट गलत नहीं हो सकता, घुमाया नहीं जा सकता है, और सब लोग आस्था के धनी थे।

महाराज! एक व्यक्ति ने आपकी आज्ञा का उल्लंघन किया है। कहने के लिए क्यों आये हो, जो कहा था वही करो। महाराज। आपकी आज्ञा के बिना कैसे किया जा सकता है कहिये ? आज्ञा दीजिए।

इन दिनों इधर-उधर की बात नहीं करते। तुम्हारे लिये क्या इसलिए नियुक्त किया गया है ? तुम्हारा कर्त्तव्य क्या था ?

फिर भी महाराज। कुछ विशेष केस है।

विशेष केस, हमारी विशेष आज्ञा है। **आज्ञा न सामान्य रहती है और न विशेष। आज्ञा तो आज्ञा है। धरती पर ही आज्ञा रहती है, ऐसा भी नहीं है। किन्तु देवगति में भी आज्ञायें रहा करती हैं।**

अभ्युदय के बारे में स्वामी समन्तभद्र महाराज ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार में लिखा है-अभ्युदय की प्राप्ति किसे होती है ? पंचव्रतों या प्रतिमा इत्यादिक का जो निरतिचार-निरतिक्रमण, अतिक्रमण यानि दोषों से रहित होकर के पालन करता है। वह कहाँ पर जाता है ? स्वर्ग में। वहाँ जैसा अभ्युदय

अन्यत्र नहीं मिलता। आज्ञाकारी देव मिल जाते हैं। जैसे कोई मन्त्री होता है, तो उसके लिए बॉडीगार्ड की व्यवस्था हो जाती है, एक, दो, तीन या चार इत्यादि रूप से। आजू-बाजू आगे-पीछे के लिये बॉडीगार्ड की व्यवस्था हो जाती है। उनको लेकर चलते हैं। जहाँ वे जावेंगे, उनके पीछे-पीछे वह व्यवस्था लगी रहती है। इसमें एक सेकेंड के लिये भी कोई गड़बड़ी नहीं करता। मानलो, यदि वे सो गये, तो ये भी सो जायें, ऐसा नहीं। ये सोयेंगे नहीं। बिल्कुल उनके चारों ओर रक्षक के रूप में रहते हैं। ऐसा अभ्युदय वहाँ भी है, आज्ञाकारी देव मिल जाते हैं। मनुष्य नहीं, देव मिल जाते हैं। क्योंकि आगम की आज्ञापालन करने के फलस्वरूप उनके पास ऐसी शक्ति आ गई है कि देव, दानव, असुर या सुर सभी उनकी आज्ञा में २४ घंटे रहते हैं।

हम आज्ञा देना तो चाहते हैं, लेकिन आज्ञा का पालन नहीं करना चाहते। हम बड़े तो बनना चाहते हैं, किन्तु बड़ों का काम नहीं करना चाहते। हम नेतृत्व तो देना चाहते हैं, लेकिन नेतृत्व किसी का लेना नहीं चाहते। हम डायरेक्ट सीनियर होना चाहते हैं। तब जूनियर कौन बनेगा? किन्तु यह एक सिद्धान्त है कि किसी भी क्षेत्र में डायरेक्ट हम सीनियर नहीं हो सकते। योग्यता के अनुसार हो सकते हैं।

वहाँ पर जन्म लिया अर्थात् उपपाद जन्म हुआ और एक दम आज्ञा कैसे देने लगे ? हम तो बहुत सागरोपम की आयु लेकर जी रहे हैं। मानलो, कोई सौधर्मस्वर्ग में इन्द्र हो गया। उसे अभी अन्तर्मुहूर्त ही हुआ है। और दो सागरोपम से कुछ अधिक की आयु है वहाँ की, उतने पुराने देव वहाँ होंगे। वे हाथ जोड़कर वहाँ खड़े हो गये। आपकी प्रतीक्षा थी और आप आ गये। आने वाला अभी किशोर जैसा ही है अर्थात् २० साल के भीतर और १५ साल से ऊपर। इस ढंग से वे खड़े कैसे हो जाते हैं ? क्योंकि सौधर्म इन्द्र वही बनता है, जो विशेष रूप से जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा का पालन करता है। केवल १२ ही सीट हैं। सोलह स्वर्ग है और सीट १२ हैं। एक-एक स्वर्ग में देव असंख्यात-असंख्यात होते हैं। नव-ग्रैवेयकों में असंख्यात हैं। अपराजित इत्यादि जो चार हैं उनमें भी असंख्यात हैं। सर्वार्थसिद्धि में संख्यात हैं। सारे के सारे स्वर्गों में असंख्यात कह लो। उन असंख्यात सीटों में, मात्र बारह सीट्स ऐसी हैं, जो इन्द्रों के लिये मिल जाती हैं। लेकिन बारह सीटों में से सौधर्म इन्द्र की सीट अपने आप में अलग है।

जब पंचकल्याणक होते हैं, तो उस समय इसका महत्त्व क्या है ? यह आपको ज्ञात हो जाता है। बाकी जितने भी देव हैं, वे उसके पूरक ही हैं। सौधर्म इन्द्र का सारा का सारा आधिपत्य अलग रहता है। उसके कहने से पूर्व ही उनके सहयोग के लिये चारों प्रकार के देव आकर खड़े हो जाते हैं। अभिषेक होना है, पाण्डुकशिला पर। सब लोग आकर खड़े हो जाते हैं, वहाँ पर। देवगण क्षीरसागर से घड़े भरकर लायेंगे और यहाँ पर सौधर्म इन्द्र खड़ा है, वही सबसे पहले अभिषेक

करेगा। सारे के सारे प्रबन्ध को देखकर ऐसा लगता है कि उनको आज्ञा देने की कोई आवश्यकता नहीं, लीजिये....लीजिये। एक आध चित्र देखा तो ऐसा लगा। जब नन्दीश्वरभक्ति पढ़ते हैं तो ऐसा ही लगता है। सब अपने-अपने कार्यों में व्यस्त हैं। क्षीरसमुद्र के जल से भरे घड़े आ रहे हैं। पंक्तिबद्ध रूप से आ रहे हैं। और उनके हाथों में चले जा रहे हैं। इधर से खाली, और उधर से भरे। समझ में नहीं आता, **इन्द्र की आज्ञा को उल्लंघन करने वाला कोई देव नहीं ? सभी आज्ञाकारी हैं। इसका इतिहास कुछ समझना चाहिए। पहले उन्होंने अपने जीवन को असंयम में व्यतीत न करके, संयम से व्यतीत किया और आज्ञा का ऐसा पालन किया, जिसे आज्ञासम्यक्त्व कहते हैं।** जो कि-

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते।
आज्ञामात्रं तु तद्ग्राह्यं नान्यथा वादिनो जिनः॥

आज तर्कणा करना बुद्धिमत्ता का प्रतीक माना जा रहा है। लेकिन आज्ञा सम्यक्त्व अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण है। तर्कणा करने की हमारे पास क्या शक्ति है ? दिव्यज्ञान के माध्यम से जिस जिनवाणी का सृजन हुआ हो, उसमें हमारी क्या तर्कणा है ? हम अपनी बुद्धि को बढ़ाने की अपेक्षा से तर्क कर सकते हैं। जैसे तोतले बच्चे बोलते हैं। उसी प्रकार से हम भी अपने ढंग से करते हैं। यह भी ज्ञान के विकास में एक साधन है, यह मान कर चलते हैं। वस्तुतः हम बहुत बड़े ज्ञानी हैं, ऐसा नहीं है। वह इन्द्र भी आज्ञा से बना है। और जब कभी भी सौधर्म इन्द्र बालक महावीर के सामने आता है तो हाथ जोड़े ही आना होता है। विकल्प भीतर हो सकता है, कि यह आज का बालक और ५०० धनुष की काया वाले तीर्थंकर। इनकी ५०० धनुष की काया तो है नहीं। जब महावीर की आयु ७२ वर्ष की हुई, तब ऊँचाई सात हाथ की थी। छोटा लड़का या छोटा बालक छोटा ही है, और बड़े-बड़े मुख के घड़े और यह ठण्डा पानी, और उसकी यह धारा। इसको झेलना मुश्किल है। हे भगवन्! अब क्या करूँ ? लेट करूँ ? तो गड़बड़। तभी भगवान् ने एकदम अंगूठा दबाकर पाण्डुकशिला को हिला दिया। अरे! यह क्या हो गया ? यह सब करामात तो होनहार भगवान् की है। सौधर्म इन्द्र भूल गया, तीर्थंकरों की शक्ति इतनी होती है चाहे वह शारीरिक हो या वाचनिक या मानसिक। आत्मिक बल भी उनके पास अनुपम होता है। सौधर्म इन्द्र कहता है-भगवन्। चूक हो गई। बालक आज का ही जन्म लिया है। हाँ! हमारी गोद में पला है और मुझे ही आज्ञा दे, ऐसा नहीं। इस जगह विस्मय होता है कि उधर सागरों आयु वाले और इधर एक नवजात शिशु। शिशु की काया छोटी लग रही है। लेकिन काया में जो आत्मा है, वह तीन लोक को हिलाने की क्षमता रखती है। तीर्थंकर होनहार हैं। ऐसी जो आगम की आज्ञा सुन रखी है, और कई बार देख रखा है, उसमें बिना कान फड़फड़ाये, ननु न च किये, हे भगवन्! गन्धोदक लेता हूँ, सिर पर चढ़ाता

हूँ। साफ-सुथरे मुकुट में धूल लगाकर अलंकृत करता है। धूल लगने से तो मुकुट गंदा हो गया होगा? आप लोग टोपी पहनते हैं। और जब धूल आती है, तो उतार लेते हैं। जबकि यहाँ पर धूल लगाई जा रही है। ऐसा क्यों ? क्या मुकुट को खराब करना है ? खराब नहीं, पवित्र बनाया जा रहा है। अपने आप को उपकृत किया जा रहा है। तीन लोक के नाथ हैं ये। वह अपने परिवार को साथ लेकर आज्ञा देता है। यहाँ पर कुछ नहीं बोलें, जैसा संकेत देते हैं, उसके अनुसार करते चले जाना है। हाँ! भगवान् यद्यपि नाराज नहीं होने वाले, यह ध्यान रखना, लेकिन यह कर्त्तव्य है कि अपने आपके सम्यग्दर्शन को मलीन न बनायें।

तीन लोक के नाथ, कैसी आज्ञा और कैसा मार्ग ? यह समझ में नहीं आता। आज नवजात शिशु और उसके गन्धोदक को ऐसे पकड़ते हैं, जैसे बहुमूल्य वस्तु हो। यदि आपके हाथ में वह है तो यूँ-यूँ करके लगा लिया। धो नहीं लिया, अपितु बड़े आदर से लगाना चाहिए। उन्होंने रत्न के पिटारे में उस गन्धोदक को रखा। महापुराण में बहुत बढ़िया वर्णन किया है। यह अभी शिशु है, और इस गन्धोदक को स्वर्ग ले गये–

निर्मलं निर्मलीकरणं, पवित्रं पापनाशनम्।
जिनगन्धोदकं वन्दे, कर्माष्टकविनाशनम्॥

स्वयं पवित्र है और दूसरों को पवित्र बना देता है। निर्मल है, निर्मल बना देता है। पापकर्म विनाशक है। महाराज, कहाँ से कहाँ आ रहे हैं आप। इसके पीछे आज्ञा चल रही है, यह कह रहा हूँ। **आज्ञा संयम के लिए परम अनिवार्य है। संयम का बंधन बिना आज्ञा के संभव नहीं हो सकता। जब तक आज्ञा-सम्यक्त्व नहीं होगा, हमारा चारित्र चारित्र की संज्ञा नहीं पा सकता।**

अज्ञानपूर्वक आचरण का निषेध करने के लिये चारित्र के पीछे सम्यक्त्व यह विशेषण लगाया गया है। और सम्यग्ज्ञान के बाद चारित्र का नम्बर है। यह पूज्यपाद स्वामी ने कहा है। मैंने अपनी तरफ से यह नहीं रखा। भगवान् की आज्ञा है, चारित्र बाद में है। वह भले ही साक्षात् मुक्ति का कारण है। लेकिन सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान का पूर्व में सपोटर होना अनिवार्य है। और इसके बिना वह चारित्र चारित्र नहीं माना जा सकता, यह भगवान् की आज्ञा है। दो सागर की आयु को प्राप्त करने वाला वह सौधर्म इन्द्र कहता है, नहीं। यह शिशु नहीं। यह हमारे लिए गुरु है। और हम इसके शिष्य हैं। भगवान् की आज्ञा है। राजकुमार को मन्त्री वगैरह विशेष रूप से अभिवादन करते हैं। क्योंकि राजकुमार ही हमारे लिए भावी राजा हैं। यह क्यों ? राजा के प्रति बहुमान है तो राजकुमार के प्रति भी बहुमान है। आज्ञा के माध्यम से ही संयम असंख्यात गुणी निर्जरा के लिए कारण हो सकता है।

तो वहाँ पूछने की कोई आवश्यकता नहीं, सारे के सारे लोग ऐसे व्यस्त हो गये हैं, ऐसे व्यस्त हो गये हैं, कि आठ दिन कैसे निकले, पता नहीं। और वह भी २४ घंटा जागरण के साथ। कोई भजन में, कोई कीर्तन में, कोई स्तुति में, कोई जाप में, कोई नृत्य में एक के बाद एक समय का उपयोग किया जा रहा है। प्रश्नमंच है, इष्टोपदेश है, फिर तत्त्वार्थसूत्र है, फिर बाद में और। भक्तामर बीच में है और तत्त्वार्थसूत्र है। शंका-समाधान है। सबका समय निकल रहा है। लेकिन जैसे चोर का समय रात में नहीं निकलता, चाँदनी के समय पर। उसी प्रकार वह असंयमी, वह पाप का समर्थक, असंयम का समर्थक असंयम में ऐसा डूबा हुआ है जबकि देव भी जहाँ पर संयम, व्रत का अनुभव करते हैं, इन दिनों में। किन्तु इसका क्या ठिकाना ? कुछ भी नहीं। चोरी-छिपे वह काम कर गया और राजा के सामने जो व्यक्ति नियुक्त किया गया था, बोला-महाराज! विशेष केस है। अतः विशेष आज्ञा की आवश्यकता है। लेकिन महाराज! Extra Ordinary का मतलब क्या होता है बताओ, घबरा रहे हो क्या ?

नहीं, महाराज! लेकिन Exception अपवाद भी आवश्यक होता है। उसकी व्यवस्था अलग से होना चाहिए। यह कॉमन नहीं है, महाराज। कॉमन नहीं है, तो फिर क्या है ? कौन सा मेन है और कौन सा मेन कॉमन नहीं है ? महाराज, कैसे कहें ? कहो...कहो, डरो नहीं ? इतना समय खर्च नहीं करते। जब गरम होकर कह दिया। महाराज, अब क्या कह दें ? हम अपनी तरफ से कुछ नहीं कह रहे हैं, किन्तु उनकी तरफ से ही कहा जा रहा है, महाराज। बोला क्या है ? कौन है वह? महाराज...। क्या कण्ठ में गड़बड़ हो रहा है ? गड़बड़ तो कुछ नहीं महाराज, किन्तु राजकुमार...।

राजकुमार कहाँ है ? उसको यहाँ पाँच मिनट में लाकर समाप्त कर दो। उसने ऐसा अपराध किया। जाओ... बस यमपाल चाण्डाल के पास जाओ। राजा की आज्ञा है, वह चला गया। यमपाल से जाकर कहा। यमपाल स्वयं उपस्थित होकर हाथ जोड़कर खड़ा होता है-मैंने संकल्प लिया है महाराज! जो आपका अनन्य भक्त है, अनन्य शिष्य, अनन्य सेवक है, वह आपकी आज्ञा मानने के लिये तैयार नहीं है। यह कहने वाला कौन होता है यमपाल ? ध्यान रखना, हम यहाँ पालन भी करते हैं और यमलोक भी पहुँचा सकते हैं। उसको और राजकुमार, दोनों को बोरी में बन्द कर, भिन्न-भिन्न बोरी में अच्छे ढंग से बांधकर मन्दिर के सामने वाले तालाब में, जिसमें असंख्य मगर-मच्छ हैं, सर्प हैं, पटक देना। यह ध्यान रखना, कोई किसी से कुछ भी बात नहीं करेगा। यह कार्य करके आना।

जैसी आपकी आज्ञा। राजा के नियम का उल्लंघन करना भी प्रजा के लिए अभिशाप सिद्ध होता है। क्योंकि **विधि-विधान/संविधान का उल्लंघन एक प्रकार से महान् आपत्तिजनक हुआ करता है। आज्ञा के माध्यम से ही शासन सुचारु रूप से चलता है। जिसके माध्यम से स्व**

और पर का जीवन संरक्षित होता है, हजारों, लाखों, करोड़ों जनता का उसी में हित निहित रहता है।

अनुशासनबद्ध नहीं रहेगा, तो काम नहीं चलेगा। इसलिए राजा-महाराजा जो क्षत्रिय होते हैं, उनको इतनी जल्दी मुक्ति मिल जाती है कि बैठने की ही देरी होती है, और बनिया के लिये कुछ देर लग जाती है। ऐसा क्यों ? वह तराजू इधर-उधर देखता रहता है, इसलिए ऐसा होता है। दुकानदार एक तरफ ऊपर देख रहा है। वह क्या देखता है, मालूम है आपको ? ग्राहक कैसा क्या कर रहा है? इसको देखता रहता है। इसलिए इनको क्षपकश्रेणी आरूढ़ होने में कुछ देर लगती है। और क्षत्रियों के लिये, उनका तो कोई तराजू रहता ही नहीं, उन्होंने शस्त्र हाथ से रखा ही नहीं, बस बैठ गये। इनके लिये बहुत सारे सामान हैं ना, लेन-देन बहुत रहता है। उनके यहाँ कोई लेन-देन नहीं है। न दुकान है, न मकान। लेकिन यह ध्यान रखना, दुकान में कैसा कार्य होता है ? सारा का सारा ज्ञात होता रहता है। एवन् वस्तु पहले यहाँ पर भंडार में लाईये। ध्यान रखना, कोई गड़बड़ हो जाय, तो। महाराज! हम थोड़ा-बहुत रख लेते हैं, बाकी सब आपका ही है। हाँ, ठीक है। ऐसा चलता है। महाराज! ये सब आपका ही है। हम भी आपके, ये सब भी आपका है। बस मेहरबानी बनी रहे, कृपादृष्टि बनी रहे और कुछ नहीं। महाराज, यदि ऐसा राजा नहीं होगा, तो प्रजा का जीवन खतरे में आ गया। धर्मध्यान कर रहे हैं, यहाँ बैठे-बैठे। यह ध्यान रखना, **यदि वहाँ पर शासन ढीला हो जायेगा, तो यहाँ आप पालथी मारकर धर्म की बात भी नहीं कर सकते। बिल्कुल चुप बैठ जाना होगा। कहाँ पर बैठ जायेंगे? पता नहीं चलेगा।** जिस समय ऐसा शासन चलता था, उस समय बाहर निकलना मुश्किल होता था। इसलिए चैत्यालय आदि की व्यवस्था भी होती चली गई। घर-घर में मन्दिर होते चले गये।

महाराष्ट्र में कुछ दिनों पहले देखा था, प्रत्येक घर में मूर्तियाँ हैं। क्यों ? बाहर नहीं निकल सकते। बाहर निकल गये, मन्दिर के लिये भी चले जायें, तो मुश्किल हो जाता था। तोड़फोड़, भगवान् का भी खंडन-मंडन हो जाता। ऐसा क्यों होता ? जैसा राज्य, उसी के अनुसार वातावरण बन जाता है। कोई पूछताछ नहीं कर सकता। और कोई पूछताछ कर ले तो उसका सम्यग्दर्शन और व्रतों का पालन भी समाप्त हो जाता है, ऐसी दशा रहती है।

तो ऐसा ही किया गया। दोनों को बोरी में बांध दिया गया। कई लोग कहने लगे कि, राजकुमार को भी, हाँ। नहीं...नहीं तो आपको भी। राजकुमार को भी एक बोरी में अच्छा पैक कर दिया गया। एक बोरी में यमपाल चाण्डाल को बंद कर दिया गया और जाकर बीचों-बीच में उसको पटक दिया गया। अब क्या होगा... अब क्या होगा ? निकालने का कोई सवाल ही नहीं उठता।

निकालने की चर्चा भी कर लें, तो फिर देख लो। यह कैसा राजा होगा ? राजकुमार का पालन किया जा रहा है और उत्तरदायित्व भी उसी के कंधों पर रखना है। तिलक लगाना ही शेष था। किन्तु दिन पूरे हो चुके हैं। दूसरा कोई राजकुमार नहीं है। यहाँ पर तख्त, अरे तख्त पर बैठने के लिए ताकत की भी आवश्यकता है और उस ताकत को अर्जन करने के लिये समय भी आपेक्षित है। वस्तु चीजों की आवश्यकता होती है। तख्त खाली पड़ जाय, इसकी कोई चिन्ता नहीं। लेकिन तख्त पर कोई गलत व्यक्तित्व न चला जाय, इसकी चिन्ता रखनी चाहिए, राजा-महाराज को। तभी जनता का संरक्षण संभव है। हमारे कुल में और उनके कुल में, यह हमारा-तुम्हारा सब गड़बड़ है। तव-मम, तव-मम, यह परिग्रह बुद्धि मानी जाती है। आश्चर्य की बात तो यह है कि एक बोरी तो कहाँ चली गई। पता नहीं। और एक बोरी खाली होकर, अपने आप ही सब टूट-टाट कर वह ऊपर आ गई। और एक कमल, स्वर्णिम कमल, जो कि सहस्त्रदल पांखुडियों से युक्त है, उसकी कर्णिका अलग, उसकी नाल-मृणाल अलग है, पांखुड़ियां पूरी-पूरी खिली हुई हैं, उसके ऊपर एक चांदी का बढ़िया सिंहासन। क्योंकि स्वर्णिम कमल पर चांदी का सिंहासन बहुत अच्छा लगता है। चांदी के सिंहासन के ऊपर एक और आसन है और उसके ऊपर वह। वह कौन मूंछों वाला ? उसमें कोई परिवर्तन तो आयेगा नहीं। वह वही व्यक्तित्व, अच्छा जो है। पृथ्वीराज चौहान से भी बढ़कर बढ़िया मूंछे हैं, गलमूंछ जिसको बोलना चाहिए, कान तक पहुँच गये हैं।

जब हम गणित पढ़ते थे, उस समय ब्रेकिट ३-४ प्रकार के थे। उसमें एक मूंछों वाला ब्रेकिट होता था। उसी प्रकार की मूंछों वाला यमपाल चाण्डाल उनके सामने कमल के ऊपर आसीन हो गया और देवगण आकर उसकी परिक्रमा लगाना प्रारम्भ कर देते हैं। आरती उतारना प्रारम्भ हो जाता है। कौन सौभाग्यशाली आरती उतारे ? उस यमपाल चाण्डाल की आरती उतारने, बोलने वाला भी सौभाग्यशाली है। आरती बोलने वाला भी धन्य है। क्योंकि देव साक्षी हैं, वहाँ पर। देखकर के लगता है, यह क्या होने लगा ? जिन्होंने पटकने की आज्ञा दी थी, वह सब डर गये। अब यमपाल चाण्डाल हमारी ओर देखेगा, तो हमारा क्या होगा ? क्या पता। यदि इनको भी बोरे में बंद करके इसी तालाब में पटक दो, ऐसा कह देगा तो। कुछ तो एकदम चले गये। महाराज, आपकी आज्ञा का उल्लंघन। उल्लंघन तो कइयों ने किया, महाराज पता नहीं लग रहा है। क्योंकि भीड़ आ गई। पता नहीं ऐसी भीड़ है कि यमपाल चाण्डाल को सिंहासन पर बैठाया। महाराज, जिसको आपने मारने की आज्ञा दी थी, डुबाने के लिए आज्ञा दी थी। राजा की आज्ञा का उल्लंघन करने वाला महा-अपराधी पापी है। महाराज, बड़ा विचित्र लग रहा है। हम लोगों का भविष्य अब आपकी छत्र-छाया में है। हमारा संरक्षण, संरक्षण था, लेकिन अब गड़बड़ा गया है। आज कौन सी तिथि है ? महाराज, पता नहीं। सुबह से ही आज्ञा का उल्लंघन प्रारम्भ हो गया। राजकुमार ने आज्ञा का उल्लंघन किया।

यमपाल चाण्डाल ने आज्ञा का उल्लंघन किया। लेकिन यह महान् व्यक्ति आज वहाँ बहुत सारी भीड़ में है। महाराज, वह हमारी ओर देख तक नहीं रहा। उसकी तो लोग स्तुति कर रहे हैं। ऐसे-ऐसे पुष्प हैं महाराज, ऐसे पुष्प हैं, जो आपको भी नहीं मिलते। महाराज कौन से बगीचे से लिये गये होंगे ? महाराज, वह आरती भी कुछ अलग ढंग की है। दिव्य नृत्य है महाराज। ऐसा नृत्य हमने अन्यत्र कहीं नहीं देखा। लेकिन आपको बताने के लिये आये हैं। हमने आपकी आज्ञा का पालन तो कर दिया, लेकिन...। क्या हुआ, क्या बताएं ? महाराज, आप स्वयं वहाँ आ सकते हैं और देख सकते हैं, जो कुछ वहाँ हो रहा है। पर्व के दिन हैं। मन्दिर खाली हो गये। सब के सब देखने के लिए मन्दिर को छोड़ सकते हैं। राजा की आज्ञा का उल्लंघन कर दिया, चलो... सारी की सारी भीड़, केवल वेदी में भगवान् मात्र बैठे हैं, सब वहाँ पर चले गये। वहाँ पर देवों की संख्या इतनी है कि सब वह तालाब जैसा भी नहीं लग रहा है। ऐसा लग रहा है कि हम भी जाकर उसी में मिल जायें। लेकिन राजा की आज्ञा के बिना हम कैसे मिल सकते हैं। राजा ने कहा-यह क्या हुआ ? मंत्री ने कहा-महाराज, स्थिति यह है कि राजकुमार का कोई पता नहीं और वह यमपाल चाण्डाल वहाँ बैठा है। हम बोल नहीं सकते, इनके सामने। यमपाल चाण्डाल को एकाएक इतना वैभव कहाँ से आ गया महाराज, पता नहीं?

राजा धर्मनिष्ठ था। राजा अहिंसा का पालन करने वाला था। राजा रत्नत्रय की आराधना का लक्ष्य बनाये था। प्रजा का पालन करने के लिये ही राज दरबार में सिंहासन पर बैठता था। उसको हुकूमत देने में आनन्द का अनुभव होता हो, ऐसा नहीं। वह मात्र कर्त्तव्य का पालन करने वाला था। उसने देखा-यह यमपाल चाण्डाल, और इसकी आरती उतारी जा रही है, इसलिए कि इसने अहिंसा का पालन किया है। क्योंकि यह आठ दिन तक किसी की हत्या नहीं कर रहा था। पाप नहीं करूँगा, कोई आ जाय और वैसे ही एक प्रकार से चौदस इत्यादि के दिन उसका जीवन पर्यन्त के लिए त्याग है। इसलिए यह किसी की बात को सुनेगा नहीं। राजा की आज्ञा मिलने के उपरांत, जो उसका अनुपालन करता है, उसके लिये मालामाल कर दिया जाता है। पैसा मिलता है। कितना ? जिसका कोई ठिकाना नहीं रहता। केवल राजप्रिय बनना अनिवार्य होता है, आज्ञा का अनुकरण करना अनिवार्य होता है। लेकिन यह अहिंसा का महान् रूप से पालन करने वाला है। इसलिए इसकी देवों के द्वारा पूजा हो रही है।

जब तक अहिंसा महाव्रत का संकल्प लेने के लिए तैयार नहीं होता, तब तक मुनि बनाना कोई भी स्वीकार नहीं करता। तीर्थंकर भी जब तक महाव्रती नहीं होते, तब तक मनःपर्ययज्ञान प्राप्त नहीं होता। अवधिज्ञान तो घर में भी था। अनुगामी होकर आ गया था, छाया की भांति। सर्वार्थसिद्धि से आये थे आदिनाथ भगवान्। अनुगामी अवधिज्ञान वहीं से लेकर के आये थे। लेकिन जब तक ८४

लाख पूर्व में से ८३ लाख पूर्व पूरे नहीं हुए, तब तक मनःपर्ययज्ञान नहीं हुआ। मन था कि नहीं ? उनके पास मन तो था। तो मनःपर्ययज्ञान हो जाय ? मन नहीं था तो बात अलग थी। क्या उन्हें तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं हो रहा था ? हो तो रहा था। अवधिज्ञान भी था, पर मनःपर्ययज्ञान नहीं हुआ। परमावधि क्यों नहीं हो गया ? सर्वावधि क्यों नहीं हो गया ? मनःपर्ययज्ञान क्यों नहीं हो गया? उत्कृष्ट होना चाहिए था ? नहीं हो सकता। क्यों ? **छठवें-सातवें गुणस्थान रूप संयम की भूमिका के बिना अवधिज्ञान, परमावधिज्ञान और सर्वावधिज्ञान के रूप में परिवर्तित नहीं हो सकता और मनःपर्ययज्ञान प्राप्त ही नहीं हो सकता। क्योंकि असंयममार्गणा में यह संभव नहीं है।**

तीर्थंकर भी क्यों न हों, घर में रहने वाली धोती-कुर्ते में रहने वाले तीर्थंकर भी क्यों न हों, लेकिन जो आगम को रखने वाले हैं, आगम किसी के घर की बात नहीं रखना चाहता, आगम के अनुसार चलना पड़ेगा। तीर्थंकर हो और तीर्थंकरों के भाई भी क्यों न हों, और पिता जी भी क्यों न हों, यह निश्चित बात है, कि आगम के सामने किसी का कुछ नहीं चलेगा। राजा हो या महाराजा हो, न्याय के सामने वह भी एक मेम्बर के अनुरूप है। उसको यदि वह अपने घर का बना लेगा, तो वहाँ से वह निकाल दिया जावेगा। राजा ने कहा- इन्हें प्रताप प्राप्त क्यों हुआ ? इन्होंने अहिंसा संयम का पालन किया। वह एक दिन हो या एक घंटा हो। एक घड़ी हो या एक मिनट भी क्यों न हो। वह संयम तो संयम माना जाता है। मन से, वचन से और काय से क्षमा करना हमने आपके लिए आज्ञा दी। वह कहता है-आपका कर्त्तव्य था। आप यदि आज्ञा नहीं देते तो वे देव लोग नहीं आते। ये देव तब आते हैं, जब हम संयम पालन करते हैं। धर्म का पालन तो सब लोग करते हैं। लेकिन वह आस्था के साथ होना चाहिए। सम्यग्दर्शन कितना अटूट है। यदि सम्यग्दर्शन के बिना संकल्प लिया होता, तो देव तीन काल में नहीं आ सकते। क्योंकि वे जानते हैं, कि इसकी आस्था कैसी है? यह संयम आस्था या सम्यग्दर्शन के साथ चल रहा है। इसलिए इसको दिव्यपूजा उपलब्ध हो गई। और पंचाश्चर्य हो गये। उसके सामने सब लोग देखते रह गये। राजा ने भी हाथ जोड़ लिये। जैसा यमपाल चाण्डाल आकर हमेशा राजा के सामने हाथ जोड़ता था। अब वह उसके सामने हाथ जोड़ रहे हैं।

धन्य है, हमारा राज्य। धन्य है हमारा राष्ट्र। धन्य है यह धरती और धन्य है यह सब कुछ, जो स्वर्ग से देव आकर अहिंसा की महिमा गा रहे हैं। और गाकर आप लोगों को दिखा रहे हैं। सुना रहे हैं। जब देव साक्षी हो जाते हैं तो फिर किसी अन्य की साक्षी देने की आवश्यकता नहीं रहती। राजा सोचने लगा, यमपाल चाण्डाल कहीं ऐसा न हो, हमने आज्ञा का उल्लंघन करने पर इसको मरवाने के लिए आज्ञा दी थी, अतः यह कहे कि यह राजा निकृष्ट परिणाम वाला है। मैं धर्म का

पालन करना चाहता था और उसने मेरे लिए मौत के घाट उतारने के लिए आज्ञा दी। इनको छोड़ो नहीं, ऐसा कह देगा, तो क्या होगा ? यमपाल चाण्डाल कहता है—मैं ऐसा कैसे कह सकता हूँ ? मैं कहूँगा नहीं। आपने गलती की ही नहीं, तो क्यों कहूँगा ? और जिसने गलती की थी, उसको तो दण्ड देने की कोई आवश्यकता नहीं। इसलिए नहीं, कि इतने सारे देवों ने राजकुमार को क्यों नहीं बचाया ? जबकि वह राजा का लड़का था। राजकुमार था। और राजा ही बनने वाला था। उसकी रक्षा देवों ने क्यों नहीं की ? उसकी आरती क्यों नहीं की ? यमपाल चाण्डाल की तो हम कर सकते हैं। लेकिन राजकुमार की हम आरती नहीं उतार सकते। दक्षिण में या महाराष्ट्र में कहावत है—रूप राजा था। नहीं समझे, रूप तो राजा का है, लेकिन गुण जो हैं ना, वह महानिकृष्ट। उनके पास गुण ही नहीं। ऐसा रूप लेकर के क्या करना ? और मूछों वाले यमपाल का रूप यद्यपि काला है। लेकिन काला होकर भी वह पूज्य बना। फिर काले से क्या होता है ? वह शरीरनामकर्म का उदय है। वर्ण का एक भेद काला भी आता है। धवल भी आता है। पीला भी आता है। भगवान् नेमिनाथ भी काले थे। पार्श्वनाथ भगवान् भी काले थे। नारायण जितने होते हैं, वे प्रायः करके इसी रंग के होते हैं। वह भी एक बढ़िया चमक को लिए हुए शरीर वाले होते हैं।

यह रंग तो रंग है। पुद्गल की परिणतियाँ हैं। उससे क्या होता है ? लेकिन **हृदय में धर्म के प्रति आस्था के भाव हमेशा शुक्ल होना चाहिए।** भावों की परिणति की ओर देखो। राजा ने उनको नमस्कार किया और चाण्डाल ने उनको गले लगाकर कहा—इसमें आपका कोई दोष नहीं। अब वह चाण्डाल यमपाल नहीं रहा। उसके लिए विशेष प्रमोशन हो गया। अरे, राजकुमार के स्थान पर यही तो राजा बनेगा। इसमें संदेह नहीं है। इस प्रकार हमारे राजकुल में कोई व्यक्ति रहेगा, तो निश्चित रूप से प्रजा का कल्याण होगा। जो व्यक्ति अहिंसा के लिए तैयार हो गया। जैसी आपकी आज्ञा, मैं मरने के लिए तैयार हूँ। लेकिन मैं मारने के लिए तैयार नहीं हूँ।

आज संयम का दिन है। प्रसंग बहुत अच्छा जुट गया है। आज ऐसे-ऐसे निरपराध पशुओं के ऊपर, जिनमें धर्म के प्रति आस्था भी संभव है, आप लोगों ने कोई उपकार नहीं किया। उनको मौत के घाट उतारते हुए आप लोग देख रहे हैं, परन्तु कोई व्यक्ति भी आगे-पीछे नहीं दिख रहा है, इनको बचाने के लिए। जवान पाडों को, जवान बैलों को, जवान गायों को और जवान प्राणियों को लेकर के एक साथ कत्लखाने के सामने खड़ाकर दिया जाता है। जिस प्रकार एक पिस्तौल के माध्यम से अनेकों को उड़ाया जाता है, उसी प्रकार पाँच मिनट की देरी भी नहीं लगती और एक साथ हजारों पशु समाप्त हो जाते हैं। आप लोग बहुत महान् माने जा रहे हैं। क्या आपको पता है, एक दिन आप लोगों के पाप की उदीरणा होगी। क्योंकि सामूहिक हत्या का एक न एक दिन समय आता है। और उस समय इसका कोप, इसका फल भोगना पड़ सकता है। डायरेक्ट या इनडायरेक्ट,

सब लोग उसके समर्थक सिद्ध हो रहे हैं। निरपराधी को इस प्रकार का दण्ड देना, यह कौन सा लोकतंत्र है, हमें समझ में नहीं आता ? दण्डसंहिता तो होनी चाहिए। लेकिन अपराध के लिए दण्डसंहिता होनी चाहिए। इन्होंने कुछ भी नहीं किया। यह शरीर पृथ्वी के लिए भारमय है, ऐसी कई लोगों की धारणा है। प्रचार-प्रसार भी किया जा रहा है। ये धरती पर भारमय हैं। ये खर्चा के घर हैं। कितनी गलत बात है।

पशु कभी भी धरती के लिए भारमय नहीं हुए। आप लोगों के लिए भारमय नहीं। हाँ, आप लोगों को लगता है। उनका तो कभी भी, किसी भी प्रकार से उपयोग किया जा सकता है। जब तक वे जीवित हैं, तब तक वह निश्चित रूप से जितना खाते हैं, उससे भी बढ़कर वे खाद देते हैं, आप लोगों को। आज वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि जिस खाद के माध्यम से आज फसल लेते हैं, उसके सामने गाय-भैंस या बैलों की खाद के माध्यम से आने वाली फसल अच्छी आती है। धान्य की पोटेंसी-शक्त्यंश और इस धान्य की पोटेंसी, दोनों की तुलना करने से, बताया जा रहा है, ये बहुत गुणकारी है। इसके अलावा वर्तमान में जो रासायनिक खाद है, वह पृथ्वी को, जमीन को जलाने लगी है। जैसे एटमबम के माध्यम से मिट्टी जल जाती है, तो वहाँ पर अंकुर उत्पन्न नहीं होता। उसी प्रकार आठ-दस साल इस खाद का प्रयोग कर दिया जाता है तो ..... इसको बताने की कोई आवश्यकता नहीं। आज सांगली जिला, कोल्हापुर जिला और जो बड़े-बड़े जिला हैं, उनमें हजारों एकड़ों की काली मिट्टी, जो भारत वर्ष में बहुत प्रसिद्ध मिट्टी मानी जाती है, वहाँ का गन्ना प्रसिद्ध क्वालिटी का गन्ना होता है। एक-एक एकड़ में भी अस्सी हजार से भी बढ़कर गन्ने का उत्पादन करने वाला यह क्षेत्र माना जाता है। अब तो और भी बढ़ गया होगा। लेकिन वहाँ पर आज एक अंकुर नहीं आ रहा है। हाँ, ये (अन्य महाराज की ओर इशारा) कह रहे हैं। अभी जाकर आये हैं। बाहुबली भगवान् की यात्रा और मस्तकाभिषेक देखकर आये हैं। बीच-बीच में सब क्षेत्रों को देखते आये हैं। उस एरिया में एक एकड़ में १३५ टन उत्पादन होता था। १३५ टन का अर्थ होता है एक प्रकार से, एक लाख पैंतीस हजार किलो नेट। मारुति में घूमता है वहाँ का किसान। काम तो खेती का करेगा, लेकिन मारुति लेकर जाता है, जिस किसान के पास चार-पाँच एकड़ है। दस-बीस एकड़ हो, तो फिर कहना ही क्या ? सौधर्म इन्द्र जैसा घूमने लग जाता है।

क्या कह रहा था मैं। यह कह रहा था, कि आज यह विज्ञान का युग कहाँ से आ गया ? कुछ समझ में नहीं आता। धरती को भी वह समाप्त किये दे रहा है। हजारों एकड़ की जमीन, सब नष्ट-भ्रष्ट हो गई। खूबी यह है, कि वह जमीन मेनरोड पर हो, तो भवन के निर्माण योग्य भी नहीं रहती। क्षार-क्षारमय हो गयी है। वहाँ पर फाउण्डेशन भी ठीक नहीं बैठता। संभव है लोहे का फाउण्डेशन भी रखेंगे, तो वह गल जावेगा। इतना क्षार का निर्माण हो चुका है। यह सब इस खाद

का परिणाम है। जबकि गाय-भैंस की खाद का प्रयोग से धरती कोमल और एक प्रकार से कुमकुमवत् बन जाती है। उसमें जितनी चाहो उतनी फसल ले सकते हैं। उसकी उम्र भी दस-बीस वर्ष बढ़ जाती है। यह सब आज के विज्ञान के युग में अन्याय होता चला जा रहा है। उस फसल के रंग और इस फसल के रंग के बारे में भी पूछा गया, तो काफी अन्तर पाया गया। एक आम का वृक्ष है, आधुनिक रासायनिक खाद के माध्यम से खड़ा है, और एक आम का वृक्ष है जो इधर खड़ा है। दोनों को देखा जाये, तो एक टी.बी. का मरीज है और एक हृष्ट-पुष्ट है। ऐसा क्यों ? फल तो यह भी देता है और यह भी देता है। यह बिल्कुल हरा-भरा, अलग ही रंग को लेकर रहता है।

इस प्रकार पर्यावरण प्रदूषण के लिए सबसे ज्यादा खतरनाक आज की खाद सिद्ध हो रही है। वह जितनी भी उपजाऊ जमीन है, सबको अपनी चपेट में ले रही है। सबसे ज्यादा पर्यावरण का दोष इन खादों के माध्यम से आ रहा है। इनमें जो पानी चला जाता है, वह क्षार हो जाता है। धरती बिल्कुल सूखकर लकड़ी के समान, पत्थर के समान हो जाती है। यह स्थिति देखकर कई लोग कह रहे हैं—उधर के लोग इस बात को जानकर इसका प्रयोग बिल्कुल बंद कर दिये हैं। लेकिन भारत नहीं मान रहा है। भारत फिर भी अनुबन्ध के साथ चल रहा है। रासायनिक प्रक्रिया से यह सब गड़बड़ झाला है। जिस देश की कृषि समाप्त हो जायेगी, उस देश की सबसे ज्यादा बुरी दशा होगी। वह एक-एक दाने के लिए मुँहताज हो जायेगा। पैसे और सोने के द्वारा कुछ नहीं होने वाला, यह ध्यान रखना। कोई इस ओर भी नहीं देख रहा है, जो निरपराध प्राणी हैं, उनको काटकर, मारकर, उनके मांस को निर्यात किया जा रहा है। और बदले में मात्र कुछ राशि लेकर के आ रहे हैं। इसके साथ वहाँ से गोबर खरीद करके ला रहे हैं। अब सोचने की बात है, आज के राजा, महाराज व नेता, इन लोगों से कौन कहने वाला है ? क्या आप लोग कहते नहीं ? सोचना चाहिए। इससे बड़ी हानि हो रही है। दया तो चली गई। लेकिन जो दया का पालन करने वाले हैं, उनके लिए भी बड़ी समस्या आ सकती है। यहाँ का पर्यावरण बिल्कुल दूषित हो जायेगा। यह जो खाद डाली जा रही है, इससे पानी के सतह/स्तर में भी बहुत गड़बड़ी आ गयी है। पर संभव है, एक दिन जब फसल नहीं खड़ी होगी, उस समय भारत क्या करेगा ? विदेश से गोबर ले आयेंगे, विदेश से खाद ले आयेंगे, विदेश से ही बीज ले आयेंगे।

जब छठवां काल का अन्त आयेगा उस समय ४१ दिन तक प्रलय होगा। सात-सात दिन तक अग्नि, पत्थर आदि की वर्षा होगी। लगता है उस प्रलय काल के पूर्व लक्षण दिखने लगे हैं। पर्यावरण जब दूषित हो जायेगा, उस समय आप क्या करेंगे आज आप जो खा रहे हैं, सब दूषित होता जा रहा है। रोगनिवारण की दवायें बनाते जा रहे हैं, लेकिन रोग उत्पन्न क्यों हो रहे हैं इस ओर

किसी की भी दृष्टि नहीं है। मूल की ओर देखो, चूल की ओर दृष्टि क्यों रखते हैं मूल के आश्रय से ही चूल रहता है।

आप लोग संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य है और आपके इस वतन में आपके समान संज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणी का वध किया जा रहा है। उसको आप लोग नहीं देख रहे हैं। उसका आप समर्थन करते जा रहे हैं। क्योंकि आप अपना समर्थन रूपी वोट देखकर सपोट कर रहे हैं। वे समर्थन जुटाकर अपने स्वार्थ की सिद्धि करें, यह ठीक नहीं है। पहले उद्योगी हिंसा का निषेध किया जाता था। लेकिन आज तो हिंसा का ही उद्योग होने लगा है। इस हिंसा के उद्योग को रोकने के लिए आन्दोलन होना चाहिए। आन्दोलन हो, लेकिन वह भी शान्ति के साथ हो। हम अहिंसा की बात उन तक पहुँचाना चाहते हैं।

भारतीय संस्कृति में गाय को गौमाता कहा जाता है। आज उसी गौमाता का वध भारत की धरती पर हो रहा है। उसके मांस को विदेशों में भेजा जा रहा है। जिस गाय के गोबर को अपने आंगन में लीपते हैं, उसे अच्छा मानते हैं। वह गाय का मल तो है, लेकिन वह अछूता मल नहीं है, जैसा कि आप लोगों का मल होता है। एक लेख पढ़ा था, कि जहाँ पर गाय आदि को बांधा जाता है, उस स्थान पर यदि कुछ दिन टी.बी. के रोगी को रखा जाता है तो उसका रोग ठीक हो सकता है। एक छोटी सी राशि के लिए अपने गौधन का वध करते जा रहे हैं। सही धन है तो वह गौधन ही है। यह चेतनधन है। अचेतन धन के लिये संहार करना ठीक नहीं है। हमें प्रयास करना चाहिए और गौ वध को अतिशीघ्र रुकवाना चाहिए। अभी सुनने में आया है कि गुजरात सरकार ने अहमदाबाद शहर के जितने भी कत्लखाने हैं, उनको दशलक्षण पर्व के दिनों में बंद रखने का आदेश दिया है। आप लोगों को अपनी राज्य सरकार के सामने भी यह बात रखना चाहिए और निवेदन करना चाहिए कि दश दिनों के लिये यहाँ भी हिंसागृहों को बंद रखा जाये।

हमारे ये पर्व जीवरक्षा के पर्व होना चाहिए। मात्र गाने बजाने तक सीमित नहीं रहना चाहिए। पाँच पापों को रोकने का कार्य इन पर्व के माध्यम से होता है। अपना इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम रखते हुए जीवरक्षा की भी बात करना चाहिए। प्रयास करना चाहिए कि कोई भी जीव दुखी न रहे। क्योंकि सभी जीव जीने का अधिकार लेकर इस भूतल पर आते हैं। सभी को अभय मिले इसी भावना के साथ उत्तम संयमधर्म की जय...

❑ ❑ ❑

तप की महिमा

इसी संहनन के माध्यम से आर्तध्यान और रौद्रध्यान किया जाता है, तो आत्मा का अहित हो जाता है। और धर्मध्यान व शुक्लध्यान किया जाता है, तो आत्मा अन्तर्मुहूर्त में ऊपर उठ जाता है।

मोह के कारण वह शक्ति उत्पन्न नहीं हो पा रही है। और मोह जहाँ समाप्त कर दिया, बस फिर रास्ता चालू हो गया। ऐसा तप होता है।

जिस किसी को मोक्ष का लाभ हुआ, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र के द्वारा नहीं। यह बात सुनकर आप लोगों को आश्चर्य अथवा अटपटा-सा भी लग सकता है। इस बात का प्रवचनसार में भलीभांति अर्थात् बहुत अच्छे ढंग से स्पष्टीकरण दिया गया है। जीवन में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र जब तक रहेंगे, तब तक ना ही केवलज्ञान होने वाला है, और ना मुक्ति मिलने वाली है। कुछ समझ में नहीं आता, **सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः** कहा और मार्ग मंजिल तक पहुँचा देता है, ऐसा भी कहा गया है।

सूर्यप्रकाश के माध्यम से ही फसल खड़ी होती है। लेकिन ध्यान रहे, यदि सूर्य बालभानु के रूप में ही रहे, तो फसल कभी भी पकेगी नहीं। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र की फसल को पकाना अनिवार्य है। तभी वह मुक्ति प्रदान कर सकती है। और उसे पकाने का साधन यदि कोई है, तो वह है सम्यक् तप। इसलिए उसका रत्नत्रय से अलग कथन किया जाता है। और तप को मिलाने से सम्यग्दर्शन आराध्य बन जाता है, ज्ञान आराध्य बन जाता है, सम्यक्‌चारित्र आराध्य बन जाता है। यह तप की ही महिमा है। तीन के साथ सम्यग्दर्शन की आराधना नहीं कहलाती। सम्यग्ज्ञान की आराधना नहीं कहलाती। सम्यक्चारित्र की आराधना तब कहलाती है, जब उसके साथ तप जुड़ जाता है।

तप मूलगुण नहीं है। तप उत्तर गुण है। व्रत, संयम आदि ये सारे के सारे मूल गुण में आ जाते हैं। किन्तु तप जो है, वह उत्तरगुण के रूप में ही प्राप्त होता है। इसलिए सर्वप्रथम जब वैरागी को दीक्षित किया जाता है, उस समय तप नहीं दिये जाते, आचार दिया जाता है। दर्शनाचार, ज्ञानाचार, तपाचार। तप तो आ गया महाराज ? यह जो दिया गया है वह तप एक प्रकार से ठण्डा रहता है। जैसे सूर्य उदित हुआ तब तक बालभानु कहलाता है। कोई भी व्यक्ति आज तक ऐसा नहीं मिला अपने को, जो मध्याह्न काल के सूर्य को देखने के लिए दूर से आया हो। सनराइज और सनसेट अर्थात् सूर्योदय और सूर्यास्त को होते हुए तो बहुत लोग देखते हैं। कारण, दोनों वक्त वह बालभानु रहता है। जिस प्रकार बालक से आप नैसर्गिक रूप से प्यार करते हैं, वैसा ही प्रौढ़ होने पर कर

सकते हैं क्या? क्यों ? तो वह है ही नहीं प्यार करने योग्य। वह तो दुकान में बैठने योग्य है। इसी प्रकार जब दीक्षित हो जाता है, तो बालभानु की भांति दिखता है। इसलिए उस बालभानु के प्रकाश या आतप से कोई फसल तपती नहीं। जब तक प्रखर किरणों को बिखेरते हुए मध्याह्न नहीं होता, तब तक किसी प्रकार से भेद-विज्ञान की बात नहीं आती। ज्ञान में जो प्रखरता आती है, वह तप के बिना नहीं आती।

बहुत अन्तर होता है। **भेद का ज्ञान करना भी भेद-विज्ञान है। भेद करके जो ज्ञान होता है, वह भेदविज्ञान अलग क्वालिटी का होता है।** जिस प्रकार यह लोक तीन वलयों पर आधारित है। इसके भार का वहन वे वलय ही ढोते हैं। उनके माध्यम से इसकी सुरक्षा है। उसी प्रकार इस शरीर का कोई संरक्षण हो रहा है, तो वह भी तीन बातों के ऊपर आधारित है-वात, पित्त और कफ। किन्तु यह ध्यान रखना, वात, पित्त और कफ को सामंजस्य में, अनुपात से बनाये रखने का श्रेय यदि किसी को जाता है, तो उसको टेम्प्रेचर कहते हैं। वात, पित्त और कफ के माध्यम से चलते तो हैं। लेकिन यदि उसमें टेम्प्रेचर उष्मा नहीं रहेगी, तो आपका शरीर समाप्त हो जायेगा। जैसे-जैसे टेम्प्रेचर बढ़ने लग जाता है, वैसे-वैसे यह शरीर भी हिलने लग जाता है। जैसे-जैसे घटने लग जाता है वैसे-वैसे ठण्डा होता चला जाता है। बोलना समाप्त हो जाता है, जब टेम्प्रेचर डाउन होने लग जाता है। और ज्यादा बढ़ जाता है तो ज्यादा बोलने लग जाता है। एक ही बात है, वह समन्वय किसके माध्यम से बनेगा तो उष्मा के माध्यम से बनेगा।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र लेकर बैठे रहो, तप के बिना कोई कार्य नहीं होता।

तपसा निर्जरा च॥ तत्त्वार्थसूत्र - ९/३

तप के द्वारा निर्जरा का विकास होता है और जब तक निर्जरा तीव्रगति के साथ नहीं होती तब तक कार्य नहीं होता। मोक्ष प्राप्त करने से पूर्व जब केवलज्ञान को प्राप्त किया भगवान् ने, उस समय भी उन्होंने दो तप बहुत अच्छे ढंग से किये। पृथक्त्ववितर्कवीचार व एकत्ववितर्कअवीचार नामा, ये ध्यान तप के अन्तर्गत आ जाते हैं। **तप का उपसंहार ध्यान में हुआ करता है।** जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की बात तो करते हैं, लेकिन तप से दूर रहना चाहते हैं। उसके लिए कहा जाता है—तुम्हारा काम पूर्ण नहीं हो सकेगा। मनोरंजन नहीं है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, इन तीनों के माध्यम से आगे बढ़ना है।

युवराज को रणांगन में ले जाने का प्रयास किया जाता है। और युवराज, तो युवराज होता है। लेकिन फिर भी एकदम रणांगन में नहीं ले जाते। पहले अभ्यास कराते हैं। बाद में रणांगन में ले जाते

हैं। आगे-पीछे अंगरक्षक भी साथ होते हैं, उनको बचाने की अपेक्षा से, सुरक्षा की दृष्टि से, बीच में रखते हैं। लेकिन जब तक वह बीच में रहेगा युवराज कहलायेगा, राजा नहीं कहलायेगा। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को तुम रखते तो हो, लेकिन दहाड़ करके सामने नहीं आते, उससे कोई काम नहीं निकलने वाला। असंख्यातगुणी निर्जरा नहीं होने वाली। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को तुम रखते हो जो तीन रूप में हैं, उनको एकमेक बनाने का श्रेय यदि किसी को जाता है, तो वह तप आराधना को ही प्राप्त होता है। ये तब तक बने रहेंगे, जब तक तप उद्दीप्त नहीं होता।

मानलो, आप लोगों के यहाँ कोई खाद्य पदार्थ, मीठा पदार्थ बन रहा है। हलुआ कहो या सीरा। उसमें क्या-क्या डाला जाता है ? आटा रहता है, घी रहता है। और क्या रहता है ? बूरा रहता है। अब इन तीनों को रख दो। साथ में पानी भी चाहिए, पानी भी रख दो। आटा, बूरा, घी और पानी रख दो तो हलुआ बन जायेगा ? नहीं, जब तक अग्नि देवता की आराधना नहीं होगी, तब तक ये तीनों अभेद रूप चरितार्थ नहीं हो सकते। जिस समय तप की अग्नि उसमें लग जाती है तब कहीं से भी, किसी भी पार्ट से निकाल कर देख लो न आटा आयेगा, न घी आयेगा, न बूरा आयेगा। सभी रग-रग में एक ही रूप हो गये हैं। **तप एक प्रकार से रत्नत्रय को अभेद रूप प्रदान कर देता है। और अभेद रूप प्रदान करने से ही उस ज्ञान को विश्राम मिलता है।** नहीं तो कभी श्रद्धान की ओर लुढ़क जाता है, कभी अधिगम की ओर लुढ़क जाता है। कभी रागद्वेष छोड़ने की ओर लुढ़क जाता है। छोड़ना तो है, महाराज छोड़ना जब तक है, तब तक तप काम नहीं करता। सब कुछ छोड़ने के उपरान्त शान्ति से बैठे रहें। तप रूपी अग्नि में जब उसको तपाया जाता है, तब कहीं जाकर वह इस रूप में आता है।

अध्यात्मनिष्ठ योगियों के द्वारा यह जीव धनिक हो जाता है, यानि उसको तपाया जाता है। तप रूपी धौंकनी से ध्यानरूपी अग्नि में जीव रूपी लोह को रखकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी औषध जब लगाते हैं, उस समय वह कंचनवत् बन जाता है। खान में स्वर्णपाषाण है। लेकिन वह कंचन का रूप क्यों नहीं प्राप्त कर पा रहा है? जब तक अग्नि का योग नहीं पाता है।

इष्टोपदेश है ना, उसके दूसरे श्लोक में मंगलाचरण के उपरान्त योग्योपादान अर्थात् रत्नत्रय रूप स्वकाल माना है। अध्यात्म ग्रन्थों में भी द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव का कथन है। काल क्या है? आचार्य कहते हैं-स्वकाल तो इसी का नाम है। काल कहने से घड़ी की ओर मत देखो। काल कहने से स्वकाल अर्थात् रत्नत्रय आदिक की योग्यता, यही स्वकाल है। इसके माध्यम से ही वह स्वर्ण बनने वाला है, ऐसा सुनार जान लेता है। पाषाण का टुकड़ा, जो कि स्वर्णमय है। उसको दिया गया। तो यूँ करता है पहले, देख लेता है। इसमें पाँच तोला सोना है और जबकि वह आधा किलो का

पाषाण है। **आधा किलो स्वर्णपाषाण है, और इसमें इतना ही स्वर्ण है, यह भेद कैसे हो गया? यह ज्ञान कैसे हो गया ? तत्त्व का अभ्यास करने से। इसी प्रकार आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है, यह ज्ञान हो जाता है। लेकिन महसूस नहीं होता। इसको पृथक् करने की बात अलग है।** वह सुनार के पास नहीं है। अनुपात में जब अग्नि का ताप दिया जाता है, तब वह स्वर्ण निकल आता है। उसमें से जो निकलता है वह सोलहवानी का स्वर्ण माना जाता है। सोलह बार उस धौंकनी के द्वारा विधिवत् तपाया जाता है, तब वह सौ टंच सोना हो जाता है। उसमें एक भी बट्टा अब नहीं रहा। जिस प्रकार स्वर्ण सारी की सारी किट्टिमा-कालिमा से दूर होकर शुद्ध हो जाता है। इसी प्रकार–

पाषाणेषु यथा हेमं दुग्धमध्ये यथा घृतम्।
तिलमध्ये यथा तैलं देहमध्ये तथा शिवम्॥

क्या-क्या बातें कही गयीं हैं ? चार बातें कही हैं। जिस प्रकार पाषाण में हेम है। दूध में घी है। तिल में तैल है। उसी प्रकार इस देह में शिव यानि परमात्मतत्त्व है। लेकिन यह कहने मात्र से महसूस नहीं होता। दूध को चख लो, तो घी का स्वाद नहीं आता। दूध को सूंघ लो, तो घी की गन्ध नहीं आती। दूध को छू लो, तो घी का स्पर्श नहीं होता। दूध को देख लो, तो घी नहीं दिखता। अब क्या करें ? दूध को फेंक दें ? फेंको नहीं। इस प्रकार उसमें रहकर भी घी नहीं दिखता। मात्र आस्था की आँखों से देखने में आता है। और बच्चों को नहीं दिखता। कम से कम आठ वर्ष की उम्र हो जाय, तब जैसा माँ कहती है, वैसा श्रद्धान कर लेता है। हमें दूध नहीं चाहिए, ऐसा कहता है।

इसी प्रकार इस देह में आत्मतत्त्व–शिवतत्त्व है। उसका श्रद्धान किया जाता है। जिस प्रकार पाषाण में स्वर्ण का श्रद्धान किया जाता है। जैसे दूध में घी का श्रद्धान किया जाता है। इसी प्रकार दूध में घृत शक्ति रूप से विद्यमान है। क्योंकि उसके कुछ अलग लक्षण हैं। हम उसको एकदम हाथ डालकर निकालना चाहे, तो संभव नहीं हो सकता। कुछ लोग आठ-दस दिन प्रयास करते हैं, शिविर लगाते हैं, दशलक्षण पर्व का शिविर लग रहा है, चलो कुछ मिल जायेगा। उसके कुछ लक्षण तो आपको मिल सकते हैं। लेकिन प्रक्रिया की पूर्णता दस दिन में नहीं हो सकती। वैसे वह दस मुहूर्त में भी हो सकती है या अन्तर्मुहूर्त में भी हो सकती है और युगों-युगों तक बैठे रहो तो भी कुछ होने वाला नहीं है। कुछ लोग प्रतीक्षा में बैठे हैं, कि सम्यक् आराधना का उद्‌भव होने वाला है। कुछ लोग जीवन के अन्त में तप की आराधना करना चाहते हैं। अरे, यदि जीवन के अन्त में तप की आराधना करना चाहोगे, तो प्रखर सूर्य तो रहेगा नहीं। वही सनसेट वाली बात है। सनराइज वाली बात है। बीच में सन आता है, वह छोटा नहीं रहता। सन माने लड़का भी होता है। इसीलिये तो हमने कहा–जिस समय राइज होता है, उस समय लड़का ही रहता है। और इधर भी देखो क्षितिज पर, तो वही लड़का बालभानु है। उसकी सभी लोग प्रशंसा करते हैं। आरती जब कभी भी करेंगे, तो

उसी की करेंगे। हमने अभी तक मध्याह्न सूर्य को जलांजलि देने वाला कोई नहीं देखा। क्यों ? सही आराधना तो उनकी वही है, सुबह और शाम को देखो। सूर्य के पास क्या इतनी प्रखरता है ? क्या इतनी शक्ति है ? क्या इतना तेज है ? अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। गर्मी के दिनों की बात अलग है। छोटा-सा लगता है, लेकिन जैसे-जैसे सूर्य ऊपर चढ़ता जाता है, वैसे-वैसे कितना प्रखर होता जाता है। आचार्यों ने कहा–अपने तप को प्रखर बनाने के लिए क्या करना चाहिए ? इन्द्रिय-विषयों की ओर दृष्टि चली गई, ध्यान चला गया, तो उसको कैसे मोड़ दें ? जैसे प्रखर सूर्य की ओर भूल से मानो दृष्टि चली गई, तो यूँ कर देते हैं। उसी प्रकार बना जाये, तो समझ लेना कि तप अब प्रखरता की ओर है। यदि बालभानु को जैसे देखते हैं, उस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को लेकर पंचेन्द्रिय विषयों की ओर देखेंगे, तो वह प्रखर नहीं माना जायेगा। बालभानु और प्रौढ़भानु, दोनों एक होते हुए भी कार्य की विवक्षा से देखने पर बहुत अन्तर है। छह घंटे के उपरान्त वही बालभानु महान् ताप को उत्पन्न करने वाला बन जाता है। जब उसका तापमान ज्यादा बढ़ जाता है, तो उस समय पानी छूटने लग जाता है। देखो, बारह बजे शरीर में जो जल तत्त्व रहता है, बाहर की ओर आने लग जाता है। कितना ताप हो जाता है, कि भीतर का जल बाहर आ जाता है। इसी प्रकार आत्मा के प्रदेशों के साथ जो एक क्षेत्रावगाह को लेकर बंधे हुए कर्म हैं अर्थात् आत्मा के प्रदेशों में कर्म के प्रदेश, कर्म के प्रदेशों में आत्मा के प्रदेश एक दूसरे में घुल-मिल रहे हैं और स्थिति कषाय के द्वारा बंध जाती है, तब वे किसी भी प्रकार से बाहर आना नहीं चाहते। मत जाओ। लेकिन ताप के द्वारा अपने आप ही बाहर आ जाते हैं।

जब किसी को बुखार चढ़ जाता है, मलेरिया का बुखार होता है, तो उसको तब तक आराम नहीं होता, जब तक कि पसीना नहीं आता। पसीना आते ही ऐसा आराम हो जाता है, कि जैसे कोई बुखार आया ही नहीं हो। उसी प्रकार तप के माध्यम से जब आत्मतत्त्व को तपाया जाता है, तो भीतर बैठे हुए जो कर्म हैं, वे सब भावों के द्वारा बाहर आ जाते हैं।

तपसा निर्जरा च॥

तप से वे पानी-पानी हो जाते हैं। लेकिन यह ध्यान रखना, स्वास्थ्य में किसी प्रकार की कमी नहीं आती।

वैज्ञानिकों का कहना है–परिश्रम का जल बहुत ही शुद्ध होता है। पीने के लिए नहीं कहा। लेकिन वह परिश्रम का जल, श्रम करने से निरोगधाम बन जाता है। इस शरीर के भीतर जो कूड़ा-कचरा गया है वह तप के माध्यम से सारा का सारा बाहर आ जाता है। ज्यों ही तप को अंगीकार कर लेते हैं, त्यों ही कर्म हाथ जोड़कर सामने आ जाते हैं।

स्वामी समन्तभद्राचार्य ने कहा—शान्तिनाथ भगवान् शान्त बैठे रहते हैं। ऐसा नहीं, उनकी भीतरी प्रक्रिया अलग है। जब दीक्षित हो, समाधि में लीन हो जाते हैं या समवसरण में विराजमान हो जाते हैं या धर्मचक्र, कर्मचक्र और देवताचक्र सभी पिघल जाते हैं, जब ध्यानचक्र में ज्यों ही चलाते हैं, वे सारे के सारे चक्र समाप्त हो जाते हैं। यह विशेषता है। पसीना लाने का प्रयास किया जाता है। लेकिन, नहीं आता। कब तक नहीं आता ? जब तक भीतर तपन व घुटन नहीं होती। सूर्य बारह घंटे तक दिन में तो रहता है। लेकिन यदि गर्मी रात के बारह घंटे भी रह जाती है, तो देख लो सुबह-सुबह भी पसीना आना प्रारम्भ हो जाता है। यह दशा होती है। लेकिन बारह घंटे तक लगातार उस तपन को सहन करने की क्षमता धीरे-धीरे डाउन हो जाती है। उठाये तो उठ नहीं सकता। बैठाये तो बैठ नहीं सकता। बुलवाये तो बोल नहीं सकता। खिलाये तो खा नहीं सकता। कुछ अच्छा नहीं लग रहा। कैसे नहीं अच्छा लग रहा ? अच्छा इसलिए नहीं लग रहा, क्योंकि भीतर कोई गया है, उसे निकल जाने दो, तो सब अच्छा लगने लग जायेगा।

स्वभाव का अनुभव इसीलिये नहीं हो रहा है। स्वभाव में वैभाविक भावों का मिश्रण हो चुका है। उस मिश्रण को हम किसी चालनी के द्वारा, छन्नी के द्वारा रासायनिक प्रक्रिया के द्वारा निकाल नहीं सकते। विज्ञान ने आज तक ऐसा कोई अविष्कार नहीं किया कि कर्म, जो आत्मा के साथ बंधे हुए हैं, उन्हें किसी रसायन के माध्यम से निकाल दें। आणविक शक्ति के प्रयोग भी कर ले एक साथ, जैसे जापान के ऊपर हुआ था। तो आज भी वहाँ पर अंकुर उत्पन्न नहीं हो रहे। जहाँ पर आणविक शक्ति का प्रयोग किया गया था, वहाँ राख जैसी जमीन हो गयी। वे सारे के सारे किसी एक व्यक्ति के ऊपर भी डाल दो, तो भी कार्मणशरीर का कुछ भी होने वाला नहीं। कौन-सी शक्ति होगी, आप सोच लो। शुक्लध्यान में ऐसी कौन-सी रसायन शक्ति है, जो अन्तर्मुहूर्त के प्रयोग से अनन्तकाल के घातिया कर्मों की धारा भी शान्त हो जाती है। अनन्त काल में भी वह पुनः उग नहीं सकती। कितनी बड़ी शक्ति होगी ? उसको कैसे सहन करते होंगे ? देखो, जो बहुत शक्ति सम्पन्न या पावरफुल हो जाता है, वह बहुत सूक्ष्म हो जाता है।

तपाने से कुछ थोड़ा-सा प्रभाव पड़ जाता है, कालिमा या धुंआधार जैसा रंग हो सकता है। इसी प्रकार की प्रक्रिया है, कि वह शरीर को ज्यों का त्यों रखते हुए भीतरी भाव को भी जलाता नहीं, बल्कि परम औदारिक शरीर बना देता है। और कार्मण शरीर को वह जला देता है। घातिया कर्म के रूप में जो कर्म थे, उनको तो उसने नष्ट कर दिया। अन्य शरीर को किसी प्रकार से क्षति नहीं पहुँचाई।

ध्यान भी ऐसा ही होता है। जैसे जल को सुखाकर दूध को सुरक्षित रखा जाता है। तभी तो खोवा बनता है, पेड़ा बनता है। यदि आप दूध को तपाते-तपाते बाहर चला जाने दें, तो क्या होगा?

तो आपका वह दूध ही जल जायगा। मात्र पानी जलना चाहिए। पहले तो वह लाल हो जायेगा, लाल क्यों हो गया ? तुम्हारे ऊपर लाल हो गया। हमें क्यों जला रहे हो ? और आप चले जायेंगे बाहर और वह जल जायेगा। बैठे रहियेगा। इसलिए केवलज्ञान खड़े होने या बैठने से होता है, घूमते-घूमते नहीं। जैसे आप इधर-उधर चले जाओ और चाहो दूध का खोवा बन जाय तो ऐसा संभव नहीं। सामने बैठिये और वहाँ पर ताप अनुपात से दीजिये। नीचे की अग्नि कम भी नहीं होना चाहिए। और ज्यादा भी नहीं होनी चाहिए। इसी प्रकार न तो आज तक केवलज्ञान स्वाध्याय करने से हुआ न ही विहार करने से हुआ और न ही उपदेश देते हुए और न ही अन्य कोई कार्य करते हुए आया। जब खड्गासन या पद्मासन से निश्चल होते हैं, उस समय यदि आप दूसरी प्रक्रिया को भी अपनाना चाहते हैं, शुक्लध्यान करके समुद्घात करना हो, तो वहाँ भी अन्तर्मुहूर्त में सीधा पहुँचा देता है, माल सहित। यह कौन सी प्रक्रिया है जिसको विश्व के किसी भी रसायन के माध्यम से हम नहीं कर सकते। अन्तर्मुहूर्त में शरीर भिन्न व आत्मा भिन्न।

अनन्तगुणों के नाम को देख लो, जिस प्रकार आटोमेटिक मशीन के द्वारा कुछ वस्तुयें स्वतः निर्मित होती हैं, पेकिंग होती हैं, और निर्यात कर दी जाती हैं। उसी प्रकार अन्तर्मुहूर्त के अन्दर आपके व्यक्तित्व को बिल्कुल पृथक् करके बाहर जो कुछ भी था, सबको एकदम ठीक कर देती है। यह कौन सी प्रक्रिया है ? रागद्वेष भीतर रहते हैं। बीच में एक छोटी-सी बात कहता हूँ, जिस व्यक्ति को ज्ञान नहीं होता वह व्यक्ति क्या-क्या सोच सकता है ?

एक व्यक्ति हलवाई की दुकान पर आया। यह क्या है ? यह क्या है ? यह जलेबी है। अच्छा यह मुझे एक किलो दे दो। लेकिन यह बताओ यह कैसे बनायी गयी है ? इसमें रस कैसे भरा गया है ? दुकानदार बोला–इंजेक्शन के माध्यम से इसमें रस भरा गया है। अच्छा ऐसी प्रक्रिया है क्या? जिस व्यक्ति को निर्माण की प्रक्रिया ज्ञात नहीं होती, उस व्यक्ति के लिए कुछ भी कहा जा सकता है।

आत्मा के साथ कर्म कैसे बंधते हैं ? यह जिसको ज्ञात हो जाय, तो वह इधर-उधर की बातों में नहीं आ सकता। और उनको निकालने की प्रक्रिया कैसी है ? इंजेक्शन देने से वह होने वाली नहीं। कोई भी इंजेक्शन का निर्माण कर दो उसके माध्यम से चार प्रकार के या आठ प्रकार के कर्मों का विनाश/निधन होने वाला नहीं है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से सब कुछ ठीक-ठाक होने वाला है। कैसा यह रसायन हो गया, शरीर कैसा चिपक गया औदारिकशरीर तो नष्ट हो सकता है, वैक्रियिकशरीर कथंचित् नष्ट हो सकता है। कथंचित् का मतलब अपने समय पर बिखर जाता है। लेकिन भीतर के कार्मण व तैजस जो **अनादिसम्बन्धे च। अप्रतिघाते।** हैं, कोई भी घात या प्रहार इनके ऊपर करो तो भी नहीं हो सकता। वज्र से भी कठिन और कठिनतम हैं। उनका भी

अन्तर्मुहूर्त में ही क्या परिणाम होता है ? अन्तर्मुहूर्त में सारा का सारा बिखर जाता है। वह कौन-सा ध्यान है ?

उन परमात्माओं को हम बार-बार नमस्कार करते हैं, जिन्होंने ध्यान रूप अग्नि के द्वारा अपने आत्मतत्त्व को तपा दिया। ऐसा तपा दिया, कि एक तरफ वह मटेरियल हो गया और एक तरफ वह आत्मतत्त्व हो गया, अन्तर्मुहूर्त में। अनन्तकाल तक कोशिश करने पर अभी तक नहीं हुआ था, वही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व सम्यक् तप की यह ऐसी प्रक्रिया है, आस्था के बिना ज्ञान समीचीन नहीं। ज्ञान के बिना चारित्र समीचीन नहीं। इन तीनों के समीचीन होने के बाद भी इनमें प्रबलता/प्रौढ़ता नहीं आती। सम्यग्दर्शन के द्वारा निर्जरा हो सकती है। सम्यग्दर्शन के द्वारा ही असंख्यातगुणी निर्जरा हो जाती है। सम्यग्दर्शन के द्वारा ही सभी भंग घटित हो जायें, तो संयमासंयम के द्वारा क्या होता है ? कई लोगों की धारणा, कई लोगों की भावना समझ में नहीं आती। केवल अकेले सम्यग्दर्शन के द्वारा यदि निर्जरा होती है, तो मानना पड़ेगा कि छोटा सम्यग्दर्शन भी होता है और बड़ा सम्यग्दर्शन भी होता है। संभव है, चतुर्थ गुणस्थान में बालकवत् सम्यग्दर्शन रहता है, वही पंचमगुणस्थान आने पर नौ बजे का हो जाता है, फिर सकल संयम ले लेता है तो बारह बजे का होता होगा। अन्यथा असंख्यातगुणी निर्जरा कैसे बनी ? चारित्र के द्वारा आपके यहाँ निर्जरा तो है ही नहीं। सम्यग्दर्शन एक बार हो गया सो हो गया। उसमें विकास नहीं होना चाहिए।

थोड़ा-सा विचार करने से, थोड़ा-सा चिन्तन करने से भी ज्ञात हो सकता है, कि सम्यग्दर्शन की प्रौढ़ता यदि बढ़ रही है, तो वह किसके माध्यम से ? यदि नहीं बढ़ रही है, तो निर्जरा क्यों बढ़ रही है ? ये दो बातें पूछ लो, तो अपने आप ज्ञात हो जायेगा। लेकिन पक्षपात ही ऐसा है कि सम्यग्दर्शन से राग व सम्यक्चारित्र से द्वेष हो गया, ऐसा लगता है। बहुत समय से स्वाध्याय करने से ही ऐसा लगता है। लेकिन यह ध्यान रखना, एक के प्रति राग व एक के प्रति द्वेष होने से ही पक्षपात होता है। और यदि पक्षपात हो जायेगा, तो वह कभी भी संसार से मुक्त नहीं हो सकता। निष्पक्ष व्यक्ति ही मुक्त हो सकता है। अन्यथा संभव नहीं।

सम्यग्दर्शन के प्रति तो आस्था बननी ही चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं है। लेकिन उसी को सर्वे-सर्वा मान बैठना, एक प्रकार से सम्यग्दर्शन के यथार्थ सिद्धान्त से दूर होना है। क्योंकि स्वरूपविपर्यास इसी को कहते हैं। निर्जरा तत्त्व का यदि कोई आधार है, तो केवल सम्यग्दर्शन है, ऐसा कहेंगे, तो उमास्वामी महाराज, अमृतचन्द्र महाराज, जयसेन महाराज और भी जितने महाराज हैं, वे सारे के सारे उस व्यक्ति को स्वरूपविपर्यासी कहेंगे। अब सोच लो, अपने आप स्वाध्याय करने से यह परिणाम निकला। कुछ बड़ों से पूछा करो।

उसी से तो हम पढ़ते हैं। पढ़ते तो हैं, लेकिन अर्थ तो अपने दिमाग से निकाल लेते हैं। अपने आप अर्थ मत निकाला करो। चार-चार, आठ होते हैं, कभी बारह बना दो, तो नहीं। प्रक्रिया समझो। इसलिए समझना चाहिए, कि किसी एक के रहने से स्वरूपविपर्यास होने में देर नहीं लगेगा। स्वरूपविपर्यास इसी को बोलते हैं। जो असंख्यातगुणी निर्जरा हो रही है, वह सब सम्यग्दर्शन की देन है। तो सम्यक्चारित्र ने यहाँ पर क्या काम किया बताओ ? उसके साथ स्वयं ही वह हो जाता है। हो जाता है, सही है। लेकिन असंख्यातगुणी निर्जरा कम क्यों थी ? या तो चारित्र के द्वारा बढ़ गई अथवा सम्यग्दर्शन प्रौढ़ हो गया, यह मानना ही पड़ेगा। या तो सम्यग्दर्शन के भेद-प्रभेद मानो अथवा सम्यक्च ारित्र के लिए श्रेय दो। अथवा सम्यग्दर्शन में प्रौढ़ता कैसे आई ? चारित्र के द्वारा आई, यह मानो। तीन बातें हैं, तीन सौ बातें तो हैं ही नहीं।

केवलज्ञानी कहते हैं—प्रत्येक बात को खुलासा करने के लिए प्रश्न उठाना चाहिए। ऐसा तार्किक प्रश्न उठाना चाहिए, कि सामने वाले व्यक्ति को हूँ कहना ही पड़े। तीन में से क्या मानना चाहोगे ? कहो, सम्यग्दर्शन को छोटा-बड़ा मानना चाहते हो, तो आगम से ही विरोध आ जायेगा। यदि फिर भी मानते हो, तो कोई बात नहीं। वह बड़ा क्यों हुआ ? अपने आप क्यों नहीं हुआ ? पूर्वकोटि वर्ष तक सम्यग्दर्शन के साथ रहा, उसमें असंख्यात-गुणी निर्जरा बड़ी क्यों नहीं ? और अन्तर्मुहूर्त में संयमासंयम के द्वारा बढ़ी क्यों ? इसलिए स्पष्ट हो जाता है, कि कोई अद्वितीय शक्ति है, जो रत्नत्रय को प्रौढ़ता की ओर ले जाने की क्षमता रखती है। और वह तप के पास विद्यमान है।

कोई संदेह नहीं। कार्य को देखकर कारण का अनुमान और कारण को देखकर कार्य का अनुमान किया जाता है। यदि यह प्रक्रिया अपने जीवन में आती है, तो स्वरूप-विपर्यास कोई वस्तु नहीं। जिसका जो रूप है, उसको उसी रूप में मानना चाहिए। ऐसे ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा ध्यान करके वे ध्याता लोग परमात्मपद को प्राप्त हो जाते हैं। **कर्मकलंक सबै दहे** कर्म रूपी कलंक को दग्ध कर देते हैं। स्वर्ण पाषाण को दग्ध करो, तो पाषाण जल जायेगा। स्वर्ण व ज्ञानी की पहचान के लिए एक उदाहरण देकर कुन्दकुन्दाचार्य ने संवराधिकार में दो गाथायें कही हैं।

जह कणयमग्गितवियं पि कणयसभावं ण तं परिच्चयदि।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी दु णाणित्तं॥
एवं जाणादि णाणी अण्णाणी मुणदि रायमेवादं।
अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणंतो॥

ज्ञानी ज्ञानपने को कभी भी नहीं छोड़ता, चाहे कर्म रूपी अग्नि के द्वारा तपता चला जाये। कर्मों के उदय आते हैं, तब ऐसा लगने लग जाता है, कि कैसे बचेगा यह जीवन ? लेकिन अजर-अमर आत्मतत्त्व के ऊपर श्रद्धान रखने वाला व्यक्तित्व कर्मोदय को गौणकर जाता है। और मौन ले

लेता है। स्थिति ऐसी आ जाती है, कि कर्म तो दग्ध हो जाते हैं और आत्मा कंचन के समान रह जाता है। जितना भी आप तपाओ कंचन को, वह और निखरेगा, खरा उतरेगा। स्वर्ण को कैसे कसते हैं ? पाषाण की कसौटी होती है। उसके ऊपर कसते हैं। उसको तोड़ते हैं। उससे भी ज्ञान कर लेते हैं। उसको यूँ-यूँ करते हैं, तोलते हैं, तो उससे भी ज्ञान कर लेते हैं। और सही सौ टंच सोने की जांच करना चाहो, तो उसको तपा देते हैं। इससे सारा का सारा मल निकल जाता है। और स्वर्ण शुद्ध हो जाता है। इससे भिन्न अज्ञानी राग को ही अपने आत्म रूप में मानता चला जाता है। वह राग, द्वेष व मोह से प्रभावित होता है। इसलिए वह कभी भी स्वर्ण के समान नहीं बन पाता। वह कर्म बंध को ही निरन्तर प्राप्त करता चला जाता है।

तप की महिमा तीन लोक में अनूठी मानी जाती है। जिस रसायनशास्त्र के द्वारा इस आत्मतत्त्व व जड़ तत्त्व को पृथक् नहीं किया जा सकता, तो फिर उस रसायनशास्त्र से क्या मतलब? पाषाण से तो स्वर्ण को पृथक् कर लिया गया, अग्नि के द्वारा। लेकिन इस सामान्य अग्नि के द्वारा कर्म व आत्मा को कभी पृथक् नहीं किया जा सकता। दूसरी बात एक और है, जब परिणामों की बात आती है। प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन के काल में जीव का कभी भी अकालमरण नहीं होता। कभी का मतलब उस समय में मरण नहीं बताया। उस गुणस्थान से या तो वह ऊपर जाय या नीचे जाय, तब मर सकता है। अन्यथा उस चतुर्थ गुणस्थान में, जब उपशम सम्यग्दर्शन के काल में रहता है, उस समय उसका मरण नहीं हो सकता। इसका अर्थ यह हो गया, कि कदलीघात के योग्य उस समय उसका शरीर नहीं रहता, यह मानना पड़ेगा। इतने अल्पकाल में वह मरण को प्राप्त नहीं हो सकता। कैसे कितने भी बड़े लोहधन को ले आओ। लोहे का एक पाटा रखो और उसके ऊपर हीरे की कणिका को रखो और हीरे के ऊपर घन पटक दिया, अब तो हीरा चूर-चूर होना चाहिए। लेकिन वह चट से बाहर चला जाता है। और हँसता रहता है। तुम पचासों बार प्रहार करो, तो भी मेरे ऊपर कोई चोट नहीं पड़ने वाली है।

वह कैसा रसायन है ? हीरे की कणिका में ऐसा कौन-सा बंध हुआ ? **परं परं सूक्ष्मम्** पढ़ा था आपने। कब पढ़ा था ? पर्व के दिनों में पढ़ा था। दूसरे ही दिन परं परं सूक्ष्मम् कहा। लेकिन प्रदेश तो वह मिट्टी की ढेली नहीं है। वह रसायन की गुठली नहीं है। वह लोहे का टुकड़ा नहीं है। वह कोई रसायन की प्रक्रिया नहीं है। वह हीरे की कणिका है। क्या कहते हैं ?

पर्वतों के ऊपर भी ऐसा वज्रपात हो जाता है,तो वे टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। लेकिन वह टुकड़ा, टुकड़ा नहीं हो सकता, ऐसी प्रक्रिया है रसायन की। जिस समय वह ध्यान मग्न हो जाते हैं, उस समय शरीर पर कथंचित् प्रहार हो सकता है। असातावेदनीय की छठवें गुणस्थान तक ही उदीरणा मानी गई है। अप्रमत्त अवस्था ज्यों ही हो जाती है, उस सर्कल में कोई भी नहीं आ सकता।

उस रेंज में कोई भी प्रवेश नहीं कर सकता। आप लोगों ने सुना होगा, एक दरवाजा होता है। लेकिन हवा के भी दरवाजे होते हैं। वहाँ ताले की कोई आवश्यकता नहीं होती। खुला रखिये आप। चारों ओर अपनी बहुमूल्य वस्तुयें रखिये और बटन दबाकर हवा के डोर को तैयार कर दीजिए। कुछ नहीं होगा। ऐंगल से ऐसी जोर की हवा चलना प्रारम्भ हो जाती है, कि उस स्थान पर कोई भी नहीं जा सकता। संभवतः गोली भी बाहर आ जाये। कोई वहाँ पर घुस नहीं सकता। हाथ जा नहीं सकता। कोई प्रयास करे, तो उसे बाहर ढकेल दे। वह कह दे—भैया, यहाँ पर भूत बैठा है। जबकि भूत वगैरह कुछ नहीं है। क्योंकि उसमें हवा ही वैसी दी जाती है। उसी प्रकार सप्तम गुणस्थान में एक डोर (गुप्तियां) आ जाती हैं। उससे वह पैक हो जाता है। महाराज आगे कुछ भी हो, उस स्थान में जब तक रहेगा, तब तक कुछ भी नहीं होता। साता का ही आस्रव होता है। और साता का अर्थ होता है रक्षा।

छठवें गुणस्थान में साता भी रह सकता है और असाता भी रह सकता है। किन्तु असाता सप्तम गुणस्थान में नहीं पहुँच सकता। सप्तम गुणस्थान में असाता का उदय रह सकता है। लेकिन बंध साता का ही होगा। देखो, भगवान् ने हम लोगों के लिए कैसा पथ दिया है, कि आयुकर्म की उदीरणा छठवें गुणस्थान तक ही होती है। असाता की उदीरणा भी छठवें गुणस्थान तक ही होती है। भूलकर के नीचे आओगे तो संभव है, कि आपत्ति आये। और ऊपर ही बैठे रहोगे, तो चैलेंज है वहाँ कोई नहीं आ सकेगा। अब नमोऽस्तु करके दूर-दूर से चले जायेंगे। कोई छू नहीं सकता। यह स्थिति है। कोई बाधा आ नहीं सकती। जैसे-जैसे ऊपर बढ़ते चले जाते हैं, तप की ऐसी अग्नि धधकने लग जाती है, कि वहाँ पर कोई भी सामने नहीं आ सकता।

सूर्य को दूर से देखो आँख बंद कर लेंगे। क्योंकि वह सर्चलाइट है। उसे कोई नहीं देख सकता। वज्र के प्रहार के माध्यम से बहुत-सी चीजें छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। लेकिन वज्र छिन्न-भिन्न नहीं होता। काँच में जहाँ चाहे वहाँ वज्र की लकीर थोड़ी-सी खींच लो, वह टूट जायेगा। जितना चाहें, उतना टूट जायेगा। जिस नाप से तोड़ना चाहे, उस नाप से टूट जायेगा। मात्र एक लाइन खींचने की आवश्यकता है। ज्यादा आवश्यकता नहीं। जैसे आप बरफी के ऊपर खींचते हैं ना, चम्मच से। उसी प्रकार ध्यान में भी ऐसी शक्ति है। उस शक्ति के माध्यम से बड़े-बड़े कर्मों का क्षय हो जाता है। तप के लिए बहुत हिम्मत और ताकत लगानी पड़ती है। जितनी बड़ी-बड़ी चीजें होती हैं, उनके लिए उतनी ही बड़ी राशि की आवश्यकता होती है। कोई मुनिधर्म धारण करना चाहे, शुक्लध्यान करना चाहे, तो उसे बड़ी राशि लगाना पड़ेगी। पूरी राशि लगाये, तो वह मिल सकता है। पूरी राशि लगाये और यह संकल्प ले ले, कि हमें इस राशि की कोई आवश्यकता नहीं है।

मोह के कारण वह शक्ति उत्पन्न नहीं हो पा रही है। मोह जहाँ समाप्त कर दिया, बस फिर रास्ता चालू हो गया। ऐसा तप होता है। भगवान् महावीर ने ऐसा ही तप किया। हमारे लिए भी कुछ दे दें,ऐसा कह सकते हैं आप। हाँ, उपदेश तो दे सकते हैं। लेकिन तप देने की चीज है ही नहीं, लेने की चीज है ही नहीं। वह तो भीतर से प्राप्त करने की चीज है। जितनी हार्स पावर की मशीन आपके पास होगी, उतना ही विद्युत उत्पादन उससे होगी। यही है ना ? हाँ, जितनी हार्सपावर की मशीन होगी, उतनी ही विद्युत जनरेट कर देगी। उसी प्रकार आप लोगों को चाहिए, आज सम्यक् तप है। उत्तम तप है। आप को भी ऐसी जनरेटर खरीद लेना चाहिए। ऐसा नहीं, कि बिल्कुल जीरो वाट पर जलाओ। सर्चलाइट लग जाय और सारे के सारे लोग उसमें प्रकाशित हो जाये।

महाराज बहुत खर्चा लगता है। आप उत्पादन करने वाले हैं, खर्चे से क्यों डरते हो ? जितना खर्च करोगे, उससे कई गुणा उत्पादन और होगा। महाराज! हम लाइट जलाये और उससे दूसरे लोग लाभ लेने लगें तो ? ऐसी कृपणबुद्धि वालों को लाइट का प्रकाश नहीं मिलता। अरे, वह लाइट प्रकाशित करने के लिए है। स्व और पर के प्रकाश के लिए ही है। उन लोगों को भी इस प्रकाश को देखने से भाव उत्पन्न हो सकता है, कि मेरे भीतर भी ऐसा ही प्रकाश हो।

एक बात और मैं कहना चहता हूँ-कृष्ण जी जब रुक्मणी को लेकर जा रहे थे, साथ में समुद्रविजय, जो रुक्मणी के भाई थे, थे। रिश्ता-फिस्ता हमें याद नहीं रहता, भैया! तो रुक्मणि सोचती है, कि भैया आ गये अब तो कृष्ण जी का कुछ बचने वाला नहीं। अब क्या करूँ ? हे भगवन्! रुक्मणी को ऊपर-नीचे होते देखकर उस समय विश्वास दिलाने के लिए कृष्ण जी क्या करते हैं ? अपनी अंगूठी में जो हीरे का नग था, उसको अंगूठे व तर्जनी के मध्य से यूँ निकाल दिया। और उसे यूँ-यूँ मसल दिया, तो वह बिल्कुल आटा बन गया। जो एक घन के द्वारा चूर नहीं हुआ, वही अंगूठे व तर्जनी के द्वारा यूँ-यूँ करते ही चूर-चूर होकर नीचे गिर गया। नकली हीरा होगा। नकली नहीं, असली नग और संहनन था। इससे नारायण के बल की पहचान हो जाती है। कि हाँ, अब कोई चिन्ता नहीं, विश्वस्त हो गई रुक्मणी। महिलायें जल्दी विश्वास नहीं करती। सम्यग्दर्शन के बारे में उनको क्षायिक सम्यग्दर्शन इसीलिये नहीं बताया, लगता यही है। परन्तु पुरुषों के लिये सम्यग्दर्शन बहुत जल्दी होता है। नहीं समझे। सौधर्म इन्द्र तो वहीं बना रहता है, और चालीस नील की संख्या में शचियाँ पार हो जाती हैं। क्या अर्थ निकला ? अर्थ यह निकला, कि आत्मा की शक्ति का उद्घाटन किस पर्याय में, किस ढंग से होता है, कोई कुछ नहीं कह सकता ?

इन उदाहरणों से यह ज्ञात होता है कि आत्मा के पास अनन्तशक्ति है। मोह के कारण अनेक पर्यायें बदलती रहती हैं। अभिमान के कारण जो पर्याय अच्छी मिली, वह भी धूमिल हो जाती है, नष्ट हो जाती है। पुरुष पर्याय हो या स्त्री पर्याय हो, कोई भी हो। मोह से जो आहत हैं, वे निश्चित

रूप से ऐसे ही कर्मों का संपादन करते रहेंगे। पर्याय नहीं, आत्मतत्त्व, ध्रुवतत्त्व को देखने की आवश्यकता है। इसी में से ऐसी पर्यायें उत्पन्न होती हैं, यह ध्रुवतत्त्व का अवलोकन करने से ज्ञात हो जाता है, विश्वास हो जाता है।

इधर आण्विक शक्ति के द्वारा भी कोई विस्फोट नहीं हो सकता। घन के द्वारा हीरा कणिका नहीं टूटी। लेकिन तर्जनी और अंगूठे से चूर-चूर हो गई। कर्मों की भी यही प्रवृत्ति होती है। वज्रवृषभनाराच संहनन से कर्म खिसकते चल जाते हैं और इसी संहनन के माध्यम से आर्तध्यान और रौद्रध्यान किया जाता है, तो आत्मा का अहित हो जाता है। और धर्मध्यान व शुक्लध्यान किया जाता है, तो आत्मा अन्तर्मुहूर्त में ऊपर उठ जाता है। अनन्तकालीन बंध भी समाप्त हो जाता है।

अनादिसम्बन्धे च॥

अप्रतिघाते॥ तत्त्वार्थसूत्र - २/४१, ४०

दूसरा कोई पदार्थ नहीं, जो कर्म का प्रतिघात कर सके। लेकिन आत्मा जो अन्तर्मुहूर्त में निर्माण करता है, वही उसे खाक भी कर सकता है। अन्तर्मुहूर्त की देरी है। सत्तरकोड़ाकोड़ी स्थिति को बांधने वाला कोई व्यक्ति है, उसके साथ तो सारे के सारे अशुभ कर्म बंध रहे हैं। प्रथम गुणस्थान और कृष्ण-नील लेश्या के साथ तीव्र परिणामों की बात है। किन्तु उसे अन्तर्मुहूर्त नहीं लगा, कि अन्तःकोड़ाकोड़ी में आ जाता है। थोड़ी-सी आँख खोल देता है और सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है। कुछ प्रकृतियाँ तो आँख खोलने के पहले ही कहने लग जाती है–भाई साहब, हम जाने के लिए तैयार हैं। हमारे भैया को तो आपने भेज दिया। बड़ा भैया तो चला गया, अब हम कहाँ चले जायें? दर्शनमोहनीय बड़ा है, चारित्रमोहनीय छोटा। छोटा पीछे से जाता है, यह सिद्धान्त है। छोटे भैया को अगुवा बनाना चाहते हैं आप। किन्तु वह बाद में जाता है। कई लोग कहते हैं–सम्यग्दर्शन की पहले बात करो। लेकिन दर्शन मोहनीय को भी समाप्त करने की बात करो। बड़े भैया को पीछे रखकर अनन्तानुबन्धी पहले चली जाती है। बाद में जो शेष रह गयी, वे भी जाती हैं। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप द्रव्य का परिणमन लगा ही रहता है। लेकिन धन्य हैं वे योगी लोग जिन्होंने वस्तु के परिणमन को जाना, और तप को अंगीकार कर उत्तम तपधर्म को धारण किया। उसके माध्यम से अपने आपके स्वरूप को पा लिया। आज धूप दशमी है, आप लोग धूप खेते हैं। आप लोग धूप खेकर सुगन्धि बिखेरते हैं, लेकिन उत्तम तपधर्म को स्वीकार करने वाले महामुनि प्रतिदिन तपाग्नि में कर्म रूपी धूप को जलाते हैं और अपनी आत्मा को सुगन्धित करते जाते हैं। मैं भी आत्मतत्त्व को सुगन्धित करना चाहता हूँ। आत्मतत्त्व को पाना चाहता हूँ। धन्य हैं ऐसे मुनिराज, जिन्होंने उत्तम तपधर्म के माध्यम से अपने आपको जाना। ऐसे मुनिराजों को बारम्बार नमोऽस्तु करता हूँ।

अहिंसा परमो धर्म की जय... ❑ ❑ ❑

भेदविज्ञान का प्रयोग : त्याग

सिद्धान्त ग्रन्थों में यही कहा है, तब तक उसकी बुद्धि की समीचीनता सिद्ध नहीं होती, जब तक पर को अपना मानकर उस पर अपना अधिकार रखने का प्रयास कर रहा है।

आप लोगों को ज्ञात होगा। ज्ञात तो अवश्य है ही, कि जब आप दुकान से श्रीफल खरीदना चाहते हैं, उस समय आप श्रीफल एक हाथ में उठा लेते हैं और क्या करते हैं ? और पसन्द नहीं आया तो ढेर में से दूसरा उठाते हैं। इस प्रकार बाहर नहीं, भीतर के भाग को भी अनुमान का विषय बना लेते हैं। यह निर्णय लिया जाता है, कि जब तक नारियल गीला रहता है, तब तक पानी की पहिचान की जाती है। और जब सूख जाता है, तो स्वयं नारियल बोलने लग जाता है। जब तक वह नहीं बोलता, तब तक आप उसको हाथ में लेना पसन्द नहीं करते। उसने त्याग किया, तब ही बोला। क्या त्याग किया ? उसके ऊपर बहुत-सा मटेरियल है। सबको उसने कह दिया-मेरा और आपका अब से कोई सम्बन्ध नहीं। उसने बुद्धि का प्रयोग किया, क्योंकि जब तक मैं इस ऊपर के कवच के साथ सम्बन्ध रखूंगा, तब तक मुझे कोई भी पूछेगा नहीं और बुद्धि के विकास के लिए भी मेरा कोई योगदान नहीं होगा।

आयुर्वेद ग्रन्थों में श्रीफल के गुण बताये हैं। गोले के पास क्या गुण है ? मस्तिष्क का आकार उसका भी होता है और उसका तेल मस्तिष्क के लिए बुद्धिवर्धक होता है। लेकिन वह तेल कब आयेगा? जब उससे सम्बन्ध छोड़ देगा। सम्बन्ध कब छोड़ेगा ? जब पानी का अंश पूर्णतः सूख जायेगा। उसी प्रकार भीतर रहते हुए जिसने बाहरी और भीतरी परिग्रह का त्याग किया है, उसकी बोली को सुनने के लिए बहुत लोग लालायित हो जाते हैं। भगवान् की वाणी, गुरुओं की वाणी हम लोगों के कल्याण के लिए इसीलिए कारणभूत होती है। उनकी वाणी में पानी का अंश नहीं रहता। केवल बुद्धि के लिए वह उपयोग नहीं होती, अपितु वह ऐसा झकझोर देती है, कि वस्तुतत्त्व क्या है ? यह समझो।

वस्तुतः देखा जाये तो त्याग होता ही नहीं। जो पराई चीज है, उसको त्यागने की क्या आवश्यकता है ? चोरी कर लें, इसके उपरान्त कह दें, मैं इसका त्याग कर रहा हूँ। जो चीज अपनी है ही नहीं, उसका क्या त्याग ? और जो अपनी चीज है, उसका त्याग कैसे ? अपनी चीज भी छोड़ दें और पराई जो चीज है उसको भी छोड़ दें, तो हम खाली बैठे क्या ? ऐसा नहीं। सिद्धान्त ग्रन्थों में यही कहा है, तब तक उसकी बुद्धि की समीचीनता सिद्ध नहीं होती, जब तक पर को अपना मानकर उस पर अपना अधिकार रखने का प्रयास कर रहा है। और जिस समय उसको ज्ञात हो जाता है, कि यह तो मेरा था ही नहीं, होगा भी नहीं और है भी नहीं। फिर उसका क्या किया जाय ? इसी

को अध्यात्म बोलते हैं। बड़े-बड़े तपस्वी तप करके अभिमान इसलिए नहीं करते। यह तप कहाँ ? शरीर को तपाना तप नहीं है, किन्तु ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, ज्ञान की निर्जरा है, ज्ञान ही रत्नत्रय है, ज्ञान ही संवर है, ज्ञान ही सर्वस्व है। और एक प्रकार से ज्ञान ही लिंग सिद्ध हो जाता है। भावलिंग व द्रव्यलिंग, दो प्रकार के लिंग होते हैं। द्रव्यलिंग वस्तुतः अपना है ही नहीं। भावलिंग हमारा है। वह भावलिंग दिखता नहीं, द्रव्य दिखता है। भीतर भाव के कारण उस द्रव्य को भी हम लिंग के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। यह त्याग की विशेषता है। पाषाण की खान से निकाल दिया गया पत्थर, तब भी पाषाण ही माना जाता है। इसके उपरान्त शिल्पी के माध्यम से रूप दिया जाता है। फिर भी वह भगवान् नहीं कहलाता। अपितु उसे पाषाण की मूर्ति कहा जाता है। लेकिन भगवान् नहीं माना जाता। इसलिए ध्यान रखना, जब तक भगवान् नहीं, तब तक उसका मूल्य है। और भगवान् बनने के उपरान्त भी मूल्य नहीं।

मकराने में आप भगवान् नहीं खरीदते। जयपुर जाकर आप भगवान् नहीं खरीदते। सेठ-साहूकारों से मेरा विशेष रूप से कहना है, वे भगवान् को नहीं खरीद सकते और खरीदने का भाव भी नहीं कर सकते। भगवान् की तो प्रार्थना करो, भगवान् की तो आराधना करो। हाँ, जिसमें भगवत्पन का आरोपण करना है, उससे पहले उसका मूल्य भी नहीं होता। शिल्पी लोग उसको पहले गढ़ करके रखते हैं। फिर न्यौछावर के रूप में दिये जाते हैं। मूल्य इसका इतना हो, तो ले लूँगा, ऐसा नहीं होता। मतलब भावी नैगमनय की अपेक्षा से जिसको हम भगवान् बनाने जा रहे हैं, उसमें भी मूल्य का सवाल नहीं होता। यह इसलिए है, जिसका समग्र जीवन ही निर्विकार व निर्विकल्प है, उसकी क्या कीमत है ? संसारी प्राणी भिन्न-भिन्न वस्तुओं की जैसी कीमत करता है, उसी प्रकार अन्यत्र भी उसकी दृष्टि जाने लगती है। विधान तो यही है, उसका कोई मूल्य नहीं। भले ही न्यौछावर के रूप में दिया जाता हो। लेकिन एक बार प्रतिष्ठा हो जाती है, फिर न्यौछावर के लिए भी कुछ नहीं दिया जायेगा। अपने जीवन को ही उनके चरणों में न्यौछावर कर दिया जाता है।

बलि बलि जाऊँ मन वच काय।

भगवान् के चरणों में अपने आप को ही समर्पित कर देना है। स्वयं चेतना की मूर्ति को भी वह चरणों में अर्पित कर देता है। ऐसा मौलिक भगवद् रूप है। यह रूप क्यों बना है पाषाण की मूर्ति में ? ध्यान रखो, सम्यग्दृष्टि में वह पाषाण की मूर्ति नहीं रही। उसके इर्द-गिर्द परिसर में जाते ही उसके परिणामों में भगवद्रूप के ही परिणाम हो जाते हैं। यद्वा-तद्वा वहाँ बोल नहीं सकता, पूंछ नहीं सकता, ठहर नहीं सकता, बैठ नहीं सकता। भगवान् के सामने मौन संकल्प लेकर के बैठ जाता है। त्याग-तपस्या की वह मूर्ति हैं। हम मानते हैं, लेकिन वह मूर्ति त्याग-तपस्या की नहीं, स्वस्थ मूर्ति है। त्याग-तपस्या तो आरोपित है। उपयोग बाहर जा रहा था, उसको स्वस्थ किया है उसने। रागी

व्यक्ति को कपड़े से वेष्टित करने के उपरान्त भी उसके अंग-अंग से राग फूटता है। और वह निर्वस्त्र हैं, इसको देखने से भी राग की बात नहीं आती। सम्यग्दृष्टि की बात है यह। ऐसा स्वस्थ भाव हमें कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। स्वस्थ क्यों हुआ ? पर को अपनाने के भाव करने से अस्वस्थ भाव समाप्त हो गया। कोई अस्वस्थ हो जाता है, तो माथा बांध लेता है। अस्वस्थ हो जाता है तो कोट वगैरह अच्छे ढंग से पहन लेता है। और क्या कर लेता है ? माथे पर अमृतांजन और लगा लेता है।

शरीर का त्याग तो किया नहीं जा सकता। किन्तु शरीर पर जो ओढ़ रखा है, उसका तो त्याग किया ही जा सकता है। शरीर का त्याग नहीं किया जा सकता और यदि किया जा सकता है, तो जैसे भगवान् खड़े हैं, वैसे ही खड़े हो जाना, काया का उत्सर्ग है, त्याग है। उससे मोह नहीं रखना, यही काय का त्याग है। मतलब उस मूर्ति को देखने से मोह का त्याग ज्ञात हो रहा है। त्याग, तपस्या का एक मार्ग है। त्याग के बिना तपस्या का कोई मार्ग नहीं माना जाता। और **त्याग के बाद यदि तपस्या नहीं की जाती है, तो मार्ग अधूरा रहता है।** तप और त्याग, त्याग और तपस्या। जिनवाणी पढ़ों तो वही एक बात मिलती है। भगवान् के दर्शन करो तो भी वही एक चित्र सामने आता है। गुरुओं की परिचर्या करो, तो वहाँ भी यही कथा मात्र सुनने को मिलती है। जोड़ने की बात नहीं है। यह कौन-सा विश्वास है ? जिसका आज तक जोड़ने का भाव किया, जो आज तक बांधने का, चिपकाने का प्रयास किया और आज कौन-सी चेतना जागृत हो गई, कि बांधना उसके लिए अभिशाप सिद्ध हो गया। जोड़ना अब उसके लिए बीमारी का घर दिख रहा है। किसी भी प्रकार से उसको स्वीकार करना नहीं चाहता। चूंकि वह शरीर को भी छोड़ सकता है।

अनुपात को तो झटकाया जा सकता है। लेकिन उपात्त को झटकाया नहीं जा सकता। और झटकाने से कुछ काम होता भी नहीं है। उसको काम में लो, लेकिन उसके प्रति ममत्व का त्याग करो। कायोत्सर्ग के बारे में शास्त्रों में अनेक शब्दों में उल्लेख है। एक स्थान पर **अहम् का उत्सर्ग करना ही कायोत्सर्ग कहा है। यह बहुत महत्त्वपूर्ण शब्द है।** संसारी प्राणी राग की भूमिका में पर को अपना कर उसमें अहंकार करता है। और कायोत्सर्ग में अहंकार का त्याग बताया है, यानि जितने समय के लिए वह कायोत्सर्ग लगता है, उतने समय के लिए वह काया के प्रति साक्षी बनकर खड़ा हो जाता है या बैठ जाता है। कायोत्सर्ग का अर्थ नासा दृष्टि नहीं, कायोत्सर्ग का अर्थ ध्यान नहीं, कायोत्सर्ग का अर्थ भली-भांति काय का विसर्जन करके बैठ जाना है। हमारे भगवान् हमेशा खड्गासन की मुद्रा में कायोत्सर्ग करते हुए मिलते हैं। कोई भी उनका अंग-उपांग ममत्व का प्रतीक नहीं होता। उनके हाथ नीचे की ओर आ जाते हैं, लम्बकोण बन जाता है। हमारे भगवान् के हाथ भी ऐसे ही नीचे की ओर झूल रहे हैं। और उनकी आँखें अन्यत्र किसी पर टिकी हुई नहीं हैं। एक मात्र निष्पन्द मुद्रा नजर आती है। क्या त्याग किया उन्होंने ? क्या त्याग करने को है, उनके पास ?

मात्र नग्न काया या मात्र काया भी कह दो तो भी कोई बाधा नहीं है। नग्न कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। मात्र काया ही उनके पास है और काया के प्रति भी ममत्व नहीं है, तो वे काया को भी मात्र साक्षी बनकर देखते रहते हैं।

जिसके लिए आज तक भरण-पोषण आदि क्रियायें करते आये हैं। उसको आज केवल देख रहे हैं। जैसे आप कोट उतार करके लटका दें, और उसको साक्षी होकर देखो। इसी प्रकार काय के प्रति जो ममत्व था उसको उतारकर रख दिया।

तजे तन अहमेव को...।

अहं की जागृति जिससे होती थी, उसे उन्होंने छोड़ दिया। इधर आओ कहने से, वही व्यक्ति आता। वह समझता है कि, मुझे बुलाया जा रहा है। मुझे यहाँ से भेज रहे हैं। जितने समय तक रहता है, उतने समय तक राग का अर्जन होता चला जाता है। और जितने क्षण हम इन प्रत्ययों से अतीत होकर गुजार लेते हैं, वे त्याग-तपस्या के माने जाते हैं।

भगवान् शान्त हैं। शब्द भी नहीं, स्पंदन भी नहीं। खड़े हैं, तो बस खड़े हैं। इस शरीर से हम काम लेते थे, लेते हैं, अब लेना नहीं चाहते। यही त्याग है। कल आयेगा आपको नवम अध्याय में, **बाह्याभ्यन्तरोपध्योः॥** व्युत्सर्ग के बारे में कहा गया है। आप त्याग कर सकते हैं, करते चले जाओ। अब हमारे पास क्या रखा है ? कुछ भी तो नहीं रखा है। मत समझो, इसी के कारण तो बाजार मच जाता है, इसी के कारण तो बाजार वस जाता है। जब तक भुक्ति चलती है, तब तक बहुत प्रकार के द्रव्यों का सम्पादन व संयम आवश्यक होता है। और अन्तिम भुक्ति का भी जब त्याग किया जाता है, नियम रूप से नहीं, आजीवन तब अन्तिम उपकरण का त्याग माना जाता है।

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः॥

अर्थात् उपधि का त्याग। अन्न को उपकरण के रूप में स्वीकार कर रहे थे। शरीर को भी उपकरण के रूप में स्वीकार कर रहे थे। शरीर को विलासिता का साधन नहीं बनाना चाहिए। वरन उपासना का साधन बनाना चाहिए। उपासना के लिए जब वह छुट्टी ले लेता है, तो कह देते हैं-तुम्हारे लिये जो योग्य द्रव्य था, वह अब हम नहीं देंगे। प्रत्याख्यान हो जाता है। अर्थात् त्याग हो जाता है। उपकरणों का त्याग किया जाता है। घड़ी-घंटे के लिए, एक-दो दिन के लिए, तीन दिन के लिए। बड़े-बड़े ऐसे साधु-संत होते हैं, जिनके लिए बिल्कुल भी आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रतिमायोग धारण करके चार माह के लिए स्थापना कर निष्ठापन के दिन ही उठते हैं। समझे कि नहीं। हाँ, यहाँ पर क्या हो रहा है ? वह भी चातुर्मास है और यह भी चातुर्मास है। एक वह साधना है, और एक यह साधना है। क्या करें, चतुर्थकाल की वह बात है। हीन संहनन की यह बात है। न

तो आपको वहाँ कमण्डलु मिलेगा, न और कुछ मिलेगा। कोई ले जाना चाहे तो ले जाओ। चार माह के लिए उठे ही नहीं, तो पिच्छी की भी कोई आवश्यकता नहीं। शास्त्र की भी कोई आवश्यकता नहीं। महाराज, शान्त रहिये। मूलाचार की भेंट है यह तो, रहने दीजिये यहीं इसे। कोई मतलब नहीं। क्या त्याग, क्या तपस्या और क्या साधना ? बड़ा विचित्र-सा लगता है। कहीं स्वप्न में तो ऐसा नहीं लगता, लेकिन यह घटित है।

एक वर्ष तक बाहुबली खड़े रहे, तो खड़े ही रहे। देखा नहीं, बोले नहीं, आहार के लिए उठे नहीं, घंटी बजा दो, तो भी कोई मतलब नहीं। क्या समझ रहे हैं आप ? प्रतीक्षा की कोई आवश्यकता नहीं। कैसा व्यवहार ? दुनियाँ से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। तीर्थंकरों की दीक्षा के उपरान्त कहाँ पर वह चले जायेंगे, कोई पता नहीं ? किस क्षेत्र का भाग्य उदय होगा, कोई पता नहीं? कोई योजना नहीं, निमन्त्रण नहीं और नारियल चढ़ाना नहीं। महाराज, कितनी बार नारियल चढ़वाओगे ? जितनी बार करो, तो त्याग ही तो हो रहा है, आप लोगों का। एक बार हाँ कह दो न, कम से कम आश्वासन तो दे दो। काहे का आश्वासन ? आने का। कहाँ आने का ? अब आना और जाना ही तो समाप्त हो गया। अब कहाँ आना और कहाँ जाना ? महाराज, ऐसा तो मत कहो, बहुत बुरा लगता है। बुरा नहीं, बूरा लगना चाहिए।

ज्ञान और राग के स्वरूप को समझो। कैसे लात मार दी उन्होंने ? यह कहने में आता है। उनको ज्ञान नहीं था क्या ? वे जो जड़ को लात मारते। गुस्सा में आने पर लात मारी जाती है। फेंक दिया। अरे फेंकते क्यों हो, ऐसे फिंक गये। ऐसे त्यक्त हो गये। छूट गये या पीछे रह गये।

कोडी अठारह घोड़े छोड़े, चौरासी लख हाथी।

कितने हैं, आप गिनते रहिये। वह तो मुड़कर देख भी नहीं रहे और आप देख रहे हैं। देखने से वे मिल नहीं सकते। मुड़कर चले गये, क्या-क्या छोड़ा ? भगवन्! ऐसा कैसे कर दिया ? वे कहते हैं—क्या छोड़ने के लिए हमने जोड़ा था ? यह संयोग मात्र था। साता का उदय था और ऐसा ही नियोग था। समझ लो, कि वह जुड़ गया। अब जुड़ने के उपरान्त हमने भी कह दिया—मेरा नहीं। लेकिन अब त्याग हो गया। महाराज, इसको मत छोड़ो। इसको मत लात मारो। ऐसा मत करो। मैं पागलों के बीच में था, अब ज्ञात हो गया। लाखों सुनायें, लेकिन एक की भी नहीं सुनें। बहुत मनाया, लेकिन माने नहीं।

चल दिया छोड़ घर बार, कुटुम्ब परिवार,
धार मुनि बाना, समझाया वीर न माना।

अथवा

उठ गया दाना पानी...।

दोनों उठ गये। जब तक था, तब तक था। लेकिन अब दाना-पानी उठ गया। इसका अर्थ क्या ज्ञान हो गया ? छूट गया। राग क्यों करते हो ? अपना हो, तो राग करो। अपना है ही नहीं, तो किसके ऊपर आप राग कर रहे हैं ?

दिन का हो या रात का, सपना सपना होय।
सपना अपना सा लगे, किन्तु न अपना होय॥

लगता है, सपना आया है। यदि अपना है, तो अपनाने के उपरान्त दफनाओ क्यों ? बल्कि, दफनाने के पूर्व ही सोच लेना चाहिए। हमारा अपनाना वस्तुतः स्थायी नहीं है। जो स्थायी नहीं है, उसको अपनाना संयोग मात्र है। ऐसा समझो। एक बार कहा था, दोबारा कहना चाहता हूँ-

फूल राग का घर रहा, कांटा रहा विराग।
तभी फूल का पतन हो, जाग सके तो जाग॥

फूल खिल जाते हैं। उम्र ढल जाती है, तो गिर जाते हैं। धूमिल हो जाते हैं। पुनः कली के रूप में एक फल और आ जाता है। पुनः खिलता है और चला जाता है।

वर्षों पहले की बात है। इस नाटक को, वेष को धारण करने का दृश्य वह देखता है। उन्हीं फूलों के बीच में कांटे भी हैं। वे सब जानते हैं। लेकिन कांटा कभी भी फूलवत् गिरता नहीं। फूल का पतन हो जाता है। तो फूल जाता है, वह रागी माना जाता है। जो फूलता नहीं और द्वेष भी नहीं करता, वह तटस्थ रह जाता है। वह काँटा बना रहता है। वहीं का वहीं रहता है। वह वैराग्य का रूप धारण किये हुए है। उससे किसी को भी राग नहीं होता और उसको दुनियाँ से कुछ राग नहीं होता। कभी पतझड़ हुआ, कभी बसंत आया। उसने किसी का स्वागत नहीं किया। वे आये और चले गये। यही वस्तु स्वरूप है। यह एक पेड़ खड़ा है। जंगल में खड़ा है। कब से खड़ा है ? अकेला खड़ा है। उसको देखने के लिए गर्मी के दिनों में कोई नहीं जाता और कश्मीर की हरियाली सबको सुहानी लगती है। वहाँ हजारों-लाखों रुपया खर्च करके जाते हैं। वस्तु स्वरूप को यदि देखना चाहते हो, तो कश्मीर में रहकर तीनों ऋतुओं का दृश्य देख लेना चाहिए। गर्मी के दिनों में उसकी क्या दशा है ? वर्षा के दिन में उसकी क्या दशा है ? गिरने के पूर्व उसकी क्या दशा है ? अच्छे-अच्छे वस्त्रों के द्वारा सजाया जाता है। फूलहार पहना दिया जाता है और इत्र वगैरह भी लगा दिया जाता है। कँवर साहब, अब राजा साहब कहलाने लग जाते हैं। लेकिन, उनका वह सब उतार दो, तो ऐसा लगेगा। जैसे गर्मी के दिनों का वृक्ष हो। उसमें और इसमें कोई अन्तर नहीं है। आप बनियान वगैरह मात्र पहनकर फोटो नहीं लेते, अपितु अच्छे ढंग से सज-धज कर लेते हैं। किन्तु यह फोटो नहीं, एक्स-

रे है। इसमें कितनी भी सज-धज कर लो, जो होगा, वही तो आयेगा। क्यों भैया, क्या बात हो गई ? एक्सरे लेते समय तो ऊपर की मुद्रा अर्थात् चैन, मुकुटादि कुछ भी नहीं आयेगा। एक्सरे में बाहर का कुछ भी नहीं आता। आपके भीतरी पार्टस् मात्र आते हैं। भीतरी पार्टस् वही सही दर्शन है। सारा का सारा ज्ञान है। ज्ञान अर्थात् पाजिटिव और दर्शन अर्थात् नेगिटिव। दर्शन में साकारता नहीं, निराकारता रहती है। एक्सरे का एक बार दर्शन कर लो, तो वैराग्य हो जायेगा। आपका अस्तित्व, यह तो स्वप्न की भांति हैं, इसका त्याग करो। ठीक है, नहीं तो वह आपको छोड़ कर ही चला जाने वाला है। मांसलता एक्सरे में नहीं आती। रूप-कुरूपता एक्सरे में नहीं आती। धनाढ्यता नहीं आती। दुबला-पतलापन भी एक्सरे में नहीं आता। दुबला का अर्थ क्या होता है ? दो बल वाला। आप लोग क्या मानते हैं। उल्टा मानते हैं। दुबला-पतला का अर्थ एक ही मानते हैं। लेकिन वह एक्सरे में नहीं आता। मात्र वही भीतरी पार्टस् आ जाते हैं।

अध्यात्म की दृष्टि में आपका रूप यह नहीं है। आत्मा का स्वरूप यह नहीं है। आप न सुरूप हैं, न कुरूप। उसको एक बार दर्शन करने का जो सौभाग्य प्राप्त कर ले और जिन्होंने सौभाग्य प्राप्त कर लिया, उनके दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त कर लो, तो भी धन्य है। कभी-कभी आहार के उपरान्त हम कुल्ला करते हैं, तब तक एकाध भजन हो जाता है। उसमें कहते हैं-महाराज, यह कुछ समझ में नहीं आता, महल को कैसे आपने छोड़ा ? महाराज, आपने ऐसे ऐश्वर्य को कैसे छोड़ा? जो कपड़ा फट रहा है, उसको भी पैबंद लगाकर पहनना चाहते हैं। महाराज, आपने पकवान् को कैसे छोड़ा ? हमसे तो सड़ी-गली सब्जी भी नहीं छूटती। सेब का फल है। मानलो, वह आधा सड़ गया है, तो भी काटकर खा लेंगे। जिधर अच्छा है, उधर का ले लेते हैं। ऐसा फोकट में थोड़े ही आता है। बात समझ में नहीं आ रही है, कैसे चौरासी लाख हाथी, चौदह रत्न, करोड़ों घोड़े और सब सज-धज कर बैठे हैं और मन उचट जाता है, क्या बात हो गई ? यह पागलपन जैसा लगता है, परन्तु है नहीं। दुनियाँ पागल भले ही हो। लेकिन जब रहस्योद्घाटन हो जाता है, तब ज्ञानी वहाँ पर एक मिनट भी रहने के लिए तैयार नहीं होगा। बैठो-बैठो कहो, तो भी उठ जाता है। ठहरो...ठहरो कहो, तो भी चला जाता है। थोड़े धीरे-धीरे चलो, तो भाग जाता है। उनके लिए पालकी ले आते हैं। तीर्थंकरों के लिए पालकी है। अन्यों के लिए कोई पालकी नहीं आती, फिर भी पार हो जाते हैं सभी। संसार में मुड़कर पीछे देखते तक नहीं। उनको स्वप्न भी नहीं आता। क्योंकि मन से, वचन से, काय से उसका त्याग कर दिया। त्याग नहीं, अपितु अपने से राग कर लिया है। तो अपने आप ही त्याग हो जाता है। भोग-सामग्री ताकती रह जाती है और वह पहुँच गये उस पार। भोग सामग्री का मूल्य तब तक ही है, जब तक भोक्ता उपस्थित रहता है। भोक्ता जब उपस्थित नहीं रहता, तो वह फीकी-फीकी पड़ने लग जाती है।

जब बारात आपके घर से आकर चली जाती है, तो क्या होता है ? आप अपने अनुभव तो बताओ ? महाराज, सब कुछ रहता है। मात्र लड़की चली जाती है, तो घर खाली हो जाता है। ऐसा लगता है, कि घर खाने को आ रहा है। क्या घर भी खाने को आता है, खाने को दौड़ता है ? किसको खाने को दौड़ता है ? उसको भूख लगी है ? सोचने की बात है, कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती। इसी तरह चेतना जब चली जाती है, तो भोग्य सामग्री वैसी की वैसी रह जाती है।

बन्धुओं। जब तक यह आत्मा है, चेतन द्रव्य है, तब तक इस शरीर का कुछ मूल्य भी है। अन्यथा यहाँ पर कोई कुछ पूछने के लिए भी नहीं आता। मानलो, कोई व्यक्ति सेठ-साहूकार आदि भी हो, और वह यदि मर जाये तो उसे ले जाने के उपरान्त हम जमीन को भी धो लेंगे। धोयेंगे नहीं, तो बैठेंगे नहीं वहाँ पर। क्या हो गया ? अभी तक तो एक भी दिन धोया नहीं और उनके मरने से क्यों धोया गया ? सेठ-साहूकार भी अस्पर्श हो गये ? प्रत्येक घर का सदस्य यह मानता है, कि भैय्या जल्दी से ले जाओ और धोओ। जैसे छुआछूत की बीमारी लग गई हो। सब को धोओ। ऐसा क्यों होता है ? ऐसा नहीं महाराज, लोग ऐसा मानते हैं, कि बाद में वह छूने योग्य नहीं होता। कितने भी अच्छे वस्त्र क्यों न हों, यदि शव को एक बार पहना दिये, तो उनको कोई भी लेना पसन्द नहीं करेगा। नर्मदा के तरफ चले जाते हैं, तो देखने को मिलता है कि सारे के सारे नये वस्त्र वहीं छोड़कर चले जाते हैं। उनको कोई छूता तक नहीं। ऐसा क्यों हुआ ? अच्छा नहीं माना जाता। जब वैराग्य हो जाता है, तो ऐसा ही होता है। शृंगार भी अच्छा नहीं लगता। छुओ नहीं। और रागी को क्या लगता है ? जल्दी-जल्दी छोड़ दो इसको, तो हम रख लें। राग होता है तो भोग-सामग्री होती है। लेकिन सही भोक्ता तो मात्र ज्ञान होता है। वह सोचता है, कि मेरे कैसे कर्म का उदय था, जो इसके पीछे पड़कर जीवन को ही गँवा दिया ?

चमकीला और बिना चमकीला पत्थर, दोनों समान रहते हैं। जो चमकीला नहीं है, उसको चटनी बांटने के काम में ले लेते हैं और जो चमकीला होता है उसको अपने आप को चमकीला बनाने के लिए गले में बांध लेते हैं। मतलब, गले में पत्थर बांधते हैं और कुछ नहीं बांधा जाता। महाराज! आप पत्थर कह रहे हैं ? क्या कह रहे हैं ? आप इसका मूल्य क्या समझते हैं ? जयपुर के जौहरी बाजार में आकर देख लो, कितना मूल्य होता है ? यह मूल्य निर्धारण तो आप लोगों के द्वारा किया गया है। उसका मूल्य उमास्वामी महाराज ने पंचम अध्याय में कहा है-

रूपिणः पुद्गलाः॥

चाहे चमकीला हो या चमकीला नहीं हो, सभी रूपी हैं। रूप, रस, स्पर्श, गन्ध वाला पुद्गल है। वह जड़ होता है। उसमें रखा गया मूल्य तब तक ही होता है, जब तक राग होता है। यह ध्यान

रखो, यदि राग रहते हुए भी उसकी मात्रा बढ़ जायेगी, तो वह अपने आप ही कंकर-पत्थर जैसा हो जायेगा। सोना बहुत कम मात्रा में मिलता है, इसलिए सोना है। और यदि सोने के ढेर में आपको ले जायें, तो क्या ? जहाँ पर कमोवेशीपन नजर आता है, वही पर बड़े-बड़े अहमिन्द्र बन जायेंगे, अन्यथा सब समान हो जायेंगे।

देखो, यदि सारे के सारे करोड़पति हो जायें, तो एक करोड़पति दूसरे करोड़पति के लिए क्या समझेंगे ? कोई कीमत नहीं। क्या कह रहे हो ? सोच लो जरा। सारे के सारे अरबपति हो जायेंगे, तो भी यही हाल होगा। करोड़पति हो, और अरबपति हो, तो अरबपति का साफा फर्राता रहता है। करोड़पति का साफा भी फर्राता रहता है, लखपति के सामने। लखपति का साफा भी फर्राता रहता है, हजारपति के सामने। हजारपति का भी साफा फर्राता है उसके सामने जो आज का आज लाकर खाता है। आज लाकर खाने वाला भी भिखारी के सामने कहता है, कि अपने परिश्रम की खाता हूँ। तू भी काम करके खा। एक-दूसरे के लिए यह व्यवस्था है।

जब स्वरूप का बोध होता है, तो न कोई करोड़पति है, न अरबपति। न लखपति है, न हजारपति। न छोटा है, न बड़ा है। न कोई रूपवान् है, न कोई कुरूपी। न कोई ज्ञानी, न कोई अज्ञानी। कोई अन्तर नहीं।

सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया॥

शुद्धनय का आलम्बन ले लो, तो सारे के सारे शुद्ध नजर आयेंगे। कोई छोटा नहीं, कोई बड़ा नहीं। ये जो भी विषमतायें हैं, केवल अशुद्ध निश्चयनय या व्यवहारनय अथवा बाहरी उपचारनय की विषय बन जाती हैं। धन्य हैं वे, जिनके आँख के ऊपर केवल एक शुद्ध निश्चयनय का चश्मा लगा है, वे सब ही जीवों को एक ही दृष्टि से देखते हैं। जहाँ एक समान देखा, कि रागद्वेष नहीं रहे। जहाँ भेद हुआ नहीं, कि रागद्वेष प्रारम्भ हुआ। विकल्प पैदा हो गये।

विवाह के बाद पति-पत्नी में प्रेम होता है। लेकिन जब संतान उत्पन्न हो जाती है, तो उनका प्रेम बंट जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि दर्शन व ज्ञान ये दो उपयोग रहे तो कुछ भी नहीं होगा। बीच में कोई आ गया, तो बस। उसके माध्यम से कुछ आदर मिला, प्रेम मिला। उसमें ऐसा घुल-मिल जाता है कि दर्शन व ज्ञान को भूल जाता है। और दर-दर भटकने लग जाता है।

पुत्र की रक्षा के लिए सात-समुन्दर को पार करने की भी तैयारियां प्रारम्भ कर देता है। पुत्ररत्न बहुत दिनों तक नहीं मिला था। मिल गया, तो फूला नहीं समाता। मिठाई बांटने लग जात है। दूसरे दिन सोचने लग जाता है—इसके लिए दस खण्ड का मकान चाहिए। इसके लिए जमीन चाहिए। इसके लिए जायजाद चाहिए। इसके लिए दुकान चाहिए। नौकर चाहिए, चाकर चाहिए।

यह चाहिए, वह चाहिए। मैं यहाँ पर बैठूंगा, तो यह सब हो नहीं सकता। लाला तू यहीं पर बैठ जा। पत्नी को कह देता है–तू इसको संभाल ले, मैं जाकर आता हूँ। और सात समुन्दर पार हो गया। घर छोड़ा, बार छोड़ा। बार का मतलब क्या ? वाड़ी, जे घर के सामने होती है। उसको बार बोलते हैं। घर छोड़ा, बार छोड़ा, परिवार छोड़ और प्यार छोड़ा, सब छोड़ा। यहीं का यहीं। और धुन लग गई। भटकता-भटकता चला जाता है। मेरा कर्त्तव्य है, यह तो ठीक है। लेकिन कब तक कर्त्तव्य है ? जब तक मैं घर में रहूँ, तब तक। फिर तो ठीक है, अन्तिम घड़ी तक कोई छोड़ेगा नहीं। क्या समझते हो?

तीर्थंकर क्यों त्यागें, संयम से क्यों अनुरागे...?

सोचो, विचार करो, भरा हुआ है, फिर भी उसको छोड़ने का विकल्प क्यों आया ? भेदविज्ञान की यही एक मात्र करामात है।

हर्ष नहीं, विषाद नहीं, एक मात्र वैराग्य भरा हुआ है। संवेग से परिपूर्ण वह जीवन किसी से प्रभावित नहीं होता। और किसी से प्रभावित नहीं होना ही रागी के लिए एक अवसर प्रदान करता है, यह सोचने के लिए कि क्या बात है ? सब कुछ होते हुए भी क्यों इधर आ गये ? रहस्य समझना हो, तो कुछ समय के लिए यहाँ रहो। पूछने की कोई आवश्यकता नहीं ? क्योंकि इन्हीं समस्याओं के कारण विकल्प होते हैं। लेकिन अब उनको कोई भी संकल्प नहीं, विकल्प नहीं। कल की चिन्ता नहीं। अरे, कल की चिन्ता क्या करते हो ? चिन्ता करने वाले चिन्ता करें। लेकिन कल कोई वस्तु नहीं। आज आराम के साथ रहता है जंगल में भी। कल नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। वस्तु कैसे नहीं है ? भरी हुई हैं वस्तुएं। जमाना ही भरा हुआ है। जहाँ कहीं भी चले जाओ, सभी जगह विषय मिलते रहते हैं। धन्य हैं वे, जिन्होंने इस रहस्य को समझा। उत्तम त्याग वहीं है, जहाँ किसी के प्रति राग नहीं रहता।

जो राग करता है, वह बंध को प्राप्त होता है। राग से मुक्त वह होता है, जो वीतराग होता है। इस प्रकार का बंध व मोक्ष तत्त्व का संक्षेप में यह व्याख्यान है। भगवान् ने कहा–किसी भी पदार्थ के प्रति राग और द्वेष मत करो, यही एक मात्र सही त्याग व तपस्या है। परद्रव्य को छोड़ना यह वस्तुतः भीतरी राग को छोड़ने का एक बाहरी/औपचारिक उपाय है और कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार ऑपरेशन के पहले इंजेक्शन लगाना होता है, तो स्प्रिट के द्वारा कुछ जगह को साफ कर लेते हैं। यह कोई उपचार नहीं है। यह कोई ट्रीटमेन्ट नहीं है। कोई चिकित्सा नहीं है। यह कोई पैथी नहीं है। केवल उस स्थान को शुद्ध कर लिया गया, ताकि हम इंजेक्शन लगा सकें। बस इतना ही बाहरी त्याग का अर्थ है। बाहरी त्याग का अर्थ, केवल स्प्रिट लगाकर उस स्थान को साफ करने का प्रयास कर दिया गया। भीतर से यदि राग का विमोचन होता है, तो संयमलब्धि स्थान बन जाते हैं। नहीं तो ऐसा लगते हुए भी, कि हम तो पार हो गये, ऊपर चढ़ गये, लेकिन होता नहीं। कब नीचे आ जाता

है ? कब ऊपर चला जाता है ? यह सब भीतर के भावों पर ही आधारित होता है। वस्तु हाथ में नहीं, वस्तु के प्रति राग हुआ नहीं, कि वह नीचे आ गया। और वस्तु वहीं की वहीं है। यदि राग छोड़ दिया, तो वह ऊपर चढ़ गया। जैसे, थर्मामीटर में पारा रहता है। उसको आपने टच भर कर दिया तो क्या वह आपके भीतर घुस गया ? थर्मामीटर कहीं घुसा तो है नहीं। यहाँ टच करा दिया, तो उसमें बुखार चढ़ गया। ध्यान रखना, थर्मामीटर में बुखार नहीं चढ़ा। बुखार तो आपमें ही है। थर्मामीटर बता रहा है, कि १०६ डिग्री बुखार है।

मानलो, किसी ने गाली सुना दी, तो पारा चढ़ गया। दूसरा भी वहीं पर बैठा है, उसको नहीं चढ़ा। क्योंकि उसने स्वीकार नहीं किया। त्याग होने के उपरान्त जिसके जीवन में यह दशा हमेशा बनी रहती है, तो निश्चित रूप से असंख्यातगुणी कर्मों की निर्जरा करता हुआ, अवश्य ही कुछ दिनों में या वर्षों में या भवों में वह मुक्त होगा, इसमें कोई संदेह नहीं। यहाँ का व्यक्ति जो निर्वाण को प्राप्त होता है, वह आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त के उपरान्त मुक्त हो सकता है। इतनी कम उम्र में वह मुक्त हो सकता है। महाराज! ऐसा भी कोई रास्ता है क्या ? हाँ, रास्ता है। आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त में मुक्त होने की बात कही है। यहाँ से सीधे विदेह चला जायेगा, लेकिन सम्यग्दर्शन छूटेगा। यह ध्यान रखना। वहाँ पर आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त के बाद मुनि बनेगा और मुक्त हो जायेगा। किसी को पता ही नहीं लगेगा, कि कहाँ गया हमारा दोस्त ? ऐसे भी रास्ते हैं ?

राग और द्वेष, विषय और कषाय, बन्ध और मोक्ष ये समझ में आ जायें, तो सब सरल है। लांग लाइन से आप चलोगे, तो कुछ होने वाला नहीं है। त्याग वस्तुतः बाहरी नहीं वरन् भीतर चेतन में जो राग, द्वेष, मद, मत्सर आदि हैं, उन्हीं का त्याग करना है। उनके प्रति अहम् बुद्धि छोड़ देना है। इसी त्याग को उत्तमत्याग संज्ञा दी गई है। वह ख्याति, पूजा व लाभ के लिए नहीं किया जाता, वरन् आत्मोन्नति के लिए, कर्म निर्जरा के लिए किया जाता है। उस त्याग को हम बार-बार नमस्कार करते हैं, जिसके माध्यम से हमारा विकास अवश्यंभावी है।

अहिंसा परमो धर्म की जय...।

❑ ❑ ❑

वासना का परित्याग : ब्रह्मचर्य

ऐसी प्रतिभा और ऐसी क्षमता हमारे पास होते हुए भी हम मोह के कारण, वासना के कारण या कुछ कर्मों के कारण ऐसे जकड़ गये हैं, कि वह शक्ति बाहर की ओर नहीं आ पा रही है। प्रयास करेंगे तो अवश्य ही वह उद्घाटित हो सकेगी।

वासना की जागृति, वासना की रक्षा व वासना की उन्नति होती है, तो एक मात्र जड़

के ऊपर हाइलाइट देने से होती है। जड़ को यदि आप पूरी आँख स्फारित करके देखते हैं, तो वह राग का कारण बन जाता है। प्रभु को एक बार अपनी दोनों आँखों से स्फारित करके देखो, आलस्य के साथ मत देखो, तो आपका वैशद्य ज्ञान निश्चित रूप से विशदता की ओर ही जायेगा।

आकाश मार्ग से एक दंपत्ति मनोरंजन के साथ जा रहा है। पत्नी को उसके पति ने बहुत सारी बातें सुना रखी थी, जो गलत भी नहीं थीं। आत्मप्रशंसा भी नहीं थी। औरपर की उसमें आलोचना या निंदा भी नहीं थी। वस्तुस्थिति लगभग ठीक थी। इन सब बातों को सुनकर पत्नी ने सोचा—यह हमारा बहुत बड़ा सौभाग्य है, कि हमारा सम्बन्ध इस प्रकार के पति से हुआ। एक बार पत्नी ने पूछा—पतिदेव ऐसा भी कोई व्यक्ति है, जो आपके अण्डर में नहीं हो जान-बूझकर पूछ रही है क्या? जान-बूझकर नहीं। फिर क्यों पूछ रही है ? इसलिए पूछ रही हूँ कि हमें सुनने में यही आया—प्रत्येक क्षेत्र में अपवाद भी हुआ करते हैं। वह अपवाद क्या वस्तु है ? लगता ऐसा है कि किसी व्यक्ति को देखकर पूछ रही हो। हाँ, यह कौन है ? किस ओर आपका इशारा है ? देखो, उस पेड़ के नीचे जो हैं, वे हमारे अंडर में नहीं हैं।

आपके अंडर में नहीं है, तो फिर वे किसके अंडर में है ? पगली कहीं की, जब यह कहा—कि मेरे अंडर में जो नहीं रहता वह दूसरे के अंडर में भी नहीं रहता। यह निश्चित बात है। वे क्या करते हैं ? आप उनको अपने अंडर में क्यों नहीं रख सकते ? यह दूसरी बात है। मैं हठात् किसी को अपने अंडर में नहीं रखता हूँ। लेकिन यदि रहना चाहता है, तो आश्रय अवश्य देता हूँ। वे रहना नहीं चाहते।

सब जगह अपनी-अपनी प्रशंसा की जाती है। प्रतिपक्ष की बात नहीं रखी जाती। जब यह पूछा गया, तो कहना आवश्यक होता है। अपने लड़के को आँखों से यदि नहीं भी दिखता है, तो भी उसे नयनसुख कहा जाता है। अपना लड़का रोता रहे, तो भी अशोक नाम रख लेते हैं। अपना लड़का काला भी हो, तो भी चन्द्रमा की उपमा फीकी पड़ती है। वह राजकुमार है। यह अपनत्व की बात है। वह अपने अंडर में नहीं तो फिर किसके पास रहता है ? क्या उसका जीवन किसी के पास नहीं? जिस किसी के पास रहना होता है। जहाँ पर रहना होता है, अपने आप एक-दूसरे से बाधित होते चले जाते हैं। वह निर्बाध अवस्था का अनुभव करते हैं। वे तीन लोक के नाथ हैं।

सुना था, स्वामी आप तीन लोक के स्वामी हैं ? हूँ, अभी भी। लेकिन यह एक पक्ष की बात है। जिनके पास कोई नहीं रहता और कोई रहना भी नहीं चाहता। जबकि मेरे पास बहुत सारे लोग आ जाते हैं, तो शरण देना अनिवार्य है। लेकिन हमारी कुछ कमजोरी है, यह बात अलग है। यदि

वे किसी के अंडर में नहीं रहते, तो उनका जीवन क्या है ? वे महान तपस्वी हैं। महान शक्तिशाली हैं। उनके पास वह शक्ति है, जो मेरे पास घुटने टेकते हैं, वे सारे के सारे मेरे सहित उनके चरणों में घुटने टेकते हैं। बस इतना ही अन्तर है। इसका अर्थ हो गया, तीन लोक उनके अंडर में हैं ? मैंने कब कहा कि तीन लोक इनके अंडर में नहीं है। मेरे अंडर में भी है। इसलिए आज तक हमने इस बात को नहीं बताया। वे कौन हैं, मालूम है आप लोगों को ? पति-पत्नी कौन हैं ? पति का नाम कामदेव और पत्नि का नाम रति है। ये दोनों विहार कर रहे थे। यह निश्चित है, कि एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक सारे के सारे जीव इनके अंडर में हैं। इनके वशीभूत हैं। चार संज्ञा रूपी बुखार से पीड़ित हैं। आप लोगों को कभी कभार बुखार आ जाता है, तो कहते हैं कि महाराज, आशीर्वाद दो। हम सोचते हैं कि कैसा आशीर्वाद ? महाराज, ॐ शान्ति का आशीर्वाद दे दो, ताकि सब शान्ति हो जाय।

वासना का ज्वर, जो अनन्तकाल से चढ़ा है। चाहे वह संज्ञी पंचेन्द्रिय अर्थात् मन सहित हो या फिर मन रहित। विकलेन्द्रिय हो या एकेन्द्रिय। चाहे पृथ्वीकायिक हो या वायुकायिक। कोई भी हो, सब उसी के अंडर में रहते हैं। लेकिन यह ध्यान रखना, इनकी संख्या सबसे बड़ी है। अनन्तानन्त के रूप में आ जाते हैं। सिद्धों की संख्या इतनी नहीं। इनकी संख्या का पार ही नहीं, और हमेशा-हमेशा इतनी ही बनी रहती है।

इसलिए अपनी पत्नि के सामने कामदेव हमेशा-हमेशा अपनी आत्मा की बात करता रहता है। रति को ज्ञात हुआ—धन्य है यह जीवन, ऐसा भी रहा जा सकता है। और जाकर के दोनों ने नतमस्तक होकर नमोऽस्तु किया। आशीर्वाद की कोई बात नहीं थी। क्योंकि यह निश्चित है, जो स्वामी होता है, बड़ा होता है, उसके सामने जाकर नमोऽस्तु किया जाता है। हमें यह सोचना चाहिए—व्यक्ति, जिसे हम बड़ा मानते हैं, वह भी किसी के अंडर में रहता है। डायरेक्ट भी हम सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। लेकिन दुनियाँ की बात नहीं होना चाहिए।। दुनियाँ से अतीत होने की बात होनी चाहिए।

भक्तामर जी आप प्रतिदिन पढ़ते हैं—

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशांगनाभि-
र्नीतं मनागपि मनो न विकारमार्गम्।
कल्पान्तकालमरुता चलिताचलेन,
किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित्॥

इसमें क्या आश्चर्य ? जिसका मन, जिसका चित्त, जिसका उपयोग अप्सरायें या रति से भी बढ़कर जो रूपशालिनी हैं, वे भी चलायमान नहीं कर सकीं।

कल्पान्तकालमरुता चलिताचलेन,
किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित्॥

कितना अच्छा स्तवन है। जैसे कितना भी प्रलयकारी तूफान आ जाय तो भी आज तक मेरु पर्वत थोड़ा भी हिला नहीं। टूटा नहीं। वह ज्यों का त्यों खड़ा है। संभव है प्रलयकारी तूफान के द्वारा उसमें कुछ कमी आ सकती है। लेकिन हे भगवन्! आपका चित्त कभी भी विकारमार्ग को प्राप्त नहीं हो सकता। यह भगवान् को स्मरण करने की एक पद्धति है।

मानतुंग महाराज अपने मान को छोड़कर नभ से भी उत्तुंग पहुँच गये हैं। ऐसे भगवान् की स्तुति करके अपने आप को कृतकृत्य बना लिया। अपने आपको उपकृत बना लिया। अपने आपको भाग्यशाली समझ लिया। आज आप लोग भक्तामर को प्रतिदिन याद करते हैं। थोड़े धीरे-धीरे याद किया करो। आपकी चाल उत्कल की चलती है, या राजधानी की होती है। ये सारे के सारे रेल के ही नाम बोल रहा हूँ। कहाँ से कहाँ तक पहुँच जाता है ? पता नहीं। भक्तामर जी का अखण्ड पाठ करने के उपरान्त भी स्तुति के अर्थ की ओर आपका उपयोग नहीं जाता। तब आनन्द नहीं आयेगा। मैं इस पाठ का निषेध नहीं कर रहा हूँ। करिये, वर्षों हो गये, थोड़ा-सा अर्थ का स्वाद भी लेने का प्रयास कीजिये। महाराज, अर्थ की ओर हम चले जाते हैं, तो बहुत देर हो जाती है। रेल चूक रही है क्या ? **एक पद का भी अर्थ सहित आप पाठ करते हैं, तो आनन्द की जो अनुभूति होगी, वह अलौकिक होगी। अर्थ याद होते हुए भी यदि जल्दी पढ़ेंगे, तो अर्थ का स्वाद नहीं आयेगा।**

भोजन करते समय यदि जल्दी-जल्दी खा जायें, तो पेट तो भर जायेगा। लेकिन स्वाद नहीं आ सकता। इसी तरह वहाँ पर एक शब्द बोला नहीं, और दूसरे शब्द की ओर चला गया, तो अर्थ गायब हो जाता है। इसलिए अर्थ की ओर चले जाते हैं, तो व्याघात हो जाता है। इतना अवश्य होता है, कि जब भगवान् की स्तुति या गुणानुवाद करते हैं, तब गुण का क्या अर्थ है ? यह अलौकिक गुण है। इस प्रकार के गुण अन्यत्र पाये नहीं जाते, ऐसा विचार रहता है।

संसारी प्राणी शील से रहित है। और वे भगवान् शील के शिखर पर हैं। शैलेश बोलते हैं उनको। कर्मसिद्धान्त ग्रन्थों में उनको शैलेश कहा गया है। शील का ईश अर्थात् सुमेरु के समान उनका शील अडिग है। अकम्प है। अथवा शैलेश का अर्थ शील का पूर्णतः विकास होने से उनको शैलेश बोलते हैं।

जब आत्मा का स्वभाव ज्ञात हो जाता है और उसके ऊपर मजबूती के साथ श्रद्धान टिक जाता है, तब रति कहती है—धन्य हैं, इनने अपने आप को किसी के सामने समर्पित या शरण के रूप में स्वीकार नहीं किया।

रावण बड़े-बड़े व्यक्तियों को पछाड़ने की क्षमता रखता था। लेकिन, ज्यों ही व्रत की बात आ जाती है, हाथ जोड़ कर खड़ा हो जाता है। इतना छोटा हो जाता है, कि वह बिल्कुल ही दण्डवत् कर देता है। मैं यह नहीं कह सकता, कि यह साहस की बात है। यह बाद की बात है, श्रद्धान की बात पहले होना चाहिए। साहस क्यों नहीं होता ? श्रद्धान कमजोर होने के कारण साहस नहीं होता। महाराज, ऐसा कोई आशीर्वाद दे दो, ताकि हमारा साहस बढ़ जाय। आपका तो स्वास्थ्य बढ़ रहा है। अभी साहस कैसे बढ़ेगा ? अपने आप के ऊपर विश्वास लाइये। अपने स्वरूप का चिन्तन करते-करते सम्यग्दर्शन ठोस बन जाता है। दृढ़ हो जाता है। फिर साहस करो, ऐसा करने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि स्वरूप बोध जिसको हो गया, वह अपनी शक्ति का प्रयोग करता ही रहता है। जैसे मिलेट्री सोई हुई नहीं रहती। वह हमेशा-हमेशा अपने प्रयोग करती ही रहती है। तालीम में भी तालीम करते रहते हैं। पहलवान लोग जिस प्रकार मैदान में आ जाते हैं, उसी समय नहीं, अपितु प्रतिदिन प्रयोग करते रहते हैं।

विश्वास के माध्यम से प्रयोग करते हैं, तो साहस होता चला जाता है। जिस ओर हम बढ़ते हैं, देखते हैं, उसी ओर का एक प्रकार से आदर या बहुमान आता चला जाता है। गौण और मुख्य इसी का नाम है। गौण करते ही जो मुख्य सामने है, वह महत्त्वपूर्ण दिखने लग जाता है।

गौण-मुख्य का अर्थ क्या है ? संक्षेप में बताओ महाराज। मुख्य का अर्थ हाइलाइट। आप फोटो लेते हैं। फोटो लेते समय एड़ी से लेकर चोटी तक वह व्यक्तित्व है आपके सामने। लेकिन कौन से अंग के ऊपर हाइलाइट देना है ? यह आपके ऊपर निर्धारित होता है। वही मुख्य माना जाता है। एक व्यक्ति मुख्य होता है और अड़ोस-पड़ोस में जो खड़े हैं, वे गौण हो जायेंगे। यद्यपि उस फोटो में आ जायेंगे, लेकिन मुख्य उसी का फोटो आयेगा, जिसके ऊपर आपने हाइलाइट की है। कई लोग पत्र में भी अंडर लाइन कर देते हैं। पत्रिका में तो करते ही हैं, पत्र में भी कर देते हैं। क्योंकि सर्वप्रथम उसी ओर ध्यान जाय। एक-एक पहलू के बारे में, स्वभाव के बारे में, गुणों के बारे में हाइलाइट के साथ यदि भगवान् की स्तुति करते हैं, तो एक श्लोक के द्वारा भी आप लोगों को बहुत ही आनन्द आ सकेगा। ४८ कड़ियों तक पहुँचते-पहुँचते आपको बहुत देर हो जायेगी। परन्तु आपको समय का पता नहीं चलेगा।

जब मन ज्यादा लग जाता है, रम जाता है, तो समय का पता नहीं चलता। यह साहस की बात नहीं, यह विश्वास की बात है। यह दृढ़ता की बात है। **विश्वास या दृढ़ता तब आती है, जब हम किसी वस्तु को सार्थक-अर्थ सहित देखना प्रारम्भ कर देते हैं। वस्तु स्वभाव धर्म कहा गया है। वस्तु का तो हमने नाम ले लिया, किन्तु स्वभाव की ओर दृष्टिपात नहीं किया तो धर्म**

का स्वाद नहीं आ पायेगा। मात्र खाना-पूर्ति नहीं करना चाहिए। खाने के द्वारा पूर्ति होना चाहिए। खाने के पूर्व भी वही दशा, खाते समय भी वही दशा, खाने के बाद भी वही दशा, यह बात है ? भोजन का महत्त्व भी तो समझो। अर्थ के द्वारा ही रस आता है।

यो यत्र निवन्नासते स तत्र कुरुते रतिम्।
यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति॥

यह अन्यत्र नहीं आता। यह इष्टोपदेश का श्लोक बहुत ही अच्छा है। आप लोग उच्चारित करते हैं और यहाँ पर अर्थ सहित पढ़ते हैं। आज समापन हुआ, ऐसा सुनते हैं हम भी। कितने बढ़िया हैं, पढ़ाने और पढ़ने वाले, दोनों समझें इस बात को।

जो सिद्धोदय में रहता है, तो क्या वह अन्यत्र जाना चाहेगा ? दस दिन की बात थी, महाराज जल्दी मत करिये। यह अन्तिम उपसंहार का दिन है। यह ध्यान रखना, इसमें सब कुछ आ सकता है। भगवान् के स्वरूप के विषय में आपने पढ़ा-सुना-चिन्तन किया। संगोष्ठी की। दर्शन के माध्यम से भी आपने बहुत कुछ पाया। तुलना करिये, हमारा स्वरूप भी इस प्रकार होकर भी वर्तमान में हम क्यों बाधित होते चले जा रहे हैं ? क्योंकि प्रभावित होते चले जा रहे हैं, दूसरी वस्तु से ? जबकि यह वस्तु ऐसी अलौकिक है।

भक्तामर के बारे में भी मुझे कुछ ऐसा ही लगता है। **स्तोत्रस्त्रजं तव जिनेन्द्रगुणैर्निबद्धां** बस उसके उपरांत कौन-सा प्रारम्भ करें ? बीच की सभी कड़ियां आप लोग भूल जाते हैं। वैज्ञानिकों ने इस अवस्था को अवचेतन अवस्था कहा है। चेतन अवस्था नहीं, अवचेतन दशा। अवचेतन का अर्थ चेतना दशा नहीं, यही इसका प्रतीकार्थ है। जिसमें रस नहीं आता, जिसकी ओर उपयोग नहीं रहता, वही अवचेतन दशा मानी जाती है।

स्तोत्र पढ़ते समय अर्थ की ओर जाने लग जायें, तो फिर बहुत धीरे-धीरे पढ़ा जायेगा। फिर भी थोड़े से स्पीड रख सकते हैं। **णमो अरिहंताणं** बार-बार बोलेंगे, तो अर्थ समझने की कोई आवश्यकता नहीं। उसी प्रकार इन स्तोत्र की कारिकाओं में भी यही बात है। अर्थ का अच्छी तरह चिन्तन किया जाय, तो स्तोत्र की कारिका आते ही अर्थ झलकने लग जाता है। इस प्रकार जब हम सोचते हैं, तो लगता है, रस तो कम निकालते हैं, और वैसे ही हम आगे बढ़ जाते हैं। रस के अभाव में शक्ति का निर्माण व दृढ़ता नहीं आती। ध्यान रखो, जितना पचेगा उतनी ही शरीर को स्फूर्ति मिलेगी। ताजगी मिलेगी। और एकाध दिन नहीं भी मिलेगी, तो भी उसके द्वारा काम चल जायेगा।

दस दिन आप लोगों ने यहाँ पर पूर्ण किये। भगवान् के स्वरूप के बारे में आपने क्या समझा? कैसे भगवान् हैं ? तीन लोकों में अनूठे हैं। ऐसी उपमा हम किसी दूसरे को नहीं दे सकते।

ऐसी प्रतिभा और ऐसी क्षमता हमारे पास होते हुए भी हम मोह के कारण, वासना के कारण या कुछ कर्मों के कारण ऐसे जकड़ गये हैं, कि वह शक्ति बाहर की ओर नहीं आ पा रही है। प्रयास करेंगे तो अवश्य ही वह उद्घाटित हो सकेगी।

सब कुछ लखते पर नहीं, प्रभु में हास्य विलास।
दर्पण रोया कब हंसा ?, यह कैसा संन्यास॥

यह सर्वोदय की देन है। सर्वोदय तीर्थ अमरकण्टक में यह दोहा लिखा गया। वस्तुतः क्षेत्रों के भी प्रभाव रहते हैं। भगवान् का स्वरूप कैसा है ? तीन लोक के सारे चित्र-विचित्र उनकी आँखों के सामने हैं। राग की सामग्री भी है और द्वेष की सामग्री भी है। ग्लानि की सामग्री भी है। अतीत भी है, अनागत भी है और वर्तमान भी है। बैरी भी है, मित्र भी है। आज भले ही बैरी-मित्र नहीं है। यह सारा का सारा भरा हुआ है। इतिहास बैरी और मित्रों से भरा है। माँ भी है, बहिन भी है, भाई भी है, यह सारी की सारी तालिका है। माँ आ गई, तो माँ से पूछने लग जाते हैं—कैसी हैं ? क्या है? ऐसी लाखों माँ हैं। लेटेस्ट की बात होती है महाराज। जब वह अनन्तकालीन ज्ञान हो जायेगा तो सारे के सारे लेटेस्ट जैसे हो जायेंगे। वर्तमानवत हो जायेंगे। अब एक पर्याय में पुरानापन और एक पर्याय में नयापन नहीं, किन्तु अनन्तकाल पीछे जो घटना घटी थी, वह भी आज वर्तमान में घट रही है। इसमें कुछ नया-पुरानापन नहीं है। ज्ञान का विषय नया-पुराना नहीं होता। यद्यपि काल इतना व्यतीत हो गया, कि वह पर्याय पुरानी मानी जाती है, किन्तु वह काल की विवक्षा में है। अतः यह स्पष्ट है।

प्रत्यक्ष कैसा होता है ? प्रत्यक्ष हमेशा-हमेशा विशद हुआ करता है। विशद का भाव वैशद्य माना जाता है। क्या अर्थ हुआ ? विशेषता के साथ ही जाना जाता है, देखा जाता है। किसी प्रकार के व्यवधान के बिना और किसी का सहारा लिये बिना, ऐसा प्रत्यक्ष अवभासन होता है, जो विशद अवभासन माना जाता है। इसीलिए सभी लेटेस्ट अर्थात् वर्तमानवत जानते हैं। जिस प्रकार हम वर्तमान को जानते हैं। उसी प्रकार वे अतीत और अनागत को जानते हैं।

सब कुछ लखते, पर नहीं, उनमें हास्य-विलास।

न राग है, न द्वेष है। न सुख है, न दुख। न संयोग है, न वियोग। मात्र उपयोग टंकोत्कीर्ण बना रहता है। उनके सामने कोई भी पदार्थ लेकर के जाओ, वे कभी भी हंसते नहीं, न ही रोते हैं। लेकिन दर्पण को देखने वाला अवश्य हंसता व रोता है। प्रायः करके पुरुष लोग मूंछों पर ताब देते हैं, दर्पण देखते समय। बार-बार क्यों बंकिम दृष्टि से देखते हो दर्पण में ? सोचो, अतीत में कितने बार आप दर्पण में देखते हुए आये हो, वह केवली भगवान् के दर्पण में आ रहा है। यह सब कुछ होकर भी कोई प्रभाव नहीं होता।

ज्ञेयों का प्रभाव ज्ञान के ऊपर नहीं पड़ता और ज्ञान का भी प्रभाव ज्ञेय पर नहीं पड़ता। मोह के कारण यह सब घटित हो जाता है, मोह को थोड़ा-सा गौण कर दो और हाइलाइट आप ज्ञान के ऊपर दो, तो बहुत ही अच्छी बात हो जायेगी। हाइलाइट समझ में आ गया। हमेशा-हमेशा आत्मतत्त्व को मुख्य बनाओ या परमात्मतत्त्व को मुख्य बनाओ। जड़ गौण हो जाय, उस पर हाइलाइट मत दो। जड़ के ऊपर हाइलाइट देने से आत्मतत्त्व व प्रभु तत्त्व, ये दोनों गौण होने से अंधकार सामने आ जायेगा। यह ध्यान रखो, वासना की जागृति, वासना की रक्षा व वासना की उन्नति होती है, तो एक मात्र जड़ के ऊपर हाइलाइट देने से होती है। जड़ को यदि आप पूरी आँख स्फारित करके देखते हैं, तो वह राग का कारण बन जाता है। प्रभु को एक बार अपनी दोनों आँख से स्फारित करके देखो, आलस्य के साथ मत देखो, तो आपको वैशद्य ज्ञान निश्चित रूप से विशदता की ओर ही जायेगा। और दुनियाँ गौण हो जाय, दुनियाँ के बारे में आप मौन हो जायें। अब बातें करते रहो अपनी आत्मा से। आपका मौन टूटेगा नहीं। प्रभु से आप बोलते रहिये, आपका मौन टूटेगा नहीं। क्योंकि दुनियाँ के साथ नहीं बोलने का नियम दिया जाता है, प्रभु के साथ बोलने का नहीं। प्रभु के साथ तो समय कम देते हो। महाराज, बोलते तो हैं ही नहीं वे। क्या आपने कभी बुलवाया है उनको ? महाराज, बहुत कोशिश की।

ऐसे नहीं बोलते। उनकी भाषा समझने का प्रयास करो। टूटी-फूटी थोड़ी-सी भाषा आती है। उनकी भाषा कौन सी है क्या पता ? उनकी भाषा कौनसी है ? आप लोगों को मालूम नहीं है। हाइलाइट दीजिए उनको। जब आप फोन की बारीक-सी आवाज भी सुन लेते हैं, तो भगवान् की वाणी क्यों नहीं सुन सकते ? दिव्यध्वनि खिरती है, तब वहाँ पर आपके अन्यत्र के जो कनेक्शन हैं, वे समाप्त हो जाते हैं। तो प्रभु क्या बोल रहे हैं ? यह समझ में आने लग जाता है।

अवाग्विसर्गं वपुषा मोक्षमार्गं निरूपयन्तम्।

जब मुनि महाराज की यह स्थिति है, तो प्रभु की स्थिति क्या होगी ? आप समझो। तीन लोक के समस्त पदार्थ उन्हें दृष्टिगत हो रहे हैं। फिर भी उन्हें राग नहीं, द्वेष नहीं। और यहाँ थोड़ी-सी बात सामने आ जाती है, तो राग और द्वेष होने लग जाता है। समझ में नहीं आता क्या करें ? हाइलाइट की कमी है। चिन्तन की मात्रा तो है, लेकिन बहुत कम समय के लिए है। एक मिनट के लिए भी जियो, लेकिन पूर्णतः जियो। क्योंकि मात्रा के अनुसार हम देखते हैं तो पर की मुख्यता में ज्यादा समय गुजर जाता है। और स्व को या प्रभु को बहुत कम समय मिलता है। और हाइलाइट कब किया जाता है ? पहले भी नहीं दिया जाता, और बाद में भी नहीं दिया जाता। जिस समय बटन दबाया जाता है आटोमेटिक, उसी समय हाइलाइट दिया जाता है। आप लोग बहुत समय जड़ तत्त्व पर देंगे। और जिस समय आत्मतत्त्व आ जाता है, उस समय बटन दबाते हैं। लेकिन वह ऐसे ही

समाप्त हो जाता है। ऐसा फोटो खराब हो जाता है। दुबारा ले लेंगे। दुबारा क्या ले लोगे ? अब हाइलाइट यानि अर्पित तो मुख्य हो और अन्य जो पदार्थ है, वह ज्यादा लाइट में न आये।

प्रभु तीन लोक के जाननहार हैं, फिर भी वे कभी रोते और हँसते नहीं हैं। मध्यस्थ रहते हैं। मध्यस्थ कैसे रह जाते हैं ? प्रभु को देखो अपने आप जान जाओगे। कैसे रहा जाता है ? हँसने वाले को देखो, तो हँसना आयेगा। रोने वाले को देखो, तो रोना आयेगा। उपहास करने वाले को देखो, तो दोनों बंद हो जायेंगे। अब आप लोग क्यों हँस रहे हैं ? तो क्या रोये हम लोग ? रोने के लिए नहीं कह रहा हूँ। लेकिन हँसने का कुछ अलग कारण लग रहा है। एक बार हंसना तो अच्छा माना जाता है। लेकिन बार-बार हँसना तो अच्छा नहीं। हँसी मत उड़ाओ भइया, हँसी नहीं उड़ाना चाहिए। हँसी उड़ाने का अर्थ उपहास का पात्र बनाया जाना। भगवान् के पास न हँसी है, न रोना। और न मुस्कान है। लेकिन ऐसा भद्र परिणाम, ऐसा प्रसन्न परिणाम दिखता है, जिसकी दुनियाँ में कोई नकल करना भी चाहे तो भी नहीं कर सकता। कुछ न कुछ अन्तर उसमें आ ही जाता है। सहज नहीं बन पाता। यदि प्रयास करना चाहें, तो कर सकते हैं।

बाल अवस्था में महावीर ऐसे थे, जैसे ९० वर्ष के वृद्ध भी नहीं रहते। फिर भी प्रसन्न रहते थे। महावीर भगवान् की बहुत प्रशंसा होती थी, कि वह बहुत गंभीर बालक है। और गंभीर महावीर के लिए कन्या कहाँ से ले आयें ? स्थिति बड़ी विचित्र थी। बहुत गंभीर थी। लेकिन गंभीर होने का अर्थ यह नहीं, वह चिन्ता में थे। नहीं, स्वभाव से गंभीर या सहज रूप से गंभीर थे। स्वभाव से मार्दव जिसको बोलना चाहिए। स्वभाव से गंभीर। स्वभाव से मृदुता। स्वभाव से तत्त्वदृष्टि। स्वभाव से सब कुछ था। इसके पीछे पूर्वजन्म के संस्कार और साधना विद्यमान थी।

दर्पण रोया कब हँसा ?

दर्पण की ओर देखते जाओ, अपने आप आपका रोना-हंसना सब समाप्त हो जायेगा। उसका जो उजाला, जो वैशद्य है, सब सामने आ जायेगा। दर्पण का उदाहरण इसीलिए दिया जा रहा है। दर्पण के समान विशदता कहीं देखने को नहीं मिलती। सब कुछ देखो, लेकिन उसमें अन्तर नहीं आयेगा।

भगवान् आत्मस्थ इतने हो गये हैं, इतने भीतर चले गये हैं कि बाहरी प्रभाव अब उनके ऊपर नहीं पड़ सकता। इसी का नाम ब्रह्मचर्य है। जो ऐसे ब्रह्म में लीन हों, कि अब किसी भी अन्य पदार्थ में लीन नहीं हों। उनके ज्ञान के ऊपर, उनके आत्मा के ऊपर दुनियाँ की किसी भी शक्ति का प्रभाव नहीं पड़ सकता। जानेंगे-देखेंगे, सब कुछ करेंगे। लेकिन इस सीमा के बाहर वे कभी नहीं जायेंगे। धन्य है ऐसे प्रभु को, जो ब्रह्मलीन हो गये हैं। उन्होंने श्रमणों के लिए इसी प्रकार का उपदेश दिया

है। आत्मतत्त्व को प्रौढ़ता दी है। और सागार यानि गृहस्थों के लिए भी उपदेश दिया है। केवल श्रमणों के लिए नहीं। सागारों और अनगारों, दोनों के लिए उन्होंने उपदेश दिया है। सागारों के लिए कौन-सा धर्म बतलाया ? उनके लिए बताया–

दाणं पूयासीलमुववासो...।

यह श्रावकों का चार प्रकार का धर्म है। इसमें सर्वप्रथम दान कहा गया है। दान कहने से आपकी दृष्टि सबसे पहले आहारदान की ओर ही चली जाती है। वह भी आवश्यक है। लेकिन इसका असर बहुत कम समय के लिए रहता है और आप लोग सस्ता ही लेना चाहते हैं। इसके उपरांत दूसरा औषधदान दिया। वह कितने दिन तक ? जब तक रोग दूर नहीं हुआ, तब तक। और कौन-सा दान है ? ज्ञानदान भी है। इसको ज्ञानदान न बोलकर उपकरण दान बोलते हैं। मैं इसलिए बोल रहा हूँ कि वस्तुतः ज्ञानदान डायरेक्ट नहीं है। उपकरणदान या शास्त्रदान, जिसको बोलते हैं। उपकरणदान ही स्वामी समन्तभद्राचार्य ने कहा है। उपकरण क्या है ? जो उपकार करे, सो उपकरण। जिस समय जिसके लिए जो उपयोग हो वह दीजिये, यह उपकरणदान है। जैसे आपने किसी को निमन्त्रण दिया। खाने वाला खाने में लीन हो जाता है और परोसने वाला देखता रहता है, खाने वाले को। पता नहीं चलता, किन्तु वह जान लेता है, किसको किस समय क्या परोसना है ? एक ही चीज बार-बार खा रहा है, तो उसको नहीं परोसेंगे। दूसरी चीज को परोसेंगे। क्योंकि वह चीज हानि कर सकती है। फिर भी इच्छा के अनुसार परोसते रहते हैं। लेकिन निगरानी रहती है, दृष्टि रहती है। बच्चों जैसा परोसने वाला नहीं रहता। परोसने वाला विवेकशील रहता है। इसी तरह सम्यग्दृष्टि बहुत जानकारी रखता है। सही जानकारी कि, कहाँ पर किस व्यक्ति को किन उपकरणों की आवश्यकता है ? उसके माध्यम से वह उनकी पूर्ति करके उसे धर्म के क्षेत्र में आगे बढ़ाता है।

आज सबसे ज्यादा कमी यही है। जैन समाज समृद्ध होते हुए भी जिस समय जिस चीज की आवश्यकता है, उसकी पूर्ति नहीं करता। और बहुत सीमित ही हम लोगों का दान का व्यवहार चल रहा है। हम पढ़ाना चाहते हैं, तो अपने बच्चों को भी पढ़ाओ, ठीक है। लेकिन हम दूसरों को पढ़ायेंगे। जिन्हें कुल परम्परा से शिक्षा प्राप्त नहीं है, उन्हें भी पढ़ाना चाहिए। तो उनकी विशुद्धि और बढ़ेगी। आत्मतत्त्व, आत्मधर्म का ज्ञान सीमित या घर तक नहीं रखना चाहिए। उपकरण-दान के बाद एक और आ जाता है अभयदान। समय कम होते हुए भी मैं इसकी विशेष रूप से व्याख्या करना चाहूँगा।

अभयदान सबसे बड़ा दान माना जाता है। वह इतना बड़ा है, कि किसी भी जीव को हमारे निमित्त से भय न लगे। आज तो सभी भयभीत जीव हैं। किसी महान् व्यक्तित्व की प्रतीक्षा में हैं। कि कोई आयेगा और हमारे लिए अभयदान दे। इस संकट से मुक्त कराये। महावीर जैसे महान् व

उदार आत्मा आ जावे, तो निश्चित ही हमारे बंधन छूट सकते हैं। हमारा यह बंध रुक सकता है। हमारा यह संकट छूट सकता है। हमारी यह आपदा छूट सकती है। आज करोड़ों-करोड़ों जानवरों के ऊपर संकट आया है, उनको खाते समय भी यह भान हो रहा है, कि हमारा अन्त अब निकट है। कोई महान् व्यक्तित्व ही इसे दूर कर सकता है।

मान लीजिये, एक सामान्य व्यक्ति आराम से जी रहा है। लेकिन उससे कह दिया जाये, कि आपके दस साल मात्र शेष हैं। तो सब, अब वह दस साल, भयभीत होकर ही बितायेगा। उसी प्रकार उन पशुओं के भी एक-दो, एक-दो करके भाई-बहिन चले जाते हैं। उनके परिवार को ज्ञात तो होता होगा। मानलो, आप अपने परिवार से किसी को भेज देते हैं, तो वह पहले पूछता है—हमें बताओ, कहाँ भेजा जा रहा है हमें ? परिवार वाले भी सोचते हैं—हमारे परिवार का लड़का कहाँ जा रहा है ? क्या पता। और वापस आयेगा या नहीं ? क्या पता। उसको भेजा जाता है और मालिक की जेब में पैसा आ जाता है। मालिक पैसे की ओर हाइलाइट करके देख लेता है। लेकिन उनके माता-पिता, भाई-बहिन हैं, वे कहते होंगे, सोचते होंगे—हमारे परिवार का एक सदस्य निकल गया।

दीपावली और दशहरा, ये उत्सव भी पर्व कुछ मायने नहीं रखते। बन्धुओं! ध्यान रखना, जो बली का बकरा होता है, उसी को ज्ञात होता है कि उस पर क्या बीत रही है। और जैसा कि भाई ने कहा—मेरे लिए समय ज्यादा नहीं, किन्तु उन प्राणियों की रक्षा के लिए भी सोचना आवश्यक है। कत्लखाने बन्द करो, कहने से कत्लखाने बन्द नहीं हो सकते। बल्कि जो प्राणी निराश्रित हैं, जिनके लिए कोई अभय देने वाला नहीं है, उनके लिए भी कुछ प्रबन्ध आवश्यक है। यद्यपि उनके लिये कोई एयर कंडीशन मकान की आवश्यकता नहीं होती। ये नदी-नालों का पानी पी लेते हैं। और अगर एक छप्पर मिल जाय तो ठीक, नहीं तो धरती माँ के ऊपर लेटकर-बैठकर ही अपना समय गुजार लेते हैं। एक-दो बार चारा और पानी की मात्र आवश्यकता होती है। उनके लिए कोई माल-मलाई की आवश्यकता नहीं। भूसे की आवश्यकता है। बन्धुओं! चावल-चावल आप ले लो, भूसा उन्हें दे दो। वे इस प्रतीक्षा में होंगे कि हमें संकट से उबारने वाला कोई व्यक्ति आ जाये। आप लोग मनोरंजन में मस्त हैं। व्यर्थ पैसा खर्च कर रहे हैं। करोड़ों रुपये बहाते रहते हैं, आप लोग विषयों और कषायों में। लेकिन अभयदान के विषय में कोई सोचता है ? जो सोचता है वह सम्यग्दर्शन के बारे में विभिन्न पहलुओं से अध्ययन कर चुका है, यह ज्ञात होता है। क्योंकि तन, मन, धन, वचन इन सबको वह अपने व दूसरे के सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में ही न्यौछावर करना चाहता है। धन का और कोई महत्त्व नहीं होता।

धन के ऊपर तिलक लगाने से धन का विकास नहीं होता, ध्यान रखो। और धन की पूजा करने से धन नहीं आता, किन्तु धन का यथोचित स्थान पर उपयोग करने से ही उसका विकास होता

है। अभयदान की बात मैं इसलिए कर रहा हूँ, कि वह जीव आपको पहचानेगा। और अगर वह कहीं दूर भी चला गया, तो भी वह आपको पहचान लेगा। यदि आप आपत्ति में होंगे तो वह आपकी सहायता करने का प्रयास करेगा। वह आप पर उपकार करेगा। ये जानवर मूक भले ही हों, बोलते नहीं है, लेकिन चेतना उनकी ऐसी ही है, जैसी आपके पास है। बल्कि मोह का प्रभाव आपकी चेतना के ऊपर ज्यादा हो सकता है। आपको हर चीज को देखकर यह भावना होती है, कि यह हमारे लिए आवश्यक है। लेकिन उनमें ऐसे भाव नहीं है। वे चाहते भी नहीं हैं। उनका जीवन प्रकृति पर आधारित जीवन है। वे आपके आश्रित रह रहे हैं, इसका मतलब यह नहीं, कि आप जब कभी भी, जिस किसी को भी उन्हें बेंच दें। आप तो उनसे दूध लो, दही लो, घी लो, सब कुछ ले लो और अपने शरीर को पुष्ट बनाओ। यह काम में नहीं आयेगा। ध्यान रखना, पहले भी व्यापार होता था। तब सोच समझ करके गाय-भैंस बेचा करते थे। वे कभी मूल्य से नहीं बेचते थे। वैसे ही दिया करते थे। जो रक्षक होता था, उसके पास भेजा करते थे। जिस प्रकार आप लोगों के यहाँ विवाह सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार देखकर छान-बीनकर ही उन्हें दिया करते थे। जिससे वे जहाँ कहीं भी चले जायें आराम से अपना निर्वाह कर सकें। आज उन्हीं पशुओं पर आपत्ति की घड़ी आ चुकी है। आप लोगों के अविवेक का ही यह परिणाम है। अपितु, यह कहना चाहिए कि जो विशेष विवेकशील हैं वे इस ओर ध्यान नहीं दे रहे हैं।

एक व्यक्ति अगर चार-पाँच लाख रुपया भी खर्च करता है, तो सौ-डेढ़ सौ जानवरों की रक्षा आराम से हो सकती है। यह बात भी आपके ज्ञान में रहना चाहिए। कितने लोगों की रक्षा आप कर रहे हैं। जिस प्रकार आप किसी की मदद करते हैं, उसी प्रकार आप इन जीवों की भी रक्षा कर सकते हैं। मान लो, आप एक जानवर को गोद लेते हैं, तो भी बहुत बड़ा उपकार है, भाग्य है आप लोगों का। वह कभी भी किसी भी भव में छूटेगा नहीं। वह भव-भव में काम आयेगा। क्योंकि सबसे बड़ा यदि धर्म है, जो महावीर भगवान् ने कहा है, तो वह अहिंसा धर्म है। जीव दया धर्म है।

धम्मो दयाविसुद्धो...।

दया धर्म का मूल माना गया है। यदि मूल दया धर्म से ही आप लोग हाथ धोकर तत्त्वचर्चा में ज्यादा समय निकाल देते हैं, तो वह कोई कार्यकारी नहीं है। काम आने वाला तो जीवित धन है, उसमें आप लोग मुख्य रूप से काम करिये। उनका आप क्या उपकार कर रहे हैं ? उनके निमित्त से आप अपनी आत्मा का उपकार कर लेते हैं। यह भी अभिमान छोड़ देना चाहिए, कि मैंने उपकार किया। उपकार क्या किया ? यह उसका पुण्य था, तो आपने उसके अनुसार कर लिया। उसके निमित्त से आपको प्रशस्त रास्ता मिल गया। उसके निमित्त से आपने अपने सम्यग्दर्शन की रक्षा की। उनकी रक्षा से एक प्रकार से आपकी परीक्षा हो गई और उस परीक्षा में आपको अच्छे अंक मिल गये, इस कार्य को करने से।

दया के विषय में जैन-जैनेतर सभी से मेरा कहना है, कि मात्र ज्ञान का ही प्रयोग न करें। दया का प्रयोग भी कर सकते हैं और आश्रयदान जिसको बोलते हैं, उसका भी प्रयोग कर सकते हैं। आहारदान भी है और ज्ञानदान भी है। जानवरों के लिए ज्ञानदान की क्या आवश्यकता है ? जानवरों के लिए पाठशाला खोलेंगे क्या ? क्या जानवर आपके संवेदन से उपकृत नहीं होते ? एक बार पहचान जायें तो पहचानते ही रहते हैं। आपका वेश बदल भी जाये, आपकी पर्याय बदल भी जाये, तो भी वह आपको नहीं भुला सकते। उनके पास इस प्रकार का कैमरा है, शक्ति है। उपयोग प्रत्येक के पास विद्यमान है।

शील की रक्षा होनी चाहिए। आज जो माहौल चल रहा है, उसको देखते हुए लगता है, भारत, अमेरिका और इंग्लैंड एक जैसे हो जायेंगे। ऐसी हवा आ रही है, आज गर्भपात की हवा ऐसी घुस गयी है। शील को बिल्कुल बर्बाद कर रही है, क्योंकि खुल्लमखुल्ला शासन की ओर से इसको वैधानिक रूप दिया जा रहा है। कोई सजा नहीं, बल्कि पैसा और दिया जा रहा है। इससे विवेक बिल्कुल भ्रष्ट हो जायेगा, शील रहेगा ही नहीं।

वात्सल्य, करुणा, दया व सम्यग्दर्शन, ये सब आस्था के विषय पर निर्धारित रहते हैं। इनको कोई भी नहीं छुयेगा। इनसे कोई सम्बन्ध नहीं रहेंगे। सब सम्बन्ध टूट जायेंगे। शील के कारण ही आप लोगों का यह व्यवहार सुनियोजित चल रहा है। शील यदि यद्वा-तद्वा खो गया, तो यह सब काम समाप्त हो जायेगा। जैसा कि विदेशों में आज हो रहा है। दस वर्ष पूर्व सुना था, एक महिला ने अपने जीवन में ८० बार विवाह किया। एक साल में दो-तीन विवाह कर लिये। पुरुष तलाक नहीं देते हैं, महिलाओं में आपस में विश्वास नहीं। पैसा ले लिया और तलाक। फिर दूसरे और सम्बन्ध। सोचिये, उनके जीवन में क्या प्यार रहेगा ? लव मैरिज। पहले प्रेम उसके उपरान्त बंधन। यहाँ पर पहले बंध बाद में प्यार।

भारतीय संस्कृति के अनुसार माता-पिता के द्वारा ही विवाह कराये जाते हैं। और यह अच्छा विवाह माना जाता है। लव मैरिज को भारतीय संस्कृति के अनुसार अच्छा नहीं माना जाता। इस फैशन से राष्ट्र उन्नत हो रहा है, ऐसा समझना गलत है। आगे जाकर दुख का अनुभव करना पड़ेगा। पश्चाताप करना पड़ेगा। आज अमेरिका सबसे बड़ा दुखी राष्ट्र माना जा रहा है, शील के अभाव के कारण। इसलिए उपवास यानि आत्मतत्त्व के पास आना। शरीर की जो अधीनता है, उसको कम करना और आत्मा के पास आना। जिसके कारण आत्मा की शक्ति बढ़ती चली जाती है।

दान, भगवान् की पूजा, अर्थात् गुणों की उपासना, शील और उपवास ये चार धर्म गृहस्थों के मुख्य माने गये हैं। इसी के माध्यम से आपका यह सागारधर्म अच्छे ढंग से चलने वाला है। गृहस्थों का कर्त्तव्य होता है, कि अपने बच्चों के ऊपर संस्कार डाले। जैसा उन्होंने अपने जीवन में

धर्म का समार्जन किया, उपासना की, आत्मतत्त्व के बारे में ज्ञान प्राप्त कर लिया, उसी प्रकार उनके ऊपर और जो होनहार हैं, जिनके पास योग्यता है, उन व्यक्तियों के ऊपर भी आप संस्कार डाल सकते हैं। मात्र जैनी के ऊपर ही डालना चाहिए, अजैन के ऊपर नहीं डालना चाहिए, ऐसी बात नहीं सोचना चाहिए। क्योंकि जैनाचार्यों ने कहा है—धर्म के संस्कार वहाँ पर भेजना चाहिए, वहाँ पर जा करके रखना चाहिए, जहाँ पर सभी को प्रकाश मिल सके।

जिस प्रकार प्रकाश में प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती। अन्धकार में उसका मूल्य और महत्त्व बढ़ जाता है। उसी प्रकार आज यदि आपका जीवन संस्कारित है, तो जो संस्कारहीन व्यक्ति हैं, उनको संस्कारित बनाने का प्रयास कर लीजिये। इसके द्वारा आपके तन का, मन का और धन का उपयोग अच्छा हो सकता है। कोई भूखा नहीं है और उसको आप खिलाते जा रहे हैं, तो यह क्रिया अपव्यय ही कहलायेगी। समय भी चला जायेगा और परिश्रम भी व्यर्थ जायेगा। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य होता है कि वह एक संस्कारित जीवन का निर्माण करे। इसी से धर्म आगे बढ़ सकता है। इसके माध्यम से स्व और पर, दोनों का कल्याण होता है। अभयदान देने का आप लोग विशेष रूप से ध्यान रखेंगे। क्योंकि समन्तभद्र स्वामी ने कहा—

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।

यथायथम् यह शब्द बहुत ही मार्के का है। जिन शासन की, जैनेन्द्र शासन की महिमा उस समय हो सकती है, जब भोजन की आवश्यकता हो, तब भोजन। जिस समय आवास की आवश्यकता हो, उस समय आवास। जिस समय औषध की आवश्यकता हो, उस समय औषध। जिस समय अभयदान देना हो, उस समय अभयदान की पूर्ति होना चाहिए। ऐसे निराश्रित परिवार कई हैं। उनके बारे में आप कभी सोचते हैं क्या ? एक परिवार को आपने सुव्यवस्थित बना दिया, तो कितना बड़ा काम कर लिया, यह सोचो।

मान लो, आपने एकाध लाख रुपया खर्च करके एक परिवार, जिसमें कि चार-पाँच सदस्य हैं, को खड़ा कर दिया। व्यवसायादि में लगा दिया। तो वे व्यक्ति धर्म-कर्म करते हुए अपनी गुजर कर सकते हैं। आपने कितना बड़ा काम कर दिया। जीवन पर्यन्त उनका काम चालू हो जायेगा। धन का सदुपयोग ऐसे ही हुआ करता है। इस दिशा में जैन समाज बहुत मौन है।

समय की कमी होने के कारण हाइलाइट भी समाप्त हो रही है। दस दिन में जो कुछ भी आपने अर्जन किया, श्रवण किया, उसको आगे बढ़ाने का अभ्यास करें। इसी प्रकार आपका मन सद्कार्य में लगा रहे। ऐसा आशीर्वाद।

॥अहिंसा परमो धर्म की जय॥ ❑ ❑ ❑

जैन धर्म कोई जातिपरक धर्म नहीं है। जैन धर्म उस बहती गंगा के समान है, जिसमें कोई भी व्यक्ति स्नान कर सकता है और अपने पापों को मिटा सकता है। उसमें अवगाहन करके अपने कषाय भावों को, विकारों को पृथक् कर हृदय एवं मन को, तन को भी स्वच्छ-साफकिया जा सकता है। जैन धर्म का आधार लेने के उपरान्त भी जो व्यक्ति केवल अहंकार-ममकार को पुष्ट बनाता है वह अपने जीवन काल में कभी भी धर्म का सही स्वाद नहीं ले सकता। उज्ज्वल भाव-धारा का नाम धर्म है।

❑ ❑ ❑

मर जाना अच्छा है, पर धर्म बिना जीना अच्छा नहीं, क्योंकि धर्म के अभाव में जीवन नहीं होता, केवल जीवन का अभिनय होता है, नाटक होता है और उसी में व्यक्ति अटका रहता है जबकि नाटक शब्द स्वयं कह रहा है न...अटक । नाटक...।

❑ ❑ ❑

वह ज्ञान जयवन्त रहे, जिस 'ज्ञान में तीन लोक व तीन लोक के विगत-अनागत वर्तमान पर्यायों सहित संसार के समस्त पदार्थ प्रतिबिंबित हो रहे हैं। जिस प्रकार दर्पण के सामने जो कोई भी पदार्थ आ जाता है वह उसमें प्रतिबिंबित होता है, उसी प्रकार वह ज्ञान जयवन्त रहे, उस ज्ञान की जय -हो अर्थात् उस ज्ञान का सही-सही मूल्यांकन हों। जिसमें तीन लोक का प्रतिबिंब अनायास आ जाता है।

❑ ❑ ❑

मुमुक्षु सम्यग्दृष्टि की बात है वह जब कोई धार्मिक अनुष्ठान करता है तो उसके हृदय में आनन्द की बाढ़ आती है। ऐसे महान् विषम पंचमकाल में भी महान् सतयुग जैसा काल अनुभूत होता है, जिसका सहज ही आनन्द अनुभव होता है।

जैनधर्म की विशालता को ध्यान में रखते हुए सभी जैनियों को धर्म का प्रचार-प्रसार जैनियों की सीमा तक ही नहीं करना चाहिए। जो कोई भी धर्म से स्खलित हैं, पथ से दूर हैं उन्हें धर्म मार्ग पर जाने का प्रयास करना चाहिए। जो पतित हैं उन्हें गले लगाना चाहिए।

❑ ❑ ❑

दान के बिना अहिंसा की रक्षा ना आज तक हुई है और न आगे होगी। पैसे वालों को भूदान, आवासदान, शैक्षणिकदान, आहारदान आदि सभी पर ध्यान देना जरूरी है। अभयदान का भी ध्यान रखें।